॥ अर्हम् ॥

श्रीलब्धिसूरीश्वरजैनग्रन्थमालायाः चतुश्चत्वारिंशत्तमो मणिः [४४]

तार्किकशिरोरत्नवादीन्द्रश्रीमल्लवादीक्षमाश्रमणविरचितम्

द्वादशारनयचक्रम् ।

तर्कागमपारङ्गतश्रीसिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणसन्दृब्धया
न्यायागमानुसारिणी-व्याख्यया विभूषितम् ।



एतस्य

व्याख्याधारेण मूलं विशोध्य, 'विषमपद'-विवेचनाख्यव्याख्यया
चालङ्कृत्य सम्पादकः संशोधकश्च

आचार्यश्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरः ।



तस्य चायं

नवमारतो सम्पूर्ण-ग्रन्थात्मकः

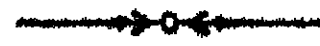
चतुर्थो विभागः ।



प्रकाशयिता

छाणीस्थ-श्रीलब्धिसूरीश्वरजैनग्रन्थमाला-सञ्चालकः

शाहेत्युपाह्वः जमनादासात्मजश्चन्दुलालः ।

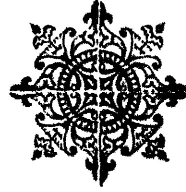


प्रथम संस्करणे ५०० प्रतयः

वीरसं० २४८३ आत्मसं० ६४ विक्रमसं० २०१६

मूल्यं षड् रूप्यकाः

प्रकाशः प्राप्तिस्थानञ्च
चन्दुलाल जमनादास शाह
संचालक, श्रीलब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला
छाणी (जी. वडोदरा)



मुद्रकः
लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी
निर्णयसागर प्रेस
२६–२८ कोलभाट स्ट्रीट,
मुंबई नं. २

English Foreward Printed by Sharad Krishnaji Sopale,
at the Ramkrishna Printing Press, Rukmini Niwas,
Morbaug Road, Dadar, Bombay-14.

Shri Labdhisurishwar Jain Granthamala No. 44

THE DVADASHARA NAYACHAKRAM

OF

SRI MALLAVADI KSHAMASRAMANA

WITH

THE NYAYAGAMANUSARINI COMMENTARY

BY

SRI SIMHASURIGANI VADI KSHAMASRAMANA

PART IV

Edited with
Critical Introduction, Index & Vishamapadavivechana

BY

ACHARYA VIJAYA LABDHI SURI



PUBLISHED BY
CHANDULAL JAMANADAS SHAH



SECRETARY SHRI LABDHI SURISHWAR JAIN GRANTHAMALA
CHHANI (DIST. BARODA)

FIRST EDITION, 500 COPIES

A. D. 1960] PRICE 6 RUPEES [*V. S. 2016*

धन्यवाद अने आभार

जैन तर्कशास्त्रना अतिमहत्त्वना आ ग्रन्थरत्न श्रीद्वादशारनयचक्रना त्रण भागो विद्वान् वांचकवर्गना करकमलमां सादर समर्पित कर्या पछी, तेना आ चतुर्थ विभागने, प्रकाशित करतां हर्षावेशथी पुलकित थईए ए स्वभाविक छे. प्रस्तुत विभागना प्रकाशन साथे, आ ग्रन्थना प्रकाशननुं भगीरथ कार्य परिपूर्ण थाय छे. आ ग्रन्थरत्नमां रहेली विशिष्टता अने अपूर्वताओनो परिपूर्ण परिचय पामवानुं सर्वने सुलभ थाय छे. मुद्रणकार्यमां वपरातां कागलो आदि साधन सामग्री अने मुद्रणना नित्य वधता भावो वच्चे पण, अमे आनुं मुद्रणनुं धोरण साचवी शक्या छीए ते पण गौरव लेवा जेवी हकीकत छे. आ संपूर्ण ग्रन्थना मुद्रण माटे उदार द्रव्य साहाय्य करनार श्रुतभक्त जैन श्रीसंघना अमे आभारी छीए. आ भागना मुद्रण-दरमियान प्राप्त थयेली साहाय्य माटे, उदारचित्त श्रुतप्रेमी साहाय्यकोनी नामावली आ नीचे आपवा साथे, तेओ सर्वनो धन्यवाद अर्पण करवा पूर्वक आभार मानीए छीए. साहाय्य माटे प्रेरणा आपनार गुरुभक्त-श्रुतप्रेमी पू. उपाध्यायजी श्रीजयंतविजयजी गणिवरनो पण, अमे अनेकशः उपकार मानीये छीए.

उदारचित्त धर्मश्रद्धालु श्राद्धवर्य शेठ श्री रमणलाल दलसुखभाई श्रॉफ, श्रुतभक्तिना अमारा सत्कार्यमां, औदार्यपूर्ण साहाय्य अनेकशः करी रह्या छे. अमो तेओश्रीनी भूरि भूरि अनुमोदना करीए छीए.

साहायक सज्जनोनां शुभनामो :

५०१. **जैन श्रीसंघ** — **छाणी**
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

५०१. **इडरना श्रावीकाओना उपाश्रयनी उपजमांथी** — **इडर**
[पू. तपस्वी साध्वीजी श्रीसुव्रताश्रीजीनी प्रेरणाथी]

३५१. **श्री शान्तिनाथ जैन पेढी** — **जलालपोर**
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

३०१. **जैन श्रीसंघ** — **धर्मज**
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

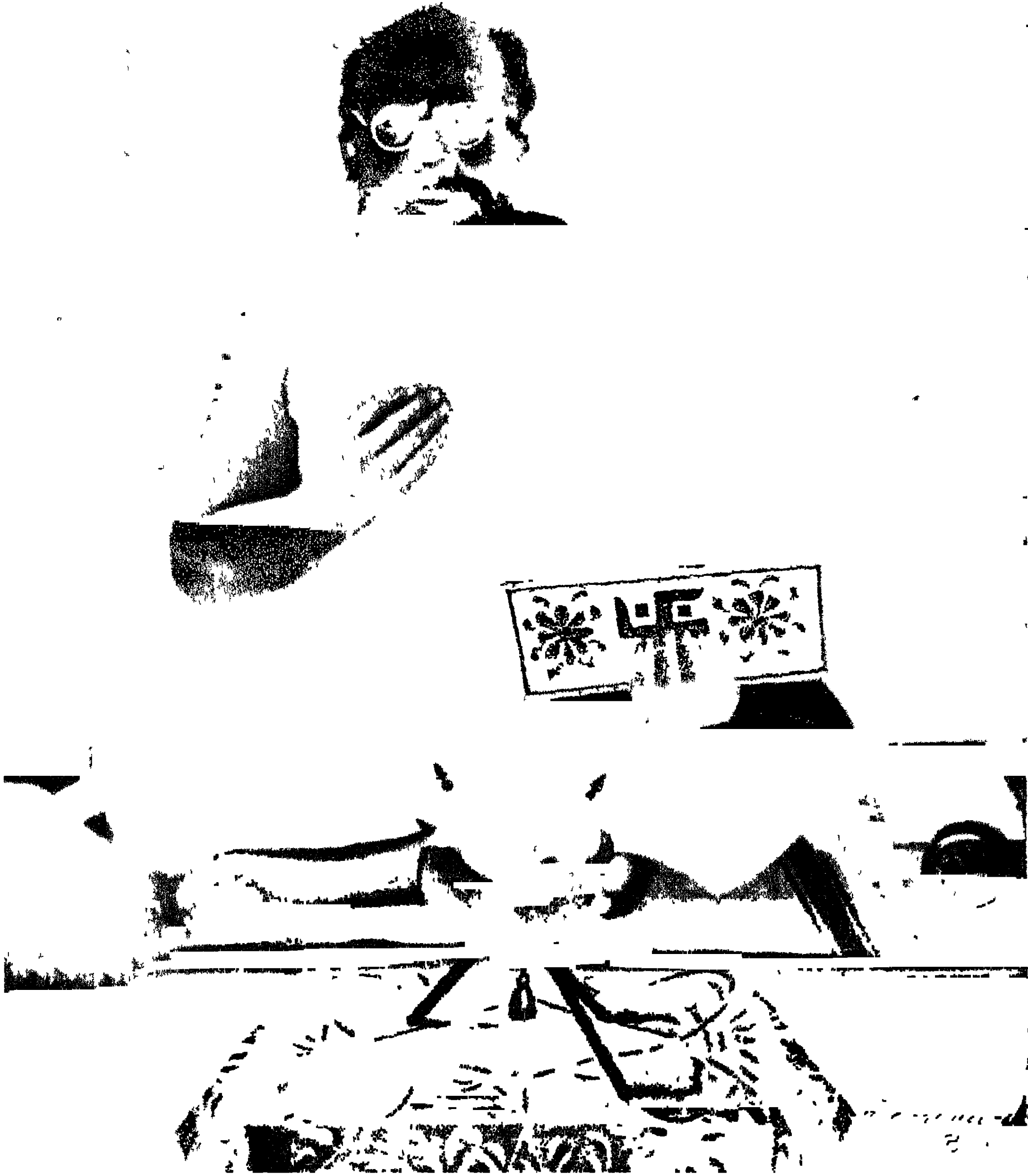
३०१. **जैन श्रीसंघ** — **शाहपुर**
[ज्ञानद्रव्यनी उपजमांथी]

५१. **शा. बाबुभाई उत्तमचंद दमणवाला**
[साध्वीश्री जिनेन्द्रश्रीनी पांचसो
आयंबालनी तपश्चर्या निमित्ते.]

—प्रकाशक

जैनरत्न, व्याख्यान वाचस्पति, कविकुलकिरीट, सूरिसार्वभौम

जैनाचार्य श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज



Jainācharya Shrimad Vijaya Labdhisurishwaraji Mahārāj

Editor of Dvadashara Nayachakra

॥ अर्हम् ॥

प्राक् कथन

स्याद्वादनी विशिष्टताः—जैनदर्शन एटले सर्वसापेक्ष दृष्टिओनुं केन्द्र स्थान। जगतनी आत्मवादमां माननारी सघळी विचार पद्धतिओनो वास्तविक समन्वय एमां थयेलो छे। तलस्पर्शी अध्ययन करवाथी एनुं अनन्त उंडाण स्पष्ट बने छे। जगतना प्रत्येक दर्शननी तटस्थ विवेचना एमां समाएली छे। एक न्यायाधीशनी जेम जैनदर्शन अत्यन्त चोकसाई पूर्वक तटस्थ पणे प्रत्येक दर्शनने न्याय आपे छे। एकान्त आग्रहना कारणे अन्य दरेक दर्शनमां प्रतिपक्षिदर्शनोने न्याय आपवामां आव्यो नथी। जैन दर्शन एकान्तमां न अटवातां मध्यस्थपणे जे अपेक्षाए जेनी वात साची होय ते अपेक्षाए तेनी वात स्वीकारी प्रत्येक दर्शनने पूरतो न्याय आपे छे। घी बधा ज माटे आरोग्यप्रद छे आ एकान्त–एकान्त एटले असत्य अथवा अर्धसत्यनी सत्यतरीके भ्रमणा तेमज प्ररूपणा, घी पचावी शकनार माटे आरोग्यप्रद छे अने तेने न पचावी शकनार माटे ते आरोग्यप्रद नथी एज अनेकान्त–अनेकान्त एटले ज्यां ज्यां जे सत्य होय त्यां त्यां तेनो स्वीकार अने समर्थन, पचावी शकनार माटे घी आरोग्यप्रद छे ए वात जेटली साची छे तेटली ज साची वात पचावी न शकनार माटे घी आरोग्यप्रद नथी ते छे। आ बन्ने अपेक्षाओ यथार्थपणे समजी न शकनार घीनो यथायोग्य उपयोग नहीं करी शके तेमज करावी पण नहीं शके अने स्व-पर ने हानी करी बेसशे। घीनुं उदाहरण स्थूल भूमिकापर छे पण तेनाथी सिद्ध थती हकीकत सूक्ष्म भूमिकापर पण एटली ज साची छे, एक अपेक्षा स्वीकारी बीजी अपेक्षा प्रत्ये तिरस्कार सेवनारनी गणत्री आग्रहीमां थाय छे अने आग्रही सत्यशोधक बनी शकतो नथी। सत्यनी शोध अनेकान्तद्वारा ज शक्य बने छे। अनेकान्तवाद जैनदर्शननी विशिष्टता छे। जैनदर्शन एकान्ते कोई पण दर्शननुं खंडन कर्या वगर, जे जे अपेक्षाए जे जे दर्शननी वात सत्य होय ते ते अपेक्षाए ते ते दर्शननी वात स्वीकारी सर्वने न्याय अने आवकार आपे छे, आ एनी अप्रतिम विशाल दृष्टि अने उदारतानुं प्रतीक छे। एनी आ खूबीने अन्य कोई पण दर्शन स्पर्शी पण शक्युं नथी। जगतने विनाशना पंथे दोरी रहेला वादविवादो एकान्तना आग्रहमां होवाथी अन्यवादोने समाववा असमर्थ छे ज्यारे जैनदर्शननी अनेकान्त दृष्टि ते सघळाने शान्तिपूर्वक समाववा समर्थ छे। अनेकान्तवाद अपनावी आजे पण जगत न्याय, शान्ति अने सुखनुं मङ्गल साम्राज्य स्थापी शके छे।

नयनी व्याख्याः—अनेकान्तवादनो एक भाग नय छे, नय 'नी' धातुथी बनेलो एक शब्द छे। नीयते प्राप्यते तत्त्वं अनेन इति नयः, आ छे एनी व्युत्पत्ति। हवे आपणे एनो रूढार्थ जोइए। प्रत्येक पदार्थना अनन्त धर्मो छे, जुदी जुदी दृष्टिए आ धर्मो जुदा जुदा छे। आमांनो इष्टधर्म समजवा माटेनी दृष्टि-विशेष ते नय। प्रत्येक नय बे प्रकारे छे, नय अने दुर्नय। एक पदार्थना चोक्स धर्मनुं प्रतिपादन तेना अन्य धर्मोनी उपेक्षा कर्या वगर करे त्यारे ते नय कहेवाय छे अने विपरीतपणे करे त्यारे ते दुर्नय कहेवाय छे। जेम कोई कहे के 'वस्तु सद्रूप ज छे' ते वाद दुर्नय छे केमके ते वादमां असद्रूपतानो निषेध करीने मात्र सद्रपताने ज बताववामां आवे छे। अने 'वस्तु सत् छे' एम कहेवामां आवे ते वाद नय छे कारण तेमां असद्रूपतानो निषेध करातो नथी।

नय अने प्रमाणमां अर्थ भेदः—वस्तु अनन्तधर्मात्मक छे। ते वस्तु एक धर्मद्वाराए पण जाणी शकाय छे; अने अनेक धर्मद्वाराए पण जाणी शकाय छे। अनेक धर्मद्वारा वस्तुनुं जे ज्ञान कराय ते प्रमाण कहेवाय छे। एक धर्म द्वारा वस्तुनुं जे ज्ञान कराय ते नय कहेवाय छे। ते बन्नेथी वस्तुनुं ज्ञान थाय छे। 'प्रमाणनयैरधिगमः' (तत्वार्थ० १-६.) प्रमाणथी वस्तुनुं परिपूर्ण ज्ञान थाय छे, नयथी एक अंशनुं ज्ञान थाय छे, बन्ने वस्तुतत्त्वज्ञानमां उपयोगी छे। वस्तुनुं परिपूर्ण स्वरूप दर्शावनार प्रमाण छे, आंशिक स्वरूपने दर्शावनार नय छे। नयो एकान्तवादरूप होवाथी जगतने माटे अनुपयोगी छे। जगतने उपयोगी त्यारे ज बने के द्रव्य क्षेत्र काल अने भावथी तेनी नाना अवस्थाओनो विचार करवामां आवे, ते ज विचार अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद कहेवाय छे। जगतनो रक्षक होवाथी स्याद्वाद लोकनाथ पण कहेवाय छे। आ ज सारा नयचक्रनो अभिप्राय छे; एम स्थाने स्थाने अने अन्तमां सुचारु रूपथी निरूपण करी जैन शासननी सत्यता साबित करी छे।

चक्रनी उपमा अने नयचक्रनी उत्कृष्टताः—आ ग्रन्थरत्ननुं 'नयचक्र' नाम अन्वर्थ ज छे। सर्वोपरि चक्रवर्ती बनतां पहेलां जेम समस्त भारतना राजवीओने राजा जीती ले छे कारण के चक्ररत्न जेनी पासे होय तेनो पराजय कोई करी शकतुं नथी-ते सदा विजयी ज रहे छे आ ग्रन्थरत्ननुं पण एवुं ज छे। जेम शस्त्रयुद्धमां चक्ररत्न श्रेष्ठ छे तेम शास्त्रयुद्धमां आ नयचक्ररत्न श्रेष्ठ छे। चक्ररत्नवडे राजा महाराजाओमां चक्रवर्ती थवाय छे। तेम आ नयचक्रवडे वादिओमां चक्रवर्ती थवाय छे। सामर्थ्यनी आ समानता सिद्ध करवा ज प्रस्तुत ग्रन्थरत्नने नयचक्र नाम आपवामां आव्युं हशे एम अनुमान करी शकाय। नयचक्रकार पण ग्रन्थना अन्तमां एमज कहे छे के 'जेम चक्रवर्तिओने चक्रवर्तिपणुं प्राप्त करवा सारूं चक्ररत्ननी आवश्यकता पडे छे तेम वादि-चक्रवर्तिपणाने मेळववा माटे आ नयचक्ररत्ननी आवश्यकता छे'। खास नोंधपात्र वात तो ए छे के सामर्थ्यनी अपेक्षाए एनी अने चक्ररत्ननी वच्चे जेवी साम्यता छे तेवी ज साम्यता रचनानी अपेक्षाए एनी अने जैन दर्शनमां कालनी गणत्री माटे स्वीकाराएला कालचक्रनी वच्चे छे। नयचक्रमां बार अर छे, कालचक्रमां पण बार अर छे। जेम नयचक्रमां द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक एम बे विभाग छे तेम कालचक्रमां पण उत्सर्पिणी अने अवसर्पिणी एम बे विभाग छे। कालचक्रना आ बन्ने विभाग छ छ अरने धरावे छे। ते क्रमसर एक पछी एक अविरामपणे आव्याज करे छे। तेथी नयचक्रने सामर्थ्यनी अपेक्षाए चक्ररत्ननी अने रचनानी अपे-क्षाए कालचक्रनी उपमा यथार्थ पणे घटे छे। चक्ररत्नना धारक महासमर्थ चक्रवर्ती ऊपर संसारमां कोई पण विजय पामी शकतुं न होवा छतां कालचक्र एने सहजमां भरखी जाय छे तेथी चक्ररत्न करतां काल-चक्रनी उत्कृष्टता सिद्ध थाय छे पण [चक्रोमां] नयचक्ररत्न सर्वोत्कृष्ट छे। ते फक्त सर्वप्रकारना वादोनो ज विजय नथी अपावतुं पण भवभ्रमणमांथी आत्माने मुक्त करी कालचक्रनी असरथी आपणने पर करी तेना पर पण विजय प्राप्त करावे छे।

आ ग्रन्थरत्न जैन न्याय ग्रन्थोमां अनन्य छे। तत्त्वनिर्णय करवा माटे नयोनी अति सूक्ष्म विचारणा करतो होवा छतां सुगम रचनावालो महान् ग्रन्थ बीजो एक पण नथी। आ ग्रन्थकारना नामे 'यदैव केवलज्ञानं तदैव दर्शनम्' ए मत खास प्रचलित छे, आ वात केम प्रचलित थई ए प्रश्न ज बनी रहे छे। प्रस्तुत ग्रन्थमां केवलज्ञाननो

---

१. पृ० २३२, ११६३, १२०१

निर्देश आवतो होवा छतां तेओश्री आ मतांतरने स्पर्श्या पण नथी। तेमणे नथी तो कर्युं सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजना मतनुं खण्डन के नथी कर्युं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणना मतनुं खंडन केवलज्ञान अने केवलदर्शन विषे मल्लवादिसूरिमहाराजनो मत जुदो पडे छे ए स्पष्टता टीकाकारे पण करी नथी। हरिभद्रसूरिजी महाराजना समयमां आ मतान्तर प्रचलित होवा छतां मल्लवादि सूरिजी महाराजना नामे एनी प्रसिद्धि न हती, अतः आ विषय विद्वानो माटे शोधखोळनो बनी रहे छे।

ग्रन्थकारना नामे चालता प्रवादोः—मल्लवादिसूरिमहाराज पोते हेत्वाभासमां शुं माने छे ते वातनो उल्लेख पण तेमणे आ ग्रन्थमां कर्यो नथी। आ ग्रन्थमां तेओश्रीए वस्तु तरीके नयवाद अने स्याद्वादने स्वीकारी मुख्यत्वे तेनी ज विचारणा करी छे। आ ग्रन्थमां जैनदर्शन केटला पदार्थ माने छे, केटला प्रकारना हेतुओ माने छे, केटला हेत्वाभास माने छे, इत्यादि कशीज चर्चा विशेषकरीने आवती नथी अने ज्यां ज्यां प्रमाणो के हेतुओनी चर्चा करवामां आवी छे, त्यां त्यां फक्त अमुक नयवादने आश्रयीने ज करवामां आवी छे। ए उपरान्त मल्लवादिसूरिमहाराजना नामे अमुक नयो द्रव्यार्थिक छे अने अमुक नयो पर्यायार्थिक छे ए भेद पाडवामां आव्या छे। आ बधा गुंचवाडा मल्लवादिसूरिमहाराजनो कोई स्वतंत्र ग्रन्थ होय एम अनुमान करवा प्रेरे छे। अथवा सम्मतितर्कनी तेमणे पोते रचेली व्याख्यामां पण कदाच होय! तो ज आ बधा अभिप्रायो संगत बने! आ नयचक्रमां तो द्रव्यार्थिक छ अरोनो व्यवहार, सङ्ग्रह अने नैगममां पर्यायार्थिक छ अरोनो ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ अने एवम्भूतमां समावेश कर्यो छे।

नामनी यथार्थता तथा ग्रन्थनी रचनापद्धतिः—नयवादनो छेडो आवी शकतो नथी, एनी न आदि छे न अन्त। एक चक्रनी जेम ते सदा फरतो रही खण्डन अने मण्डन कर्याज करतो होवाथी ग्रन्थकार-महर्षिए एनी रचना चक्राकारे करी एने नयचक्र एवुं यथार्थ नाम अर्पण कर्युं छे। आ नयचक्ररत्नमां बार अर छे। प्रत्येक बे अर वच्चे एक अन्तर एवा बार अन्तर छे। प्रत्येक चार अर पर एक नेमि [मार्ग] एम त्रण नेमि छे। अने छेल्ले सघळा अरोने पोतानामां समावनारुं—खरेखर तो सघळा अरोनुं अने आगळ वधीने कहिए तो समग्र चक्रनुं आधार स्थान एक तुम्ब छे। प्रत्येक अर एक स्वतंत्र नयवाद छे। आ चक्रनां छ अर द्रव्यार्थिकदृष्टिविशेषना छे अने बीजा छ अर पर्यायार्थिकदृष्टिविशेषना। प्रथम एक नयनो आधार लईने सामान्य, विशेष अने सामान्यविशेषोभयवादिओना वादो लेवामां आव्या छे। ते पछी तेनुं खण्डन के जे दर्शाववा अन्तरनी रचना करवामां आवी छे-करी अन्य नयमत शरू करवामां आवे छे। ए अन्यनयमत प्रथम बीजा वादिओना मतमतांतरोनुं अन्तरमां खण्डन करी पछी पोताना मतविशेषनुं निरूपण करे छे। ते ते अरना अंते ग्रन्थकारे ते ते नय (अर)नो सङ्ग्रहादि सात नयोमां कया नयमां समावेश थाय छे, ते बतावीने ते नयने सम्मत शब्द, वाक्य तथा तदर्थने बतावी ते ते नयनो मूळ आधार जैन आगम छे एम निरूपण कर्युं छे। एटले बधा नयो आगमनां एक एक वाक्यना विषयने लईने पोताना अभिप्राय मुजब एकान्त वर्णन करे छे एम दर्शाव्युं छे। द्रव्यार्थिक छ नयोमां द्रव्यशब्द अने पर्यायशब्दनो जुदो अर्थ दर्शाववामां आव्यो छे,

---

१. 'असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः'। २. द्रव्यगुणपर्यायरास, पृ. ७३ नी स्वोपज्ञटीका। ३. १. व्यवहार नय, २. ३. ४ सङ्ग्रहनय ५-६ नैगम ७ ऋजुसूत्रनय ८. ९ शब्दनय १० समभिरूढनय ११-१२ एवम्भूतनयमां आवे छे।

एम पर्यायार्थिक छ नयोमां पण । आम बारमो अर पूर्ण थया पछी तेनुं अन्तर (खण्डन) गमे ते नय करी शके छे । ते नयनुं पण अन्तर, तेना पछीनो नय, एवी रीते खण्डन मण्डन चाल्या करे छे । तेनो अन्त आवतो नथी माटेज तेने चक्र कहेवामां आव्युं छे ।

स्याद्वादरूपी तुम्बः—आ बधा नयोनी तमाम युक्तिओने अखण्डित जाळवी राखनार स्याद्वादरूपी तुम्बनी रचना करवामां आवी छे, जे बारे बार नयोनो (अरोनो) आधार छे । ए तुम्ब सिवाय नयो टकी शकता नथी एम सुस्पष्ट अनेको हेतुओ द्वारा निरूपण करवामां आव्युं छे । आ तुम्बस्वरूप स्याद्वाद विना कोई नय विजयी बनी शकतो नथी । सुन्दोपसुन्दन्याये परस्पर विरोधथी प्रहत थई जाय छे । आ विरोधने हटावीने स्याद्वाद बधा नयनुं रक्षण करे छे एटले आ स्याद्वाद लोकने आधीन बनाववामां समर्थ बधा नयवादोनो परमेश्वर छे केम के परस्पर नयोनो एकान्तरूप विरोध दूर करीने एकीकरण करे छे।[1] आ एकीकरण स्याद्वादज करी शके छे । आ स्याद्वादने अनुसरीने नयो वस्तुनुं निरूपण करे तो ज ते प्रमाणमां स्थान पामी शके छे । स्वतंत्रपणे निरूपण करे त्यारे एकान्त पकडवाथी निष्फल जाय छे । आम ग्रन्थकारे नयोनुं निरूपण करतां स्थाने स्थाने दर्शाव्युं छे ।

प्रस्तुत ग्रन्थनुं नामः—मूळकारे तथा टीकाकारे ठाम ठाम नयचक्र नामनो ज विशेष उपयोग कर्यो छे । द्वादशारनयचक्रनामनो उल्लेख क्वचित ज करेलो जोवामां आवे छे । छतां सम्भव छे के 'द्वादशारनयचक्र' नाम ज ग्रन्थकारने अभिप्रेत हशे अने उच्चारणनी सुलभता खातर नयचक्र नाम लखता रह्या होय । सप्तशतारनयचक्राध्ययनमांथी उद्धृत आ नयचक्रने तेनाथी जुदुं पाडवा माटे द्वादशारनयचक्र आवुं नामकरण करवामां आवे ए सुसम्भवित छे । मलधारी हेमचन्द्राचार्यमहाराजे पण अनुयोगद्वारनी टीकामां 'इदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति' आ प्रमाणे द्वादशारनयचक्रनुं ज नाम लीधुं छे । आ समय सुधी तो आ ग्रन्थ विद्यमान हशे। द्वादशारनयचक्रनामनो ज व्यवहार हशे। खुद ग्रन्थकार पण आ ग्रन्थने द्वादशारनयचक्र ज कहे छे । टीकाकार पण ग्रन्थान्ते 'द्वादशारनयचक्रं सिद्धप्रतिष्ठितं' आवुं ज नाम लखे छे । गुणरत्नसूरिए षड्दर्शनसमुच्चयनी वृत्तिमां तथा जिनप्रभसूरिए जिनागमस्तवमां नयचक्रवाल नाम लख्युं छे, पण ऊपरना प्रमाणो जोतां ते बराबर लागतुं नथी । आ नयचक्रशास्त्रविवरणनी व्याख्यानी एकज पक्षमां प्रतिलिपि करनार, जे प्रतिलिपि (नकल) आजे प्राप्त थती लगभग सर्व प्रतियोनो आधार छे, एवा महान् उपकारी तार्किकचूडामणि परमपूज्य उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज पण **द्वादशारनयचक्र** नामनो ज उल्लेख करे छे ।

नयोनी सत्यासत्यताः—केमके आ नयचक्रनो प्रधानविषय आ ज छे **'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् । जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥'**[2] आ सूत्ररूप कारिकामां आ ज वस्तु बतावबामां आवी छे । विधि अने नियमना आधारे बार[3] भङ्ग थाय छे । ते बार भङ्ग बार नय

---

१. तुम्बज मुख्य आधार छे. पट्टानी आवश्यकता रहेती नथी. आज पण पट्टा वगर चक्र जोवामां आवे छे. ग्रन्थकारना समयमां आम ज हशे। नहीं तो ग्रन्थकारे पोते ज पट्टाना स्थाननी कल्पना करी होत । २, नयचक्र पृ० ९४ । ३. १, विधिः २, विधिविधिः ३, विध्युभयं ४, विधिनियमः ५, उभयं ६, उभयविधिः ७, उभयोभयं ८, उभयनियमः ९, नियमः १०, नियमविधिः ११, नियमोभयं १२, नियमनियमः इति ।

(अर छे) ते बधा परस्परनिरपेक्ष थईने अजैनशास्त्रनी पेठे विचार करे तो असत्यार्थने प्रकाश करवाथी असत्य छे। अने ते बधा परस्पर मळीने अविरोधपणे विचार करे तो ते जैनशासन होवाथी सत्य छे। केमके वस्तु सामान्यविशेषाद्यनन्तधर्मात्मक छे। ते ज रूपे बधा नयोए मळीने सापेक्षपणे विचार करवो जोइए सापेक्ष निरपेक्ष विचार ज ग्रन्थकारे आ ग्रंथमां दर्शाव्यो छे। आ ग्रन्थमां कोई पण स्थळे नय अने दुर्नयना भेदनी विचारणा करी नथी, फक्त नयोनी विचारणा करी छे। जो के संमतितर्कमां सिद्धसेन दिवाकरसूरि म. ना ग्रन्थमां आ भेद जोवामां आवे छे। छतां मल्लवादि सू. म. आ भेदोने केम स्थान नथी आप्युं? आ एक महत्त्वनो प्रश्न छे। आ बार अर विधि अने नियमना भङ्ग छे। प्रथम चार अर विधि भङ्ग छे। आ एक मार्ग (नेमि) छे। आगळना चार अर उभय भङ्ग छे आ द्वितीय मार्ग छे। शेष चार अर नियम भङ्ग छे, आ तृतीयमार्ग छे। आ मार्ग अकृतकत्व-कृतकाकृतकत्व-कृतकत्वरूप हेतुओ द्वारा नित्यत्व-नित्यानित्यत्व-अनित्यत्वनी स्थापना करे छे। आ बार नय ज्यारे एकमत थईने परस्पर-अपेक्षा राखीने वर्तन करे छे-'स्यान्नित्यः, स्यान्नित्यानित्यः, स्यादनित्यः शब्दः, एवी प्रतिज्ञा करे छे, त्यारे परिपूर्ण अर्थना प्रकाश करावनार होवाथी सत्यस्वरूपने बतावनार थाय छे एम नयचक्रना तुम्बमां विवेचन करवामां आव्युं छे। आ ज नयचक्रशास्त्रनुं मुख्य प्रतिपाद्य छे।

ग्रन्थकर्ता अने तेमनी महत्ताः-आ ग्रन्थना रचयिता वादिचूडामणि मल्लवादिक्षमाश्रमणजी छे। जैन-न्यायशास्त्रमां आ आचार्यश्री ख्यातनामा छे। नयचक्र टीकाकार लखे छे के-**"जयति नयचक्रनिर्जितनिःशेषविपक्षचक्रविक्रान्तः । श्रीमल्लवादिसूरिर्जिनवचननभस्तलविवस्वान् ॥"** अर्थात् नयोना चक्ररूप सुदर्शनचक्रवडे जेमणे सघळाए स्याद्वादना विरोधियोने पराजय आप्यो छे, ते जिनवचनरूपी आकाशमां सूर्य जेवा मल्लवादिसूरि म० जयवंता छे। आ श्लोकमांथी श्रीमल्लवादिसूरि म० नयचक्रना कर्ता छे, वादि-ओने जीतनार छे अने जिनवचनना प्रकाशक छे, अर्थात् ते समयमां वर्तमान जिनागमोना रहस्यना सम्यक् वेत्ता अने प्रकाशयिता हता। आ आचार्य पोतानी तर्ककुशल बुद्धिद्वाराए जैन जगतमां अति विख्यात छे। पोताना मतनी सिद्धिमाटे युक्तिओना एक अतिसुन्दर दुर्भेद्य व्यूहनी उपस्थिति करी प्रखरवादिवृन्दोने वादयुद्धमां जीती ले छे। आ वात एमना सर्वश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण आ ग्रन्थथी सारी रीते जाणी शकाय छे। एमनी जिह्वा जेम परपक्षनुं निराकरण करवामां कुशल हती, तेम एमनी लेखनी पण स्वपक्षना मण्डनमां द्रुतगतिथी चाले छे।

रचनानो आधारः-आ आचार्यश्रीना जन्मस्थान आदिनुं इतिवृत्त प्रभावकचरित्र आदि अनेक ग्रन्थोमां उल्लिखित होवाथी वाचकोने त्यांथी ज जाणी लेवा विनंति करीये छीए। तेओश्रीए प्रस्तुत ग्रन्थनी रचना कोना आधारे क्यां अने क्यारे करी ते विषयमां सामग्रीनो अभाव होवाथी कशुं ज लखी शकता नथी। छतां एनो मूळ आधार 'सप्तनयशतार' आदि ग्रन्थो हशे एम लागे छे। ते ग्रन्थो मूळकारना समयमां हता एम जाणी शकाय छे, परंतु मूळकारे एनो आधार आज छे एम स्पष्टपणे सूचव्युं नथी एटले निश्चयथी ते ज आधार छे एम केवी रीते जाणी शकाय? आ नयचक्र **'पूर्वमहोदधिसमुत्थितनयप्राभृततरङ्गागम-प्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकामात्रं'** छे एम कहीने प्रमाण अने आगमपरम्परा मूलक आ नयचक्र छे एटलुं ज मूळकारे कह्युं छे।

तेमना स्तावको:—आ शासनप्रभावक ज्ञानक्रियायोगी महापुरुषना नामनो उल्लेख सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि म. नी अनेकान्तजयपताकामां तथा योगबिन्दुनीस्वोपज्ञटीकामां देखाय छे। शान्तिसूरिमहाराजे तो न्यायावतारवार्त्तिकनी वृत्तिमां मल्लवादिसूरिमहाराजनी एक काव्यमां पण अद्भुतस्तुति करी छे। अने वादिवेताळ-शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनसूत्रनी प्राकृत टीकामां तो नयचक्रना नामनो उल्लेख अने नयचक्रनी युक्तिपण मळे छे. भद्रेश्वरसू. म. जे प्राकृत कथावलीमां नयचक्र अने मल्लवादिनो योग्य परिचय आप्यो छे। मलधारी हेमचन्द्राचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां नयचक्रनो निर्देश छे। कलिकालसर्वज्ञे तो 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' कहीने सिद्धहैमव्याकरणमां एमनी तार्किकतानी सर्वोत्कृष्टता गाई छे। ते पछी सहस्रावधानी मुनि-सुन्दरसूरि वगेरे अनेकानेक आचार्य भगवंतोए नयचक्र तथा मल्लवादि सूरिने स्तव्या छे। छेवटना न्यायाचार्य न्यायविशारद यशोविजयउपाध्यायजीए आठ प्रभावकनी सज्झायमां मल्लवादिसूरिने वादिप्रभावक तरीके स्तव्या छे ने द्रव्यगुणपर्यायना रासमां नयचक्रना एक अरमां बारे अर उतारी शकाय छे, आम ग्रन्थ अने ग्रन्थकारने अनेकानेक जैनाचार्योए स्तव्या छे।

आ वादिप्रभावकसूरीश्वरनी वादशक्ति-तर्कशक्ति खरेखर तेमना काळमां परवादिरूपी तारलाओ माटे मध्याह्नकाळना तपता सूर्य जेवी हती, एमनी रचना पण एटली अद्भुत छे के तेमना काळना अने ते पूर्वमां रचायेला ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोना मर्मने लई एमना ज वचनोनो आधार लईने तेमना वादोने के सिद्धान्तो ने अलौकिक शैलीए अने कोई पण कठोर वचननो प्रयोग कर्या वगर अवास्तविकतानी कोटिए पहोंचाड-वानो प्रयत्न कर्यो छे। एमणे लीधेला केटलाक ग्रन्थो एवा छे के जे हालमां उपलब्ध थता नथी अने वर्तमानमां उपलब्ध थता ग्रन्थोमां जोवा न मळे एवा लांबा लांबा पूर्वपक्षो अने लांबी लांबी चर्चाओ के जे जटिल होवा छतां सरस अने सरलरीतिए रजु करी दुर्भेद्य युक्तिओथी निराकरण करवामां जेओ सिद्धहस्त छे। जे एमना ग्रंथना वांचनार अने भणनारने तरत ज प्राज्ञ थई प्रकाण्ड वादी बनावी दे छे, एवो आ विशाळ अने गम्भीर ग्रन्थरत्न जैन जगतमां अपूर्व छे। कारण के आ आचार्यना पूर्ववर्त्ती आचार्योए अनेकान्तसिद्धान्तनी स्थापना स्पष्टरूपे करी तो छे, पण नयात्मक पूर्वपक्षिओना वादनुं मात्र निराकरण करे छे जेथी स्पष्टपणे पूर्वपक्षवादिओनो मत समजी शकातो नथी। आ आचार्य भगवाने पूर्वपक्षिओना मतनी स्पष्टपणे स्थापना करीने निराकरण कर्युं छे। माटे आ ग्रन्थ अपूर्व छे।

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर महाराज।

आ नयचक्रमां मूळकारे पू. सिद्धसेनदिवाकर सूरि म. नी केटलीक कारिकाओ तथा केटलाक वाक्यो उद्धृत कर्यां छे। आ दिवाकरसूरिजीमहाराज विद्याधरवंशीय आचार्य स्कन्दिलसूरिजीना शिष्य वृद्धवादिसूरिना शिष्यरत्न छे, स्कन्दिलसूरिजी वी० सं. ३७६–४१४ (विक्रम पू. ९४–५६) मां युगप्रधानहता।

---

१. एवं सप्तनयाम्बुधेर्जिनमताद्वाद्यागमा येऽभवन्, स्थित्युत्पादविनाशवस्तुविरहात् तान् सत्यतायाः क्षिपन् ॥ यो बौद्धाब्धिबुद्धतीर्थिकमतप्रादुर्भवद्विक्रमः, मल्लो मल्लमिवान्यवादमजयत् श्रीमल्लवादी विभुः ॥ २. सलोमा मण्डूकः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मृगवत्, अलोमा वा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मण्डूकवत्, इत्यादिवत् निर्मूलयुक्तेर्न साध्यसाधकत्वम्. (नयचक्र पृ. ५२ मां जुओ)

स्कन्दिलाचार्य बे थया छे. एक आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्य ने बीजा अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य जेनो निर्देश नन्दिसूत्रनी छव्वीस ने तेत्रीसमी गाथामां करायो छे।•'सामज्जं वन्दे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥ तं वन्दे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥' एक वात तो दीवा जेवी स्पष्ट छे के नन्दिसूत्र-मां आ महात्माओनो नाम-निर्देश करायो छे माटे तेओश्री नन्दिसूत्रना रचनाकालना पूर्ववर्त्ती निर्ग्रन्थ-शिरोमणि छे।

बात एक ए रही जाय छे के 'संडिल्लं' नो अर्थ स्कन्दिल केवी रीते? भगवान हरिभद्रसूरिम. भगवान मलयगिरि वगेरे टीकाकारोए संडिल्लं नो अर्थ शाण्डिल्य कर्यो छे, एनी सामे एक ज बात कहेवानी छे के ऊपर उल्लिखित नन्दिसूत्रवाळा 'स्कन्दिलायरिए' नो कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां संडिल्ल शब्दथी नामोल्लेख कर्यो छे।

'थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी' कल्पसूत्र (२०)

आथी आपणे समजी शकीशुं के संडिल्ल शब्दनो स्कंदिलना अर्थमां पण उपयोग थई शके छे.। अहीं ए संडिल्ल शब्दे नंदिमां उल्लिखित 'खंदिल'माटे ज वपरायो छे कारणके नंदिनी टीकामां भगवान हरि-भद्रसूरिम. खंदिल ने सिंहवाचकना शिष्य तरीके निर्देश करे छे एज निर्देश ऊपरना कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां करायो छे, अलबत एमां संडिल्ल [खंदिल्ल] ने आर्यसिंहना प्रशिष्य तरीके निर्देश्या छे परन्तु आ परिवर्त्तन सर्वथा न गण्य छे कारण के एक ज व्यक्तिने अनुलक्षीने टीकामां शिष्य अने मूळमां प्रशिष्य तरीकेनो उल्लेख जोवा मळे छे।

आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यनो समय वीरनिर्वाण संवत् ३७६–४२४ इतिहासकारोए नक्की कर्यो छे। आ समयमां विद्याधरवंशना आ महापुरुष युगप्रधान तरीके प्रभु शासननी धुरा वहन करता हता। भगवान दिवाकर सू. म. आ ज महापुरुषना प्रशिष्य हता अने श्रीवृद्धवादिसूरिना शिष्य हता। आथी अत्यन्त स्पष्टरूपे निश्चित करी शकाय के भगवान दिवाकरसूरिनो समय वीरनिर्वाणनी पांचमी सदीनो ज होवो जोइये। ज्यारे संवर्त प्रवर्तक विक्रमादित्यनुं अनुशासन चालतुं हतुं।

---

१. प्राचीन कालमें मालव नामक गणोंका विशेष प्रभुत्व था, ईस्वीपूर्व तृतीयशतकमें इसने क्षुद्रकगणके साथ सिकंदर का सामना किया था, पर विशेषसहायता न मिलनेसे पराजित हो गया था, यही मालव जाति ग्रीकलोगोंके सतत आक्रमण से खंडित होकर राजपुताने की ओर आई, और मालवामें ईस्वीपूर्व प्रथमद्वितीय शताब्दीमें अपना प्रभुत्व जमाया, यह गणराज्य था, और विक्रमादित्य इसी गणतंत्रके मुखिया थे. शकोंके आक्रमणको विफल बनाकर विक्रमने शकारिकी उपाधि धारण की, और अपने मालवगणको प्रतिष्ठित किया, इसीसे इस संवतका मालवगणस्थिति नाम पडा था. (संस्कृतसाहित्य का इतिहास पृ. १४४ में बलदेव उपाध्याय) तथा राजा हाल की गाथासप्तशती 'संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेन तुहकरे लक्खम्। चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥' ५–६४ में विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओंपर विजय पानेके उपलक्ष्य में भृत्योंको लाखोंका उपहार दिया था. जैनग्रन्थोंसे इस बातकी पर्याप्त पुष्टि होती है. (संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३).

तेमना स्तावको:—आ शासनप्रभावक ज्ञानक्रियायोगी महापुरुषना नामनो उल्लेख सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि म. नी अनेकान्तजयपताकामां तथा योगबिन्दुनीस्वोपज्ञटीकामां देखाय छे । शान्तिसूरिमहाराजे तो न्यायावतारवार्त्तिकनी वृत्तिमां मल्लवादिसूरिमहाराजनी एक काव्यमां पण अद्भुतस्तुति करी छे । अने वादिवेताळशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनसूत्रनी प्राकृत टीकामां तो नयचक्रना नामनो उल्लेख अने नयचक्रनी युक्तिपण मळे छे. भद्रेश्वरसू. म. जे प्राकृत कथावलीमां नयचक्र अने मल्लवादिनो योग्य परिचय आप्यो छे । मलधारी हेमचन्द्राचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां नयचक्रनो निर्देश छे । कलिकालसर्वज्ञे तो 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' कहीने सिद्धहैमव्याकरणमां एमनी तार्किकतानी सर्वोत्कृष्टता गाई छे । ते पछी सहस्रावधानी मुनिसुन्दरसूरि वगेरे अनेकानेक आचार्य भगवंतोए नयचक्र तथा मल्लवादि सूरिने स्तव्या छे । छेवटना न्यायाचार्य न्यायविशारद यशोविजयउपाध्यायजीए आठ प्रभावकनी सज्झायमां मल्लवादिसूरिने वादिप्रभावक तरीके स्तव्या छे ने द्रव्यगुणपर्यायना रासमां नयचक्रना एक अरमां बारे अर उतारी शकाय छे, आम ग्रन्थ अने ग्रन्थकारने अनेकानेक जैनाचार्योए स्तव्या छे ।

आ वादिप्रभावकसूरीश्वरनी वादशक्ति-तर्कशक्ति खरेखर तेमना काळमां परवादिरूपी तारलाओ माटे मध्याह्नकाळना तपता सूर्य जेवी हती, एमनी रचना पण एटली अद्भुत छे के तेमना काळना अने ते पूर्वमां रचायेला ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोना मर्मने लई एमना ज वचनोनो आधार लईने तेमना वादोने के सिद्धान्तोने अलौकिक शैलीए अने कोई पण कठोर वचननो प्रयोग कर्या वगर अवास्तविकतानी कोटिए पहोंचाडवानो प्रयत्न कर्यो छे । एमणे लीधेला केटलाक ग्रन्थो एवा छे के जे हालमां उपलब्ध थता नथी अने वर्तमानमां उपलब्ध थता ग्रन्थोमां जोवा न मळे एवा लांबा लांबा पूर्वपक्षो अने लांबी लांबी चर्चाओ के जे जटिल होवा छतां सरस अने सरलरीतिए रजु करी दुर्भेद्य युक्तिओथी निराकरण करवामां जेओ सिद्धहस्त छे । जे एमना ग्रंथना वांचनार अने भणनारने तरत ज ग्राह्य थई प्रकाण्ड वादी बनावी दे छे, एवो आ विशाळ अने गम्भीर ग्रन्थरत्न जैन जगतमां अपूर्व छे । कारण के आ आचार्यना पूर्ववर्त्ती आचार्योए अनेकान्तसिद्धान्तनी स्थापना स्पष्टरूपे करी तो छे, पण नयात्मक पूर्वपक्षिओना वादनुं मात्र निराकरण करे छे जेथी स्पष्टपणे पूर्वपक्षवादिओनो मत समजी शकातो नथी । आ आचार्य भगवाने पूर्वपक्षिओना मतनी स्पष्टपणे स्थापना करीने निराकरण कर्युं छे । माटे आ ग्रन्थ अपूर्व छे ।

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर महाराज ।

आ नयचक्रमां मूळकारे पू. सिद्धसेनदिवाकर सूरि म. नी केटलीक कारिकाओ तथा केटलाक वाक्यो उद्धृत कर्यां छे । आ दिवाकरसूरिजीमहाराज विद्याधरवंशीय आचार्य स्कन्दिलसूरिजीना शिष्य वृद्धवादिसूरिना शिष्यरत्न छे, स्कन्दिलसूरिजी वी० सं. ३७६–४१४ (विक्रम पू. ९४–५६) मां युगप्रधानहता ।

---

१. एवं सप्तनयाम्बुधेर्जिनमताद्वाह्यागमा येऽभवन्, स्थित्युत्पादविनाशवस्तुविरहात् तान् सत्यतायाः क्षिपन् ॥ यो बौद्धान्वधिबुद्धतीर्थिकमतप्रादुर्भवद्विक्रमः, मल्लो मल्लमिवान्यवादमजयत् श्रीमल्लवादी विभुः ॥ २. सलोमा मण्डूकः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मृगवत्, अलोमा वा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात् मण्डूकवत् इत्यादिवत् निर्मूलयुक्तेर्न साध्यसाधकत्वम्. (नयचक्र पृ. ५२ मां जुओ)

स्कन्दिलाचार्य बे थया छे. एक आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्य ने बीजा अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य जेनो निर्देश नन्दिसूत्रनी छव्वीस ने तेत्रीसमी गाथामां करायो छे।"सामज्जं वन्दे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥ तं वन्दे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥' एक वात तो दीवा जेवी स्पष्ट छे के नन्दिसूत्र-मां आ महात्माओनो नाम-निर्देश करायो छे माटे तेओश्री नन्दिसूत्रना रचनाकालना पूर्ववर्त्ती निर्ग्रन्थ-शिरोमणि छे।

बात एक ए रही जाय छे के 'संडिल्लं' नो अर्थ स्कन्दिल केवी रीते ? भगवान हरिभद्रसूरिम. भगवान मलयगिरि वगेरे टीकाकारोए संडिल्लं नो अर्थ शाण्डिल्य कर्यो छे, एनी सामे एक ज बात कहेवानी छे के ऊपर उल्लिखित नन्दिसूत्रवाळा 'स्कन्दिलायरिए' नो कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां संडिल्ल शब्दथी नामोल्लेख कर्यो छे।

'थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी' कल्पसूत्र (२०)

आथी आपणे समजी शकीशुं के संडिल्ल शब्दनो स्कंदिलना अर्थमां पण उपयोग थई शके छे.। अहीं ए संडिल्ल शब्दे नंदिमां उल्लिखित 'खंदिल'माटे ज वपरायो छे कारणके नंदिनी टीकामां भगवान हरि-भद्रसूरिम. खंदिल ने सिंहवाचकना शिष्य तरीके निर्देश करे छे एज निर्देश ऊपरना कल्पसूत्रना वीसमा सूत्रमां करायो छे, अलबत एमां संडिल्ल [खंदिल्ल] ने आर्यसिंहना प्रशिष्य तरीके निर्देश्या छे परन्तु आ परिवर्त्तन सर्वथा न गण्य छे कारण के एक ज व्यक्तिने अनुलक्षीने टीकामां शिष्य अने मूळमां प्रशिष्य तरीकेनो उल्लेख जोवा मळे छे।

आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यनो समय वीरनिर्वाण संवत् ३७६–४२४ इतिहासकारोए नक्की कर्यो छे। आ समयमां विद्याधरवंशना आ महापुरुष युगप्रधान तरीके प्रभु शासननी धुरा वहन करता हता। भगवान दिवाकर सू. म. आ ज महापुरुषना प्रशिष्य हता अने श्रीवृद्धवादिसूरिना शिष्य हता। आथी अत्यन्त स्पष्टरूपे निश्चित करी शकाय के भगवान दिवाकरसूरिनो समय वीरनिर्वाणनी पांचमी सदीनो ज होवो जोइये ! ज्यारे संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्यनुं अनुशासन चालतुं हतुं।

---

१. प्राचीन कालमें मालव नामक गणोंका विशेष प्रभुत्व था, ईस्वीपूर्व तृतीयशतकमें इसने क्षुद्रकगणके साथ सिकंदर का सामना किया था, पर विशेषसहायता न मिलनेसे पराजित हो गया था, यही मालव जाति ग्रीकलोगोंके सतत आक्रमण से खंडित होकर राजपुताने की ओर आई, और मालवामें ईस्वीपूर्व प्रथमद्वितीय शताब्दीमें अपना प्रभुत्व जमाया, यह गणराज्य था, और विक्रमादित्य इसी गणतंत्रके मुखिया थे. शकोंके आक्रमणको विफल बनाकर विक्रमने शकारिकी उपाधि धारण की, और अपने मालवगणको प्रतिष्ठित किया, इसीसे इस संवतका मालवगणस्थिति नाम पडा था. (संस्कृतसाहित्य का इतिहास पृ. १४४ में बलदेव उपाध्याय) तथा राजा हाल की गाथासप्तशती 'संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेन तुहकरे लक्खम् । चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥' ५–६४ में विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओंपर विजय पानेके उपलक्ष्य में भृत्योंको लाखोंका उपहार दिया था. जैनग्रन्थोंसे इस बातकी पर्याप्त पुष्टि होती है. (संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३).

भगवान दिवाकर विद्याधरवंशीय स्कन्दिलाचार्यना ज प्रशिष्य छे एना माटे प्रभावक चरितकार वृद्धवादिसूरिना प्रबन्धमां १७६ थी १७८ श्लोकमां उल्लेख करे छे के वृद्धवादिसूरि विद्याधरगच्छना हता। आथी एक वस्तु सिद्ध थई जाय छे के आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्य के जेओ श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु छे विद्याधर गच्छ (वंश) ना छे एटले भगवान दिवाकरसूरि विद्याधरगच्छना स्कन्दिलाचार्यना ज प्रशिष्य छे नहीं के बीजा स्कन्दिलाचार्यना। आनी सामे एक प्रश्न करी शकाय छे के श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु तरीके आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यने ज मानवा माटे कोइ प्रमाण छे? एना उत्तरमां एक प्रबल वस्तु ए छे के नन्दिसूत्रना पाठक्रममां आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यना उल्लेख पछी लगभग पांच-छ आचार्योना उल्लेख पछी काश्यपगोत्रीय स्कन्दिलाचार्यनो उल्लेख कर्यो छे जे दिवाकरना संभवित समयनो अतिक्रम करी जाय छे आथी पण आर्य जीतधर स्कन्दिलाचार्यने ज विद्याधर गच्छीय मानवा ए अधिक न्याय्य छे।

बीजी पण एक बात ए छे के काश्यपगोत्रीय स्कन्दिलाचार्य अनुयोगधर छे एमणे आगमनी चोथी वाचना आपी छे ए निर्विवाद छे। आ वाचना दशपूर्वधर भगवान वज्रस्वामीथी पश्चाद्भावी छे अने भगवान वज्रस्वामी भगवान दिवाकरसूरिना उत्तरवर्ती छे एमां अमारी जाण प्रमाणे विवाद छे ज नहि। आथी सिद्ध थयुं के भगवान वज्रस्वामीना उत्तरवर्ती अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य श्रीवृद्धवादिसूरिना गुरु सम्भवी शके ज नहीं एटले एमना गुरु तरीके जे स्कन्दिलाचार्यनो उल्लेख कर्यो छे ए कौशिकगोत्रीय आर्य-जीतधर स्कन्दिलाचार्य ज छे। आ विचारणा असंदिग्धपणे आपणने जणावी जाय छे के भगवान दिवाकर सूरिम० संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्यना समकालीन हता।

'श्रीनागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेनदिवाकरगच्छे अस्माच्छुसाभ्यां कारिता संवत् १०९६' जेसलमेरना 'चन्द्रप्रभ' भगवानना जिनमंदिरमां धातुनी पञ्चतीर्थीप्रतिमाना आ लेखथी सिद्धसेनदिवाकरसूरिना नामथी गच्छ चालतो हतो अने आ गच्छ नागेन्द्र (नाइल) कुलमां थयो छे आटलुं जाणवा मळे छे। आ प्रतिमालेखमां विद्याधरवंश के विद्याधर कुल के विद्याधर गच्छ आवा नामो न होय ए स्वाभाविक छे कारण के दिवाकर सू. म. ना नामनो एक गच्छ ज प्रवर्तमान थई गयो हतो, छतां प्रसिद्ध सिद्धसेनदिवाकर सू. म. नागेन्द्र कुलमां थया होय तेम संभवतु नथी केम के आ० सुस्थित सू. म. थी कोडीय (कोटी) गण नीकळ्यो हतो आमनी परम्परामां वज्रस्वामीना शिष्य वज्रसेनना शिष्य आर्य नागिलथी नाइलशाखा नीकळी छे।

प्रभावकचरित्रकार नागेन्द्रगच्छ नागेन्द्रशिष्यथी नीकळ्यो छे एम जणावे छे नन्दिस्थविरावलीमां आर्य स्कन्दिलने ब्रह्मदीपिकाशाखाना सिंहाचार्यना शिष्य कह्या छे आ शाखा आर्यसमितसूरिथी शरू थई छे। एमनो समय वी० नि० सं ५८४ छे जेओ वज्रस्वामीना मातुल थाय छे, प्रभावकचरित्रकार विद्याधरआम्नायना सूरि म० आटलुं ज लखीने चुप बेसी जाय छे।

आ बधुं जोतां ब्रह्मदीपिका शाखामां थयेला अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्य केवी रीते दिवाकरसूरिना प्रगुरु होई शके! सिद्धसेन दिवाकर सूरिने के एओश्रीना गुरु वृद्धवादिसूरि म० ने कोई पण ग्रन्थकारे ब्रह्मदीपिकाशाखाना ओळखाव्या नथी.

पं० श्रीकल्याणविजयजी पादलिप्तसूरि म० ने वज्रसेनना शिष्य विद्याधरथी प्रसिद्ध थयेला विद्याधर कुलना जणावे छे, पण आर्य सुहस्तिना शिष्ययुगल सुस्थित अने सुप्रतिबद्धना शिष्य विद्याधर गोपालथी प्रगट थयेल विद्याधरशाखामां नागहस्तिस्थविर गणवा-मानवा युक्तियुक्त छे, प्राचीनशाखाओ कालान्तरे कुलना नामथी, कुलो गच्छना नामथी, प्रसिद्ध थयां छे। आ ज वात नागहस्तिआचार्यना विद्याधर-गच्छना सम्बन्धमां पण बनवा पामी छे । आथी पादलिप्तसूरि म० ने विद्याधर कुलना अथवा वंशना कहेवामां आवे तो कोई हरकत देखाती नथी।

आथी विक्रमसंवत् १५० नी गिरनारनी प्रशस्तिमां जणाववामां आव्युं छे के विद्याधरवंशना पादलिप्ताचार्यनी आम्नाय (वंश)-मां वृद्धवादिसूरिम० थया, आमां कशी शङ्का करवा जेवुं रहेतुं नथी, प्रभावकचरित्रकर्ताए एज प्रशस्तिनुं प्रमाण आप्युं छे. त्यारे एमां शङ्का लाववी ए न्याय्य नथी। बीजी वात नागार्जुन के जे पादलिप्तसूरि म० ना गृहस्थशिष्य योगसिद्धतरीके प्रसिद्ध छे ते नन्दिनी स्थविरावलीमां आवता नागार्जुनथी भिन्न छे, गृहस्थ स्थविरावलीमां केवी रीते आवे!

जो के पूज्य पादलिप्तसूरि म० ना गुरु आर्य नागहस्ति नथी पण आर्य खपुटाचार्य ज छे कल्पचूर्णिमां पादलिप्तसूरि म० ने वाचक कहेवामां आव्या छे अने नन्दिमां नागहस्ति ने वाचकवंशना कह्या छे। तेथी नागहस्तिना शिष्य पादलिप्तसूरि होवा जोइये आम नन्दिनुं प्रमाण आपीने पादलिप्तसूरि म० ने नागहस्तिना शिष्य ठराववा प्रयत्न थयो छे ते बराबर नथी, केम के नन्दिमां आवता 'वड्ढउ वाचकवंशो जसवंशो नागहत्थीणं' आ वाक्यनो अर्थ फक्त एटलो ज थाय के नागहस्ति आचार्य वाचक वंशना छे पण एमनाथी वाचकवंश शरू थयो ए केवी रीते कहेवाय?

पादलिप्तसूरि म० विक्रमना प्रथम शतकमां थया छे एम केटलाक माने छे ते पण विचारणीय छे। अनुयोगद्वारमां पादलिप्तसूरि म० नी तरङ्गवतीनो नामोल्लेख आवे छे अनुयोगनुं निर्माण वी० सं ४५३ नी पहेलां छे पण पछी तो नथी आ प्रमाणे प्रभावकचरित्रना प्रबन्धपर्यालोचनमां पं० कल्याणविजयजी जणावे छे, एटले पादलिप्तसूरि म० वी० नि० ४५३ थी पूर्वना आचार्य छे ए वात स्पष्ट थई जाय छे आथी प्रथमस्कन्दिलाचार्य ज वृद्धवादिसूरि म० ना गुरु छे अने सिद्धसेनदिवाकर सूरि म० ना प्रगुरु छे।

अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्यनी वाचना समये मल्लवादि पण हता एम 'जैनपरम्पराना इतिहास'मां जणाव्युं छे, आ वात जो बराबर होय तो द्वितीयस्कन्दिलाचार्यना प्रशिष्य दिवाकरसूरिम० होई शकता नथी, पादलिप्तसूरिम० नो मुरुण्डनी साथे सम्बन्ध बताववामां आव्यो छे, त्यां जैनाचार्योए 'मुरुण्ड' नो राजा तरीके उल्लेख करेलो जोवा मळे छे, आनो इतिहास हजी सुधी अंधकारमां छे।

१–ई० स० प्रथमसदीनुं अनुयोगद्वार छे. जुओ दर्शनचिंतन (प्रमाणमीमांसानो उपोद्घात) पृ० १७६।

शून्यवादी नागार्जुन अने सिद्धसेनदिवाकरनी कृतिओनुं साम्य देखाडीने दिवाकरसूरिनो पांचमा अथवा चोथा शतकनो समय-निर्णय केटलाक इतिहासकार करे छे ते विचारणीय छे ।

शून्यवादना नामोच्चारणमात्रथी दिवाकरजी महाराज नागार्जुनना पश्चात् वर्त्ती छे एम कही शकाय नहीं, शून्यवादनो उदय नागार्जुनथी ज थयो नथी, शून्यवाद नितान्त प्राचीन छे शून्यवादनुं प्रतिपादन 'प्रज्ञापारमितासूत्र'मां आवे छे, सिद्धसेन बत्रीसीमां मध्यममार्गना अने शून्यवादना निदर्शन मात्रथी नागार्जुन पछीना दिवाकरसू० छे आवी कल्पना थाय नहीं । हां ! जरूर नागार्जुननी युक्तिओ के वचना लीधां होत तो ए कल्पना साची कहेवाते । दिवाकरसू० म० ना ग्रन्थो मूलमात्र ज हालमां मळे छे । आथी मारो नम्र अभिप्राय छे के ज्यां सुधी प्रबल प्रमाणो न मळे त्यां सुधी कल्पनामार्गथी काळनो निर्णय करवानी उतावळ करवी जोइए नहीं ।

पू० हरिभद्रसूरि दिवाकरसूरिने श्रुतकेवलीनुं मानभर्युं बिरुद आपे छे । आथी पण प्राचीन-अतिप्राचीन होवा जोइए । वळी नागार्जुने मध्यमकारिकानी संस्कृत परीक्षा पृ. ४५-५७ मां उत्पत्ति स्थिति अने व्ययनुं के जेनुं निरूपण दिवाकरसूरि म० कर्युं छे तेनुं खण्डन कर्युं छे । आथी पण सिद्धसेनसूरि म० नागार्जुन थी पूर्वकालीन सिद्ध थाय छे ।

आ आचार्यश्रीए दिगम्बर मतनी कशी आलोचना करी होय तेम लागतुं नथी, एटले वी० सं. ६०६ अने दिगम्बरीयोल्लेख प्रमाणे वी० सं० ६०९ मां जे मत नीकळ्यो छे आनाथी पूर्ववर्ती दिवाकरसू० म० होवा जोइए । जेथी बन्ने सम्प्रदाय तेमना ग्रन्थना प्रमाणरूपे उद्धरणो टांके छे ।

वी० सं. ३९२-४९५ मां धर्मसूरि थया एम मानवामां आवे छे । आ आचार्य भगवानना समयमां आ० खपुटाचार्य वृद्धवादिसूरि थया इत्यादि लखतां विचार श्रेणीमां आ० सिद्धसेनदिवाकरसूरिने आ आचार्यना शिष्य तरीकेनो पण उल्लेख करेलो छे ।

सिद्धसेनसूरिना गुरु तरीकेना बे नाम प्राप्त थाय छे । एक वृद्धवादिसूरि अने बीजा आ० धर्मसूरि महाराज । जो के सिद्धसेनसूरिए पोताना गुरुतरीके बन्नेमांथी एकनो पण उल्लेख कर्यो होय तेम जोवा जाणवा मळ्युं नथी । जो आ बन्नेयनो समन्वय साधवो होय तो वृद्धवादिसूरि म०ने धर्मसूरिना समानकालीन मानवा पडे ! जो आ वात साची ठरे तो वृद्धवादिसूरिना गुरु प्रथम स्कन्दिलाचार्य ज छे आ मान्यतामां कशो वांधो आवतो नथी । विक्रमना समसामयिकपणामां पण कशो ज वांधो ऊभो रहेतो नथी । एक बीजुं पण प्रमाण अहीं उद्धृत करीए छीए के सिद्धसेनदिवाकरे कोई व्याकरणनी रचना करी होवी जोइए ! ए व्याकरणनुं नाम 'क्षपणक व्याकरण' हतुं । विक्रमना समयमां जे विद्वानो हता तेमां सिद्धसेनदिवाकर पण एक हता । जेमनो उल्लेख अन्य ग्रन्थकारोए 'क्षपणक' ना नामथी कर्यो छे । कालिदासविरचित 'ज्योतिर्विदाभरण' मां 'धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुः वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।

---

१. बौद्धदर्शन पृ. १९५। २ 'अतीत्य नियतव्ययौ स्थितिविनाशमिथ्यापथौ निसर्गशिवमात्थ मार्गमुदयाय यं **मध्यमम्** । त्वमेव परमास्तिकः **परमशून्यवादी** भवान् त्वमुज्ज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुनः ॥'

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥' २०–१० ॥ जैन ग्रन्थोमां विक्रमनी साथे दिवाकरसूरिनो सम्बन्ध सारी रीते प्रसिद्ध छे । सिद्धसेनदिवाकरसूरिए क्षपणक व्याकरणनी स्वोपज्ञवृत्ति करी होय तेम पण 'मैत्रेयरक्षिततंत्रप्रदीप' मां आवता उल्लेखथी जणाय छे, 'अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नाव्रं मन्ये इति क्षपणकव्याकरणे' इति । तथा उज्ज्वलदत्तविरचित-उणादिवृत्तिमां तो स्पष्ट शब्दोमां जणाव्युं छे 'क्षपणकवृत्तौ अत्र इति शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः' इति, । जैनेन्द्रव्याकरणमां पण 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' आ प्रमाणे व्याकरणना विषयमां तेमनो मत टांकवामां आव्यो छे । प्रस्तुत नयचक्रमां पण 'अस्ति भवति विद्यति पद्यति वर्त्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः' तथा 'तथा चाचार्यसिद्धसेन आह—यत्र हि अर्थो वाचं व्यभिचरति नाभिधानं तत्' । आ बधा व्याकरण-सम्बन्धी वाक्योथी दिवाकरसूरिए व्याकरणनी रचना करी हशे एम मालूम पडे छे अने ते व्याकरणनुं नाम क्षपणक व्याकरण हशे ! क्षपणकनी कृती होवाथी आ व्याकरणनी क्षपणकव्याकरणरूपे प्रसिद्धि थइ होय तो विक्रमना नवरत्नोमां क्षपणकनामथी सिद्धसेनदिवाकरसूरि ज आज सुधी समजाय छे एटले विक्रमना समसामयिकपणामां कशो अन्तराय आवतो नथी ।

न्यायावतार ग्रन्थना कर्ता तरीके सिद्धसेन दिवाकर सू० म० नी प्रसिद्धि छे । आ प्रसिद्धि न्यायावतार अने नयावतारने एक मानीने थई हशे ! नयचक्रनी व्याख्यामां सम्मतिनी साथे 'नयावतार' ग्रन्थनुं नाम आवे छे, पण न्यायावतारनुं नाम आवतुं नथी । अथवा आ प्रसिद्धिनुं मूळ कारण न्यायावतारनी एक कारिकाने हरिभद्रसूरिमहाराजे 'महामतिना उक्तं' एम कहीने लीधी छे । ते पदनी टीकामां जिनेश्वरसूरिमहाराजे अतिशयप्रज्ञ सिद्धसेन सूरि महाराजना नामनो करेलो उल्लेख हशे ! परन्तु आ सिद्धसेनसूरिमहाराज सिद्धसेन दिवाकरसूरिमहाराज छे के बीजा कोई सिद्धसेनसू० म० छे तेनो सावधानीपूर्वक विचार करवो जोइए । आ नयचक्रशास्त्रना अन्तमां नयावतारनो नयशास्त्ररूपे उल्लेख करवामां आव्यो छे, नहि के न्यायावतारनो । न्यायावतारमां तो नयोनी सूचनामात्र जोवामां आवे छे, तेनो कशो ज विचार देखातो नथी । तेमां अधिकपणे प्रमाणनुं ज निरूपण करवामां आव्युं छे । एटले आ न्यायावतार दिवाकरमहाराजे रचेलुं नयशास्त्र नथी । आना कर्त्ता बीजा कोई सिद्धसेन महामति हशे ! प्रख्यात दिवाकर शब्दनो प्रयोग छोडीने महामति शब्दनो उल्लेख बीजा सिद्धसेन सू. म. नी संभावना तरफ खेंची जाय छे ।

उमास्वाति महाराज.

आ आचार्यश्रीनो बनावेलो 'तत्त्वार्थसूत्र' नामनो ग्रन्थ श्वेतांबर अने दिगम्बर बन्ने जैन संप्रदायोने मान्य छे । नयचक्रकारे 'तत्त्वार्थसूत्र' तथा तेना स्वोपज्ञ 'भाष्य' ना वाक्यो प्रमाणरूपे उद्धृत कर्यां छे ।

---

१ आ विक्रम कोण छे आ बाबतमां इतिहासकारोमां अभिप्राय भेद प्रवर्त्ते छे । २ आ आचार्यना व्याकरणविषे नाथुरामजीप्रेमजी आशंका करे छे पण व्याकरणना विषयमां आचार्यना मतनो उल्लेख त्यारेज थाय के एमनुं कोइ स्वतंत्र-व्याकरण बनावेलुं होय ! जेम 'पुंक्षु' ए अनुभूतिस्वरूपाचार्यना मतमां बने छे. आ रूपनी एमणे व्याकरणमां सिद्धि करी छे. माटे कहेवाय छे । दिवाकर सू० म० ना आसिवायना अन्य पण एमना व्याकरण-विषयक मतोनी नोंध आ ग्रंथमां छे । माटे क्षपणक व्याकरणना कर्त्ता आचार्य श्री सिद्धसेनदिवाकर सू० म० छे एमां शंका लाववा जेवुं लागतुं नथी । ३ सम्मतिनी साथे ज नयावतारनुं नाम आवे छे, आथी सम्मति अने नयावतार एककर्तृक छे । ४–निशीथचूर्णि आदिमां आवता आ सिद्धसेन सू० म० होय !

'लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः' आ वचन उपलभ्यमान भाष्यमां उपलब्ध थाय छे। श्वेतांबरो आ भाष्यना कर्त्ता उमास्वातिम० ने माने छे। मल्लवादिसूरिमहाराजना समय सुधीमां तत्त्वार्थसूत्र ऊपर आ एक भाष्य ज हशे। आ भाष्य सिवायनी तत्त्वार्थसूत्रनी प्राप्त थती टीकाओमां सहुथी प्राचीन टीका दिगम्बर देवनन्दिनी छे के जेओ पूज्यपादना नामथी ख्यात छे ने तेओ विक्रमनी पांचवी या छठ्ठी शताब्दिना मनाय छे तेमनी छे। आ टीकानुं एक पण वाक्य मल्लवादिसूरिए लीधुं नथी।

आ आचार्यश्रीए तत्त्वार्थमां 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' अर्थात् गुण अने पर्याय वाळुं द्रव्य कहेवाय. गुण अने पर्याय बन्नेय वस्तुतः गुण छे। बन्नेमां भेद नथी, केमके भाष्यकारे 'भावान्तरं संज्ञान्तरञ्च पर्यायः' एम कह्युं छे माटे ज टीकाकारे क्रमभावी अने सहभावी भेदोने गुण कह्या छे अने भाष्यकारनो पण आ ज अभिप्राय होवाथी आगळ 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' आ प्रमाणे केवल गुणनुं ज लक्षण कर्युं छे। गुणथी पर्याय भिन्न विवक्षित होत तो पर्यायनुं पण लक्षण जरूर कर्युं होत। आ ज वातनुं दिवाकरसूरिए स्फुटीकरण कर्युं छे। वळी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' उमास्वाति म० ना आ सूत्रनुं ज पोषण सम्मतिमां थयुं छे। माटे उमास्वाति म० दिवाकरसूरिथी पूर्ववर्त्ती छे, एटले उमास्वातिम० नो समय विक्रमथी पूर्वनो छे तथा वाचक मुख्यजीए तेजं अने वायुने त्रस कह्या छे, अर्थात् वायु अने तेजनो मात्र त्रस शब्दथी ज व्यवहार कर्यो छे। त्रसने कशुं विशेषण लगाव्युं नथी। पू० शिवशर्म सूरि म० जाणे ए सूत्रनुं विवरण करवा न होय तेम वायु अने तेजने केवल त्रस न कहेतां तेने सिद्धान्तनो विरोध न आवे माटे सूक्ष्मत्रस कह्या छे, माटे उमास्वाति म० एमनाथी पण पूर्वना छे। आ नयचक्रनी टीकामां शिवशर्मसूरिनी कर्मप्रकृतिनुं प्रमाण आवेलुं छे। जेओ उमास्वातिम० ने चोथी सदीना अने शिवशर्मसूरिने पांचमी सदीना कहे छे, तेओए पोतानी मान्यतानुं संशोधन करवानी जरूर छे।

आ आचार्यश्रीए ५०० प्रकरणोनी रचना करी छे। जैन साहित्यमां उपलब्ध थती जैन संस्कृत ग्रन्थोनी रचनाओमां सौथी प्रथम आटला संस्कृत ग्रन्थनी रचना आमनी ज देखाय छे।

आ सूरीश्वरजी म० ना तत्त्वार्थने पू० याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्रसूरिजी तो आगम कहे छे। जैन परम्परामां चतुर्दश-पूर्वधर के दशपूर्वधर जे ग्रन्थोनी रचना करे छे ते आगम कहेवाय छे। आथी उमास्वातिम० दशपूर्वधर हता दशपूर्वधरोमां अपश्चिमश्रुतधर वज्रस्वामी म० थया छे जेओ छेल्ला दशपूर्वधर थया छे एमनी सत्ता विक्रमनी बीजी सदी मां मनाय छे। आमनाथी उमास्वातिम० पूर्वना होवा जोइए।

वि० सं० १५३ मां उत्तर मथुरामां श्रमण संघने मेळवी पोताना गुरु भाई आ० मधुमित्रना शिष्य आ० गन्धहस्तीए तत्त्वार्थ ऊपर महाभाष्य रच्युं छे। 'पूर्वस्थविरोत्तंसोमास्वातिविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्र-श्लोकप्रमाणं महाभाष्यं रचितम्, यदुक्तं तद्रचिनाचाराङ्गविवरणान्ते यथा—थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहिं तिपुव्वनाण जुत्तेहिं। मुनिगणविवंदिएहिं ववगयरागाईदोसेहिं ॥ १ ॥ बंभदीवियसाहामउडेहिं गंधहत्थिविबुहेहिं।

---

१. 'तत्र के गुणा इति' भाष्ये, तस्य टीकायां 'गुणग्रहणाच्च पर्याया गृहीता एवेत्यतो न भेदेन प्रश्नः, प्राक्च प्रतिपादितमेव गुणाः पर्याया इति चैकमिति' (पृ० ४३५)। २. 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' तत्त्वार्थ० २–१४। ३. आ० टी० सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इत्यागमो विरुद्धयते प्र. ७२।१।

विवरणमेयं रइयं दोसयवासेसु विक्कमओ ॥ २ ॥' आप्रमाणे हिमवंतस्थविरावलीमां जणाव्युं छे । आमांथी आ एक वात तो नक्की थाय छे के उमास्वातिम० ना तत्त्वार्थ ऊपर गन्धहस्ती आचार्ये महान् भाष्य रच्युं छे अने ए गन्धहस्तीम० वि. सं २०० मां विद्यमान हता। एटले तत्त्वार्थसूत्रना सूत्रयिता वि. सं २०० थी पूर्ववर्त्ती छे। केटलाको उमास्वाति म० ने यापनीयसंघना कहेवा ललचाय छे पण यापनीयसंघ वि. सं. २०५ मां नीकल्यो छे। एम दिगंबर आचार्य देवसेन कहेछे।ज्यारे उमास्वाति म० नो सत्तासमय विक्रमथी पूर्वनो सिद्ध थाय छे।

निर्युक्ति-अने आगमो

निर्युक्तिना कर्त्ता चतुर्दशपूर्वधर आ० भद्रबाहुस्वामी म० छे। प्राचीन आचार्य भगवंतो निर्युक्तिनी रचना वी० सं १७० मां थई छे एम माने छे।

न्यायावतारनी प्रस्तावना पृ० १०३ मां 'निर्युक्तियाँ अपने मौजूदारूपमें सिद्धसेन के बादकी कृतियाँ है। अत एव सिद्धसेनपूर्ववर्त्तीसाहित्यमें स्थान नही। भाष्य और चूर्णियां तो सिद्धसेन के बादकी है ही' सिद्धसेनदिवाकरसूरिने आजना इतिहासकारो चोथी या पांचमी सदीना माने छे अने ते द्वारा निर्युक्तिनी रचना चोथी-पांचमी सदीथी पाछळनी सिद्ध करवानो प्रयत्न करी रह्या छे।

बृहत्कल्पमां छठ्ठाभागनी प्रस्तावनामां 'निर्युक्तिओनी रचना विक्रमना बीजा सैका पूर्वनी छे' आ प्रमाणे जणाव्युं छे१ एटले हवे इतिहासवेदिओ निर्युक्तिनी रचना बीजा सैकाथी पूर्वनी छे त्यां सुधी तो आव्या छे।

आम निर्युक्तिना निर्माणसमयमां मतभेद प्रवर्त्ते छे। प्रस्तुत नयचक्रमां निर्युक्तिओनी गाथाओ गृहीत थयेली छे। एटले विक्रमनी पांचमी सदीथी पूर्वनी निर्युक्तिओनी रचना छे एमां शंकाने स्थान नथी। निर्युक्तिनी जेम आ आचार्यश्रीए नंदिसूत्रनो पण पाठ लीधो छे। अने ते नंदिना मूळमां निर्युक्तिनी घणी गाथाओ मूलकार देववाचकगणीम० लीधेली छे. एटले नन्दिनी रचनाथी पण पूर्वनी निर्युक्तिओ छे।

केटलाक इतिहासकारो देववाचकगणिने देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण मानीने नन्दिनो रचनाकाळ वि० सं ९८० नो नक्की करे छे, पण ते ठीक नथी। देवर्द्धिगणिना गुरु देशीगणी छे, ज्यारे देववाचकगणीना गुरु दूष्यगणी छे। केटलाक प्राचीनग्रन्थोमां देववाचकगणीने देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण लख्या छे पण ते तो कल्पसूत्रनी स्थविरावलीमां देववाचकने देवर्द्धिगणी कह्या छे ते नामान्तर छे। आमनाथी आगमोने पुस्तकारूढ करावनार देवर्द्धिगणीक्षमाश्रमण जुदा छे आ वात कल्पसूत्रनी स्थविरावली जोतां माल्रुम पडशे। ए स्थविरावलीमां देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणनुं नाम बे वखत आव्युं छे। एटले देववाचकगणीनुं बीजुं नाम आ पण होवुं जोइए! कल्पसूत्रनी एक स्थविरावलीमां भिन्न भिन्न गोत्रीय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अने देवर्द्धिक्षमाश्रमण आम बे नाम आवे छे। एटले देववाचकगणिनुं बीजुं नाम देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण होवुं जोइए! आथी ज केटलाक पूर्वाचार्योए देववाचकजीने देवर्द्धिगणी लख्या छे। पण आगम लखावनार देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजीने नहीं। पू० मलयगिरिमहाराजे नन्दिनी टीकामां देववाचकजीनो स्पष्ट उल्लेख करेलो छे।

---

१ जो न्यायावतारनी प्रस्तावना मुजब निर्युक्तिओ सिद्धसेनसूरि म० थी पाछळनी कृतिओ छे तो बृहत्कल्पना छठ्ठा भागनी प्रस्तावना प्रमाणे विक्रमनी बीजी सदीथी पूर्वना दिवाकर म० तेओना ज लखाणथी सिद्ध थई जाय छे। २ 'तत्तो य थिरचित्तं उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं। देवड्ढिगणिखमासमणं माढरगुत्तं नमंसामि ॥ ११ ॥ देवड्ढिखमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥

नन्दिनी रचना मल्लवादिसूरिथी पण घणी प्राचीन हशे तेम नयचक्रमां नन्दिने आपेल विशेषण ऊपरथी अनुमानीए छीए। 'भगवदर्हदाज्ञाऽपि तथोपश्रूयते (नय० पृ. ७४९) अर्थात् नन्दिने भगवान अर्हंतनी आज्ञा कहे छे। आथी निर्युक्तिनी रचना घणी प्राचीन छे ए माटे हवे बहु विचारवानुं रहेतुं नथी अने ते अरसामां कोई पण भद्रबाहु थया नथी जे बीजा भद्रबाहुनी कल्पना करवामां आवे छे तेमने विक्रमनी छट्ठी सदीना कहेवामां आवे छे। एटले वी. सं. १७० मां थयेला भद्रबाहुस्वामीमहाराज निर्युक्तिना कर्त्ता छे।

जैनसिद्धान्तोनो मूल आधार बार अङ्ग छे। तेना*रचयिता पांचमा गणधर सुधर्मास्वामी म० छे। ते अङ्गो उपर उपाङ्गनी रचना स्थविरभगवंतोए करी छे। ते बन्नेनो उपयोग मल्लवादिसूरि म० छूटथी कर्यो छे। तेमां आचाराङ्ग स्थानाङ्ग अने भगवतीजी आ त्रण अङ्गसूत्रो छे। जीवाभिगम पन्नवणा आदि उपाङ्गसूत्रो छे। ते उपरांत सूत्र तरीके प्रसिद्ध नन्दी अने अनुयोगद्वारनां पण ग्रन्थकारे प्रमाण आप्यां छे। आ बधा ग्रन्थो अने तेना ग्रन्थकारो अतिप्राचीन काळना छे।

कात्यायन.

नयचक्रकारे पाणिनिना सूत्रो, वार्त्तिक अने तेना उपरना पातञ्जलमहाभाष्यनो ठेर ठेर छूटथी उपयोग कर्यो छे। पाणिनिना समय विषे विद्वानोमां मतभेद प्रवर्त्ते छे। महान् जर्मन पण्डित मेक्समूलर ई० पू० ३५० प्रो० वेबर ई० पू० ४०० गोल्स्टकर—डॉ. भण्डारकर अने बेलवलकर ई० पू० ७०० प्रि० राजवाडे ई० पू० ८०० भारताचार्य ई० पू० ९०० पण्डितसत्यव्रतसामश्रमी ई० पू० २४०० श्रीयुधिष्ठिरमीमांसक ई० पू० २८०० पहेलांना गणे छे। वासुदेव शरण अग्रलाल पाणिनिना ग्रन्थ अष्टाध्यायीमांथी पुरावाओ रजू करी पाणिनिने युधिष्ठिर अने परीक्षितना समकालीन कहे छे। युधिष्ठिर अने परीक्षितनो काळ पण निश्चित करेलो छे जे तेमनी गणत्री मुजब आजथी लगभग ४३६९ वर्ष पूर्वे हतो।

पाणिनिना व्याकरण ऊपर अनेक वार्त्तिको बन्या छे। तेमां कात्यायनकृतवार्तिक ज प्रसिद्ध छे। व्या० महाभाष्यमां मुख्यपणे कात्यायनवार्तिकनुं ज व्याख्यान करवामां आव्युं छे। आ वार्त्तिककारना अनेक नामोमांथी 'वररुचि' नाम पण प्रसिद्ध छे। वैयाकरणोमां आ वार्त्तिककार प्रामाणिक ग्रन्थकार छे। पतञ्जलिए 'प्रोवाच भगवांस्तु कात्यः' एम कात्यायन माटे भगवान् शब्दनो प्रयोग कर्यो छे। पण शबरस्वामिए मीमांसादर्शन (१०—८—४) मां 'सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य' आ वाक्यद्वाराए कात्यायनना वचनने अप्रमाण ठराव्युं छे। अर्वाचीन सघळाय ग्रन्थकारोए कात्यायनने प्रामाणिक मान्या छे। कात्यायन पतञ्जलिथी पूर्ववर्त्ति छे अने पाणिनिथी उत्तरवर्त्ती

---

१ ई० स. १९५७ फेब्रुआरी विश्वविज्ञान. । २. १ कात्यायन. २ भारद्वाज. ३ सुनाग. ४ क्रोष्टा ५ वाडव ६ व्याघ्रभूति, ७ वैयाघ्रपद्य ये भाष्यटीकाओमां वृत्तिकारो छे। ३. केटलाक ऐतिहासिको 'वहीनरस्यैतद्वचनम्' आ वचन जोईने उदयनना पुत्र वहीनरथी आ वार्त्तिककार अर्वाचीन छे एम माने छे. ते अयुक्त छे वैहीनरिनो उल्लेख बोधायनश्रौतसूत्रमां प्रवराध्यायमां आवेछे, पतञ्जलिए पण वार्त्तिकनी व्याख्यामां लख्युं छे के 'कुरणबाडवस्त्वाह-नैष वहीनरः, कर्त्तर्हि, विहीनर एष विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्, विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः' कुरणबाडवना समयमां 'वहीनर' पाठ हतो. तेने अशुद्ध मानीने विहीनर शब्द होवो जोइए एम कहे छे माटे उदयलपुत्र वहीनर थी अर्वाचीन मानवुं अयुक्त छे।

छे आमना समयविषे विद्वानोमां मतभेद छे। जैनग्रन्थकारो आर्यस्थूलभद्रना पिता अने नंदराजाना महामात्यशकटालना समान कालीन माने छे एटले वी० सं. १७०नी लगभग थया हशे।

पतञ्जलिकृतमहाभाष्यना समय बाबतमां पण विद्वानोनुं ऐकमत्य जोवामां आवतुं नथी योगदर्शनना कर्त्ता ए ज पतञ्जलि छे के बीजा ? ए हजु सुधी अणउकेल्यो एक प्रश्न छे.

वर्त्तमानमां आपणी समक्ष जे मुद्रित महाभाष्य छे एना अने नयचक्रमां अपायेला महाभाष्यना पाठोमां घणा स्थले भेद आवे छे आनुं कारण ए छे के समये समये महाभाष्य लुप्त थयुं छे अने समये समये एनो उद्धार पण थयो छे। राजतरङ्गिणीमां कल्हणे उल्लेख कर्यो छे के विक्रमनी आठमी शताब्दीमां महाभाष्यनो लोप थयो। बीजो पण आवा उल्लेखो मळे छे। आवा लोप अने उद्धारवखते ग्रन्थमां भारे परिवर्त्तनोनी सम्भावना काढी नाखवा जेवी नथी, उपर्युक्त पाठ भेदोनुं मूळ आवां परिवर्त्तनो छे एम निःशङ्कपणे कही शकाय।

नयचक्रना मूळमां 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेष' इत्यादि श्लोकने महाभाष्यकारे भ्राजसंज्ञक श्लोक कह्यो छे। आ श्लोकना कर्त्ता कैयट आदि टीकाकारोना मते कात्यायन हशे! एवुं अनुमान थाय छे। षड्गुरुशिष्य लखे छे के 'स्मृतेश्च कर्त्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नाश्च कारकः' अर्थात् भ्राजश्लोक-रचयिता ज कोई स्मृति ना कर्त्ता छे। आ कात्यायन शब्द गोत्रप्रत्ययान्त छे। कात्यायनकौशिकना पुत्र वररुचि पण कात्यायनना नामथी कहेवाय छे, एणे कोई स्मृतिग्रन्थ पण रच्यो हशे! आ कात्यायने पाणिनिसूत्रोथी केटलाक शब्दोनी सिद्धि नही थवाथी ते सूत्रो पर वार्त्तिकनी रचना करी। केमके "उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते। तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा महर्षिणः॥" एम वार्त्तिकनुं लक्षण छे। आ कात्यायनवररुचिनो समय पाणिनिना समयने अनुसरे छे परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलिथी ३००–२०० शतक पूर्ववर्त्ती छे केमके कात्यायनने पतंजलि सन्मान पूर्वक स्मरे छे। केटलाक ऐतिहासिक कात्यायननो समय वि० पू० चोथी सदी कहे छे।

भर्तृहरि.

भर्तृहरिए कोई पण पोताना ग्रन्थमां पोतानो कशो ज परिचय आप्यो नथी। तेम पोताना गुरुनुं नाम पण साक्षात् आप्युं नथी। नयचक्रग्रन्थमां मल्लवादिसूरिए भर्तृहरिना गुरुतरीके वसुरातनो उल्लेख कर्यो छे। वाक्यपदीना टीकाकार पुण्यराजे पण भर्तृहरिना गुरु तरीके वसुरातनुं नाम लीधुं छे। वसुरातनो मत नयचक्र सिवाय अन्यत्र कोई पण ग्रन्थमां जोवा जाणवा मळतो नथी। आ बन्ने गुरुशिष्यना मतनी नयचक्र कारे सारी एवी समालोचना करी छे। भर्तृहरि पण पोताना गुरुना मतनुं-आ मारा गुरुनो मत छे एम कह्या विना निरूपण करीने खण्डन करी स्वमतनुं निरूपण करे छे।

भर्तृहरिना समयविषे चीनी यात्री ईत्सिंगे घणी गेरसमज फेलावी दीधी छे। जेथी केटलाक विद्वानो भर्तृहरिनो समय विक्रमनी सातमी सदीनुं उत्तरार्ध माने छे। युधिष्ठिर मीमांसक विक्रम सं० ४५ थी पूर्वनो माने छे। भारतीय जनश्रुतिप्रमाणे भर्तृहरि विक्रमादित्यना मोटा भाई छे।

---

१. जुओ हेमचन्द्राचार्यरचित परिशिष्ट पर्व। २. २–४–४८८।

नयचक्रमां आवती भर्तृहरिना मतनी समालोचना निहाळतां भर्तृहरि ए शब्दाद्वैतवादी छे । तेनी दृष्टिमां स्फोट ज एकमात्र परम तत्त्व छे आ जगत् तेना ज विवर्त्त रूप छे एम स्पष्ट मालूम पडे छे । एटले 'ईत्सिंग भारतवर्षयात्रा' (पृ० २७४) मां भर्तृहरि ए बौद्धमतानुयायी हतो सातवार प्रव्रज्याने ग्रहण करी हती, आम जे जणाववामां आव्युं छे ते केवळ मतना व्यामोहथी लख्युं होय अथवा बीजा कोई भर्तृहरि होय । केमके भर्तृहरि पण बे त्रण थई गया छे । भट्टिकाव्य, भागवृत्ति, मीमांसाभाष्य, शतकत्रय, शब्दधातुसमीक्षा ग्रन्थोना कर्ता तरीके भर्तृहरीनुं नाम बोलाय छे । वाक्यपदी, तेनी व्याख्या, महाभाष्यदीपिका, अने वेदान्तसूत्रवृत्तिना रचयिता एक ज शब्दब्रह्मवादी भर्तृहरि छे । वसुरातना शिष्य आ भर्तृहरिना विषे ईत्सिंग कशुं जाणतो न हतो एम कहीए तो वधारे पडतुं नथी । माटे तेना आधारे भर्तृहरिनी सातमी सदी मानवी भूल भरेलुं छे, केमके विक्रमसं० षष्ठशतकना आरम्भ समयमां काश्मीरमां विद्यमान वामन तथा जयादित्ये अष्टाध्यायीना ऊपर सम्मिलितरूपथी रचेली सुन्दर विशाल व्याख्या छे जेनुं नाम काशिकावृत्ति छे तेमां ४-३-८८ सूत्रना उदाहरणमां भर्तृहरिकृत वाक्यपदीनुं उद्धरण छे । आ काशिकाथी पण प्राचीन दुर्गसिंहकृत कातंत्रव्याकरण-वृत्तिमां 'यावत्सिद्धमसिद्धं वा' आ वाक्यपदीयकारिकानो उल्लेख छे । एवं शतपथब्राह्मणना टीकाकार हरिस्वामी, जे स्कन्दस्वामीना शिष्य हता, जेओनो सत्ता समय एमना उल्लेखथी वि० सं० ६९६ नो छे तेओ कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकरने पोताना भाष्यमां' इति प्राभाकराः' आ शब्दथी स्मरण करे छे ।[1] "अन्ये तु शब्द-ब्रह्मैवेदम् 'विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया' इत्यत आहुः" आ रीते शब्दब्रह्मवादी भर्तृहरिने पण कारिकाना उल्लेखनी साथे याद करे छे । वळी कुमारिलभट्ट पण वाक्यपदीनी १-१३ मी कारिकानुं उद्धरण करे छे आ हेतुपरम्पराथी भर्तृहरिनो समय कुमारिलभट्टथी पण पूर्वनो सिद्ध थाय छे ।

काशीना समीपवर्त्ती चुनारगढना किल्लामां भर्तृहरिनी एक गुफा छे । ए गुफा विक्रमादित्ये बनावी छे एवी त्यां प्रसिद्धि छे । एवी रीते उज्जैनमां के ज्यां विक्रमनी राजधानी हती त्यां पण भर्तृहरिनी गुफा प्रसिद्ध छे । आथी फलित थाय छे के भर्तृहरि अने विक्रमादित्यनो जरूर सम्बन्ध होवो जोइए ।

अष्टाङ्गसङ्ग्रहकर्त्ता वाग्भट[2] अने आ नयचक्रना कर्त्ता पण भर्तृहरिनो उल्लेख करे छे । प्रबन्धचिन्ता-मणिमां भर्तृहरिनो महाराजा शूद्रकना भाई तरीके उल्लेख छे । महाराजाधिराज समुद्रगुप्त विरचित 'कृष्णचरित'-ना अनुसारे शूद्रक राजा कोई संवतना प्रवर्त्तक हता । मारा अनुशीलन प्रमाणे आ शूद्रक शुङ्गवंशमां वसुमित्रना पछी आवेल ओद्रक ज होवो जोइए (ओद्रक–भद्रक–शूद्रक एम लेखनमां परिवर्त्तन थयुं हशे !) वायुपुराणमां एवी हकीकत आवी छे के राजा वसुमित्र पछी ओद्रक राज्य पामशे वसुमित्रना जेवो ज पराक्रमी अने परदेशी प्रजा साथे युद्धमां उतरशे । आ ओद्रक ई० पू० १८० लगभग समयमां हतो । आ राजाए यवनोनी साथे लडाई करी हती । आ राजाए 'मृच्छकटिक' नामना नाटकनी रचना करी छे, जे नन्दकालीन भास कविना 'चारुदत्त नाटक' नुं ज रूपान्तर छे । आ शूद्रक राजाना विषे इतिहासकारो केवल एक राजा हतो एम कहीने मौन धारण करे छे ।

---

१ संस्कृतव्याकरण पृ० २६३ । २ ऐतिहासिको वाग्भटने द्वितीयचन्द्रगुप्तकालीन माने छे । अष्टांगहृदयभूमिका पृ. १४-१५ ।

धर्मकीर्त्तिना समसामयिक गोविन्दचन्द्रना पिता विमलचन्द्रसाथे मालवदेशीय राजवंशमां थयेला कोई भर्तृहरिनी भगिनीनुं लग्न थयुं हतुं एवो केटलाक संशोधकोनो मत छे पण आ भर्तृहरि वाक्यपदीना कर्त्ताथी भिन्न छे। शब्दब्रह्मसिद्धान्तना प्रतिष्ठापक भर्तृहरिने तो दिङ्नाग पण याद करे छे। माटे ईत्सिंगनो आधार लइने भर्तृहरि, धर्मकीर्त्ति, अने कुमारिल आदिनो समयनिर्णय करवो ए ऐतिहासिकोनी भूल छे।

कटन्दी.

नयचक्रकार नयचक्रमां वैशेषिकमतना निरूपण अने निराकरणना प्रसङ्गे 'कटन्दी' नामक ग्रन्थनो उल्लेख करे छे। आ ग्रन्थ कणादसूत्रना ऊपर भाष्य या टीकारूप हशे! ए ग्रन्थना कर्त्तानुं नाम आ ग्रन्थथी जाणवामां आवतुं नथी केमके ग्रन्थकार केवळ 'कटन्दीकार' आवो सामान्य उल्लेख करे छे। आ कटन्दीकार वैशेषिक पण्डित हशे! हालमां उपलभ्यमान वैशेषिक–ग्रन्थोमां आ भाष्य के टीकानी साक्षी के एना ऊपर टीका–टिप्पणो के उद्धरणों कर्यां होय तेम देखातुं नथी। पण 'अनर्घराघवनाटक' ना पांचमा अङ्कमां कटन्दीनो वैशेषिक–पण्डित तरीके रावणना नामनो उल्लेख छे–"रावणः–भो भो लक्ष्मण! वैशेषिककटन्दी-पण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि क्वासौ रामः? तेन सह विवदिष्ये" आ पंक्तिथी रावण कटन्दीनो कर्ता छे एम स्पष्ट थाय छे। 'रुचिपति उपाध्याये' कटन्दीनो रावणभाष्यतरीके उल्लेख कर्यो छे अने आ ज ठेकाणे 'न्यायकन्दली'नो पुरावो पण टांक्यो छे। आ रावणने ज वेदभाष्यलखनार 'सायणाचार्ये' पोताना भाष्यमां स्मरण कर्यो हशे! 'वैदिकसाहित्य' (पृ. ३७) मां बलदेव उपाध्याय लखे छे के 'रावणे ऋग्वेद ऊपर भाष्य पण लख्युं छे अने साथे साथे पोतानो पदपाठ पण प्रस्तुत कर्यो छे'। वाक्यपदीयटीकामां टीकाकार पुण्यराजे 'पर्वतादागमं लब्ध्वा' आ कारिकानी व्याख्यामां 'पर्वतात् त्रिकूटैकदेशवर्तित्रिलिङ्गैकदेशादिति, तत्र ह्युपलतले रावणविरचितो मूलभूतो व्याकरणागमस्तिष्ठति' आ उल्लेखमां आवतो पण रावण कटन्दीकार ज हशे! तथा वेदान्त शङ्करभाष्यनी रत्नप्रभानामनी टीकामां लख्युं छे के 'रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिक-दृष्ट्या वेदं भाष्यम्' आम वैशेषिक–मतमां रावणप्रणीतभाष्य नी सत्ता सिद्ध थाय छे। आ बधा रावण एक ज होय तो आनो समय पतञ्जलिना पछीनो अने वसुरातथी पूर्वनो सिद्ध थाय छे।

१९६९. वि० सं० मां ब्राके इत्युपाह्व गंगाधरभट्टना पुत्र महादेव शर्माए संशोधित वैशेषिकदर्शननी प्रस्तावनामां लख्युं छे के 'पदार्थसङ्ग्रहाभिध-प्रशस्तदेवप्रणीत-वैशेषिक सूत्रभाष्यस्य साक्षात् परम्परया वा व्याख्या-रूपैका, द्वितीया तु रावणप्रणीतभाष्यं भारद्वाजीया वृत्तिरिति द्वे प्राचीनतरे रावणभाष्यस्य सद्भावः किरणा-वलीभास्करकृतनाममात्रनिर्देशादवगम्यते' आथी अनुमान थाय छे के आ भारद्वाजीया वृत्ति ज वाक्यग्रन्थ हशे अने भाष्यग्रन्थ रावणकृत कटन्दी छे। आ बन्ने ऊपर प्रशस्तमतिनी टीका छे टीकानुं नाम शुं हशे ए अज्ञात छे। आ प्रशस्तमति नयचक्रकार–मल्लवादिसूरिजीना पूर्ववर्त्ती छे। आ वात तो निश्चित ज छे। परन्तु केटला प्राचीन छे ए अनिश्चित छे। पदार्थधर्मसङ्ग्रहना कर्ता प्रशस्तदेव एमना जेटला प्राचीन नथी; एने ज प्रशस्तपाद पण कहेवामां आवे छे। आ भारद्वाजवृत्तिनो ज शङ्करमिश्र पोताना वैशेषिकसूत्रोपस्कारमां उल्लेख

---

1 जुओः—वाराणसीय चौखम्बा संस्कृतसीरिज मुद्रित न्यायबिन्दुनी प्रस्तावना।

करे छे उपलभ्यमान वैशेषिकसूत्रना टीकाकारो प्रशस्तमतिना मतनो क्वचित ज उल्लेख करे छे । वैशेषिक दार्शनिक आ प्रशस्तमति मल्लवादिसूरीश्वरना पूर्ववर्त्ती छे आ तो सिद्ध ज छे ।

बीजा अनेक प्राचीन वैशेषिकसूत्रना व्याख्यानग्रन्थो होवा छतां नयचक्रकार कटन्दीनुं ज खण्डन शा माटे करे छे? जवाबमां ए ग्रन्थमां जैनदर्शन तरफथी पूर्वपक्ष करीने तेनुं खण्डन करवामां आव्युं छे माटे तेना प्रतिखण्डनार्थे ग्रन्थकारे तेनुं ज ग्रहण कर्युं छे एम लागे छे । नयचक्रना अभ्यासथी आ हेतु सहज जाणी शकाय छे ।

कटन्दीमां आवता स्याद्वादना खण्डनथी एक अनुमान थाय छे के ते समयमां पण स्याद्वादने न्यायनी शैलीए चर्चवामां आवतो हशे ! आजे आ कटन्दीग्रंथ लुप्तप्राय थई गयो होवाथी आपणने अप्राप्य थई गयो छे । अमारुं तो मानवुं छे के जैन शासनमां अमुक विद्वाने ज न्यायशैलीए प्रथम वस्तुनिरूपण कर्युं छे ते पहेलां सामान्यतया निरूपण हतुं आवी कल्पना करवी निर्मूळ छे ।

प्रशस्तमति.

आ एक वैशेषिक सूत्रना व्याख्याकार छे आनो उल्लेख जैन-बौद्धवाङ्मयमां घणो जोवा मळे छे । तेमनाथी निर्मित कयो ग्रन्थ छे ते जाणवामां आव्युं नथी तो पछी तेनी प्राप्तिना विषे शुं कहेवुं ! फक्त ते ते ग्रन्थोमां एमना नामथी उद्धरेला वाक्यो ज जोवा मळे छे । आ नयचक्रमां टीकाकार "कटन्द्यां टीकायाञ्च' (पृ. ६२०) एम चशब्दथी कटन्दीनी एक टीकानुं ज्ञान करावे छे । आगळ 'टीकायां प्रशस्तमतौ' (पृ. ६२१) आम लखीने ते टीकाना कर्त्ता प्रशस्तमति छे, एम आपणने भास करावे छे । आथी वैशेषिकसूत्रनी कटन्दीटीका रावणकृत छे तेना उपर प्रशस्तमतिनी टीका छे एम तात्पर्य नीकळे छे । जेम पूर्व अरोमां वसुबन्धु अने दिङ्नाग आ बन्नेना मतनुं साथे साथे निराकरण कर्युं छे तेवी रीते अहीं पण कटन्दी अने तेनी टीकानुं साथे ज खण्डन कर्युं छे ।

'युक्तिदीपिका' नामनो सांख्यकारिका ऊपरनो टीकाग्रन्थ छे । तेमां प्रशस्तमतिनुं नामछे तथा दिङ्नाग सुधीना बौद्धपण्डितोना मतनुं खण्डन छे । पण तेमां धर्मकीर्त्तिनो उल्लेख नथी तेथी आ ग्रन्थ दिङ्नाग अने धर्मकीर्त्तिना मध्यकालमां रचेलो छे एम अनुमान कराय छे ।

कणाद.

आ ऋषि वैशेषिक दर्शनना प्रवर्त्तक छे आ दर्शन घणुं प्राचीन छे नित्य द्रव्योमां 'विशेष' नामना पदार्थ-पर घणो भार मूकवामां आव्यो छे तेना ऊपरथी ए दर्शननुं 'वैशेषिक' एवुं नाम पड्युं छे । आ दर्शनना रचनार माटे 'कणाद' 'कणभुक्' 'कणभक्ष' अने 'औलूक्य' एवी संज्ञा पण वापरवामां आवे छे । आमां मुख्य प्रतिपाद्य पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय अने अभाव छे । जेने अनेक दर्शनकारो एक या बीजारूपथी स्वीकारे छे आ वैशेषिक सूत्रो अतिप्राचीन होवाथी पाठभेद होवानो बहु संभव रहे छे माटे नयचक्रमां आवता पाठो साथे मुद्रित वैशेषिकसूत्रनो पाठभेद देखाय ए स्वाभाविक छे ।

---

१ मया विगृह्यैवात्र वादः सैद्धार्थीयमतावलम्बिनं (महावीरमतावलम्बिनं) त्वामेवोद्दिश्य इत्यादि ग्रन्थथी जैनमतनो विचार कर्यो छे ।

आ सूत्रोनो सारांश लइने प्रशस्तपादाचार्ये एक भाष्यनुं निर्माण कर्युं जेने 'प्रशस्तपादभाष्य' कहेवामां आवे छे। वस्तुतः आ भाष्यमां भाष्यलक्षण न होवाथी एने भाष्य न कहेवुं जोइए। प्रशस्तपादाचार्य पण आ निबन्धने भाष्य न कहेतां पदार्थधर्मसङ्ग्रह' कहे छे। 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' (पृ. ५३२) मां पण 'पदार्थ-प्रवेशकग्रन्थ' तरीके एनो उल्लेख कर्यो छे। प्रशस्तपादाचार्यनो समय ई० स० पांचमी सदी मनाय छे।

उपनिषत् महाभारत तथा वैदिक ग्रन्थोना घणां उद्धरणो नयचक्रमां आवे छे अने स्वनिरूपणने मळतुं निरूपण बताववा 'अन्वाह' आ प्रमाणे वाक्य मूकीने उपनिषदोनां प्रमाण टांक्या छे। आ बधानो रचनाकाळ ब्राह्मणपण्डितो घणो प्राचीन माने छे। आ उपनिषत् आध्यात्मिक ज्ञाननां सरोवर छे। आ सरोवरथी ज्ञाननी भिन्न भिन्न नदीओ निकळीने भारतमां व्यापेली छे। सांख्य-वेदान्त आदि दर्शनोनी आधारशिला छे। आ उपनिषत् वेदना अन्तिमभागमां ज्ञाननुं निरूपण छे. उपनिषदोनी संख्या घणी होवा छतां दश उपनिषत्ने वेदान्तियो प्रधान माने छे।

वैशेषिक मतनुं ज्यारे खण्डन चाल्युं छे त्यारे मल्लवादिसूरिए 'निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात्' (सप्तमारे) आ वचननो उल्लेख कर्यो छे। उद्योतकरे पण न्यायवार्तिकमां आ वचन लीधुं छे। पण आ वाक्य उद्योत-करनुं नथी। बीजा कोई वैशेषिकसूत्र ऊपरना प्राचीन ग्रन्थनुं हशे! आ प्राचीन ग्रन्थ वाक्यग्रन्थ हशे! तेथी ज टीकाकारे आगळ जतां 'इति तु वाक्यकाराभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः' आ वाक्य मूकीने वाक्यकारनी सूचना करी छे एम लागे छे! आ वाक्यग्रन्थ ऊपर कोई भाष्यग्रन्थ हशे! एम पण आ वचनथी ज जाणवा मळे छे। आ भाष्य ऊपर प्रशस्तमतिनी टीका हशे ए सम्भवित छे! जे टीकानी ग्रन्थकारे स्थळे स्थळे समालोचना करी छे। जो के वादिदेवसूरि म० 'स्याद्वाद रत्नाकर' मां वैशेषिकसूत्र ऊपर भाष्यकार तरीके आत्रेयनो उल्लेख कर्यो छे। आ भाष्य तेमनुं छे के बीजा कोईनुं ते नक्की करवानुं बाकी रहे छे।

'तंत्रार्थसङ्ग्रहादिभ्योऽवगन्तव्यम्' आ रीते टीकाकार कोई ग्रन्थनी भलामण करे छे। ते तंत्रार्थसङ्ग्रह छे अथवा 'तत्र' आ रीते शोधीने 'अर्थसङ्ग्रह' नामनो ग्रन्थ अथवा 'तत्रार्थः' आम शोधीने सङ्ग्रहादिभ्योऽवग-न्तव्यः' आ सङ्ग्रह व्याडिनामना आचार्यकृत व्याकरणविषयनो ज ग्रन्थ छे के बीजो कोई ग्रंथ छे आ जाणवुं कठिन छे।

---

१ प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्यतः। पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥' वैशेषिकसूत्रनी भाष्य भूमिकामां एक विद्वान् लखे छे के 'प्रशस्तपादाचार्यकृतं पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते, भाष्यतया केचिद्व्यवहरन्ति, तदसङ्गतम्, प्रणम्येत्यारभ्य पदार्थधर्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते परन्तु कालवशात् भाष्यादेरसौलभ्याच्च सूत्रपाठस्यातीवान्यथात्वं जातमित्यत्र न संदेहः। २ एक विद्वान आ उद्योतकरना विशे कहे छे के सुबन्धुकविए पोतना वासवदत्ताख्यानमां 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' आम कह्युं छे वासवदत्ताना आरम्भमां आ कविए 'सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये' आम विक्रमना विषे विलाप कर्यो छे। अहिं 'सा' शब्द अनुभूत अर्थने बतावनार होवाथी आ कविने विक्रमना समयनो सिद्ध करे छे, अथवा आ विलाप ज विक्रमथी अल्पसमय पछीना कविने बतावे छे। घणा काळ पछीना होय तो एवो विलाप ज न कराय, एटले उद्योतकर आ सुबन्धुथी पूर्वकालना छे। उद्योतकर दिङ्नागना मतनुं निराकरण करे छे आथी दिङ्नाग उद्योतकरथी अर्थात् विक्रमथी पूर्वकालीन छे. (पंचनदीयपंडित सुदर्शनाचार्यनी वात्स्यायनसमयसमीक्षामां) आम-मान-वाथी विक्रमसमकालीन कालिदास मेघदूतमां 'दिङ्नागानां पथि परिहरन्' आ श्लोकथी जे दिङ्नागनुं सूचन करे छे ते पण घटी शके छे। विक्रमादित्यनी सत्तामां इतिहासज्ञोमां विवाद छे एटले निश्चय करीने ऊपरनुं मन्तव्य मानी शकाय नहि।

"श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्" 'श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाऽधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथोक्तक्रमं ग्रहणे वर्त्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षम्' आ सांख्यसम्मत प्रत्यक्षनुं लक्षण अने व्याख्या छे आनुं खण्डन आ ग्रन्थकारे कर्युं छे। उद्योतकरना 'न्यायवार्त्तिक' मां दिङ्नागना 'प्रमाणसमुच्चय' मां सिद्धसेन दिवाकर नी 'द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका' आदि ग्रन्थोमां आ लक्षणनो उल्लेख जोवा मळे छे. पण आ लक्षण कया ग्रन्थ-मां कोनुं बनावेलुं छे ते उद्योतकर आदि कोई ग्रन्थकारे जणाव्युं नथी। हां; 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' मां वाचस्पतिमिश्रे 'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह–श्रोत्रादिवृत्तिरिति' आम कह्युं छे तो पण ग्रन्थनुं तो नाम कह्युं ज नथी। 'सांख्यसप्तति' नी व्याख्यारूप 'युक्तिदीपिका' नामनी टीकामां 'श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः' आ प्रमाणे जोवा मळे छे। आमां पण कया ग्रन्थनुं लक्षण छे ए स्पष्ट थतुं नथी।

षष्टितन्त्रम्.

परंतु वार्षगण्यनो बनावेलो अतिप्राचीन 'षष्टितंत्र' नामनो कोई विपुल ग्रन्थ संभळाय छे। किन्तु षष्टि तंत्रना प्रणेता 'पञ्चशिखाचार्य छे के वार्षगण्य छे अने पञ्चशिखाचार्य अने वार्षगण्य एक ज व्यक्तिनुं नाम छे के भिन्न भिन्न व्यक्ति छे ए विषयमां ऐतिहासिकोमां मतभेद प्रवर्ते छे।

'योगभाष्य' ना चोथापादना १३ मा सूत्रमां 'तथा च शास्त्रानुशासनं 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" आ श्लोक आवे छे। तेनी व्याख्यारूप 'तत्त्ववैशारदी'मां वाचस्पतिमिश्रे 'षष्टितंत्रस्य सांख्यशास्त्रस्य' आ प्रमाणे कह्युं छे। आ ज कारिकाने 'ब्रह्मसूत्र' ना बीजा अध्यायना भाष्यनी 'भामती' नामनी टीकामां वाचस्पतिमिश्रे 'अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः' एटले वाचस्पतिमिश्र षष्टितंत्रना कर्ता वार्षगण्य छे एम माने छे। आ नयचक्रमां तृतीय अरमां 'किमवशिष्यते वार्षगणे तंत्रे सुभाषिताभिमतम्' अर्थात् मल्लवादिसूरि पण षष्टितंत्रना कर्ता वार्षगण्यने माने छे। आ वार्षगण्य 'ईश्वरकृष्ण' ना पूर्ववर्त्ती ख्रिस्तना प्रथम शतकना मध्यमां वर्त्तमान सांख्ययोगाचार्य छे आप्रमाणे केटलाक ऐतिहासिको माने छे। चीनवासी ऐतिहासिको षष्टितंत्रना निर्माता पञ्चशिखाचार्य छे ईश्वर-कृष्ण पण षष्टितंत्रना कर्ता पञ्चशिखाचार्य छे एवी मान्यताने धारण करनारा छे। "एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तंत्रम्॥ शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥ सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितंत्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि" आ कारिकाओनो सारी रीते विचार करवामां आवे तो ईश्वरकृष्ण षष्टितंत्रने पञ्चशिखाचार्यनी कृति माने छे आ वात यथार्थ लागशे।

---

१. 'समस्ततंत्रार्थविघटनं' 'वार्षगणे तंत्रे' 'तेन बहुधा कृतं तंत्रं' 'कृत्स्नस्य षष्टितंत्रस्य' 'पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तंत्रं षष्टितंत्राख्यं' 'अयं पञ्चशिखः षष्टिसहस्रगाथात्मकं विपुलं तंत्रं' आ वचनोना आधारे तंत्र एटले षष्टितंत्र मनाय छे ते पंचशिख नामना आचार्यने वृषगण गोत्रना होवाथी वार्षगण, वार्षगण्य एम गोत्रप्रत्ययान्त शब्दथी कहेवामां आवे छे। आ षष्टितंत्रने योगशास्त्र पण कहेवामां आवे छे। योगशब्द सांख्यनो पर्याय पण छे 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' आम गीता-मां कहेवामां आव्युं छे। माटे ज वाचस्पति मिश्रे पण भामतीमां 'योगशास्त्रं व्युत्पादयता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः', आम लख्युं छे। अथवा योगशास्त्रनी प्ररूपणा करतां वार्षगण्य कहे छे एम व्याख्या करवाथी षष्टितंत्र योगशास्त्रनो ग्रन्थ छे एम मानवाने कारण नथी। आ सांख्याचार्ये योगना पदार्थोनुं निरूपण (निराकरणार्थे, अभ्युपगमसिद्धान्तसूचनार्थे) कर्युं होय। एटला ज माटे योगशास्त्रं व्युत्पादयता आम वर्त्तमानकालीनशतृप्रत्ययान्त पदनो प्रयोग कर्यो होय।।

'जयमङ्गला' मां 'पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तंत्रं षष्टितंत्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति तत्रैव षष्टिरर्थो व्याख्याताः' आप्रमाणे 'शङ्कराचार्य' पण कहे छे । 'सुवर्णसप्तति' मां पण "अयं पञ्चशिखः षष्टिसहस्रगाथात्मकं विपुलं तंत्रं प्रोक्तवान्' ए ज प्रमाणे जोवा मळे छे । आ षष्टितंत्र वाचस्पतिमिश्रना जोवामां आव्युं नथी एम अमारूं मानवुं छे कारण के 'रूपातिशयाः वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते' आ वाक्यने तत्त्ववैशारदीमां पञ्चशिखाचार्यनुं जणावे छे पण विक्रमनी छठ्ठी शताब्दिमां बनेली युक्तिदीपिकामां 'तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति' आ प्रमाणे नामोल्लेखपूर्वक 'रूपातिशयाः' आ वाक्यने टांक्युं छे । तेमां ज 'तथाच वार्षगणाः पठन्ति तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति इत्यत्र प्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् संसर्गाच्च सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति' आ वचन आवे छे के जेनो 'व्यासभाष्य' मां पण उल्लेख आवे छे । तेनी व्याख्यामां वाचस्पतिमिश्रे व्यासमहर्षिनुं छे एम जणाव्युं छे । आ वाक्यने केटलाक इतिहासप्रेमिओ न्यायसूत्रना 'वात्स्यायनभाष्य' मां जोईने व्यास अने वात्सायनना समयमां पौर्वापर्यनी कल्पना करे छे । आम षष्टितंत्रना कर्तृविषयमां चोक्कस निर्णय करी शकायो नथी । तेमां 'परमार्थ' नामना बौद्धभिक्षु अने ऐतिहासिकोनुं अणजाणपणूं ज कारण छे ।

अमने तो लागे छे के वार्षगण्य ए व्यक्ति विशेषनुं नाम नथी पण जेम माठर गोत्रनिष्पन्नाम छे पक्षिलस्वामीनुं वात्स्यायन छे अने उद्योतकरनुं भारद्वाज छे तेम पंचशिखनो ज अपर पर्याय वार्षगण्य हशे ? वृषगण गोत्रथी बनेलुं हशे ? पाणिनि सूत्र 'गर्गादिभ्यो यञ्' आ सूत्रना गर्गादिगणमां वृषगण शब्द छे 'वृषगणस्य गोत्रापत्यं वार्षगण्यः' आ प्रमाणे यञ् प्रत्ययान्त आ शब्द छे। 'नडादिभ्यः फक्' आ सूत्रमां आवेला नडादिगण मां 'अग्निशर्मन् वृषगणे' आ पाठ आवे छे वृषगण गोत्रमां अग्निशर्मन् शब्दथी फक्प्रत्यय आवे छे. आ गोत्र पारिभाषिक छे ।

वार्षगण्य ईश्वर कृष्णना गुरु छे प्रथम शतकवर्त्ती छे आ प्रमाणे परमार्थ कहे छे, पण ते बराबर नथी केमके सुप्राचीन अर्हदागम अनुयोगद्वार, नन्दिसूत्र. कल्पसूत्र तथा भगवतीजीमां पण षष्टितंत्रनु नाम आवे छे । अर्थात् षष्टितंत्र घणुं ज प्राचीन छे कोई ठेकाणे षष्टितंत्रना कर्त्ता तरीके पञ्चशिखाचार्यनुं नाम आवे छे तो कोई ठेकाणे वार्षगण्यनुं नाम आवे छे ते परस्पर विरुद्ध नथी पण एक गोत्रज नाम छे ज्यारे बीजुं व्यक्तिनुं नाम छे बन्ने एक छे एम लागे छे ।

ईश्वरकृष्ण.

नयचक्रकारे ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्य सप्तति' नी एक पण कारिका लीधी नथी । पण प्रधानपणे षष्टितंत्रमां निरूपेला ज पदार्थो लीधा छे । आथी ज अेमणे 'किमवशिष्यते वार्षगणे तंत्रे' आम कह्युं छे । ईश्वरकृष्ण विक्रमनी प्रथमसदीना मनाय छे । आ ग्रन्थकारे ज्यां ज्यां खण्डनीय विषय लीधो छे ते सर्वदर्शनो ना मूलभूत ग्रन्थोनो ज आधार लइने । आथी सांख्यसप्ततिनो आधार नहि लेवायो होय ! आ विषयमां विद्वानो विचार करशे !.

आ सांख्यसप्ततिनो खण्डनात्मक ग्रन्थ वसुबन्धुए रचेली परमार्थसप्तति छे एम बौद्ध ऐतिहासिकों माने छे । तेओ कहे छे के एक समये विन्ध्यवासी नामना सांख्याचार्ये वसुबन्धुनी अनुपस्थितिमां तेना गुरु

बुद्धमित्रने वादमां हराव्यो, केटलाक समय पछी गुरुना पराजयने सांभळीने वसुबन्धुए विन्ध्यवासीने शास्त्रार्थ माटे आमंत्रण आप्युं । परन्तु त्यारे ते विंध्यवासी मृत्यु पाम्या हता । तेथी पोताना मनने संतोषवा खातर सांख्यसप्ततिना खण्डनमां परमार्थसप्ततिनी रचना करी । परन्तु आ विंध्यवासी ईश्वरकृष्ण नथी एम अमने लागे छे । केमके केटलाक ऐतिहासिको एम पण कहे छे के ईश्वरकृष्णनो वसुबन्धुना शिष्य दिङ्नागनी साथे शपथ-पूर्वक शास्त्रार्थ थयो हतो । तेमां ईश्वरकृष्णे हारी गया होवा छतां बौद्धधर्मने स्वीकार्यो नहीं । आथी खिन्न थई दिङ्नागे लोकोपदेश बन्ध करी दीधो । पछी आर्यमञ्जुश्रीनी प्रेरणाथी शान्त थईने प्रमाणसमुच्चयनी रचना करी एम परस्पर विरुद्ध वातोथी संशय थाय छे के आ बे कथनोमां कयुं साचुं छे ! गमे तेम होय सांख्य-सप्ततिना कर्त्ता विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नथी । केमके बन्नेनो सिद्धान्त भिन्नभिन्न छे । हां, रुद्रिल नामना एक सांख्याचार्य हता । तेनी साथे बुद्धमित्रनो वाद थयो हशे ! 'यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च । वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विंध्यवासिता ॥' आ प्राचीन कारिकामां विन्ध्यवासी रुद्रिलनो उल्लेख छे । अनुयोगद्वारमां कनकसप्ततिनो उल्लेख छे आ कनकसप्तति (सुवर्णसप्तति) सांख्यसप्तति मानवामां आवे तो ईश्वरकृष्ण विक्रमराज्य कालनो अथवा तेनाथी पूर्ववर्त्ती साबित थाय छे । आ वात तो नक्की छे के वसुबन्धु अथवा दिङ्नाग नी साथे ईश्वरकृष्णनो कोई पण सम्बन्ध न हतो ।

शङ्करस्वामी, हरिभद्रसूरि, अने माठराचार्य आ त्रणे विद्वान, वसुबन्धुना शिष्यो हता । माठराचार्ये सांख्य-सप्ततिनी व्याख्या रची छे जेनो चीनीभाषामां अनुवाद परमार्थ महाशये (५००--५६० ई. स) कर्यो हतो एम बौद्ध ऐतिहासिको कहे छे । आ वातने इतिहासकार तिलकमहाशय स्वीकारता नथी । अमे पण एम ज मानीये छीए । केमके माठरवृत्ति अने परमार्थना अनुवादमां थोडुं पण साम्य देखातुं नथी । माठरवृत्तिमां ईश्वरकृष्णने बहुमानपूर्वक याद करे छे । माठरनुं नाम पण अनुयोगद्वारमां मिथ्याश्रुतना उदाहरणमां आवे छे । श्रीभगवतीजीमां केवल षष्टितंत्रनो ज उल्लेख छे माटे ईश्वरकृष्ण अने अनुयोगमां पठित माठर ज माठराचार्य होय तो माठराचार्यनो समय श्रीभगवतीजीना पछी अने अनुयोगद्वारनी पहेलांनो छे एम सिद्ध थाय छे । अनुयोगद्वारकर्ता आर्यरक्षितसूरिजीनो समय विक्रमसंवत ५२ मां जन्म अने दीक्षा ७४ युगप्रधानपद ११४ स्वर्गवास १२७ मां छे ।

वसुबन्धुना शिष्य हरिभद्रसूरि पण जैनमतप्रसिद्ध अनेकान्तजयपताकादि महान् ग्रन्थोना रचयिता हरिभद्रसूरीश्वरथी जुदा छे । जैनाचार्य हरिभद्रसूरिए तो पोताना ग्रन्थोमां धर्मकीर्ति आदि प्राचीन अर्वाचीन बौद्धोना सिद्धान्तनुं निराकरणकर्युं छे ।

नयचक्रमां मल्लवादि सूरिम० प्रथम अरमां 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलम्' आम 'बुद्धवचन' 'अभिधर्मागम' तथा तेनी व्याख्यारूप वसुमित्र विरचित 'प्रकरणपाद' नो पण निर्देश

---

१ महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासी, प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशक इतीश्वरकृष्णः, इन्द्रियाणि विभूनीति विन्ध्यवासी, परिच्छिन्नपरिमाणमित्यपरे. अधिकरणमेकादशविधमिति विन्ध्यवासी, त्रयोदशविध-मित्यपरे, संकल्पाभिमानाध्यवसायानामन्यत्वमपरेषाम्, एकत्वं विंध्यवासिनः, अन्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विंध्यवासिनः, सूक्ष्मशरीरं नास्तीति विन्ध्यवासी, अस्तीति ईश्वरकृष्णादयः ।

कर्यो छे। तथा 'धर्मो नामोच्यते नामकायः पदकायो व्यञ्जनकाय' इति अभिधर्मपिटकआदिग्रन्थोना वचनो लेवामां आव्यां छे।

बुद्धनो निर्वाण समय ऐतिहासिको नक्की करी शक्या नथी। भारतीयरूपरेखामां जयचन्द्र विद्यालङ्कार ई० पू० ५४४ जणावे छे, बौद्धदर्शनमां पं० बलदेव उपाध्याय वि० पू० ४२६ ई० पू० ४८२ बतलावे छे, ह्युनसाङ्गना समयमां बुद्धदेवनो निर्वाण समय कोइ १२०० वर्ष कहेता हता तो बीजाओ १५०० वर्ष कहेता हता केटलाको ९०० वर्ष बोलता हता, फाहियाननुं कहेवुं एम हतुं के बुद्धनिर्वाण ई० पू० ११०० मां थयुं हतुं केमके मूर्त्तिनी स्थापना बुद्धना परिनिर्वाण पछी ३०० वर्षे थई हती। ते वखते हान देशमां चात्रवंशी महाराजा पिङ्गनुं राज्य हतुं पिङ्गनो शासन काल ई० पू० ७५०–७१९ हतो।

भगवद्दत्त महाशय बुद्धदेवनुं निर्वाण भारत युद्धनी पछी १३५० वर्षे अर्थात् वि० पू० १७३० मां थयुं हशे एम जणावे छे। पन्यास श्री कल्याण विजयजी 'वीरनिर्वाण संवत् और जैनकाल गणना'मां महावीर निर्वाणथी १४ वर्ष ५½ मास पूर्वमां बुद्धनुं परिनिर्वाण थयुं छे एम जणावे छे आम बुद्धनो निर्वाण समय अचोक्कस छे।

बुद्ध निर्वाणना पछी अल्प वर्षोमां ज प्रथम परिषद् (सङ्गीति) मळी। बीजी परिषद् विक्रम पू० ३२६ मां अने त्रीजी अशोक राजाना राज्यकाळमां थई हती। आ त्रणे सभाओमां सूत्र, विनय, अने अभिधर्मनो क्रमशः सङ्ग्रह थयो। ते पछी पाटलिपुत्रना राजा कुशानवंशीय कनिष्कद्वारा काश्मीरना समीपमां भेगी थयेली चोथी समितिमां द्वितीय वसुमित्र अने अश्वघोषपुरस्कृत स्थविरवादियोए त्रिपिटक ऊपर भाष्य बनाव्यां जेने 'महाविभाषा' कहे छे।

कनिष्कना समयविषे ऐतिहासिकोमां मतभेद चाले छे। केटलाक ऐतिहासिको ई० पू० १०० मां कनिष्कनो[1] शासन काळ कहे छे। आनी राजसभामां पण्डित नागार्जुन अने अश्वघोष हता। अश्वघोष महायान सिद्धान्तना प्रवर्त्तक छे एम मनाय छे।

नागार्जुन.

अश्वघोषना पछी नागार्जुन थया। एमणे 'मध्यमकारिका' 'विग्रहव्यावर्त्तिनी' आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे। गौतमीपुत्र यज्ञश्रीना समसामयिक मनाय छे। जेथी ई० प्रथम शतकनो प्रारम्भकाल आवे छे। आ नागार्जुने पोताना 'सुहृल्लेख' ग्रंथमां यज्ञश्री सातवाहनने परमार्थ अने व्यवहारनी शिक्षा आपी छे। प्रज्ञापारमितामां विस्तृत विवेचन करायेला माध्यमिक मतने तर्क रीतिथी विस्तारपूर्वक विवेचन करनार नागार्जुने माध्यमिक कारिकामां शून्यवादनी प्रतिष्ठापना करी छे। जे बुद्धना प्रतीत्य समुत्पादने विकसित करनार छे। आ कारिकामां नागार्जुन पोतानी तार्किकशक्ति अने अलौकिक प्रतिभानो परिचय करावे छे। आ जगत उत्पत्ति,

---

१ मातृचेट एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार छे। कनिष्कना समयमां ते वृद्ध हता। कनिष्के तेने पोतानी सभामां आववानुं आमंत्रण आप्युं। मातृचेट आववामां असमर्थ हता। तेथी कनिष्कने पत्र लख्यो। ते पत्र 'महाराज कनिष्कलेख'ना नामथी तिब्बती भाषामां हाल पण विद्यमान छे। आ कनिष्क, बुद्धथी ४०० वर्ष पछी थया हता। (भारत वर्षका इतिहास पृ० ३३१) ह्यूनसांग पण कनिष्क, बुद्ध नि० ४०० वर्षमां हता एम कहे छे।

स्थिति अने व्ययरूपथी अनाद्यनन्त स्वरूप छे ।८आ दार्शनिकोनी मान्यता छे । नागार्जुन तो आ मान्यतानुं निराकरण करे छे । कार्यकारणभावनी कल्पना ज टकी शकती नथी एटले उत्पत्ति वगेरे केम थई शके ! अने आ कल्पनानो 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ (चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ उत्तरार्ध पाठान्तर) आ माध्यमिक कारिका (१।७) थी निराकरण करेछे । आ ज कारिकाने लईने नयचक्रकारे नियमनियमार (१२) मां विस्तारपूर्वक विचार कर्यो छे । आनी सिद्धिमां, असिद्धि, अयुक्ति, अनुत्पाद, सामग्रीदर्शन अने अदर्शनरूप हेतुओं के जेनुं निरूपण प्रमाण-वार्त्तिकमां पण विस्तारथी करेलुं छे तेज हेतुओ लईने आ ग्रन्थकारे पण शून्यवादनुं निरूपण कर्युं छे । अन्ते आज वादनुं अरना अन्तरमां प्रौढ युक्तिओथी निराकरण कर्युं छे ।

आमना शिष्य आर्यदेवे 'चतुःशतक' 'हस्तवालप्रकरण' आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे हस्तवाल-प्रकरणनी 'रज्जवां सर्प इति ज्ञानं' आ कारिकाने नयचक्रकारे लीधी छे । आ ग्रन्थनुं बीजुं नाम 'मुष्टिप्रकरण' पण छे । आना ऊपर दिङ्नागे एक व्याख्या लखी हती ।

वसुबन्धु.

आचार्य वसुबंधु बौद्धमतना प्रकाण्ड दार्शनिक हता । राजा कनिष्कना समयमां 'ज्ञानप्रस्थान' ऊपर एक महान् भाष्यनुं निर्माण थयुं हतुं जे विभाषा कहेवाय छे । जेना ऊपर 'महाविभाषाशास्त्र' नामनी एक टीका छे । ए भाष्यनो आधार लइने वसुबन्धुए स्वोपज्ञ अभिधर्मकोशनी रचना करी हती । पूर्वमां आ विद्वान वैभाषिक हता । पछीथी एमना ज ज्येष्ठ भ्राता असंगना संसर्गमां आववाथी योगाचारमतमां आव्या हता । आमने माटे बौद्धविद्वानो लखे छे के पाछळथी पोताना पूर्वजीवनमां करेली महायाननी निन्दाना स्मरणथी भारे ग्लानि थइ हती जेथी पोतानी जीभने कापी नांखवा तैयार थइ गया हता । ते वखते पण तेमना भाइ असंगे बचावी लीधा हता अने तेमणे महायान संप्रदायनी सेवानो भार उठाव्यो हतो । एमणे महायानसंप्रदाय संबंधी घणा ग्रन्थो बनाव्या हता ।

आचार्य मल्लवादिसूरिए अभिधर्मपिटकना प्रत्यक्षविषयक वाक्यनुं सयुक्तिक निराकरण करती वेळाएं अभिधर्मकोश तथा तेना भाष्यनो विस्तारपूर्वक विचार करीने निराकरण कर्युं छे । ते ज प्रसङ्गमां प्रथम वसुमित्र-विरचित 'प्रकरणपाद' नुं पण प्रत्याख्यान कर्युं छे ।

आ वसुबन्धुना समयविषे मतभेद प्रवर्त्ते छे । जापानना विद्वान तकाकुसूए एनो समय ई० स० ५०० कह्यो छे पण आ वसुबन्धुना ज्येष्ठ भ्राता असङ्गना ग्रन्थो ऊपर चीनी भाषामां लगभग ई० स० ४०० मां विद्यमान धर्मरक्षे अनुवाद कर्यो छे माटे धर्मरक्षथी पूर्ववर्त्ती आ आचार्य छे । काव्यालङ्कारवृत्तिकर्त्ता वामन-पण्डिते पोतानी वृत्तिमां 'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः' आम लख्युं छे । त्यां इतिहासकारो 'कृतधियां' पदथी वसुबन्धुने वृत्तिकार याद करे छे एम माने छे । अर्थात् गुप्तवंशीय प्रथम चन्द्रगुप्तना मंत्री तरीके वसुबंधुने कहे छे । आ गुप्तवंशीय राजा तीजा शतकना पूर्वार्धमां थयो हतो । वसुबन्धुनो आ ज समय मानवो ठीक छे ।

गुप्तवंशना प्रारम्भसमयविषे इतिहासकारोनी मान्यतो अनेकविध छे। केटलाक विद्वानो आंध्रराज्य कालमां ज गुप्तवंश शरू थई गयो हतो आम माने छे। आ गुप्तवंशने ज आंध्रभृत्यवंश कहेवामां आवे छे 'एते प्रणतसामन्ताः श्रीमद्गुप्तकुलोद्भवाः। श्रीपार्वतीयांध्रभृत्य-नामानः चक्रवर्त्तिनः॥' आवी रीते कलियुगराजवृत्तान्तमां उल्लेख छे। आ वंश कृष्णानदीनी दक्षिणदिशामां श्रीशैलनामना पर्वतप्रदेशमां शरूआतमां राज्य करतो हतो। ते वंशमां तृतीय राजा प्रथमचंद्रगुप्त तेनो पुत्र समुद्रगुप्त हतो जेने संगीतविशारद होवाथी गन्धर्वसेन पण केटलाको कहेता हता। तेना पुत्ररत्नने केटलाक ऐतिहासिको पराक्रममां सूर्य जेवो होवाथी विक्रमादित्य द्वितीयचन्द्रगुप्त शकारि साहसाङ्क माने छे। एम मनाय तो आ विक्रमादित्यथी पूर्ववर्त्ती वसुबन्धु थशे।

चरकसंहिता.

आ नयचक्रमां चरकसुश्रुतना केटलाक वचनो जोवामां आवे छे। वैद्यकने लगता प्राचीनतम प्रमाणभूत पाछळना वैद्यक ग्रन्थोना मूळभूत चरकसंहिता अने सुश्रुतसंहिता आ बे ग्रन्थ छे। आ बे ग्रंथना पूर्व काळमां पण आयुर्वेद विषयना केटलाक सूत्रो अने शास्त्रो विद्यमान हता। पुनर्वसु आत्रेये 'छ' शिष्योने आयुर्वेद भणाव्यो। पहेला अग्निवेशे रचेला तंत्रनो प्रतिसंस्कार करीने चरके आ संहितानी रचना करी छे। केमके आ संहितामां दरेक अध्यायनी शरूआतमां 'आत्रेय उवाच' तथा स्थळे स्थळे अग्निवेश प्रश्न करे छे अने पुनर्वसु आत्रेय उत्तर आपे छे। आ रीते आ संहिता होवाथी आना मूळ उपदेशक पुनर्वसुआत्रेय छे। आमां अग्निवेशना वचनोने जुदां करी शेष वचन बधांय पुनर्वसु आत्रेयनां कही शकाय एम नथी केमके अध्यायोना अन्तमां 'अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसंस्कृते' आनो उल्लेख जोवामां आवे छे। एटले पुनर्वसु-आत्रेये उपदेश आप्यो। अग्निवेशे जे तंत्र रच्युं तेनो चरके प्रतिसंस्कार करीने चरकसंहिता करी। प्रतिसंस्कार एटले संक्षिप्तार्थनो विस्तार के अतिविस्तृतनो संक्षेपकरवो, ते पछी पण दृढबले पोताना ४१ अध्यायनो उमेरो कर्यो। आ प्रकारे कुल चरकसंहिताना १२० अध्यायो थाय छे।

प्राचीनकाळमां त्रण आत्रेयनां नाम मळे छे (१) पुनर्वसु आत्रेय (२) कृष्णा आत्रेय अने (३) भिक्षु आत्रेय। 'गान्धर्वं नारदो वेदं कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् (महाभारत, शां०, अ २१०) आ वचनथी आयुर्वेदना मूळ आचार्य कृष्णात्रेय होवा जोईए। श्रीकंठ टीकाकार 'कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः' आ रीते कृष्णात्रेयने ज पुनर्वसु कहे छे। 'अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितं' (चरक. चि० अ० २८ श्लो० १५३) तथा 'कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्' आ बधां वाक्योथी पुनर्वसु आत्रेयने ज कृष्णात्रेय कहे छे आथी नक्की थाय छे के पुनर्वसुआत्रेय अने कृष्णात्रेय आ बन्ने एक ज व्यक्तिनां नाम छे।

---

१ एवो कोई पराक्रमी राजा हतो जेनुं नाम विक्रमादित्य हतुं माटे ज बीजा पराक्रमी राजाओ पोताने पराक्रमी दर्शाववा ते ज विक्रमादित्यनो आरोप करीने अमुक राजा विक्रमादित्य छे आवुं नामकरण करे छे आवी मान्यता खोटी छे। २ 'ऋषींश्च सूत्रकारानभिमंत्रयमाणः', चरक. वि० अ० ८. तथा 'विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकाराणामृषीणां सन्ति सर्वेषाम्' चरक. शा० अ० ६. तथा 'विविधानि हि शास्त्राणि प्रचरन्ति लोके' चरक. वि० अ० ८॥ ३ आ पुनर्वसु आत्रेयने चान्द्रभागिनामथी पण ओळखाववामां आवे छे (चर. सू. १२ भेलसंहिता पृ. ३९ मां) आ नामथी आ आत्रेय चंद्रभाग नामना स्थळना रहेवासी होय एम लागे छे॥

भिक्षु आत्रेय—बौद्धजातकमां लखे छे के बुद्धना समये अथवा थोडाक पूर्वसमयमां तक्षशिलामां वैद्यक-विद्याना मुख्य अध्यापक भिक्षु आत्रेय हता। बुद्धना, प्रद्योतना अने बिम्बसारना चिकित्सक जीवक कुमारभृत्य आ आत्रेयनी पासे ज वैद्यक शीख्या हता। आ आत्रेय ज चरकसंहिताना मूळ प्रवक्ता पुनर्वसु आत्रेय छे आवो हर्षेल महाशयनो मत छे। आ मत युक्त होय तो ई० पू० ६०० नी आसपास आत्रेय थया हशे। केटलाक इतिहासवेत्ताओ पुनर्वसु आत्रेय अतिप्राचीन छे ने भिक्षु आत्रेयथी अन्य छे एम माने छे। परन्तु पुनर्वसु आत्रेय अने भिक्षु आत्रेय समकालीन छे केमके[1] यज्ञपुरुषीय अध्यायमां पुनर्वसु आत्रेयनी साथे चर्चा करनाराओमां भिक्षु आत्रेयनुं पण नाम छे।

चरक—पाणिनि सूत्रमां 'कठचरकाल्लुक्' थी निर्देश करायेला चरक यजुर्वेदनी शाखाना प्रवर्त्तक ऋषि छे, पण अग्निवेशतंत्रना प्रतिसंस्कर्त्ता चरक नथी। 'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्काय-दोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥' आ श्लोकथी चरकना टीकाकार चक्रपाणिदत्त टीकाना आरम्भमां चरकना प्रतिसंस्कार-कर्त्ता पतञ्जलिने नमस्कार करे छे तथा पतञ्जलि अने चरकने एक माने छे। तथा योगसूत्रवृत्तिकार भोज, योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु तथा वैयाकरण नागेशभट्ट पण चरक अने पतञ्जलिने अभिन्न माने छे केमके चरक मोक्षनुं साधन योग माने छे तथा तत्त्वोनी गणनामां सांख्य—सम्मत तत्त्वोनुं ज अनुकरण करे छे। जो के भर्तृहरि, कैयट आदि महाभाष्यना व्याख्याकारोए पतञ्जलिनो योगसूत्र के चरकसंहिताना कर्त्ता तरीके क्यांय पण उल्लेख कर्यो नथी। केटलाको योगसूत्रमां शून्यवाद अने विज्ञानवादनुं निराकरण आवतुं होवाथी तेना कर्त्ता पतंजलि नथी आम वदे छे पण आ कथनमां आ प्रबळ प्रमाण कही शकाय नहीं केमके शून्यवाद अने विज्ञानवाद बुद्धनो ज छे एम बौद्धो पण कही शके तेम नथी माटे पतंजलिने योगसूत्रकर्त्ता मानवामां प्रबळ विरोध आवतो नथी। केमके एक पतंजलि सामवेदनी शाखाना प्रवर्त्तक छे। योगसूत्रभाष्यमां वाचस्पतिमिश्र पण कोई पतंजलिनुं वचन टांके छे। युक्तिदीपिकामां पण पतंजलिना सांख्यविषयक वाक्यो जोवामां आवे छे। आंगिरस-पतंजलिनो उल्लेख मत्स्यपुराणमां छे। पाणिनि २—४—६९ उपकादिगणमां पतंजलिनुं स्मरण करे छे। चरकमां सांख्योनां चोवीस[2] तत्त्वोनुं वर्णन छे जे पञ्चशिखे ईश्वरने मूकीने चोवीस तत्त्वनुं वर्णन कर्युं छे। चरकमां तन्मात्रानो उल्लेख नथी। एटले आ चरकने पतञ्जलि मानवामां वांधो नथी। आ पतञ्जलि व्याकरणमहाभाष्यकर्ता पतंजलिथी अन्य छे। पातञ्जलशाखा, योगसूत्र अने निदानसूत्रना कर्ता एक ज पतञ्जलि छे। महाभाष्यकार पतंजलि अन्य छे। चरकमां वैशेषिकसूत्रमां कहेला पदार्थोनो उल्लेख[2] छे माटे चरकप्रतिसंस्करण कणाद ऋषिना पछीनुं अने महाभाष्यकार पतंजलिथी पूर्वेनुं होवुं जोइए। प्रख्यात राजाधिराज कनिष्कना दरबारमां एक वैद्य चरक हतो। केटलाक इतिहासकारो अ

---

१ जुओ चरक सू० अ० १५ यज्ञपुरुषीय अध्याय। २ प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥ अने पुरुष एम २५ तत्त्व आ सांख्यसप्ततिनो मत छे। पातंजलयोगसूत्र अने महाभारतमां २६ तत्त्व आवे छे। चरकमां २४ तत्त्वनो उल्लेख छे। २ समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः। स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्र नियतो गुणः ॥ यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि तत्। तद्द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ चर० सू० अ० १ श्लो ४९, ६० ॥

चरकने ज अग्निवेशतंत्रना प्रतिसंस्कर्त्ता माने छे परन्तु नामनी सदृशताने[1] मूकीने कोई चोक्खो पुरावो मळतो नथी। आ कनिष्कनो समय वि० पू० ५० नी आसपासनो छे। 'चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद' आ रीते बुद्धचरितमां अश्वघोष पण आत्रेयना उपदेशने संहिता कहे छे। चरक केवळ प्रतिसंस्कर्त्ता छे कर्त्ता नथी, एम माने छे। माटे अश्वघोषथी पण प्राचीन होवाथी तेना कर्त्ता कनिष्ककालीन चरक थई शकता नथी।

आ चरकसंहितामां ४१ अध्यायने उमेरनार दृढबल काश्मीर प्रान्तना पञ्चनदपुरमां जन्मेला छे। एमणे उमेरेला पाठोना उद्धरणकर्ता चक्रपाणि, दत्त अने विजयरक्षितआदि विद्वानो ते पाठने काश्मीरपाठ कहे छे। दृढबले उमेरेला पाठनुं उद्धरण वाग्भटे कर्युं छे। वाग्भटनो एक पाठ वराहमिहिरे पोताना कान्दर्पिक-प्रकरणमां टांक्यो छे। एटले वराहमिहिरथी पूर्ववर्त्ती वाग्भट छे। तेनाथी पूर्वकालीन दृढबल छे। वाग्भटने ई० पांचवी सदीनो मानवामां आवे छे। दृढबलनो समय ई० स० ३०० थी ४०० नी वच्चे मानवामां हरकत नथी। दृढबल कपिलबलनो पुत्र छे। आ कपिलबलनो अष्टाङ्गसङ्ग्रहमां वाग्भटे उल्लेख कर्यो छे।

सुश्रुत.

दिवोदासधन्वन्तरिए शल्यतंत्र विषे आपेला उपदेशनो सङ्ग्रह करी सुश्रुते आ तंत्र रच्युं। परन्तु वर्त्तमान सुश्रुतसंहितामां आयुर्वेदना आठे अंगोनुं वर्णन छे। प्रथम पांच स्थानमां १२० अध्याय छे। आने सौश्रुततंत्र कहे छे। आने वृद्धसुश्रुत पण कहे छे। तेमां पछीथी ६६ अध्यायोनुं उत्तरतंत्र उमेरायुं छे। आ उत्तरतंत्रमां अग्निवेश, भेल, विदेह, पार्वतक, जीवक वगेरेनां तंत्रोमांथी अनेक विषयो लीधेला छे। उत्तरतंत्रकारे उत्तरतंत्रने उमेरतां पूर्वनां पांच स्थानोमां सुधारो वधारो कर्यो छे के नहीं ए कहेवुं मुश्केल छे। आ उत्तरतंत्रने कोणे उमेर्युं? ते पहेलां सुश्रुततंत्रनो प्रतिसंस्कार कोइए कर्यो हतो के नहि? एना उत्तरमां हालनी प्रतिसंस्कृत सुश्रुत-संहिता मौन छे केमके अनेक टीकाकारोए उद्धृत करेला वृद्धसुश्रुतना पाठो आ सुश्रुतमां मळता नथी। सुश्रुतनो प्रतिसंस्कार अनेक वार थयो छे। प्रतिसंस्कारकर्त्ता तरीके वृद्धवाग्भट, जेज्जट, चन्द्रट अने नागार्जुनना नामो बोलाय छे।

'विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति' 'शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति' आ वचनथी सुश्रुत विश्वामित्रना पुत्र तरीके जाणवामां आवे छे। पहेलुं वचन सुश्रुतसंहितामां ज छे। ते अश्ववैद्यना विषे शालिहोत्रऋषिने पूछे छे एटले आ सुश्रुत महर्षिओना समसामयिक मानवामां आवे छे। आ सुश्रुतसंहिता मूलभूत सुश्रुत जाणवुं। प्रतिसंस्कृत थएल सुश्रुत चरकना प्रतिसंस्कार पछीना समयनुं छे। अर्थात् ई० स० पांचमा शतकमां उपलब्ध चरक अने सुश्रुतसंहिता तैयार थई गई हती।

---

१ जो के नागार्जुने पोताना ग्रन्थोमां कनिष्कना नामनो निर्देश कर्यो नथी अने कनिष्कना सिक्काओ सारनाथ साँची मथुरा वगेरे स्थलोथी मळ्या छे तेमां सं० ३ थी ४१ लखेलुं जोवामां आवे छे जो आ सं० ने कनिष्कनो मानवामां आवे तो नागार्जुन कनिष्कनो समसामयिक सिद्ध थतो नथी। तेम ज नागार्जुनना समसामयिक मनाता कुमारलात के जे सौत्रान्तिक मतना प्रधान आचार्य मनाय छे तेओए पोताना ग्रन्थमां कनिष्कनुं अतीत कालना नृपति रूपे वर्णन कर्युं छे।

२ चरकचिकित्सा स्थान ३०।२९०॥

आ सुश्रुतना प्रतिसंस्कारकर्त्ता तरीके डह्लन नागार्जुनने कहे छे। नागार्जुनो अनेक थया छे। बौद्ध शून्यवादी एक नागार्जुन छे, बीजा एक लोहशास्त्र, योगशतक आदि ग्रन्थोना कर्त्ता रसशास्त्रवेत्ता नागार्जुन छे, त्रीजो नागार्जुन शातवाहन राजाना मित्रतरीके हर्षचरितमां बाण कविए कहेल छे। प्रबन्ध-चिन्तामणिमां जैन श्रुतपरम्परामां शातवाहनना समकालीन नागार्जुनने रसशास्त्रना विद्वान मान्या छे।

सुश्रुतनो प्रतिसंस्कार ई० स० बीजाथी चोथा शतक वच्चे थयो छे केम के सांख्यकारिकामांथी सुश्रुतमां स्पष्ट उतारो करेलो छे। माटे कनिष्कना समसामयिक शून्यवाद प्रतिष्ठापक नागार्जुन केवी रीते प्रतिसंस्कर्त्ता थई शके! ते ज समयमां चरक वैद्य पण हता एम केटलाको माने छे। अने शातवाहनराजा यज्ञश्रीसातकर्णी कहेवाय छे। अने आजथी २००० वर्ष पूर्वेना नागार्जुनना 'उपायहृदय' नामना दर्शन ग्रन्थमां उद्देशप्रकरण पछी आगमवर्णनना प्रसङ्गमां 'भैषज्यकुशलः मैत्रचित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः' आ प्रमाणे सुश्रुतनो उल्लेख करवामां आव्यो छे। व्या० महाभाष्यकारे १-१-३ सूत्रना भाष्यमां 'सौश्रुतः' एम उदाहरण आप्युं छे। २-१-१७० सूत्रना 'शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्' आ वार्त्तिकना उदाहरणमां 'कुतपसौश्रुतः' आ प्रमाणे छे। पाणिनिए पण ६-२-३७ सूत्रना गणपाठमां सौश्रुतपार्थिवशब्द लीधो छे। एटले सुश्रुत आ बधा आचार्योथी पूर्ववर्ती छे। अने सुश्रुत आचार्ये पोताना ग्रन्थमां पूर्वाचार्यरूपे 'सुभूति-गौतम' नो उल्लेख कर्यो छे। आ सुभूति बुद्धना शिष्य सुभूति नथी, बौद्धग्रन्थोमां अध्यात्मविषयमां ज सुभूतिनो उल्लेख छे। आ सुभूति गौतम वैद्याचार्य अन्य छे। आ सुश्रुतनो समय हार्नल महाशय वि० पू० ६००. तथा ह्यासलर महाशय एवं श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ई० पू० १००० वर्ष माने छे।

मीमांसा.

मीमांसाना बे भेद छे—पूर्वमीमांसा अने उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसाना सूत्रकार जैमिनि ऋषि छे। उत्तरमीमांसाना सूत्रकार वेदव्यासमहर्षि छे। आ बंने महर्षिओ वेदना कर्मकाण्ड अने ज्ञानकाण्डना प्रखर विवेचक छे। आ बन्ने ऋषिओ समानकालीन छे केमके जैमिनिसूत्रोमां बादरायण (व्यास) नुं अने ब्रह्मसूत्रमां जैमिनिनो उल्लेख छे। कृष्णद्वैपायने वेदनो व्यास अर्थात् पृथक् करण कर्युं एटले एने वेदव्यास कहेवामां आवे छे। आ व्यासने ज महाभारत-पुराण आदिना रचयिता मानवामां आवे छे। आ विषयमां ऐतिहासिको एक मत नथी। व्यासना शिष्य जैमिनि छे एम केटलाक पण्डितो माने छे। जैमिनिना बार अध्यायना एक पण सूत्रमां बौद्धोना कोई पण तत्त्व-विचारनो उल्लेख नथी। आ शास्त्र यज्ञ विगेरे कर्मकाण्डनुं प्ररूपक छे। आ शास्त्रमां वस्तुतत्त्वना विचार विषे विशेष ध्यान आपवामां आव्युं नथी। केवळ यज्ञयागादि क्रियाओनी ज चर्चा करवामां आवी छे माटे ज मल्लवादिसूरिम० आ वेदवादिमीमांसकने अज्ञानवादी कह्यो छे। अने वस्तुतत्त्वविचारमां अज्ञानवाद मानवामां आवे तो क्रियानो उपदेश अने शास्त्र पण अव्यवस्थित थई जाय छे माटे अग्निहोत्रादिविधायक शास्त्र व्यर्थ छे एम कहीने विस्तारपूर्वक विवेचन करवा छतां

---

१ 'तामेकावलीं तस्मान्नागराजान्नागार्जुनो नाम लेभे च, त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्' (हर्षचरित) २ आद्य शातवाहन सिक्के सो वाहनवाळी सेनाथी राज चलाव्युं माटे तेने-तेना वंशने शातवाहन वंश कहेवामां आवे छे।

जैमिनिसूत्र वगेरे मीमांसाना एक पण ग्रन्थ के तेना वचन वगेरेनो उल्लेख कर्यो नथी तेमां शुं कारण हशे ते जाणवुं मुश्केल छे। मात्र वेदोनां वचन लइने मीमांसकसम्मत शैलीथी ज निराकरण कर्युं छे। विधि अनुवाद, इतिकर्त्तव्यता, भावना आदिनो विचार कर्यो छे। मीमांसकमतमां केटलाक आचार्य यज्ञ[1] वगेरे क्रियाने ज धर्म कहे छे। केटलाक आचार्य क्रियाथी थता अपूर्वने धर्म कहे छे। आ बन्ने मतोने लईने मल्लवादि सूरिए विचार कर्यो छे। जो के आ अभिप्राय मूळथी स्पष्ट थतो नथी पण टीकाकारनी व्याख्याथी स्पष्ट थाय छे। एवं वेदनी अपौरुषेयतानुं पण स्थाने स्थाने निराकरण कर्युं छे। एवीज रीते पुरुषवादमां पण कोई ग्रन्थनुं उद्धरण आप्युं नथी। आ वात पण विचार्य छे। जैमिनिसूत्रोना वार्तिककार तरीके उपवर्षनुं नाम खास आवे छे। पछी भाष्यकार शबर स्वामी छे। आ बन्ने आचार्यो मल्लवादि सूरि म० ना पूर्वे थई गया छे केमके आ आचार्यश्रीना अल्पकाळ पछीना कुमारिलभट्टे श्लोकवार्तिक आदिग्रन्थोमां शबर स्वामीना विचारोने दर्शाव्या छे। अने शबर स्वामीनो समय ई० स० १५० नी आसपासमां मनाय छे परन्तु अर्थथी शाबरभाष्यनी साथे अमुक स्थानमां ज नयचक्रव्याख्यामां सादृश्य जोवामां आवे छे जेम के 'उपदेशादेव न(?) तज्ज्ञानयोगः' आ मूळनी टीकामां 'वन्ध्याया दौहित्र स्मरणवत्' अने वैदिक स्वर्गादिविषयमां पूर्वविज्ञानकारणाभाव वगेरे। प्रायः टीकाकारे शाबरभाष्य जोयुं हशे।

— मल्लवादिसूरि समय मीमांसा —

आचार्य श्रीमल्लवादिसूरिजी पोताना आ ग्रन्थमां अनुयोगद्वार अने नन्दिसूत्रना वचनोनी साक्षी आपे छे माटे आ बन्ने सूत्रकारथी पश्चात्कालीन छे। अनुयोगद्वारना कर्त्ता पू० आर्यरक्षितसूरि छे एम हालना सघळाये विद्वानो कबूले छे, आ सूरि जो वज्रस्वामि म० ना विद्याशिष्य ज होय तो वी० नि० सं० ५९७ पछीना छे। नन्दीसूत्रना कर्त्ता देववाचकगणी छे के जेओ दूष्यगणिना अन्तेवासी छे। आ गणी आगमोने पुस्तकारूढ करावनारा देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणथी भिन्न छे। आ दूष्यगणी आचार्य नागार्जुनना शिष्य भूतदिन्नना शिष्य लोहित्यसूरिनो शिष्य छे। आम नन्दीनी स्थविरावलीना क्रमथी जणाय छे।[3] आमां आवेला नागार्जुन, नागेन्द्रवंशना अने अनुयोगधर श्री स्कन्दिलाचार्यना समसामयिक छे।

आ आचार्यनो समय पं० श्री कल्याणविजयजी प्रभावक पर्यालोचनमां वी० नि० सं० ८२७ थी ८४० (वि० सं० ३५७–३७०) सुधीनो जणावे छे। आथी नन्दिसूत्रना कर्त्ता देववाचक गणि वी० नि० सं० ८४० मां तो हता ज पण आ संवत् बराबर संगत होय तेम लागतुं नथी। पू० मल्लवादिसूरि म० नन्दिसूत्रने 'भगवदर्हदाज्ञाऽपि श्रूयते' अर्थात् भगवान् अरिहंतनी आज्ञा पण संभळाय छे एम गौरवपूर्वक

---

१ य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते, कथमवगम्यताम् यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा याचको लावक इति तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्म शब्देनोच्यते, न केवलं लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मशब्देनोच्यते (शबरभाष्य १-१-२. पृष्ठ १७.) यागादिकर्मनिर्वर्त्त्यं अपूर्वं नाम धर्ममाचक्षते वृद्धमीमांसकाः। २ मा भूयज्ञसंज्ञायाः क्रियाया एव धर्मत्वं यथा कैश्चिन्मीमांसकैरेवं व्याख्यायते......अग्निहोत्रमिति धर्मः क्रियाभिव्यङ्ग्य उच्यते (द्वा. नय० टी० पृ० १६५-६)
३ नन्दिमां आवती स्थविरावलीनो क्रम पाटपरम्परारूपे नथी एम 'वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना'मां मुनि श्री कल्याणविजयजी जणावे छे.

नन्दिसूत्रनुं उद्धरण आपे छे। आथी आ ग्रन्थकर्त्ताथी नन्दिसूत्रना कर्त्ता घणा प्राचीन छे। आ देववाचकगणीना समसामयिक स्कन्दिलाचार्यनो समय वी० नि० सं० ८२७ थी ८४० ए पण ठीक बंध बेसतो नथी। आ आचार्य म० नो समय अमे पाछळ सिद्धसेनदिवाकरसूरि म० नी समयनिर्धारणामां विचारी गया छीए।

आ नयचक्रमां वि० सं० ६०० थी पूर्ववर्त्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिनुं वाक्य के वक्तव्य अथवा मन्तव्य जोवामां आवतुं नथी। आथी धर्मकीर्त्तिथी पूर्ववर्त्ती आ नयचक्रकार छे एमां लेशपण शङ्काने अवकाश नथी। महाभाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए मल्लवादिना नामथी विख्यात युगपदुपयोगवादनुं खण्डन कर्युं छे। आथी ६४५–६७७ थी पूर्वना मल्लवादि छे। दिङ्नागनुं खण्डन करनार उद्योतकर के जे धर्मकीर्तिथी पूर्ववर्त्ती छे जेनो सत्तासमय छट्ठी सदी छे एमना ग्रन्थनो कशो आधार प्रकृतग्रन्थमां लेवायो होय तेम लागतुं नथी। आथी आ आचार्य म० उद्योतकरथी पण पूर्ववर्त्ती छे। अमने लागे छे के दिङ्नागथी पाछळना आ आचार्य बहु नजीक पाछळना छे एम एमना ग्रन्थना अवलोकनथी लागे छे। आ वात बराबर होय तो नयचक्रकार उद्योतकरथी निःशंक पूर्ववर्त्ती छे। दिङ्नागनो समय ई० ३४५–४२५ केटलाक माने छे ते हिसाबे ई० ४५० आसपास नयचक्रकारनो समय सिद्ध थाय छे।

शतपथ ब्राह्मणना भाष्यकार हरिस्वामी के जेओ स्कन्दस्वामीना शिष्य छे। स्कन्दस्वामी ऋग्वेदना भाष्यकार छे अने निरुक्तभाष्यटीकाकार पण छे। ऋग्वेदनुं भाष्य स्कन्दस्वामीए वि० सं० ६८० मां रच्युं। आ स्कन्दस्वामीए पोताना निरुक्त भाष्यवृत्ति ८–२ मां श्लोकवार्त्तिकनो एक श्लोक अने आ ज प्रकरणमां तंत्रवार्त्तिकनो एक श्लोक २–१० तथा १०–१६ मां भामहना श्लोकनुं उद्धरण कर्युं छे। हरिस्वामी पण पोताना भाष्यमां 'इति प्रभाकराः' आम लखीने कुमारिलभट्ट अने प्रभाकरना मतनुं स्मरण करे छे। प्रभाकर कुमारिलभट्टना शिष्य छे। आ कुमारिल धर्मकीर्त्तिना समसामयिक छे। परस्परना ग्रन्थोमां परस्पर नाम अने मतनुं खण्डन करवामां आव्युं छे। आ हिसाबे कुमारिल अने धर्मकीर्त्ति, स्कन्दस्वामीथी (आमनो सत्तासमय वि० सं० ६८० थी पूर्वनो छे) एटले ६०० थी पूर्वना छे ज्यारे मल्लवादिसूरिमहाराजे धर्मकीर्त्ति तथा कुमारिलनी कोई युक्ति के विचारनो संग्रह कर्यो नथी तेथी पण आ बन्ने आचार्यथी पूर्ववर्त्ती छे एमां थोडो पण संशयने अवकाश नथी।

राहुलसांकृत्यायन प्रमाणवार्त्तिकनी भूमिकामां दिङ्नाग अने धर्मपालमां ई० ४२५ (१) अने ई० ५७५ अर्थात् १५० वर्षनुं अन्तर बतावे छे, एटले दिङ्नागनो समय विक्रमनी चोथी–पांचमी सदीना वच्चमां तो आवे ज। आम मल्लवादि सू० म० नो जे समय अमे निश्चित कर्यो छे ते समयमां कशो फरक

१ जुओ बृहद् इतिहास। २ आ युगपदुपयोगवाद मल्लवादिसूरिमहाराजनो ज आविष्कार छे एम मानी शकाय नहीं कारण के सिद्धसेन दिवाकरजीना बनावेला सम्मतितर्कमां युगपदुपयोगद्वय, क्रमिकोपयोगद्वय, उपयोगद्वयाभेद आ त्रणेनो विचार जोवामां आवे छे॥ ३ यदब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥ (कलि संवत् ३७३०) आम भाष्यना अन्तमां लखे छे. जे संवत् वि० सं० ६९६ ना बराबर छे. पुलकेशी द्वितीयना लोहणेरना ताम्रशासनमां पण शक सं० ५५२ लखेलो छे. आ हरिस्वामी चंद्रगुप्त विक्रमादित्यना धर्माध्यक्ष छे 'श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यात् शातपथीं श्रुतिम्॥' आम जणावे छे।

आवतो नथी। एटले विक्रमनी पांचवी सदीमां मल्लवादिसूरिजी थया छे ए, अल्प प्रमाणथी ज सिद्ध थई जाय छे अने नयचक्रमां आवता ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोनो समय पण आ आचार्यना उक्त समय निर्णयमां बाधक नथी।

वामन कृत 'विश्रान्त विद्याधर' नामना व्याकरण ग्रन्थ उपर मल्लवादीए न्यास कर्यो छे आवो उल्लेख 'गुणरत्नमहोदधि' मां वर्द्धमानसूरिए कर्यो छे। 'हैमशब्दानुशासन' नी 'बृहद्वृत्ति' मां पण 'विश्रान्त न्यासकृत्तु असमर्थत्वाद्दण्डपाणिरित्येव मन्यते,' 'विश्रान्तन्यासस्तु किरात एव कैरातो म्लेछ इत्याह' आ प्रमाणे विश्रान्त-न्यासनुं नाम छे। परन्तु आ न्यासना कर्त्ता नयचक्रकार मल्लवादिसूरिजी नथी। मल्लवादि नामनी व्यक्तिओ त्रण थई गई छे। एमां कोई मल्लवादि तेना कर्त्ता हशे! आ नयचक्रकार ज छे एमां कोइ प्रमाण नथी। केमके आ ग्रन्थमां व्याकरण सम्बन्धी विचारमां पाणिनि अने भाष्यकारने ज प्रमाण रूपे मूळकारे ग्रहण कर्या छे अने रूपसिद्धिमां पण मूळकार अने टीकाकार पाणिनिना सूत्रोनो ज उल्लेख करे छे। वामनना कोई पण वचननो कोई पण स्थले उल्लेख कर्यो नथी।

वळी नयचक्रकारे 'प्रमाणसमुच्चय' नामना बौद्ध प्रमाण ग्रन्थनी अनेक कारिकाओनुं व्याख्यान करीने प्रबल युक्तियो द्वारा अक्षरे अक्षर निराकरण कर्युं छे, आ प्रमाणसमुच्चयना कर्त्ता वसुबन्धुना पट्टशिष्यो पैकी एक महान तार्किक अने मंत्रतंत्रोनो ज्ञाता दिङ्नाग छे। आ विद्वाननो समय ख्रिस्तीय तृतीय शतकनुं उत्तरार्ध छे। प्रमाणसमुच्चयमां छ परिच्छेद छे हालमां तिब्बतीय भाषामां ज छे ते भाषामांथी संस्कृतमां केवल प्रत्यक्ष परिच्छेद ज मद्रासमां छपेलो प्राप्त थयो छे। आपणा आ ग्रन्थकारना समयमां सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृतमां कारिकारूपे हतो। आ आचार्यश्रीए प्रत्यक्ष, अनुमान, अपोह अने जातिपरिच्छेदनी कारिकाओनुं निरूपण करीने तेनुं सारी रीते निराकारण कर्युं छे। (आ ज दिङ्नागनी आलम्बनपरीक्षा अने तेनी वृत्तीना पण वचनोने लईने खण्डन कर्युं छे.) दिङ्नागे गौतम तथा वात्स्यायनना अवयवलक्षणोनुं सयुक्तिक प्रत्याख्यान करीने त्रण अवयवोनी स्थापना करी छे। आ युक्तियोनुं निराकारण उद्योतकरे न्यायवार्त्तिकमां विस्तारथी कर्युं छे। श्लोकवार्त्तिकमां कुमारिलभट्टे पण दिङ्नागनी युक्तियोनुं खण्डन कर्युं छे आ दिङ्नागे आर्यदेवना हस्तवाल प्रकरणनी व्याख्या पण करी छे। आ दिङ्नाग पोताना गुरु वसुबन्धुना सिद्धान्तनुं केटलाक स्थले निराकरण करे छे। ते आ ग्रन्थमां घणा ठेकाणे दर्शाववामां आव्युं छे। विश्वकोशकार आ दिङ्नागनो समय ई० द्वितीय अथवा तृतीय शतक कहे छे सतीशचन्द्र विद्याभूषण महाशयजी पंचम शतकनो अन्त भाग माने छे।

मूळकारे 'ततोऽर्थाज्जातविज्ञानं प्रत्यक्षम्' आ लक्षण उपर विचार कर्यो छे। आ लक्षण वसुबन्धुकृत वादविधिनुं छे। आ ग्रंथने वसुबन्धु ज्यारे वैभाषिक हता त्यारे रच्यो हतो। मूळकार, उद्योतकर अने वाचस्पति मिश्र पण आ लक्षण वसुबन्धुनुं माने छे। दिङ्नाग तो आ लक्षणनुं निराकरण करीने आवा दोष विशिष्ट वादविधिना रचयिता वसुबन्धु केवी रीते थई शके एम परिहास करे छे।

नयचक्रकारे दिङ्नागविरचित आलम्बनपरीक्षा[1]नी कोई पण कारिका लीधी नथी पण तेनो भाव तो लीधो ज छे। आजे मुद्रित थयेली आलम्बनपरीक्षा अने तेनी वृत्ति टिबेटियन् आदि भाषा ऊपरथी संस्कृतमां

१ द्वादशा० पृ० १०४ पं० १४। आलम्बनपरीक्षा कारि० २॥

अनुवादरूपे छपायेली छे। संस्कृतथी अन्य भाषामां अने अन्य भाषाथी संस्कृतमां भिन्न भिन्न समये मात्र भाषाविज्ञो द्वारा अनूदित थयेली तेनी कारिका अने वृत्तिमां फेरफार थयो होय ए सम्भवित छे। माटे ज आ नयचक्र अने टीकामां आवती कारिका अने वृत्तिमां भिन्नता रहे ए स्वाभाविक छे। जेम-टीकाकारे 'विषयो' हि नाम यस्य इत्यादि जे वाक्य लख्युं छे तेमां अने दिङ्नागनी उपलब्ध संस्कृत आलम्बन परीक्षा–वृत्तिमां फरक देखाय छे। छतां उद्धरणमां अमोए ए अपेक्षाए ज ते वाक्यने आलम्बनपरीक्षावृत्तिनुं लख्युं छे। एवी ज रीते 'प्रमाणसमुच्चय' नी कारिकाओमां पण फेरफार जोवामां आवे छे। परिवर्तित संस्कृतग्रन्थोना पाठने आधारे नयचक्र अने तेनी व्याख्यानुं शुद्धिकरण एकांत प्रामाणिक मनाय नहि।

बृहत्कल्पभाष्यना कर्त्ता संघदासगणि महत्तर छे। बृहत्कल्पनी एक गाथाने आ ग्रन्थमां पू० मल्लवादि-सू० म० ग्रहण करी छे। आ गाथाने निर्युक्तिनी कहेवी के भाष्यनी कहेवी ए मुशकेल छे। जो निर्युक्तिनी आ गाथा होय तो कशुं ज विचारवानुं रहेतुं नथी। पण मुद्रित बृहत्कल्पमां ए गाथाने भाष्यगाथाना नंबरमां मूकवामां आवी छे। जो के बृहत्कल्पभाष्यनी गाथाओ अने निर्युक्तिनी गाथाओने जुदी तारववी ए वर्त्तमानमां कठिन काम छे मलयगिरि जेवा प्रखर टीकाकारे पण भाष्यगाथा अने निर्युक्तिगाथाने जुदी बतावनानी हाम भीडी नथी। छतां य ए गाथाने अमोए मुद्रित कल्पना आधारे उद्धरणमां भाष्यगाथा तरीके मूकी छे।

आ भाष्यना कर्त्ता संघदासगणिमहत्तर वसुदेव हिण्डीना कर्त्ता करतां भिन्न छे आम केटलाक विद्वानो माने छे ते उपरांत वसुदेवहिण्डीना प्रणेताथी बृहत्कल्पना भाष्यकारने अर्वाचीन माने छे। बृहत्कल्पलघु भाष्यना कर्त्ता संघदासगणि महत्तर क्यारे थया? आ विषयनो निर्णयात्मक स्फोट हजु सुधी थयो नथी। जो मल्लवादिसूरिए लीधेली गाथा भाष्यनी ज होय तो तो कहेवुं ज पडे के वि० पांचवी सदीथी पूर्वना छे पण पछीना नथी ज।

केटलाक विद्वानो दासान्त नाम जोईने वि० चोथी सदीना आ आचार्य छे केमके ते पहेलां दासान्त नाम राखवामां आवतुं न हतुं एम माने छे ते ठीक लागतुं नथी। भगवान महावीरना समयनी आवती कथाओमां पण जिनदास आदि दासान्त नाम जोवामां आवे छे। आर्य सुहस्तिना समयमां थएली नर्मदासुन्दरीनी कथामां पण दासान्त नाम आवे छे। तेम ज चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामिना चार शिष्योमां एकनुं नाम गोदास हतुं अने तेमना नामथी गोदास गण नीकल्यो। आ नाम कल्पसूत्रनी स्थविरावलिमां आवे छे। माटे केवल दासान्त नाम जोईने चोथी, छट्ठी, अने सातमी सदीनी कल्पना कल्पनामात्र छे यथार्थ नथी। तथा जैनाचार्योमां भाष्यकार अनेक थया छे तेमां सहुथी प्राचीन भाष्यकार संघदासगणि महत्तर हशे।

बृहत्कल्पभाष्यना कर्त्ता संघदासगणि म० यदि निशीथ भाष्यना कर्त्ता होय तो अनुयोगद्वारनी रचना थया पछीना ज संघदासगणी सिद्ध थाय। केमके अनुयोगद्वारमां निक्षेपाओनुं संपूर्ण अने विस्तृत वर्णन होवा छतां तेमां ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यहस्तना 'मूलोत्तरो य दव्वे' (नि० भा०) 'मूलगुण

१ द्वादशा० पृ० १०४ पं० १८, आलम्बन परीक्षावृत्ति पृ० ३ पं० ९॥ २ आ प्रमाणसमुच्चय पूर्ण उपलब्ध नथी। एटले तेना अनुमानवाद अपोहवाद वगेरे परिच्छेदो मेळवी शकया नथी। आ ग्रन्थमां मूळकार अने टीकाकारे अनुमान आदि परिच्छेदोना श्लोको अने तेनी व्याख्याओ जरूर लीधेली हशे, परन्तु आ ग्रन्थमां मळेलावचन अने विचारोथी मात्र श्लोकोनी पूर्त्ति करवामां आवी छे।

निव्वत्तितो कट्ठचित्तलेखादि, उत्तरगुणनिव्वत्तितो मृताख्यशरीरे' (नि०/चू०) आ प्रमाणे निशीथभाष्यमां उभयव्यतिरिक्त द्रव्यहस्तना मूलोत्तरगुणनिर्वर्तितरूपथी भेद-विशेष देखाडवामां आव्यो छे। ज्यारे अनुयोगद्वारमां आना भेद पाडवामां आवेला नथी, आथी आ एक प्रकारनो विस्तार ज कहेवाय, आ ज कारणे अनुयोगद्वारनी रचना निशीथभाष्यथी पूर्वनी छे अने निशीथभाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्यना कर्त्ता अभिन्न-व्यक्ति होय तो बृहत्कल्पभाष्यनी रचना अनुयोगना पछीनी ज सिद्ध थाय। अनुयोगद्वार नन्दिथी पण पूर्वतन छे केमके अनुयोगनुं नाम नन्दिमां आवे छे अने नन्दिना कर्त्ता घणा प्राचीन छे। आथी एटलुं तो चोक्स थाय छे के भाष्यकार वि० प्रथम अथवा बीजी सदीथी पाछळना छे पण पूर्वना नहीं। चोथी शदीथी पाछळना नहीं एटले २ थी ४ सदीनी अन्दरना समयमां भाष्यकारनी सत्ता सिद्ध थाय छे।

नयचक्रनी टीकामां टीकाकारे करेला उल्लेखथी नन्दिसूत्रनुं कोई भाष्य हशे! तेवी कल्पना थाय छे। प्रथम पृ० २१९ मां नन्दिनुं सूत्र मूकीने ते पछी 'तद्व्याख्याननिदर्शनञ्च' एम कही 'तं जदि आवरिज्जेज्जा' आ गाथानो उपन्यास कर्यो छे। ते पछी पृ० ४६२ मां आ ज पाठ लीधो छे। त्यां सूत्र तथा भाष्य के व्याख्यानुं नामोच्चारण करवामां आव्युं नथी। तत् पश्चात् पृ० ७४९ मां 'तथा भाष्येऽपि' आ प्रमाणे एक वाक्यनी रचना करीने 'तं पि जदि आवरिज्जेज्जा' आ गाथा मूकवामां आवी छे। आथी नन्दी ऊपर तेनुं व्याख्यारूप कोई भाष्य हशे! आवुं अनुमान थाय छे।

आम होवा छतां अहींयां भाष्यरूपे उद्धृत करेली गाथा नहिंवत् फरकवाळी बृहत्कल्पभाष्यमां जोवा मळे छे। ते जेम नन्दिसूत्रकारे निर्युक्तिनी गाथाओ लीधेली छे, तेम कदाच बृहत्कल्पभाष्यनी ज गाथा लीधेली होय! अथवा नन्दिभाष्यनी ज आ गाथाने बृहत्कल्पभाष्यकारे लीधी होय! गमे तेम होय पण नयचक्र-टीकाकार तो नन्दिनुं भाष्य ज समजे छे। एमना समयमां नन्दीनुं भाष्य विद्यमान होय अने एमणे आ उल्लेख कर्यो होय! तो नन्दीनुं भाष्य केटली गाथात्मक हतुं? एना रचयिता कोण? क्यारे थया? आ बधो विषय उपस्थित थाय छे। मूळकारे आ भाष्यगाथानी साक्षी कोई पण स्थळे आपी नथी। टीकाकारे ज आ भाष्यगाथानी साक्षी आपी छे। हालमां उपलब्ध थता नंदिमां आ गाथासूत्रथी भिन्न भाष्य तरीकेनो उल्लेख देखातो नथी फक्त भाष्य-गाथारूपे सहु प्रथम उल्लेख करनार होय तो नयचक्रटीकाकार आ० सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणजी ज छे। आथी नन्दीभाष्यनी रचना मल्लवादिसूरि पछीनी हशे! अने नयचक्र-टीकाकारथी पूर्वनी छे आटलुं ज हालमां नक्की करी शकाय छे।

मूळकारे पृ० १५३ मां 'उक्तं हि' कहीने कोई ग्रंथकारना वचनरूपे 'अन्यत्रानुवादादरादिभ्यः' आ प्रमाणे पुनरुक्तनो अपवाद बताव्यो छे। आने मळतो अपवाद गौतमसूत्रमां 'अन्यत्रानुवादात्' आटलो ज जोवामां आवे छे। आ अपवादोनो संग्रहकरनारी कारिकाओ उपलब्ध थाय छे पण ते ग्रंथकार करतां घणा पाछळना ग्रंथकारोथी उद्धृत छे। बृ० क० टी० पृ० ४०१ मां, षड्दर्शनसमुच्चय पृ० १५–११, स्था० स्थान २ उद्देश ३ नी टीकामां 'अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु। ईषत् संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्'॥ जो के मूळकारनी सामे आवी कारिका हशे के कोई सूत्र हशे! अथवा बीजा ग्रंथोमां छूटी छवाइ नोंध हशे! अने तेनो अहीं मूळकारे 'अनुवादादरादिभ्यः' थी भलामण करी होय।

टीकाकारे आ मलामणने विस्तृत करी आपी अने एवी रीते व्याख्या करी के जाणे कोइ कारिकानी व्याख्या करी रह्या होय! खरेखर टीकाकारे उपर बनावेला श्लोकनी प्रतिको लइने व्याख्या करी रह्या होय तेवो भास थाय छे ने आखी कारिका तेमांथी तैयार थइ जाय छे जे कारिकानुं रूप 'अनुवादादरवीप्सा' आ प्रमाणे तैयार थई जाय छे।

आ सिवायना बीजा अर्थोमां पण पुनरुक्तनो अभाव दर्शावनार एक गाथा नन्दिनी हारिभ० टीकामां पृ० ३ नोंधाई छे—'सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुईपयाणेसु। संतगुणकित्तणेसु य न होंति पुणरुत्तदोसाओ'। पुनरुक्त दोषनी चर्चा घणी प्राचीन छे। अहीं ग्रंथकारे पुनरुक्तनी चर्चा खास अनुवाद पूरती ज करी छे।

नयचक्रकारे विधिविध्यर नामना द्वितीय अरमां 'यथा विशुद्धमाकाशं० तथेदममृतं सिद्धं० आ बे कारिकाओ संवादकप्रमाणरूपे ग्रहण करेली छे। आ बे श्लोको जो के घणा ग्रंथकारोए लीधा छे खरा, पण तेनां स्थळ के कर्तानो निर्देश कर्यो नथी। बृहदारण्यकभा० (३–५–४३–४४) मां जोवा मळे छे पण आ वार्तिकना कर्ता शंकराचार्यना शिष्य सुरेश्वराचार्य छे जेमनो समय ई० स० नवमी शताब्दीनो पूर्वभाग मनाय छे पण ते बन्ने कारिकाओ तेमनी रचेली नथी किन्तु—उद्धृत ज छे। केमके आमनाथी थोडा काळ पूर्वना आचार्य हरिभद्र सू० म० शास्त्रवार्तासमुच्चयमां (५४५–६ कारिका) उद्धृत करेली जोवाय छे। भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीकामां पण आ बे कारिकाओ तथा 'तस्यैकमपि० अने प्रकृतित्वमना०' आ बे कारिकाओ पण उद्धृत करेली जोवा मळे छे। आथी आ कारिकाओ अति प्राचीन छे। माटे आपणा ग्रंथकारथी पण प्राचीन होवाथी एमना समय निर्णयमां कशी ज हरकत आवती नथी। केटलाक विद्वानो धनेश्वरसूरि अने मल्लवादिसूरिने एकज व्यक्ति मानवाने प्रेराय छे। पण तेमां कोई पुष्ट प्रमाण पेश करवामां आवतुं नथी।

नयचक्रटीकाकार मंगलश्लोकमां तथा पृ० ८१ मां, 'मल्लवादिसूरि' आवो नामोल्लेख करे छे। केटलाक आधुनिक विद्वानो आ नाम कल्पित-विशेषणरूप छे आवुं जाहेर करे छे पण ए माटे कोई प्रमाण आपता नथी। ज्यारे खुद ग्रंथकार प्रान्त भागना मूळमां 'श्रीमत्—श्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन' (पृ० ११०२) आ प्रमाणे 'मल्लवादिसूरि' ना नामनो स्पष्ट उल्लेख करे छे। एमनुं 'मल्ल' ए नाम दीक्षित थया त्यारनुं ज छे पण ए नामनी पछी 'वादि' शब्दनुं जोडाण एमने वादमां जय मेळव्या पछी थयुं होय तो ते संभवित छे अने ते पछी 'मल्लवादि' नामज प्रसिद्ध थयुं हशे! जे थी खुद ग्रंथकार पण पोतानुं नाम 'मल्लवादिसूरि' आ प्रमाणे लखवा लाग्या। माटे 'मल्लवादि' आ नाम केवळ विशेषण रूप नथी।

वळी आ ग्रंथकार तथा बीजा तमाम ग्रंथकारो नयचक्रना कर्तानुं नाम मल्लवादिसूरिमहाराज जणावे छे।

आम आ ग्रंथनुं नाम, ग्रंथकारनुं नाम अने ग्रंथकारना समयनो निर्णय थई गयो। हवे टीका तथा टीकाकारना विशे विचार चलाविये छीए।

—टीकाकार—

आचार्य मल्लवादिसूरिए बनावेल गम्भीर अर्थवाळो दार्शनिक विचारोथी परिपूर्ण नयचक्रशास्त्रनो प्रबल प्रभाव अने रहस्यने समझाववा माटे शासनमान्य तार्किक चूडामणि, सर्वदर्शन विचक्षण, आचार्य श्री सिंह-सूरिगणिक्षमाश्रमणजीए 'न्यायागमानुसारिणी' नामनी व्याख्या करी छे।

जो के कालना प्रभावथी मूळ 'नयचक्रशास्त्र' लुप्त थई गयुं छे। घणी तपास करवा छतां अप्राप्य ज रह्युं छे। जो आ न्यायागमानुसारिणी टीका रची न होत अने आ टीका हस्तलिखितरूपे भण्डारोमां सचवाई रही न होत तो नयचक्र मूळ जे तैयार थई शक्युं छे ते तैयार थई शकत नहीं। नयचक्रनुं नाम मात्र ज सांभळवा मळत! खरेखर सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमजीए टीका लखीने अनेकान्तवादना अभ्यासीओनो ज नहि परंतु साराये विद्वान समाजनो महान उपकार कर्यो छे। जो के आ टीका होवा छतां मूळनयचक्र तो अनुपलब्ध ज छे। परन्तु आ टीकाना आधारे मूळनो ख्याल सामान्यरीते आवी शके छे। जो टीकाकारे मूळनां सम्पूर्ण वाक्यो, या प्रतीको लईने व्याख्या करी होत तो मूळ शोधवामां जरा पण श्रम पडत नहीं! अने आ जे तैयार करवामां आवेला मूळग्रन्थ करतां स्वस्वरूपे परिपूर्ण मूळग्रन्थ उपलब्ध थयो होत! पण आ टीकाकारे पोतानी टीकामां मूळनो पोणा भागथी कंइक अधिक समावेश कर्यो छे। जेने आज टीकामां आवता प्रतीको द्वारा, पर्यायव्याख्याद्वारा, अर्थसङ्गतिथी, अनुमानथी अने विवेचनोथी मूळ तैयार करवामां आव्युं छे। आथी कोइए एम मानी न लेवुं के मल्लवादिसूरिए आ तैयार थएला मूळ प्रमाणे ज ग्रन्थनी रचना करी हशे! पण आ तैयार थएला मूळथी पण अतिसुन्दर अने गम्भीर रचना करी छे आ तो दिग्दर्शनमात्र ज छे। ज्यां टीकामां प्रतीकमात्र लईने बाकीनो ग्रंथ गतार्थ कर्यो छे त्यां आ मूळग्रन्थमां ते स्थान पूरायां नथी। वळी मूळकारे लीधेला परदर्शन सम्बन्धी विषयोना ग्रन्थो पण उपलब्ध थता नथी। जे ग्रन्थो उपलब्ध थाय छे—जेम प्रमाणसमुच्चय आदि ते अन्य भाषामां छे तेथी मूळ तैयार करवामां घणी कठिनता पडे ए स्वाभाविक छे। तेवा ठेकाणे केवळ आ टीकाना आधारे ज मूळ तैयार करवामां आव्युं छे।

आ नयचक्रनी टीकाने जोवाथी टीकाकारनी अगाध विद्वत्तानो प्रतिभास थया विना रहेशे नहीं। षड्दर्शनोना ग्रन्थो अने पाणिनिव्याकरण तथा पातञ्जल महाभाष्य, वाक्यपदीय आदि विपुलग्रन्थोना गम्भीरअनुशीलनथी ते ते दर्शनोनुं खण्डन अने मण्डन करवामां पूर्ण सिद्धहस्त आ टीकाकार छे। आमां किंचित् पण अतिशयोक्ति नथी। ते ते परदर्शन स्वरूप नयोनुं अलौकिक प्रतिभाद्वारा प्रथम निरूपण करीने पश्चात् प्रमाणपूर्वक निराकरण करी तेने स्याद्वादनी साथे सङ्गत करे छे। आर्हदागम अने आर्हतदर्शनमां पण सुनिपुणबुद्धि छे। आथी आ टीकाकारनुं अलौकिक वैदुष्य सारी रीते समझी शकाय छे।

आम स्वपरसमयमां निष्णात होवा छतां आ क्षमाश्रमणजीमां आत्मगौरव अने यशः कामनानुं बीज पण देखवामां आवतुं नथी। माटे ज पोतानी टीकामां कोई पण ठेकाणे पोतानी जन्मभूमि, कुल शाखा अने गुरु तथा सत्तासमय आदिनुं बतावनार कोई पण सूचन आदि कर्युं नथी। आम छतां आपणे एटलुं अनुमान करी शकीए के आ टीकाकार आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणथी पश्चात्कालीन अने कोट्याचार्यमहत्तरथी पूर्वकालवर्ती छे। कारणके जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीना विशेषावश्यकभाष्यनो पाठ आ टीकामां आवे छे अने क्षमाश्रमणजीनी अधूरी स्वोपज्ञवृत्तिने पूर्ण करनार कोट्याचार्यमहत्तरे विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां सिंहसूरिगणिना नामनो उल्लेख कर्यो छे। जिनभद्रगणिना समय (वि० सं ६६६) पछीना आ टीकाकार छे। केटलाक विद्वानो कोट्याचार्यजीने जिनभद्रगणिजीना शिष्य माने छे तेमना मते आ टीकाकार

---

१ देखो जैनपरम्परानो इतिहास पृ. ४५८।

जिनभद्रगणिजीना समानकालीन विद्वान् छे एम सिद्ध थाय छे। आ टीकाना परिशीलनथी नक्की थाय छे के आ टीकाकारनो समय सातमी सदीथी पछीनो थई शके ज नहीं। जो के तृतीय अरमां टीकाकारे सांख्यदर्शननुं जे विवेचन कर्युं छे ते सांख्यसप्ततिनी प्राचीनटीका युक्तिदीपिकानी साथे साम्य धरावे छे। परन्तु तेना आधारे ज टीकाकारे चर्चा करी छे एम कही शकाय तेम नथी। केम के त्यां छेवटमां वार्षगण्यतंत्रनो विचार थई गयो एम जणाव्युं छे। आथी टीकाकारे स्वसमयमां विद्यमान षष्टितंत्रनामना ग्रन्थना आधारे ज व्याख्या करी छे एम मानी शकाय। 'युक्तिदीपिका' दिङ्नागना पछीनी छे अने धर्मकीर्ति, कुमारिल आदिविद्वानोथी पूर्वतनी छे बीजा अरमां पण 'सम्बद्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्' आ सांख्यमतप्रसिद्ध अनुमानलक्षणनुं उद्धरण कर्युं छे। ते अनुमानना 'मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिस्वस्वामिवध्यघातादि' आ सात प्रकारो प्रायः षष्टितंत्रना अनुसारे ज कर्या हशे।

नयचक्रटीकाकारे आखी टीकामां कोई पण स्थले धर्मकीर्ति जेवा प्रखर बौद्ध आचार्यना पुष्कल ग्रन्थो होवा छतां ते आचार्यना विचारो, विवेचनो अने तेना ग्रन्थोनां वाक्योनुं ग्रहण कर्युं नथी। आ वात टीकाकारने सातमी सदीना मानवामां आपणने अटकावे छे छतां विशेषावश्यकभाष्यनुं प्रमाण टीकाकारे लीधुं छे आथी सातमी सदी मान्या सिवाय छुटको नथी। जो विशेषावश्यकभाष्यकारनो समय आजे निश्चित करवामां आव्यो छे तेमां वधु शोध थाय तो अमने लागे छे के आ टीकाकारनो पण समय बदलवो पडे अने क्षमाश्रमणजीने छट्ठी सदीना मानवा पडे। आम जो महाभाष्यकार क्षमाश्रमणजी छट्ठी सदीना सिद्ध थाय तो अने कोट्याचार्यमहत्तरजी क्षमाश्रमणजीना ज शिष्य छे आ बे मुद्दा विचारतां नयचक्रटीकाकार छट्ठी सदीना सिद्ध थाय।

सौनाग अने भागुरि=टीकाकारे व्याकरणना विषयमां आ बे आचार्योनां नाम लीधां छे। 'सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः' आ सुनाग आचार्य कात्यायनथी अर्वाचीन छे। 'कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः' आ प्रमाणे महाभाष्यप्रदीपकार कैयटे लख्युं छे। सौनागे[1] पाणिनीयाष्टाध्यायीना ऊपर वार्त्तिक रचेलुं छे। पतञ्जलि लखे छे के 'इह हि सौनागाः पठन्ति कुत्रश्चात्र कृतप्रसङ्गः' तथा 'ओमाङोश्च' आ सूत्र ऊपर पतञ्जलिए 'चकार'नुं प्रत्याख्यान करीने लख्युं छे के 'एवं हि सौनागाः पठन्ति चोऽनर्थकोऽधिकारादेङः' वगेरे, आ बधा प्रमाणोथी सौनाग पतञ्जलिथी पूर्ववर्त्ती छे अने कात्यायनथी पछीना छे एम साबित थाय छे। भागुरि आचार्ये व्याकरण–विषयक कोई रचना करी होय तेम 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' आ वाक्य ऊपरथी लागे छे।

आ टीकाकारे द्वितीय अरनी टीकामां कालना वर्णनमां 'सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायाश्चात्रैव·········चतुरङ्गुलहरिततृणाः आ प्रमाणे सुषमसुषमादिकालनुं वर्णन करतां चार अंगुल प्रमाण घास होय छे। आ वर्णन आ ग्रन्थसिवायना वर्तमानश्वेताम्बरग्रन्थोमां जोवा मळतुं नथी पण दिगम्बराचार्य यतिवृषभकृत 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थनी 'चउरंगुलं परिमाणा तणत्ति जाएदि सुरहिगंधड्ढा ॥ ३२२ ॥'

---

१ पदमञ्जरी भा० २ पृ० ७६१। २ कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति, वैयाघ्रपद्य एम सात वृत्तिकारो छे।

आ गाथामां जोवा मळे छे । आ यतिवृषभाचार्यनो समय शके[1] सं० ३[illegible]० (वि. सं. ५१५) बतावबामां आवे छे अने तिलोयपण्णत्तिनो रचना समय शक सं० ४०५ लगभग बतावबामां आवे छे ।

जुगल किशोर मुख्तार 'तिलोय पण्णत्ति देवर्द्धि गणि के श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थो और आवश्यक निर्युक्ति आदिसे पहले हुई है' आम जणावे छे, पण आमां तेमनो पक्षपात ज देखाय छे । श्वेताम्बरआगमग्रन्थो देवर्द्धिगणिए बनाव्या नथी, पण पुस्तकारूढ कर्या छे । एमनो समय हालमां वीर० नि० ९८० (वि० सं ५१०) मनाय छे ज्यारे यतिवृषभआचार्यनो समय वि० सं०[2] ५१५ मनाय छे । निर्युक्तिओनी रचना तो एथी य घणी प्राचीन छे ए वात नयचक्रमूळकारना समयनिर्णयमां पाछळ विचारी आव्या छीए । आम होवा छतां टीकाकारे तिलोयपण्णत्तिना आधारे ज चार अङ्गुलना घासनी वात लखी छे ए विचारवा जेवुं छे । वर्त्तमानमां मळतां एवा घणा स्थळो छे के जे उपलब्ध आगमोमां मळता नथी । तेम आमां पण बन्युं होय तो शी खातरी ?

कुन्दकुदाचार्यकृत 'समयप्राभृत' ना कर्तृकर्माधिकारमां 'जीवपरिणामहेउं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति । पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥१२॥' आ गाथाना समानार्थक अने नहीं जेवा ज फरक वाळी गाथा टीकाकारे पृ० ४६१ मां आ प्रमाणे टांकी छे 'जीवपरिणामहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति । पोग्गलकम्मणिमित्तं जीवोवि तहेव परिणमइ ॥' मलयगिरि सूरिनी प्रज्ञापना[3]वृत्तिमां पण आ रीते आ गाथा छे । अन्य ग्रन्थोमां पण आ गाथा जोवा मळे छे । कर्मप्रकृतिनी पाइयटीकाचूर्णिमां पण आवे छे । आ चूर्णिना कर्त्ता कोण क्यारे थया ते विषयमां अमे कशो ज हजी सुधी अभ्यास कर्यो नथी । गमे तेम होय पण आ गाथाना मूलकर्त्ता कुन्दकुन्दाचार्य हशे ! आ आचार्य विक्रमनी प्रथम शताद्वीमां थया छे एम मनाय छे । जो कुन्दकुन्दाचार्य प्रथमे सदीना ज होय तो श्वेताम्बर अने दिगम्बर भेद पड्या ते पूर्वेना छे एम अवश्य स्वीकारवुं पडे;

कल्पसूत्रनुं पण प्रमाण टीकाकारे 'अप्पणो निक्खमणकालं आभोएत्ता चइत्ता रज्जं' आ प्रमाणे मूक्युं छे । आ कल्पसूत्रना कर्ता चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी महाराज छे ए सुप्रसिद्ध छे । आनाथी कल्पसूत्रनी प्राचीनता पण पूरवार थाय छे । केटलाको शंका उठावे छेए के आ भद्रबाहुस्वामी वी० सं १७० मां थएल नथी, पण विक्रमनी छट्ठी सदीमां थया छे आ क्यांसुधी ठीक छे ते विद्वानो विचारी लेशे ।

सिंहसूरिगणिजीए 'योनिप्राभृत' नुं पण प्रमाण टांक्युं छे । योनिप्राभृत ए बारमा अंगरूप पूर्वसूत्रमांनो एक विभाग छे । पूर्वेनो व्युच्छेद वी० नि० १००० मां थयो छे । जेथी आनी प्राप्ति दुःशक्य ज नहीं पण असम्भवी छे । जो टीकाकारे योनिप्राभृत जोईने प्रमाण टांक्युं होय तो कहेवुं ज पडे के तेओ पूर्वधर आचार्य हता । क्षमाश्रमण विशेषण पण पूर्वज्ञानना ज्ञाता साबित करे छे । जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए विशेषावश्यक भाष्यमां (१७७५ मी गाथामां) 'जोणिविहरण' शब्दथी योनिप्राभृत प्रकीर्णक समजवानी सूचना करी छे । व्यवहारसूत्र भाष्य (गाथा ५८) बृहत्कल्पभाष्य (गाथा १३०३) जोणिशब्दनो अर्थ योनिप्राभृत कर्यो छे । एक सूत्रमां जोणि शब्दनो अर्थ ज्योतिषने जणावनार पण कर्यो छे ।

योनिप्राभृत नामनी एक प्रति हालमां बर्लिन शहेरनी लायब्रेरीमां मळे छे । अने बीजी पूना मां मळे छे

---

१ अनेकान्त वर्ष २ किरण । २ जैनसाहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ० ५६ । ३ पृ० ४५५ । ४ अनेकान्त वर्ष २ पृ० ५२१ । ५ प्रवचन परीक्षा मुम्बई १९३५ नी प्रस्तावनामां ई. स. प्रारम्भ कहे छे.

ए बन्ने एक छे के भिन्न छे एनो अमे ए बन्ने पुस्तकों जोया न होवाथी विचार करी शकता नथी, पण पूनावाळी प्रत माटेनो अनेक विद्वानोए विचार कर्यो छे। टीकाकार योनिप्राभृतनुं प्रमाण आपतां 'द्विविधा योनिः योनिप्रभृतेऽभिहिता सचित्ताऽचित्ता च तत्र सचित्तायोनिर्द्रव्याणि संयोज्य भूमौ निखाते दन्तरहितमनुष्यसर्पादिजात्युत्पत्तिः, अचित्ता योनिर्द्रव्ययोगे च यथाविधिसुवर्णरजतमुक्ताप्रवालाद्युत्पत्तिरिति' आ प्रमाणे विषय मूक्यो छे। आ विषय पूनावाळी योनिप्राभृतनी प्रतमां नथी एमां तो वैद्यक आदि नो विषय होय तेम लागे छे एटले अहीं टीकाकारे आपेल योनिप्राभृत ए तो पूर्वान्तर्गत एक विभाग ज छे।

वृक्षायुर्वेदनुं पण टीकाकारे प्रमाण टाक्युं छे। आ वृक्षायुर्वेद मने प्राप्त थयो न होवाथी एना विषयमां एनो नामोल्लेख करीने ज सन्तोष मानीए छीए। छतां शार्ङ्गधरपद्धतिमां वृक्षायुर्वेद अथवा उपवन विनोद नामनुं २३६ श्लोक प्रमाण एक प्रकरण सचवाई रहेलुं छे राघवभट्टनो वृक्षायुर्वेद नामनो बीजो पण ग्रन्थ मळे छे एम दुर्गाशङ्कर[1] केवळ रामशास्त्रिजी लखे छे।

योगभाष्यनो पण एक स्थळे टीकाकारे आधार आप्यो छे। योगसूत्रना रचयिता महर्षि पतञ्जली छे। योगना प्रवर्तक आ ज आचार्य छे एम मानवानी भूल करवी जोइए नहीं केमके याज्ञवल्क्यस्मृतिमां 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' ए कथनानुसार योगना प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ छे। पतञ्जलि तो योगना अनुशासक छे। 'अथ योगानुशासनम्' आ योगसूत्र ऊपर तत्त्ववैशारदीमां वाचस्पतिमिश्रे शिष्टस्य शासनमनुशासनम्' (१।१) आ प्रमाणे ऊपर कहेल अर्थनुं ज सूचन करे छे। भारतीय परम्परानुसारे योगसूत्रना कर्ता तथा व्याकरणमहाभाष्यना कर्ता पतञ्जलि एक अभिन्न[2] व्यक्ति छे। योगसूत्रना चतुर्थपादमां विज्ञानवादना खण्डनसूत्रो (१-१४-१५) मळतां होवा छतां पण विज्ञानवाद[3] मैत्रेय अने असङ्गथी अधिक प्राचीन छे। आ पतञ्जलिनो समय शुङ्गवंशना महाराजा पुष्पमित्रना[4] समकालीन छे। आ पुष्पमित्र राजानो समय ई० पू० २२५ लगभग छे। आ योगसूत्रना ऊपर व्यासभाष्य नामनी भाष्यनी रचना थई छे। आ व्यासर्षि पुराणोना कर्त्ता व्यासमहर्षिथी भिन्न छे। आथी आ भाष्यना प्रणेता कया व्यास छे? एनुं प्रतिपादन कठिन छे। ऐतिहासिक विद्वानो लखे छे के विक्रमना तृतीय शतकथी आ व्यास प्राचीन नथी। आ योगभाष्यमां (३-१३) संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनाम्, एवं लिङ्गादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम्, तस्मिन् विकारसंज्ञा' आ पाठ छे। ते ज नयचक्रनी टीकामां पण आवे छे (तृतीयारे) आ पाठ योगभाष्यनो ज छे या बीजा कोई ग्रन्थनो छे आनो निर्णय मुशकिल छे। योगभाष्यना आ वाक्यने उद्धरण तरीके लेवायुं छे माटे तेमनुं ज मानवामां आपणने कोई वांधो देखातो नथी।

टीकाकारे 'तण्डुलवेयालीय' नुं प्रमाण लीधुं छे आ ग्रन्थ जैन जगतमां 'पयन्नाना' नामथी प्रसिद्ध छे। आथी आ ग्रन्थ सिंहसूरिगणी क्षमाश्रमणथी पूर्वनो छे। ५०० श्लोक प्रमाण आ ग्रंथमां जीवनी गर्भावस्थाथी लइने जन्म थया पछीनी दस दशा, संहनन, संस्थानभेद, काळना विश्राम, नाडी संख्यावगेरे वैराग्योत्पादक

---

१ वैद्यकल्पतरु १९३२ मेनो ५ अंक। २ योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥ ३ भारतीय दर्शन पृ॰३४९। ४ 'इह पुष्पमित्रं याजयामः' (३-२-१२३) तथा 'पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति' (३-१-२६)

सुचारु वर्णन करवामां आव्युं छे। जीवनी गर्भावस्था वगेरेनुं शारीरिक वर्णन सुश्रुतनी साथे तुलना पामे तेवुं छे। आ ग्रन्थना कर्त्ता कोण छे ते अज्ञात छे पण आ ग्रन्थनी प्राचीनतामां शङ्का नथी। जिनदासगणि महत्तरनी दशवैकालिकचूर्णिमां पण तन्दुलवेयालीयनुं नाम आवे छे। आ महत्तरजीनो समय नवीन ऐतिहासिको वि० सं० ७९९ माने छे। प्राचीनो शक सं० ५०० थी पण पूर्वे माने छे। नंदीमां पण आनुं नाम आवे छे।

उभयनयारमां पृ० ५०९ मां 'भुवश्च इति कर्त्तरि णप्रत्ययं केचिदाहुः' आ प्रमाणे भवतीति भावः कर्त्तामां ण प्रत्यय करे छे। पाणिनिना मते कर्त्तामां अच् प्रत्यय आवे छे। भाष्यकारना मते ण्यन्तकरीने पछी अचप्रत्यय लगाडीने भावशब्दनी सिद्धि थाय छे। पाणिनिनां सूत्रो ऊपर काशिका नामनी टीका छे तेमां 'भवतेश्च' आ वचनथी कर्त्तामां ण प्रत्यय लगाडीने भावशब्दनी सिद्धि करवामां आवी छे। अने विधिविध्यरमां (पृ. २०७) 'ण प्रकरणे भुवश्चोपसंख्यानं' आ वाक्य मूकीने कर्त्तामां ण प्रत्यय कर्यो छे। परन्तु आ वार्त्तिक कया व्याकरणनुं छे ए जाणवामां आवतुं नथी, पण कोई प्राचीन व्याकरणनुं ज होवुं जोइए। जेनी माहिती आपणने प्राप्त थती नथी। काशिकामां तो 'भवतेश्च' आम कहेवामां आव्युं छे।

आ टीकाकारे 'आत्मबुद्धया समेत्यार्थान्' इत्यादि पाणिनीयशिक्षानुं उद्धरण कर्युं छे। आ शिक्षा ६० श्लोकोनी छे। वर्णोनां उच्चारण सम्बन्धी विषयोनी शिखामण आपे छे। आ शिक्षा कोनी कृति छे ते अज्ञात छे। आ शिक्षाना अन्तभागमां पाणिनीने नमस्कार करवामां आव्यो छे। तेथी आ शिक्षा पाणिनिनी रचना नथी एम भास थाय छे। जो एम होय तो एना कर्त्ता पण आ टीकाकारथी पूर्वेनां होवा जोइए; अथवा शिक्षाना अन्तनी ३-४ करिकाने प्रक्षिप्त मानवामां आवे तो शेषकारिकाओ पाणिनिनी कृति कही शकाय आनो निर्णय विद्वानो पोते करी ले।

'विकल्पयोनयः शब्दाः' आ कारिका पण टीकाकारे लीधी छे ए कारिका बौद्धमतनी छे। भदन्तदिन्न (दिङ्नाग) नी छे। हरिभद्रसूरिमहाराजे पण अनेकान्तजयपताकामां आ कारिका लीधी छे। दिङ्नाग. दिन्न, भदन्तदिन्न, दत्तकभिक्षु आ बधां एकव्यक्तिनां नाम छे।

आर्य शिवशर्मसू० म०=आ आचार्यश्रीए 'कम्मपयडी' नामना ग्रन्थनी मनोहर रचना करी छे। आ ग्रन्थने पू० हरिभद्र सू० 'कम्मपयडी संगहणी' पण कहे छे, आ ग्रन्थनुं स्मरण जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणजीए 'विशेषणवती' मां कर्युं छे। क्षमाश्रमणजीए सं० ६६६ मां 'विशेषावश्यकसूत्र'नी रचना करी छे एम संशोधको कहे छे।

आग्रायणीनामना बीजा पूर्वमांथी १४ मा वस्तूनामकविभाग पैकी पांचमा विभागना वीस पाहुडपैकी चोथा पाहुडनुं नाम 'कम्मपयडी' छे अेने उद्धरीने कर्मप्रकृति ग्रन्थनी रचना आ सूरिवरे करेली छे। आर्य शिवशर्मसूरीश्वरमहाराज पूर्ववित् हता ए स्पष्ट देखाय छे। पूर्वज्ञाननो व्युच्छेद वी० सं० १००० मां विक्र० सं. ५३० मां थयो छे। एटले कर्मप्रकृतिकार ५३० थी ये पहेलानां छे। छेल्ला पूर्ववित् सत्यमित्राचार्य छे।

---

१ तण्डुल वेयालीयनी टीकामां महावीरस्वामीना हस्तदीक्षितसाधु आ पयण्णाना कर्त्ता बताव्या छे [?]। २ येनाक्षर-समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥ ५७॥ ये न धौता गिरःपुंसां विमलैः शब्दवारिभिः। तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः॥ ५८॥ ३ सुत्ते वि भंगस्सवि परूविअं ओहिदंसणं बहुसो। किस पुणेर पडिसिद्धं कम्मयडी इपणयम्भि॥ पृ. ४॥ ४ सोहियणाभोगकयं कहं तु वर दिट्ठिवायम्मू॥ ४५४॥

इतिहासरसिको आ आर्यशिवशर्मसूरिने पाँचमी सदीना माने छे पण तेमनी पासे तेवो कोई पुरावो नथी। ज्यारे पू० उमास्वाति म० ए वायु अने अग्निने त्रस कह्या छे त्यारे शिवशर्मसूरि एने सूक्ष्मत्रस एम विशेषण लगाडी ने कहे छे। आथी ऊपर करेला विचार मुजब उमास्वाति म० थी पश्चात्कालीन आ आचार्य छे एमां शंका रहेती नथी। आ कर्मप्रकृतिनी एकगाथा आ टीकाकारे उद्धृत करी छे एटले टीकाकार वि० सं० ५३० पछीना ज सिद्ध थाय छे।

विशेषआवश्यकभाष्यनी बे गाथाओ (१४१-१४२) बृहत्कल्पभाष्यनी साथे मळती छे। मूलकारे विशेषआवश्यकभाष्यनुं एक पण उद्धरण लीधुं नथी पण बृहत्कल्पभाष्यनुं नो[1] लीधुं छे। आथी पण विशेषआवश्यकभाष्य करतां बृहत्कल्पभाष्य प्राचीन छे। छतां टीकाकारे बृहत्कल्पभाष्यमांथी ए गाथाओ लीधी नथी पण विशेषावश्यकभाष्यमांथी ज लीधी छे। बृहत्कल्पमां पहेली बे गाथा छे ज्यारे विशेषावश्यकभाष्यमां ए त्रणे गाथाओ साथे ज मळे छे। आथी अमारो ए निश्चय छे के टीकाकारे विशेषावश्यकभाष्यमांथी ज ए गाथाओ लीधी छे।

'चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मणोभयम्' आ उद्धरण अष्टाङ्गहृदयथी अथवा चरकथी लीधेलुं छे। अष्टाङ्गहृदयना कर्ता ई० स० पांचवी सदीना मनाय छे एटले टीकाकारनो समय विक्रमनी पांचवी सदी पछीनो सिद्ध थाय छे। नयचक्रटीकाकारे एवी रीते स्वनिरूपणमां संवादकतरीके संख्याबंध उद्धरणो आप्यां छे। तेमांनां केटलांक उद्धरणो एमनाथी पाछळना ग्रन्थकारोए पण उद्धृत करेलां जोवा मळे छे। अने केटलाक उद्धरणो कया ग्रन्थना छे एनो पत्तो पण लागतो नथी। एवी ज रीते मूल अने टीकामां आवतां केटलाक अवतरणोनो मूल आधार सांपडतो नथी। तेथीज अमे एनां स्थान लख्यां नथी जेवां के—'कः कण्टकानां प्रकरोति' वगेरे। प्रमेयकमलमार्तण्ड, बृहत्कल्प आदिमां प्राप्त थाय छे पण ए बधा उद्धृत छे।

अमने मळेला उद्धरणो जोतां मूलकारथी टीकाकारने पाछळना सिद्ध करनार सहुथी प्रबल प्रमाण विशेषावश्यकभाष्य ज छे अने प्रथमअरमां टीकाकारे 'त्रिद्वन्मन्याद्यतन बौद्धपरिक्षि(क्लृ ?)प्तं सामान्यम्' आ वाक्य आवे छे। आजकालना बौद्धोए अर्थान्तरापोहलक्षण सामान्य कल्प्युं छे। आथी आवो अर्थ तो न ज थाय के टीकाकारना समये ज कल्प्युं छे; एमनुं ए वाक्य मूलकारनी सामे रहेला बौद्धो माटे छे। मने तो लागे छे के अद्यतन शब्द नवीन अर्थमां लाक्षणिक छे। गमे तेम होय पण आ वाक्यथी दिङ्नागने अद्यतनबौद्ध कहे छे। केमके ए वसुबन्धुथी केटलाक विचारोमां जुदा पडे छे माटे नवीन छे। अद्यतनबौद्धपदथी धर्मकीर्तिने समजी न शकाय केमके टीकाकार पण धर्मकीर्तिथी पूर्वना छे पण पछीना के समसामयिक नथी। पूर्वमां अन्यापोहकृच्छ्रुतिः' आवो ज शब्दार्थ हतो। 'शब्दान्तरार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते' आ प्रमाणे शब्दार्थ अने अर्थान्तरापोहरूप सामान्यनुं दिङ्नागे ज वर्णन कर्युं छे माटे ते ज अद्यतनबौद्ध कहेवाय। एटले दिन्न अने टीकाकार पण समसामयिक होय एम पण सम्भावना थाय छे। मूलकार पण आ लक्षण ने (पृ ७३७)[2] लईने विचार करे छे। आथी मूलकार अने टीकाकार समसामयिक होवा जोइए एम भास थाय छे परन्तु विशेषावश्यकभाष्यनुं उद्धरण टीकाकारे कर्युं होवाथी मूलकारथी पाछळना ज छे।

---

१ निच्छयओ सव्वलहु० (पृ. ३४९). २ पण्णवणिज्ज० जं चौदस० अक्खरलंभेण; आ क्रममुद्रितप्रतोमां साथे मळे छे।

मूळकारनी अविद्यमानतामां ज टीकाकारे टीका रची छे अने दिङ्नागवडे रचित आलम्बनपरीक्षानी छट्ठी कारिका पण टीकाकारे (पृ० ११५२) लीधी छे ।

सांख्ययोगवैशेषिकवेदशिरःप्रभृतिषु प्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिनित्यानित्याद्वैतद्वैतत्रैतादिपदार्थप्रक्रियाभेदैः' आ प्रमाणे टीकाकारे वेदशिरःपदथी ग्राह्य उपनिषद् (वेदान्तदर्शन) ना पदार्थ अद्वैत–द्वैत, अने त्रैत वगेरे पदार्थनी प्रक्रियानुं सूचन कर्युं छे । त्यां अद्वैतपदार्थने माननारा पुरुषवादी या ब्रह्ममात्रवादी वेदान्तदर्शननो एक भेद छे । द्वैतपदार्थ एटले ब्रह्म अने अचेतनने अथवा ब्रह्म अने जीवने या प्रकृति अने पुरुषने एटले ब्रह्म अने अचेतनने माननारो आ पण एक वेदान्तदर्शननो भेद छे । त्रैतपदार्थ अर्थात् ब्रह्म, जीव अने अचेतन पदार्थने माननारो वेदान्तदर्शननो एक भेद छे । एकदण्डी, द्विदण्डी, अने त्रिदण्डी संन्यासिओ क्रमथी अद्वैत आदि पदार्थोने माननारा छे । आ बधा मतो सुप्राचीन छे । साक्षात् या परंपरया उपनिषदोमां दर्शाववामां आवेला छे । अत एव टीकाकारने षष्ठशतकना मानवामां कोई पण आपत्ति नथी । अथवा प्रकृत मूलग्रन्थना अनुसारे पुरुषाद्वैतवाद, प्रकृतिपुरुषद्वैतवाद अने द्रव्यादि, आत्मा अने ईश्वररूप त्रैतपदार्थवाद पण लई शकाय छे ।

वैशेषिकदर्शनना पदार्थधर्मसंग्रहमां प्रशस्तदेवाचार्ये हेत्वाभासप्रकरणमां 'एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः संनिपाते सति संशयदर्शनात् अयमन्यः संदिग्ध इति केचित्' आ प्रमाणे कोईनो मत टांक्यो छे । नयचक्रटीकाकारे पण (पृ० ४००) मां लगभग आ लक्षणने मळे तेवा लक्षणनो उल्लेख कर्यो छे । 'इति केचित्' आ वाक्यने छोडी दीधुं छे । आथी टीकाकारे आ वाक्यने पदार्थधर्मसंग्रहथी लीधुं नथी पण तेनाथी पूर्ववर्त्ती कोई आचार्यनुं टांक्युं हशे ! एटले ज प्रशस्तदेव आचार्ये 'इति केचित्' एम उल्लेख कर्यो छे । प्रशस्तदेव आ टीकाकारथी पूर्वना नथी ए वात अमे प्रशस्तमतिनी विचारणामां सिद्ध करी चुक्या छीए । आ पदार्थधर्मसंग्रह ऊपर व्योमवती टीका लखनार व्योमशिवाचार्यनो समय विद्वानो ई० स० ६७० नो नक्की कर्यो छे एटले प्रशस्तदेवाचार्यनो समय ६१० पछीनो तो नथीज । पुरुषवादमां टीकाकारे 'शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रसः । दन्तनिष्पीडितः श्रेष्ठो यान्त्रिकस्तु विदाहकृत् ॥ आ श्लोकनुं उद्धरण टांक्युं छे । आनुं पूर्वार्ध मात्र जेजटकृतवृत्तिमां पूर्णपणे मळे छे । 'अविदाही कफहरो वातपित्तनिवारणः । वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥ „ (सु० अ० ४५ श्लो० १४०-१४१) आ प्रमाणे बृहल्लघुपंजिकाकार भणे छे । जेज्जट तो 'कफकृच्चाविदाही च रक्तपित्तनिबर्हणः **शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रसः"** (गुरुविदाहिविष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः) आम जणावे छे । अमने लागे छे के जेज्जटे आ वाक्य बीजा कोई ग्रंथथी लीधुं हशे ! आ टीकाकारे पोतानाथी प्राचीन ग्रन्थमांथी "दिवास्वप्नमवश्यायं प्राग्वातं वा तु वर्जयेत्" आ वाक्य जेम लीधुं छे तेम उपरनुं वाक्य पण कोई ग्रंथथी लीधुं होय ! तेवी रीते जेज्जटे पण लीधुं होय ! जेज्जट घणुं करीने ई० स० ३७५–४१३ सुधीमां थया छे । जेज्जट वाग्भट्टना शिष्य छे आ वात 'लम्बश्मश्रु०' श्लोकथी जणाय छे । आ बन्ने गुरुशिष्य चरकव्याख्याता भट्टार हरिचन्द्रनो उल्लेख करे छे । वाग्भट्ट आमनो उल्लेख करता नथी माटे वाग्भट्टना समानकालीन होवा छतां भट्टार हरिचन्द्र तरुण हशे ! आ हरिचन्द्र ई० स० ३७५-४१३ सुधीमां विद्यमान चंद्रगुप्तना समान कालीन छे एटले

जेज्जट पण ते ज समयमां थया छे। अष्टांगहृदयना कर्ता अने अष्टांगसंग्रहना कर्ता वाग्भट्ट एक छे एवो घणानो मत छे।

आम सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणजी अमोने मळेला आधारस्थानो अने ग्रंथमां आवती चर्चाओ उपरथी छठ्ठी सदीना पछीना सिद्ध थइ शकता नथी। ज्यारे अनेकान्तवादना उपासक विद्वत् शिरोमणि टीकाकार महाराज छठ्ठी सदीना सिद्ध थाय छे त्यारे मूळकारना समयनुं अमोए जे विधान कर्युं छे ते पण सारी रीते सिद्ध थई जाय छे।

श्रीसिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणजीए आ नयचक्र ऊपर एक व्याख्या रची छे। जेना आधारे अनुपलभ्यमान मूळ अपूर्ण पण शोधी शकायुं छे। टीकाकारे व्याख्याननी शरुआतमां 'अनुव्याख्यास्यामः' आम लखीने टीकाकारे पोतानी टीकाने व्याख्या मात्र ज कही छे।

आ टीकाकारनुं नाम सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमण छे अने टीकानुं नाम न्यायागमानुसारिणी छे. आ बन्ने हकीकत नवमा अरना प्रान्तभागमां लखेली एक पंक्तिथी ज जाणवा मळे छे। आना आधारे ज आ संस्करणमां व्याख्यानुं नाम 'न्यायागमानुसारिणी' लखवामां आव्युं छे। पण विचार करतां माल्रम पडे छे के नवमा अरनी आ पंक्ति टीकाकारनी नहि होय! पाछळथी कोई लेखके प्रसिद्धिने अनुसरीने लखी हशे! जो आ वाक्य टीकाकारनुं होत तो आ ज ठेकाणे केम? सर्वत्र अरोना अन्तमां केम नहि? चोथा अरना अन्ते 'अर्धमेतत् पुस्तकम्' एम लख्युं पण व्याख्यानुं नाम त्यां केम न लख्युं? अन्तमां तो अवश्य लखवुं जोइतुं हतुं छतां त्यां पण न लख्युं। आ हकीकतथी एम सम्भावना थाय छे के टीकाकारे पोतानी व्याख्यानुं कोई नाम आप्युं हशे नहीं, आप्युं होय तो लखवानुं योग्य लाग्युं नहीं होय! यश अने कीर्तिथी दूर रहेवुं ए पण विरक्त साधु पुरुषोनुं एक लक्षण छे। माटे ज पोतानी प्रशस्ति पण लखी नथी।

खरेखर जो एम ज होय तो आ व्याख्यानुं नाम शुं ए प्रश्न उभो रहे छे। प्राचीन काळमां व्याख्या–निर्युक्ति भाष्य अने चूर्णि रचवामां आवी छे, तेनुं अवश्यमेव नाम होवुं जोइए एवो रिवाज हतो नहीं। जे ग्रन्थ ऊपर व्याख्यादि लखायुं होय ते ग्रन्थना नाम साथे व्याख्यादि शब्द जोडीने पण बोलवानो रिवाज हतो, आ बाबत प्राचीन व्याख्याओ जोनारने सहेजे समजाय एवी छे। आ व्याख्या माटे पण एवुं ज बन्युं हशे! जो व्याख्याकारे, पोते ज नाम आपेलुं होत तो प्रत्येक अरना अंते तेनो उल्लेख होवो जोइतो हतो, अन्तमां तो जरूर होत, पण व्याख्याकारे व्याख्या पूरी करवा छतां समाप्तिद्योतक कोई शब्दनो प्रयोग कर्यो नथी, एटले मूळकारथी आगळ वधीने कशुं ज नहीं लखवानो एमनो स्वभाव हशे! अरनी आदिमां मङ्गलाचरण रूपे 'जयती' इत्यादि केवल एक ज कारिका लखीने व्याख्या शरू करी छे।

बधी प्रतिओमां त्रीजा अरनी आदिमां मङ्गलाचरणरूपे 'कमलदलविपुलनयना'० कारिका लखेली जोवामां आवे छे ते कोई लेखके पाछळथी लखेली छे पण व्याख्याकार के मूळकारनी ते कारिका नथी। जो के आ कारिका घणी प्राचीन छे पण तेने आ स्थाने लखवामां आववाथी पाछळना लेखकथी प्रक्षिप्त हशे एम मनाय छे।

जेम टीकाकारे पोतानुं नाम लखवानो विचार न कर्यो तेवी ज रीते व्याख्यानुं नाम पण आपवानुं धार्युं नहीं होय जेथी आ टीकामां कोई पण जग्याए व्याख्यानुं नाम स्पष्ट के व्यङ्ग्य पणे पण जोवा मळतुं नथी। माटे ज आ टीकाने कोई न्यायागमानुसारिणी कहे छे कोई कोई नयचक्र वाल[द?] कहे छे। परन्तु आ व्याख्या न्यायने अने आगमने अनुसरीने रचेली होवाथी न्यायागमानुसारिणीव्याख्या आ नामनो अधिक संभव छे। साचुं नाम तो द्वादशारनयचक्रव्याख्या, अथवा नयचक्रव्याख्या आवुं होवुं जोइए!

आ व्याख्या अन्वयमुखथी ज करवामां आवी छे। एटले मूलना शब्दोनी व्युत्पत्ति अने पर्याय आदि प्रदर्शनद्वारा तेना भावार्थने स्पष्ट करे छे। मूलना सम्बन्धने मूकीने कोई पण अर्थ करती नथी। अने मूलने अनपेक्षित बीना पण कहेवामां आवी नथी, आवश्यक वातोने मूकी दीधी पण नथी, एटले नातिविस्तृत पर्याप्त व्याख्या छे। तेथी ज मूलनुं अनुमान करवामां घणी महेनत पडती नथी। आम होवा छतां आ व्याख्यामां दार्शनिक विषय एटलो गहनपणे भरेलो छे के जे सामान्यदार्शनिकने तेनो अभिप्राय हस्तगत थई शके नहीं। पातञ्जलभाष्यआदि व्याकरणसम्बन्धी विषयो पण घणी सारी रीते स्फुटीकरण करवामां आव्या छे। आथी टीकाकारनी सकलदर्शननी प्रतिभा सूर्यकान्तमणिना प्रकाशनी जेम झळके छे। मूल अने व्याख्यानुं स्पष्टपणे तुलनात्मक अध्ययन करिये तो स्पष्ट आभास थाय छे के मूलकारनी जेम टीकाकार पण अनुपम वादिवर्य छे। व्याकरण अने दर्शनशास्त्रमां पारङ्गत छे। जैनदर्शनमां तो कहेवुं शुं? तेमां तो आचार्य ज हता, दिव्यज्ञानी हता, स्याद्वादना अलौकिक समर्थक हता, सकल दर्शनोने स्याद्वादमां उतारवामां विख्यात निष्णात हता।

आ ग्रन्थमां साथे 'विषमपदविवेचन' नामक टिप्पण पण अपायेलुं छे। आ ग्रन्थ सामान्य अभ्यासिओ माटे घणो ज गहन छे। एमां समायेलां रहस्यो समजवा अति कठिन छे। आ माटे आ ग्रन्थना पोतानी वृद्धावस्था होवा छतां सारी जहेमत उठावीने संपादन करनार अमारा परमगुरुदेवश्रीए टिप्पण द्वारा मूळ अने टीकानां तेमने लागेलां कठिन अने गहन स्थळोना विषयोनो विशद स्फोर कर्यो छे। अमारा प्रातःस्मरणीय षड्दर्शनवेत्ता पूज्यपाद परमगुरुदेव अनेक ग्रन्थोना निर्माता अने काव्यकार होवा उपरांत अनेक विषयोना तलस्पर्शी अभ्यासी छे। आजे पण आ महान् सद्गुणी महापुरुषनी सतत अभ्यासवृत्ति अने विद्याव्यासंग युवानोने पण लज्जित करे एवो छे। आवी वृद्धावस्थामां पण नित्य नवनवी अनेक भाषामयी रचना द्वारा तेओश्री स्व-परना उपकार साथे श्रुतज्ञाननी महती उपासना करी रह्या छे। अने अनेक शिष्योने श्रुतज्ञाननी आराधना करावी रह्या छे। जो तेओश्रीए आ ग्रन्थनुं संपादन कार्य हाथ धर्युं न होत तो मारा जेवाने आ ग्रन्थनुं जे यत्किंचित् ज्ञानसंपादन थयुं ते थयुं न होत!

आ ग्रन्थना रचयिता वादिपंचाननमल्लवादिसूरि महाराजा तेमज आ ग्रंथना टीकाकार तथा टिप्पणकार त्रणे पूज्योए सारा मानव समाज उपर उपकार कर्यो छे।

आचार्यप्रवर श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमण अने द्वादशारनयचक्रसाथे संबंध धरावता अनेकानेक-मुद्दाओनुं मने मारा अभ्यासद्वारा प्राप्त सामग्रीना आधारे अहीं में निरूपण करुं छे।

आ रीते लखवा विचारवानो मारो आ प्रथम प्रयत्न छे। आमां रहेली अपूर्णताओनो मने ख्याल छे। इतिहासना एक नम्र अभ्यासी तरीके में अहीं रजु करेली सामग्री विद्वानोने यत्किंचित् पण सत्य निर्णय माटे उपयोगी थशे तो हुं मारा प्रयत्नने फलेग्रही मानीश। तटस्थदृष्टिए विचारवानी तज्ज्ञोने मारी विनंती छे। आमां रहेली स्खलनाओनुं प्रमार्जन करी आ अंगे विशेष प्रकाश पाडवानी नम्र भलामण छे।

विद्वान वाचको दर्शनशास्त्रना आ महान्ग्रन्थरत्नना अभ्यास द्वारा अनेकान्तदृष्टिनो पूर्ण विकास साधी संपादक परमर्षिनो परिश्रम सफल करे एवी अभिलाषा साथे आ प्रस्तावनाने अहीं ज पूर्ण करूं छुं।

दादर मुंबई-२८
आत्म-कमल-लब्धिसूरीश्वरजी
जैन ज्ञानमंदिर
ता० १३-३-६०

आराध्यपाद परमगुरुदेव
आचार्यदेव श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी
महाराजान्तेवासी पंन्यासविक्रम विजय गणी

FOREWORD

The original written in Gujarati by :

Rev. Panyas **Shri Vikrama Vijayaji.**

[LITERAL TRANSLATION]

By Prof. Hiralal R. Kapadia, M. A.

Speciality of the doctrine of non-absolutism— Jainism means the central location of all relative view-points It embodies the real harmony of all the schools of thought of the world, which believe in the existence of soul. Its infinite depth becomes manifest by its thorough study. It includes impartial exposition of every system of philosophy *darsana* of the world. Like a judge Jainism gives a very careful and impartial judgement to every *darsana* where as the remaining *dars'anas* have failed to do so in the case of rival *dars'anas* owing to their absolute insistence, Jainism does full justice to every other (*darsana*) by accepting its view by resorting to the right stand-point and by refraining from absolute absolutism That clarified butter is a source of good health for one and all, is (absolute) absolutism. This sort of absolutism means mistaking untruth or half truth as complete truth and misrepresentation.

That clarified butter is a source of good health to one who can digest it whereas it is not so in the case of one who cannot digest, is (an instance of) non absolutism (*anekanta*), *Anekanta* means acceptance of truth wherever it may be and it corroboration. The statement that clarified butter is a source of good health for one who can digest it is as true as the statement that clarified butter is harmful to one who cannot do so. One who fails to understand rightly both the view points, cannot make the right use of clarified butter, nor cause others to do so, and will rather harm himself and other. The example of clarified butter is on a gross basis but what follows from it, is equally true on a subtle plane. One who accepts one view-point and disregards another is looked upon as "insistent" and such a fellow cannot find out truth. Its realization can be achieved by resorting to non-absolutism only *Anekantavada* is a speciality of Jainism.

Jainism gives judgement to other *darsanas* and welcomes them without entirely refuting any one of them and accept correct views of each of them from the right stand-point. This is a specimen of the unparallelled broad-mindedness and catholicity of Jainism. No other *darsana* has achieved this beauty even superficially. Isms leading the world to the path of ruin, are unable to entertain other isms as they are absolutely insistent whereas Jainism is very well able to do so. in virtue of its policy of non-absolutism. The world can build up an auspicious empire of justice, peace and happiness by admitting *anekantavada*.

Definition of view-point (nayas)— 'Naya' is a part of *anekantavada*, and it is derived from the root "ni".

Its etymology is as under :—

"नीयते प्राप्यते तत्त्वमनेनेति नयः"

We shall now deal with its conventional (traditional) meaning.

Every substance is endowed with infinite attributes and they are all different from different stand-points. The special view-point that helps him in understanding the desired attribute, is *naya*. Every *naya* is of two kinds: (1) *naya* and (II) *durnaya*. Presentation of a particular attribute of a substance without ignoring its other attributes, is called ' *naya* " whereas the reverse is called '*durnaya*.' If one were to say that a substance is only existent, this statement is 'durnaya' for it points out only existence by denying non-existence. A statement that a substance is existent is *naya*, for it does not deny non-existence.

Difference in signification between 'naya' and 'Pramana':-A substance is endowed with infinite attributes, and it can be realized by means of its any one attribute or many, knowledge about a substance derived by means of many attributes is *pramana* (valid proof) whereas that acquired by any one attribute is *naya*.

A substance is realized by both these means. So says the following 6th ' sutra ' of Tattvarthadhigamasutra (ch. 1) :-

" प्रमाणनयैरधिगम : "

Complete knowledge about a substance is attained by means of *pramana* and its partial realization by means of *naya*. Both of them are useful for realizing a substance. *Pramana* reveals complete nature of a substance and *naya*, only a part. *Nayas* are useless to the world as they are *excessively* dogmatic assertions. They can however become useful to the world in case one takes into account the various phases of an object viz. its substance, location, time and nature. This sort of reflection is called ' *anekantavada* ' or *Syatvada*. *Syadvada* is also called ' *lokanatha* ' as it is a protector of the world. That this is the opinion of the entire *Nayacakra*, is depicted in various places beautifully in the end, and thereby validity of Jainism is established.

Simile of a wheel and excellence of Nayacakra:-The name of this work-jewel as " Nayacakra ", is significant just as a king prior to his becoming an emperor, conquers rulers of the entire Bharata (India) as he possesses a wheel-jewel which makes its weilder *invincible*- makes him always victorious so is certainly the case with this work-jewel. Just as a wheel-jewel is excellent in a 'weapon-war' so is this ' *Nayacakra* " jewel in scripture-wars. Sovereignty is attained amongst kings by means of a wheel jewel. Likewise supremacy amongst disputants, is attained by means of this *Nayacakra*. It may be inferred that this work-jewel is named as " *Nayacakra* " for proving similarity of potency. The author, too, observes in the end that just as a wheel-jewel is essential to emperors to attain sovereignty so is this *Nayacakra*-jewel to attain supremacy amongst all disputants.

The fact especially worth noting is that there is from the stand-point of composition just the same sort of similarity between this '*Nayacakra*' and the wheel of time profounded in Jainism for calculating time as is the case with this Nayacakra and a wheel-jewel from the stand point of potency. There are twelve spokes in Nayacakra and twelve in the wheel of time Just as there are two divisions viz. substantive aspect (dravyarthika) and modificatory aspect (paryayarthika) in

Nayacakra so is the case with the wheel of time, for its two divisions are the ascending and descending periods. Each of these periods consists of six *spokes*, and they *incessantly* follow one an other. Consequently the simile of a wheel-jewel given to *Nayacakra* from the view-point of potency and that of the wheel of the time given to it from the view-point of its composition are properly applicable. Though a very powerful emperor who weilds a wheel-jewel, is unconquerable in the world, yet he is devoured by the wheel of time in a moment. So it proves the supremacy of the wheel of time over a wheel-jewel. But "*Nayacakra*-jewel exceeds (all wheels), for not only does it make us victorious in all sorts of disputes, but does so even regarding the influence of the wheel of time by multiplying, its potency by liberating us from wonderings of, *Mundane* existence.

This work-jewel is unique in Jaina works on logic. Though it very minutely treats the topic of view-points for ascertainment of truth yet it is lucid and thus there is no other work which can vie with it The following doctrine is specially well-known as being attributed to the author (of this *Nayacakra*):-

'यदैव केवल ज्ञानं तदैवदर्शनम् '

But it is a question how it became current; for, even though there is an exposition of omniscience in this work the author has not even touched this doctrine. He has neither refuted the view of *Siddhasena Divekara Suri* nor that of *Jinabhadra Gani Ksamas' ramana*. Even the commentator (Simha Suri) has not pointed out that *Mallavadin Suri* differs in this connection from these too. Though this different view was current in the time of *Haribhadra Suri*, it was not then attributed to *Mallavadin*. Hence this becomes a research problem for scholars.

Legends about the Author :-*Mallavadin* has not even mentioned his view about fallacy in in this work, Herein he has mainly dealth with only '*nayavada*' and '*syadvada*' by accepting them as the topic (?). In this work there is hardly any exposition about the following :-

(1) What is the number of substances accepted by *Jainism* ?

(2) How many kinds of reason for an inference (the middle term) are admitted by *Jainism* ?

(3) How many fallacies are accepted by *Jainism* ?

Further, wherever there is, a discussion about valid proofs and reasons, only a particular 'naya-vada' is resorted to,

Besides, the division of certain *nays* as '*dravyarthika*' and the rest as *paryayarthika*' is attributed to *Mallavadin Suri*.[3] All these problems can become consistently solved provided we may inffer that there must have been some independent work of *Mallavadin Suri* on this topic.

---

(1) The portion in square brackets forms a part of the Gujarati foreword.

(2) (See PP 232, 1163, & 1201)

(3) असिध्धः सिध्धसेनस्य विरूध्धो मल्लवादिनः "

(4) Vide the author's own commentary (P 73 on *Dravya-Guna-Prayaya-Rasa*.)

May have been treated by him in his commentary on *Sanmatitarka* (Pr. *Sammaipayarana.*) In this 'Nayacakra' six spokes of *dravyarthika* are included in *Vyavahara* (practical), *Sangraha* (collective) and *'Naigama'* (non-distinguished) whereas the six spokes of *paryayarthika* in Rjusutra (Straight forward), S'abda (Verbal), *Samabhirudha* (subtle) and *Evambhuta* (such like).

Appropritateness of the name of this work and its style. There is no end to *naya-vada* it has neither beginning nor an end.

The author, a great saint, has rightly given to this work the name of "*Nayacakra*" by composing it in the form of a wheel for the reason that 'naya-vada' goes on refuting (one view) and establishing (another) by always revolving like a wheel. This *Nayacakra-jewel consists* of twelve spokes and there are twelve intervals, one between every two spokes. There are three *fellies* (margas) one for every set of four spokes. Lastly, there is a nave in which are inserted all the spoke and which is indeed a support of all these spokes and that of the entire wheel, if further said. Every spoke is an independent *nayavada.* Six spokes of this wheel, pertain to *dravyarthika* view point and the remaining six to *paryayarthika* view point. First of all *isms* of persons who lay undue emphasis on generality, perticularity or both are treated by resorting to one view point. Then an interval is composed to point out there refutation and thus another view point is commenced. This new view point propounds its view by refuting opinions of other disputants in the interval. At the end of the spoke concerned, the author has firstly pointed out the place of the corresponding view point (spoke) in seven *nayas* such as *Sangraha* etc., there-afterwards, sentence and meanings acceptable to that view point and in the end he has *propounded* that the Jaina canon is the original basis of that particular *naya.*

It means that the author has pointed out that all the view points *propound* their absolute dogma by resorting to the topic embodied in one or the other sentence occurring in the canon, Meaning of *'dravya'* and that of *'paryaya'* are given in six *dravyarthika* view points and similarly in six *paryayarthika* view points too. Thus when the twelth spoke is over its interval (refutation) becomes the subject matter *of* any view-point and it in its *turn* can get refuted by a another, and thus refutation and acceptance go on *incessantly.* This never ends, and it is for that reason that it is called '*Wheel*'.

Syadvada, a nave – A nave in the form of *Syadvada,* is composed as the entire preserver of all the arguments based on all these view-points, and this nave is the support of one and all the twelve *nayas* (spokes). It has been pointed out by means of many a clear reasoning that *nayas* cannot stand without this nave. No *naya* is able to become victorious without (the help of) *Syadvada,* the nave and it (naya) gets destroyed owing to mutual antagonism according to "sundopasunda", maxim, *Syadvada* protects all the *nayas* by removing this antagonism. Consequently this

---

1 Spoke I is associated with 'Vyavahara' II IV in 'Sangahara' V & VI 'Naigamg' VII in 'Rjusutra' VIII & IX in 'Sabda' X in 'Samabhirudha' and XI–XII in 'Evambhuta'

2. The nave alone is the main support there is no need of bandage (?). Even today we find a wheel having no bandage and such may have been the case in the joys of the author. otherwise the author himself would have assigned a place to 'bandage'

3 Vide 'Nayacakra' (P. 94.)

syadavada is the lord of all the *nayavadas* which are capable in subduing the world, for it (Syadvada) removes, *mutual* antagonism, in the form of absolutisms of *nayas*, and synthesizes then. This *synthesis* can be achieved by 'Syadvada' alone, Exposition of an object (topic) may be assigned a place in a valid proof provided 'nayas' have done so by following 'syadvada'. If it is done independently it fails owing to its absolutism, This is what is pointed out in various places by the author while expounding 'nayas'

Name of the work :- The author and the commentetor (Simhasuri) have specifically mentioned the name of this work as nothing else but "Nayackra" on various occasions. The name Dvadasaranayacakra" is rather rarely noted. Nevertheless it is probable that no other name but 'Dvadasaranayacakra' is cherished by the author, and the name 'Nayacakra' may have been mentioned for the facility of pronunciation.

It is very likely that the naming as 'Dvadasaranayacakra,' is due to the desire of distinguishing this Nayacakra from Saptas'atara-naycakra adhyayana from which it is extracted. Maladharin Hemachandra Suri, too, has mentioned no other name but Dvadas' aranayacakra" in his commentary. On Anuyogadvara (Pr. Anuoygadhara) in the following sentence .-

'इदानीमपि द्वादशार नयचक्रमस्ति'

This work must be extended at least up to this period, and so must be the conventions of naming this work as 'Dvdasranayacakra'. The author himself too, names this work as "Dvadasaranayackra" only, Even the commentator does so in the end :-

"द्वादशारनयचक्रंसिध्धप्रतिष्ठितम् ॥"

The name "Nayacakravata" is mentioned by Gunaratna Suri in his commentary on 'Saddars'anasamuccaya and by Jinaprabhasuri in his Jinagamastava but this naming does not seem to be correct in view of the above-mentioned authorities.

Even Upadhyaya Yas'ovijaya who has copied the super commentary of this Nayacakra in only one fortnight who has much obliged us, who is a crest-jewel of logicians and who is highly venerable, has mentioned no other name but 'Dvadas aranayacakra' in this transcription which is the basis of almost all the manuscripts available to-day.

Validity and non-validity of view points :-

This is the main subject of this 'Nayacakra'. This very thing is pointed out in the following complete and aphorism :-

"विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यातिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥"

'Vidhi', and 'niyama' give rise to twelve Bhangas' (combinations). These 'bhangas' are the twelve 'nayas' (spokes). All of them become untrue as they give a wrong idea in case they like a non-Jaina scripture propound a view by remaining independent of each other. But if they meet

---

(I) They are (I) विधिः, (II) विधिविधिः (III) विध्युभयम् (IV) विधिनियमः · (V) उभयम् (VI) उभयविधिः (VII) उभयोभयम्, (VIII) उभयनियमः, (IX) नियमः (X) नियमाविधि, नियमोभयम् and नियमानियमः

mutually and propound a view free from antagonism, their exposition is true as it gives rise to Jainism. For, a substance has infinite attributes such as general com-particular, In that way all the 'nayas' should make relative expositions by consulting one anther. The author has dealt with the topic pertaining to relative and absolute (views). Nowhere in this work he has dealt with the distinction between 'naya' and 'durnaya' he has simply treated view points, The following is an important question : How is it that Mallavadin has not dealt with this distinction even when it is treated by Siddhasena Divakra in his work. Sammatitarka (Sanmaipayarana).

These twelve spokes are the Bhangas of 'vidhi' and 'niyama'. The first four spokes are 'bhangas' of 'vidhi' and they make up one Marga (felly) the next four are bhangas of both and they form second felly; and the remaining four or 'bhangas' of 'niyama' and they form the third felly, This felly establishes eternity, eternity, non-eternity and non-eternity by means of reasonings viz. non-creation, creation, non-creation and creation (respectively).

The following fact is expounded in the nave of Nayacakra; —when these twelve nayas becom unanimous and behave as expectant of one another make assertions, they (nayas) point out the real nature as they are enlighteners of the complete object such :—

स्यान्नित्य : स्यान्नित्यानित्य : स्यादनित्यः शब्द : etc.

This is very thing is the main subject matter for exposition of Nayacakra.

This very thing is the main subject for exposition of Nayacakra.

The Author and his Greatness :–The Author of this work if Mallavadin Samas'ramana crest–jewel of disputants, This Suri (preceptor) is renowned in the Jaina works on logic. The commentator of Nayacakra observes :–

" जयति नयचक्रविनिर्जितनिःशेषविपक्षचक्रविक्रान्त : ।
श्रीमल्लवादिसूरिर्जिनवचननभस्तलविवस्वान् " ॥

This means, He who has defeated all the antagonists of syadvada by means of 'Sudars'ana' wheel in the form of a wheel of nayas is victorious. Mallavadin Suri, the Sun in the sky of the Jaina canon.

From the above–mentioned verse we learn :–

(i) Mallavadin Suri is the author of Nayacakra.

(II) He is the conqueror of disputants.

(III) He enlightens us on Jina–vacana (Word of the .Tirthankara) i. e. to say he is duly conversant with the essence of the Jaina canon extent in those days and he is its illuminator.

This Suri is very celebrate in the Jaina world in view of his logical acumen. He vanquishes hosts of masterly disputants in dispute worse by constructing an excellent and inferable array of reasonings for establishing his view. This fact is very well revealed by this excellent and important work of his. Just as his tongue (speech) was skilful in refuting views of opponents so his pen (composition) too, was moving fast in establishing his own, thesis.

Basis of Composition :- An account pertaining to birthplace etc,, of this ' Suri ' is given in many a work such as ' Prabhavakacaritra '. Hence for it we request readers to refer to those very works We can say nothing about the source of this work ' Nayackra ' as well as the date and place of its composition, owing to want of materials dealing with these topics. All the same it appears that the main basis of this work, is works like ' Saptasataranayacakra', We can know ' that these works were extract ' in the time of the author, But since the author has not clearly mentioned that the basis of this work is these very works, how can we say that these must be definitely the basis ? After saying that this ' Nayacakra ' is " पूर्वं महोदधि समुत्थितनयप्राभृत तरङ्गागम प्रभ्रष्टश्लिष्टार्थ कणिका मात्रं " the author has simply said that the source of this ' Nayacakra ' is valid proof and the tadition regrading the canon.

Admirers (of the author):- The name of this great personage who is a here '(prabhavaka)' of the 'Jaina' regime and who is a devotee of knowledge and asceitism is first noticed in ' Haribhadra Suri Anekanta jayapataka (Vol. I pp. 58 & 116) and his commentary on his own work Yogabindu. ' Shanti Suri has marvellously praised him (Mallavadin) by means of a verse[1] in his commentary on the 'Vartika' of Nyayavatara.' Moreover, in Vadivetala Shanti Suri's Prakrit commentary (p. 68) on Uttaiadhyana Surta (Pr. Uttarajjhayana)' there is mention of 'Nayacakra' and its reasoning too. 'Bhadresvara Suri' has given in his prakrit 'Kathavata' (Kahavata) reasonable information about 'Nayacakra' and Mallavadin Nayacakra is mentioned in 'Malladharin Hemachandra Suri s commentary on Visesavasyakabhasya ' (Pr. Visesavassayabhasa) ' Kalikalasarvajna' (Hemachandra Suri) has extolled excellence of his logical 'acumen in Siddhahaima grammar as under :

" अनुमल्लवादिनं तार्किका : "

Later on, ' Sahasravadhanin' Munisundara Suri ' and a great many other venerable Suris have ' panegyrized Nayacakra ' and ' Mallavadin Suri '. Finally ' Nayacarya ' Nayavisarata Upadhyaya Yasovijaya has praised in his Atha prabhavakani Sajjhaya Mallavadin Suri ' as a hero amongst disputants, and in his ' Dravyagun Paryayanorasa ' he has said that all the twelve spokes can be included (?) in one spoke of ' Nayacakra '. In this way this work and its author are extolled by a great many ' Jaina Suris. '

The argumentative power logical acumen of this ' Suri ', a hero amongst disputants, was indeed like that of the scorching (heat of the) sun of the mid-day in the case of stars in the form of disputants of other schools in his days. His composition, too, was so very marvellous that by adopting an extra-ordinary style and without using any harsh word, he has made an attempt to reduce to the stage of unreality, disputations and dogmas of others by ' resorting ' to saying embodied in contemporaneous or earlier works of their own schools after graping the essence of these sayings. Some of the works utilized by him (in this ' Nayacakra ') are such as are not available to-day. Furtear, (In this 'Nayacakra') there are very very lengthy 'purva-paksas' (views of opponents) and discussions which are not to be seen in works so far available and which though knotty are presented in beautiful and lucid way and which are immediately comprehensible and which, when grasped, make profound disputants, the readers and students of this work of his who is expert in

---

एवं सप्तनयाम्बुधेर्जिनमताद् बाह्यागमा येदभवन्, स्थित्युत्पदविनाशवस्तु विरहात् तान् सत्यतायाः क्षिपन् यो बौद्धावधिबुद्धतीर्थिकमतप्रादुर्भवद्विक्रमः, मल्लो मल्लमिवान्यवादमजयत् श्रीमल्लवादी विभुः ॥

- सलोमा मण्डूकः चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मृगवत्. अलोमा वा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात् मण्डूकवत् इत्यादिवत् निर्मूलयुक्तेर्न साध्यसाधककत्वम् ॥

(vide P, 52 of Nayacakra)

reputation by means of unassailable arguments. (For these reasons) this voluminous and deep-sensed work jewel is unique' in the Jaina world

For Suri's that preceded this 'Suri' have no doubti clearly established the doctrine of non-absolutism but they have merely refuted arguments of other schools based up on 'NAYAS' with the result that the view of these opponents cannot be clearly grasped. This suri has firstly clearly expounded views of persons of other schools and then refuted them Hence this work is unique.

Siddhasena Divakara Suri:- The original author has extracted in this 'Nayacakra' some complete and some sentences (from the works) of revered 'Siddhasena Divakara Suri'. This Divakara Suri is pupil-jewel of Vrddhavadin Suri, pupil of 'Skandila suri of Vidyadhr'a 'Vamsa' (School). Skandila suri was 'yuga pradhana' (towering personalite of his age) in 'Vira Samvt 376-414 (years 94-56 before the Vikrama era)

There are two Suris by name 'Skandila (I) Arya 'Jitendhara exponent (exponent of 'Jita' vyavahara i. e. codification) Skandila Suri and (II) 'Anuyogadhara (expert in exposition) Skandila 'Suri' who is mentioned in Nandi Sutra (Pr. Nandi sutta) in V. 26 and 33 as under. :-

"सामज्जं वंदे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं" ॥ २६ ॥

"...............तं वन्दे खंन्दिलायरिऐ" ॥ ३३ ॥

At least the fact that these 'Mahatmans (saintly characters) who are best of ascetics, have flourished prior to the composition of 'Nadisutra' as their name are mentioned therein, is as clear as day-light The fact that remains is ; how can 'Sandilla' mean 'Skandila'? Commentators such as reverend 'Haribhadra' Suri, Malayagiri Suri and others have explained "Sandilla" as Sk'andilya'. Against this only one thing is to be said that Skandilayariya mentioned in Nandisutra is referred to as 'Sandilla' in the following 20th 'sutra of Kalpasutra (Pr Pajisovanakappa).

"थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते थेरस्सणं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी" कल्पसूत्र. [२०]

From this we can understand that the work 'Sandilla' can be used in the sense of "Skandilla". Here that work 'Sandilla' is used for no other word but 'Khandilla' mentioned in 'Nandi', for venerable 'Haribhadra Suri' refers to 'Khandila' as pupil of Simha Vacaka in his commentary on Nandi. This very mention occurs in the 20th Sutra of Kalpasutra. Of courrse, there Sandilla (Khandilla) is said to be a grand pupil of Arya Simha. But this difference is totally negligible; for one and the same individual is 'mentioned as 'Pupil' in a commentary whereas 'grand-pupil in the (corresponding) text.

The date of Arya Jitadhara Skandila Suri is fixed by historians as Vira Sanivat 376-424. At that time this Mahapurusa great personality of 'Vidyadhara' Vams's was bearing the yoke of the Jaina regime, as 'yuga-pradhana' Revered Divakara Suri was grand disciple of this very Mahapurusa and pupil of Vrddha-vadin Suri; So it may be very very clearly decided that the date of Rev. Divakara Suri is nothing else but fifth century of the Vira era – the period when Viksamaditya Sanivat pravartaka (founder of an era) was the ruler.

Rev. Divakara is grand-pupil of none else but Skandila Suri of 'Vidyadhara' Vamsa. In this connection (Prabhacandra Suri) the author of Prabhavakacarita says in Vrddhavadiprabandha (V. 176-178) that Vriddhavadin Suri belongs to the 'Vidyadhara' gaccha (school). From its gets proved that Aryajitadhara Skandila Suri who is the teacher (preceptor) of Vrddhavadin Suri, belongs to the 'Vidyadhara' gaccha (Vams'a) Consequently Rev. Divakara Suri is grand-pupil of none else but Skandila Suri of 'Vidyadhara' gaccha' and not that of another (of the same name). Against this a question may be raised. Is there any proof to believe that the teacher of Vrddhavadin Suri is none else but Arya Jitadhara Skandila Suri? A strong argument by way of its reply is that Skandila Suri of the Kasyapa' lineage is mentioned in the succession-list given in Nandisutra, and this transgresses the probable date of Divakara after the mention of above five to six Suris that followed Arya Jitadhara Skandila Suri.

For this reason, too it is more justifiable to believe that none else but Arya Jitadhara Skandila Suri belongs to the Vidyadhara gaccha.

Another point is that Skandila Suri of the 'Kasyapa' lineage is 'anuyogadhara'. That he has given the fourth 'vacana' of the canon is in disputable. So far as we know there is no discord regarding the following:-

This 'vacana' is posterior to (the life-time) of Vajrasvamin 'dasapurvadhar' (cognizant) of ten 'purvas,' and Vajrasvamin flourished after Divakara Suri. This proves that anuyogadhara Skandila Suri who is posterior to vajrasvamin, cannot be guru of Vrddhavadin Suri. Hence Skandila Suri mentioned as his guru is none else but Arya jitadhara Skandila Suri of 'Kausika' lineage. This reasoning undoubtedly informs us that Divakara Suri is a contemporary of Vikramaditya. Samvat pravartaka.

("Sanivat pravartaka", which is the last line of the 8th page is connected with this foot note.)

In ancient days the clan named as 'Malava' was occupying a suprema place. In the third century before christ, this clan with the help of 'Ksudraka' clan, opposed Sikandara (Alexander). But as additional assistance could not be had, it go defeated. This very Malava tribe came to Rajputana, on its being ruined by constant attacks of the Greeks, and its established its, supremacy in Malva in the first-second century before christ. It was a republican state, and Vikramaditya was its leader. Vikrama assumed the title of 'Sakari' by multiplying attacks of the Sakas (Scythians). Further, he made 'Malava' clan famous. For that reason this era got named as 'malava-gana sthiti'.

—History of Sanskrit Literature.
(p. 144) **By Baldev Upadhyaya**

moreover, there is mention of a powerful and liberal ruler named 'Vikramaditya' who presented lacs to his servants in virtue of his victory over enemies, in the following verse of Gathasaptasati composed by king Hala:-

" संवाहणसुहरसतोसिअेण देन्तेन तुहकरे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा. ॥ "

५-६४.

Jaina works fully corroporate this fcct.

-Ibid. p. 143.

There is the following inscription on a 'panca tirtha' metallic image in the temple of Lord Candraprabha in Jesalmere :-

" श्रीं नागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेनदिवाकरगच्छे अस्माच्छुमाभ्यां कारिता संवत १०९६.

From this we learn (I) a 'Gaccha' named after 'Siddhasena Divakara Suri', was prevalent and (II) this 'gaccha' has arisen from 'Nagendra' (Naila) Kula. It is natural that this image inscription may be lacking in names such as ' 'Vidyadhara' 'Vamsa' 'Vidyadhara' 'Kula' or 'Vidyadhara gaccha.' For a 'gaccha' named after 'Siddhasena Divakara Suri' had become prevalent. Even then it is not probable that well-known' Siddhasena Divakara' may have flourished in the 'Nagendra' kula, since 'Kodiya' (koti) 'gana had started from 'Arya susthita Suri' and in his succession Naila' branch (sakha) originated from 'Arya Nagila', pupil of 'Vajrasena', pupil of Vajrasvmin',

The author of 'Prabhavakacarital' informs us that Nagendra' gaccha' had started from pupil of 'Nagendra'. In the 'sthaviravali' (Pr. theravati, list of sthaviras) of Nandi Arya Skandha' is said to be pupil of 'Simahasuri' of Brahamadipika' Sakha. This branch started from Aryasamita Suri who flourished in Vira Samvat' 584 and who was a maternal uncle of 'Vajrasvamin'. In his connection the author of 'Prabhavakacarita' remains silent after that this 'Samita Suri' belonged to the 'Vidyadhara' 'amnaya'.

Looking to all this, a question arises, how can 'anuyogadhara Skandila Suri' of Brahamadipika branch be grand teacher of Divakara Suri ? No author has said that ' Siddhasena Divakara Suri ' or his guru ' Vrddhavadin Suri ' belongs to to the Brahamadipika branch,

Pannyasa Kalyanavijayaji has said that ' Padalipta Suri ' belongs to the ' Vidyadhara ' kula named after Vidyadhara, pupil of ' Vajrasena '. But it is reasonable to believe that ' Sthavira Nagahastin ' belongs too 'Vidyadhara' branch which originated from ' Vidyadhara Gopala.' pupil of ' Susthika ' and ' Supratibaddha ', a couple of pupils of Arya Suhastin. Ancient S'akhas have been named in course of time as Kulas and Kulas as ' Gacchas,' This very things has occurred, even in the case of ' Vidyadhara ' ' gaccha ' of ' Nagahastin Suri.' Consequently there seems to be no harm in case ' Padalipta Suri ' is said to belong to 'vidyadhara' kula or Vamsa. Hence there is no ground for doubting the following statement occuring in a colophon of Girnar, dated as Vikrama Samvat 150:

Vrdhavadin Suri flourished in the 'amanya' (Vamsa) of Padalipta Suri.

The author of Prabhavakacarita has cited this very colphon as an authority. So it is not justifiable to doubt it. Another point is that Nagarjuna who is a layman pupil of Padalipta Suri and who is well-known as 'Yogasiddha' is different from Nagarjuna mentioned in the Sthaviravali of Nandi. How can (the name of) a householder be mentioned in Sthaviravali ?

The 'Guru' of venerable Padalipta Suri, is not Nagahastin but he is none else but Arya Khaputa Suri Padalipta Suri is referred to as 'Vacaka' in the Curni (Caruni) of 'Kalpa' sutra). Further in Nandi it is said that Nagahastin belongs to 'Vacaka' vamsa So Padalipta Suri must be pupil of Nagahastin. An attempt is (no doubt) made to prove that Padalipta Suri is pupil of Nagahastin. by citing 'Nandi' as an authority. But this attempt is unwarranted. For the meaning of the following sentence occuring in 'Nandi' (V. 30) is simply this that Nagahastin Suri belongs to 'Vacaka' vamsa and not that this 'vamsa' originated from him :—

" वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जनागहत्थीणं "

Some believe that Padalipta Suri flourished in the first century of the Vikrama era. This belief too, requires investigation 'Tarangavati' (Pr. Tarangavai) of Padalipta Suri is mentioned in 'Anuyogadvara'. Composition of 'anuyoga' (exposition) is prior to Virasamvat 453 and not posterior to it. This is what Panyas Kalyanavijayaji has said in his 'prabandhaparyalocona' of 'Prabhavakacarita. So it becomes clear that Padalipta Suri is an acarya who flourished before Vira Samvat 453. Consequently it follows that the first Skandila Suri and none else is the teacher of Vrdhavadin Suri and grand-teacher of Siddhasena Divakara Suri.

In Jaina-paramparanoitihasa it is, said that Mallavadin, too, was alive at the time 'anuyogadhara' Skandila Suri delivered his 'vacana'. If this is a correct. Divakara Suri cannot be grand-disciple of the second Skandila Suri.

Jaina Suri while showing the connection of 'Padalipta Suri' with Murunda, has referred to the latter as 'King'. We are so far in the dark about him, Some historians decide the date of 'Divakara' Suri as the fifth or the fourth centuary by showing resemblance between works of Nagarjuna a protagonist of 'nihilism' and those of Siddhasena Divakara but this (view) requires investigation

From the mere mention of 'nihilism' it cannot be said that Divakara (Suri) is posterior to 'Nagarjuna' Nihilism has not originated from 'Nagarjuna'. It is certainly order It is expounded in Prajnaparamitasutra. From the mere fact that 'Madhyama[3]-marga (Midway-Path) and Nihilism[4] are to in 'Dvatrimsaka' of Siddhasena, one cannot guess that 'Divakarsuri' is posterior to Nagarjuna

Surely this conjucture would have been said to be a right in case it was pointed out that, reasonings and sayings of 'Nagarjuna' were embodied (by Siddhasena Divakara). Works of Divakara Suri are at present available as 'text' only. As in my humble opinion we should not hasten to decide his date by surprises until we come across sound valid proofs.

Venerable Haribhadra Suri has given to Divakara Suri an honorific title of 'Srutakevalin'. Hence too, (the period of) this Suri must be ancient very ancient moreover, 'Nagarjuna' has refuted in 'Sanskrita-pariksa' (pp. 45-57) of Madhyamakarika' the doctrine of origination permanence and destruction propounded by Divakara Suri. This too, proves that Siddhasena Suri is anterior to 'Nagarjuna'.

It seems that this [Siddhasena] Suri had not criticized the Digambara school of thought. So it follows that Divakara Suri must have flourished prior to this school which originated in Virasamvat 606 (according to the Svetambhara tradition) and in Virasamvat 606 according to Digambara works. That is why both the sects (of the Jainas) cite extracts from his work as authority.

---

1 This work belongs to the first century A. D. Vide p. 176 of 'Darsana-cintana of (introduction Pramanamimamisa).

2 see Bauddhadarsana [p. 195]—

3 if

" अतीत्य नियतव्ययौ-स्थितिविनाशमिथ्यापंथौ
निसर्गशिवमात्थमार्गमुदयाय यं मध्यमम् ॥ ११ ॥
इत्वमेववपरमास्तिकः परमशून्यवादी भवान्
त्वमुज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादःपुनः ॥ २१ ॥ "

It is believed that Dharmasuri flourished in Virasamvat 392-495. Siddhasena Divakara Suri is mentioned as his pupil too, in 'vicarasreni while nothing that Khaputa Suri, Vrddhavadin Suri etc. flourished during the life time of this venerable Suri (Dharma).

For the guru of Siddhasena Suri, two names are mentioned (i) Vrddhavadin Suri and (ii) Dharma Suri, though so far as we know, Siddhasena Suri has mentioned neither of them as his guru. If we have to reconcile the dates of these two Suris we may have to accept that vrddhavadin Suri is a contemporary of Dharma Suri. If this comes true, there is no harm in believing that (I) the guru of vraddhavadin is Skandila Suri, (i) and none else, and (ii) Siddhasena Divakara is a contemporary of Vikrama. We point out another valid proof in this connection. It is that Siddhasena Divakara must have composed some grammer, Its name was 'Ksapanaka'. Siddhasena suri was one of the scholars who flourished in the time of Vikrama, and he is refferred to as 'Ksapanaka' by other authors. In Jyotirvidabharava composed by Kalidasa it is said :-

"धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु : । वेतालभट्ट-घटकर्पर --कालिदासा : "

"ख्यातोवराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥ " २०-१०

The connection between Vikrama[1] and Divakara Suri is very well deferred to in Jaina works, That Siddhasena Divakara Suri has written even a commentary on his own grammar 'Ksapanaka', is borne out by the following lines occuring in a Maitreyaraksitatantrapradipa :-

अत एव नावमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं
बाधित्वा अमागमे सति नावं मन्ये इति क्षपणकव्याकरणे'

Moreover, it is distinctly stated in 'Unadivrth' composed by Ujjvaladatta as under :-

"क्षपणकवृत्तौ अत्र इति शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः इति ।"

In Jainandra grammar too Siddhasena's opinion with grammar is gouoted as – 'वेत्ते सिद्धसेनस्य'

Even in this Nayacakra we come across the following sentences :-

'अस्ति भवति विद्यति पद्यति वर्त्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्ताथाः'

'तथा चाचार्यसिद्धसेन आह-'यत्र हि अर्थो वाचं व्यभिचरति नाभिधानं तत् ।'

From these sentences pertaining to grammar it follows that Divakara Suri must have Composed grammar and that grammar must have been named as 'Ksapanaka'. As this grammar comes from the pen of Ksapanaka, his grammar may have been,

---

1 Historians are not unamious as to who this vikrama is

Pt. Nathuram Premi is reluctant to believe that this Suri has composed a grammar. But an opinion of an 'acarya' pertaining to a grammatical topic, is cited only when he has composed some independent grammar. e. g. 'puniksu' noted while citing the opinion of Anubhuti svarupacarya.' He has shown validity of this form in his grammar and hence his opinion is cited. Even other opinion of Divakara Suri pertaining to grammar are noted in this work So there seems to be no ground to doubt the fact that the author of Ksapanaka grammar is Siddsena Divakara Suri.

The name of Nayavatara is mentioned just along with Sammati. So the author of both of them is one and the same person.

This Siddhasena Suri may be one mentioned in Nisithacurni (Nisihavisesacunni) etc.

known as 'Ksapanaka'. If so, since Siddhasena Divakara Suri alone is up till now identified with Ksapanaka, one of the nine jewels of Vikrama, there is no 'hitch' arising in believing contemporaneity of Siddhasena with Vikrama.

Siddhasena Divakara Suri is traditionally believed to be the author of Nyayavatara. This tradition must have originated by identifying Nyayavatara with Nayavatara. The name 'Nayavatara' is mentioned along with 'Sammati'[1] in the commentary on Nayacakra, but not the name 'Nyayavatara or it may be that this tradition may have as its basis the fact that a couplet of Nyayavatara is quoted by Haribhadra Suri by prefixing it with "महामतिनाउक्तम्". In its commentary Jinesvara Suri may have mentioned the name of Siddhasena Suri, a veteran scholar. But it should be carefully investigated as to whether this Siddhasena Suri is some as Siddhasena Divakara or some other,

In the end of this Scripture Nayacakra, Nayavatara and not Nyayavatara is mentioned as a scientific work dealing with view-points. In Nyayavatara 'nayas' are only referred to, but not therein there is any exposition of them. In this work (Nyayavatara) only valid proofs are extensively treated So this Nyayavatara is not same as Nayavatara composed by Divakara (Suri), Its author must be other Siddhasena[2] 'Mahamati'. The mention of 'Mahamati' instead of the current word Divakara, leads us to believe that probably there must be some other Siddhasena Suri.

(Vacaka) **Umasvati.**

Tattvarthasutra . composed by this Suri, is accepted by both the sects of the Jainas viz. S'vetambara and Digambara. The author of Nayacakra has extracted (cited) as authorities sentence from (this) Tattvarthasutra and its bhasya (commantary) composed by the authar himself. The following sentence occurs in the available 'bhasya' (p. 118)

"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थों व्यवहारः"

According to the S'vetambaras the author of this 'bhasya' is Umasvati It seems that there must have been only this commentary Tattvarthsutra up to the time of Mallavadin Suri, Amonst the available commentaries excluding this bhasya, the earliest one is the one composed by Digambara Devanandin who is known by the name of 'Pujypapada' and whose date is believed to be the fifth or the sixth century of the Vikrama era. Not a single sentence from this commentary is cited by Mallavadin Suri.

This Suri (Umasvati) has said in Tattavartha (sutra ch-V) "गुण पर्याय वद् द्रव्यम्" (s. 37). It means a substance is endowed with attributes (gunas) and modifications (paryavas). Both guna and paryaya are really gunas (properties). There is no difference between them, for the author of the 'Bhasya' has said "भावान्तरं सञ्ज्ञान्तरंच पर्यायः" (p. 427) For that very reason the commentator (Siddhasena Gani) has mentioned the succeeding and simultaneous 'bhedas' (varieties) as 'gunas' And this being the opinion ot the author of the 'bhasya,) he has given ahead the characteristic of only the guna as 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः". (ch V s. 40) If a praya was to be looked upon as different as a 'guna' he would have certainly defined par[1]yaya[1]. This very fact is elucidated by Divakara Suri, moreover, the following ophorism of Umasavati is fostered in Sammati :-

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (ch . VS. 29)

---

1 तत्रके गुणाइति In its commentary (p. 435) it is said :-
गुणग्रहणच्च मर्याया गृहीता एवत्यतो न भेदेन प्रश्नः, प्राकृच प्रतिपादितमेव गुणाः पार्याया इति चैकमिति"

Hence it follows that Umasvati is anterior to Divakara Suri and he hence flourished earlier than Vikrama.

Moreover, Vacaka (Umasvati) has mentioned fire bodied and air bodied beings as "Trasa[1]". He has designated them as merely 'Trasa' He has added no qualifying word to 'Trasa'. Venerable Sivasarman Suri has as it were expounded this aphorism While doing so he has mentioned fire bodied and air-bodies beings not as merely 'Trasa' but as 'Suksma-Trasa' to avoid any conflict with the scripture. So Umasvati is anterior to him too. In the commentary of this Nayacakra, Karma-prakrti (Kammapayadi) of Sivasaraman Suri is cited as an authority. Those who assign the fourth century to Umasvati and the fifth to Sivasarman Suri should reconsider their thesis.

These suri (Umasvati) has composed 500 'prakaranas'. It seems that so far as the Jaina literature is concerned amongst the available Jain Sanskrit works so many sanskrit works are first composed by this (Suri) and none else.

'**Tattvartha**' (sutra) of this Suri is designated as 'agama' by venerable Haribhadra Suri, (spiritual) son of Yakini Mahattara[1]. According to the Jaina tradition every work composed by a 'Caturdasapurvadhara' (i. e. one conversant with 14 Purvas or by a 'dasapurvadhara i. e. one conversant with 10 Purvas) is called Agam. So Umasvati was dasapurvadhara Amongst 'dasapurvadharas' Vajrasvamina is without a follower of this kind. He is the last 'dasapurvadhara'. He is said to have flourished in the second century of the Vikrama era. (Hence) Umasvati must be earlier then he.

By convening the Council of the congregation of Jaina asectics in north Mathura in Vikrama Samvat 153, 'Gandhastin Suri', pupil of Madhumitra Suri, co pupil of Umasvati has composed 'mahabhasya' on 'Tattvartha'. In Himavantasthaviravali it is said :-

" पूर्वस्थविरोत्तंसोमास्वातिविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्रश्लोकप्रमाणं महाभाष्यं रचितम् यदुक्तं तद्रचिता-चाचाराङ्गविवरणान्ते यथा-थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहिं तिपुव्वनाण जुत्तेहिं । मुनिगणविवंदिएहिं ववगयरागाइ दोसेहिं ॥१॥ बंभदीविय साहामउडेहिं गन्धहत्थि विबुहेहिं । विवरणमेयं रइयं दोसयवासेसु विक्कमओ ॥२॥

From this at least one fact becomes certain that 'Gandhahastin Suri' has composed a voluminous 'bhasya' on 'Tattvartha', and he was alive in 'Vikrama Samvat' 200. So the author of Tattvarthasutra is earlier than Vikrama Samvat 200.

Some are tempted to belive that Umasvati belonged to the 'Yapaniya' Sangha (community)' But this 'Sangha' originated in Vikrama Samvat 205 as said by Digambara Darasana Suri, whereas Umasavati is proved as anterior to Vikrama.

Niryuktis (Nijjullis) & Cononical Treatises

The author of Niryuktis (Nijjuttis) is 'Bhadrabahusvamin' a 'caturdasapurvadhara. Ancien venerable Suris believe that Niyuktis were composed (latest) in Vira Samvat 170.

---

1 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' २. १४

2 सम्यग् दर्शन ज्ञानचरित्राणिमोक्षमार्गं इत्यागमोतिरुध्यते

Avasyakatiko (p. 72a)

In the introduction (p. 103) to Nayavatara it is said : 'Niryuktis' as available to-day are works posterior to Siddhasena. For this very reason they have no place in the literature composed before Siddhasena-Bhasyas (bhasas) and 'curnis' (cunnis) are certainly posterior to; Siddhasena. Modern historians believe that Siddhasena Divakara Suri flourished in the fourth or the fifth century and thereby they are trying to prove that 'niryukhtis' were composed subsecquent to the fourth-fifth century.

In the introduction to part VI of Brhatkalpa (Kappa) it is said that Niryaktis were composed prior to the second century of the vikrama era. Hence persons conversant with history have now at least accepted that niryuktis are composed prior to the second century.[1]

Thus there is a difference of opinion regarding the date of composition of Niryuktis. In this Nayacakra verses from Niryuktis are quoted. Hence there is no doubt that the composition of Niryuktis is earlier than the fifth century of the Vikrama era. This Suri (Mallavadadin) has quoted from Nandisutra as done in the case of Niryuktis. And Devavacaka Gani, the author of Nandi, has incorporated many verses of Niryuktis in his text Nandi, Consequently Niryuktis are earlier than even the composition of Nandi.

Some historians determine the date of the composition of Nandi as Vikrama Samvat 980 by identifying Devavacaka Gani with Devarddhi Gani Ksamasramana, but that is not fair. The guru of Devarddhi Gani is Des'in Gani whereas that of DevaVacaka Cani, Dusya Gani. In some of the ancient works Devavacaka Gani is mentioned as Devarddhi Gani Ksamasramana but it is another named based upon the fact that in the Sthaviravati of Kalpasutra.[2] Devavacaka is called 'Davarddhi Gani' That Devarddhi Gani Ksamasramana the redactor of the canomical treaties is different from this, will be realized on going through the Sthaviravati of Kalpasuta, In this Sthaviravati, the name name of Devarddhi Gani Ksamasramana occurs twice So it follows that this must be another name of Devavacaka Gani. In one of the Sthavivavatis of Kalpasutra there is mention of saints of different lineages but having a common name 'Devarddhi Gani Ksamasramana'. Consequently it follows that Devarddhi Gani Ksamasaramana' is another name of Devavacaka Gani For this very reason some ancient Suris have called Devavacaka Gani Devarddhi Gani, but not so to Devarddhi Gani Ksamasramana, the redactor of agamas. Venerable Malayagiri Suri has distinctly mentioned Devavacaka in his commentary on Nandi.

From the qualifying words used for Nandi, in Nayacakra, we infer that Nandi must have been composed before the time of Mallavadin Suri, too, The pertinent line is :-

" भगवदर्हदाज्ञापि तथोपश्रूयते "

('P. 749)

Here Nandi is said to be the commendment of the divine Tirthamkara, Hence it is not now necessary to indulge in the investigation that the composition of Niryuktis is very ancient. During that period no Bhadrabahu who so ever has flourished. Another Bhadrabahu whose existence is

---

(1) If niryuktis are composed later than Siddhsena Suri as stated in the introduction to 'Nyayavatara,' it gets proved by his own writing that Divakara is earlier than the second century of the 'Vikrama era according to the introduction of Part VI. of Brhatkalpa.

(२) " तत्तो य थिरचित्तं उत्तमसम्मतसत्तसञ्जुत्तं "
देवड्ढिगणि खमासमणं ' माढर ' गुत्तं नमंसामि ॥११॥

" देवड्ढि खमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥ "

conjectured said to belong to the sixth century of the vikrama era. Hence it follows that Bhadrabahusvamin who flourished in Vira Samvat 170, is the another of Niryuktis.

The main basis of the Jaina doctrines, is twelve angas. Their auothor is Sudharmasvamin, the fifth apostle, Sthavira (veteran) saints have composed upangas by utilizing these angas. Mallavadin Suri has made a free use of both of them (i. e. angas and upangas). Therein Acaranga (Ayara) Sthanaga (Thana) and Bhagavati (Vivahapannatti) are three 'angasutras' whereas Jivabhigama Pannavana etc, are upanga-sutras. Besides, the author (Mallavadin Suri) has quoted from Nandi and Anuyogadvara known as 'Sutra'. All these works and their authors belong to a very ancient period.

Katyayana.

In various places the author of 'Nayacakra' has made a free use of aphorisms of Panini, 'Vartika' and Patanjala 'Mahabhasya' on them. there is a difference of opinion regarding the date of *Panini. Max Mullar, a great German scholar assigns to him the date 350 B. C. Prof. Weber 400 B. C., Goldstukor Dr. Bhandarkar and Dr. Belvalkar 700 B. C., Principal Rajwade 800 B. C., Bharatacarya 900 B. C. Pandit Satyavrata samasvami 2400 B. C. and Yudhisthira 'mimamsaka' a date earlier than 2800 B. C.

Sharana Agraval looks upon Panini as a contemporary of Yudhisthira and Pariksita, by giving evidence from 'Astadhyayi' a work of Panini. He has fixed the date of Yudhishtra and that of Pariksta. According to his calculation these dates are almost 4369 years from to-day.

A good many 'Vartikas' have been composed on the grammer of Panini. Therein only the Vartika composed by Katyayana is well known. In the 'Mahabhasya' only this 'Vartika' is mainly expounded of the various names of the author of this 'Vartika', even the name 'Vararuci' is well-known. Amongst grammarians he is an honest author. Patanjali has used the word 'Bhagavan' for Katyayana in following* sentance :—

" प्रोवाच भगवांस्तु कात्यायनः "

But Shabarsvamin has said in the following sentence of his 'Mimamsadarsana (10-S-4) that the saying of Katyayana is invalid :—

" सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वात् न कात्यायनस्य "

On the basis of this sentence Katyayana's sayings are said to be invalid. All the modern authors have however considered Katyayana as reliable. Katyayana is anterior to Patanjali but posterior to Panini. There is a difference of opinion amongst scholars regarding his (Katyayana's) date. The Jaina.

---

*vide 'Visva-vijnana (February, 1957).'

*(i) Katyayana, (ii) Bharadvaja, (iii) Saunaga, (iv) Krostr, (v) Vadava, vi) Vyagghrabhuti and (viii) Vaiyaghrapadya anr commentators so far as 'bhasya-tikas' are concerned,

The Jain authors look upon him as contemporanous with Sakatala, *father of Arya Sthulabhadra and the prime minister of King Nanda[1]. So he may have flourished in about Vira Samvat 170.

There is no consensus of opinion as regards the date of Patanjali's Mahabhasya, too, whether the very author of 'Yogadarsana' is (this) Patanjali or some one else, is a question so far unsolved.

In many a place there is a difference in readings between those in the printed 'Mahabhasya' as is before us at present and those given in this 'Nayacakra'.

The reason for this is that the 'Mahabhasya got lost several times and it was restored many a time, Kalhana' in his 'Rajatarangini' has said that 'Mahabhasya' had perished in the eighth century of the Vikrama era. We come across such other references too. We should not discard the probability of serious changes in this work that arose at the time of its such destructions and restorations. We can undoubtedly say that variants are due to such changes.

The following verse occurring in the text of 'Nayacakra, is loeked upon as 'bhrajasanjnaka' by the author of Mahabhasya :-

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषः

We are-led to infer that according to the commentators Kaiyata and others, the author of this verse may be Katyayana, The pupil of Sadgur says ; "

" स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नां च कारकः "

This means : the author of Bhraja-verses is an author of some 'Smrti'. This word 'Katyayana' has in the end a termination for a leneage, Vararuci, son of Katyayana, too, is named as 'Katyayana'. He may have written some smrti. This Katyayana has composed 'Vartika' on Panini's aphorisms as correctness of some words could not be proved by these aphorisms. For the difinition of 'vartika' is :

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । तं ग्रंथं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा महर्षिणः ॥

The date of Katyayana alias Vararuci is posterior to that of Panini but it is prior by 300 to 200 years from Patanjali. the author of 'Mahabhasya' for Katyayana is respectifully referred to by Patanjali. Some historians opine that Katyayana flourished in the fourth century before the Vikrama era

---

1 (Katyayana' which is the 28th time of 16th page is connected with this foot note.

*Some historians on comingacross the sentence.

" वहीनरस्यैतद् वचनम् "

Believe that this author of the 'Vartika' is posterior to 'Vahinar', son of 'Udayana', But that is not Proper, 'Vaihinari' is mentioned in 'pravaradhyaya' of Bodhayanasrantiasutra. Even Patanjali while expounding the Vartika has said as under :-

कुरणबाडवस्त्वाह–" नैष वहीनरः, कस्तर्हि, विहीनर एव-विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्, विहीनरस्यापत्यं-वैहीनरिः "

In the time of Kuranavadava the reading was 'Vahinara'. Taking it to be incorrect he says that the correct word must be 'Vihinara'. So it is improper to believe that Katyayana is posterior to Vahinara, son of Udayala.

2 See Parisistaparvan of Hemacandrasuri.

Bhrartrhari

Bhartrhari has neither given even abit of information about himself in any of his works nor has he directly mentioned the name of his teacher. Mallavadin Suri has (however[1]) mentioned Vasurata as the (name of the) teacher of Bhartrhari in 'Nayacakra.' Even Punyaraja, a commentator of 'Vakyapadiya' has mentioned the name of Vasurata as that of the teacher of Bhartrhari. The opinion of Vasurata is not recorded in any other work but 'Nayacakra' Views of both these teacher and pupil are very well examined by the author of 'Nayacakra.' Bhatrhari, too, expands the view of his teacher without specifically mentioning that it is the view of his teacher and establishes his own view by refuting that of his teacher.

Itsing, a Chinese traveller, has created a great deal of misunderstanding about the date of Bhatrhari. This has led some scholars to belive that Bharrhari flourished in the latter half of the seventh century of the Vikrama era. Yudhhisthirmimamsaka believes that he flourished prior to Vikrama Samvat 45. According to the Indian tradition Bhartrhari is the elder brother of Vikramaditya.

On going through a criticism of the view of Bhartrhar as given in 'Navacakra,' we find that he is a protogonist (exponent) of sabda-brahma (sound monism) and according to him sphota alone is the highest entity and the universe is its vivarta' (modification). Consequently the statement in 'Itsing Bharatavarsayaatra (p. 274) to the effect that Bhatrhari was a follower of Buddhism and he had been initiated seven times, may have been made owing to his sole rifatuation of his religion or he must be some other Bhartrhari.'. For this have flourished two to three persons by name 'Bhartrhari'. The authorship of Bhattikavya, 'Bhagavrtti, Mimamsa-'bhasya, 'Satakatraya' and 'Sabdadhatusamiksa is attributed to Bhartrhari. The author of 'Vakyapadiya, its commentory, 'Mahabhasyadipika' and 'Vedanta-sutravrtti' is one and the same Bhatrhari, a protagonist of 'sabda-brahma.' It is not too much if we were to say that Itsing was totaly ignorant about this Bhatrhari, pupil of Vasurata. So it is a mistake to believe by taking his statement into account that he Bhartrhari flourished in the seven century. For there is a quotation from Bhartrhari's 'Vakyapadiya' in 'Kasikavrtti a beautiful and voluminous commentary on 'Astadhyay' composed jointly by Vamana and Jayaditya alive in Kashmir in the beginning of the sixth century of the Vikram era, while giving an example for the aphorism 4-3-88. In Durgasimho's commentary on 'Katantra' grammer, the commentary which is older than even this 'Kasikavrtti, the following line from a couplet of 'Vakyapadiya' it cited :

" यावत्सिद्धमसिद्धं वा "

Harisvamin, a commentator of 'Satapatha Brahmana who is pupil of Skahudasvamin and whose date according to him is Vikram Samvat 696, refers to Kumarila Bhatta and Prabhakara as 'Prabhkararah', in his 'bhasya' Further, he mentions even Bhartrhari an exponent of 'Sabda-brahma and quotes the following by mentioning his couplet :-

" अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदम्, ' विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया ' इत्यत आहुः "

Moreover, Kumaril Bhatta, too, quotes the 13th verse from the 1st 'Kanda' (sector) on of 'Vakyapadiya.' This series of reasonings proves that Bhartrhari is anterior to even Kumarila Bhatta.

There is a cave of Bhartrhari in the castle of Cunargadh near Kasi. There is a tradition that this cave was got constructed by Vikrdmaditya. Similarly, a cave even in Ujjen which was

(1) Sams krta Vyakarana (p, 163),

the capital of Vikrama, is known as that of Bhartrhari. So it follows that surely there must have been some connection between Bhartrhari and Vikramaditya 'Vagbhata' the author of 'Astangasangraha' and the author of this 'Nayacakra' too mentions Bhartrhari. In Prabandhacintamani' Bhartrhari is said to be brother of king Sudraka. According to 'Krisnacarita' composed by the emperor Samudragupta, king Sudraka was the founder of some era. According to my study this Sudraka must be none else but Odraka, a successor of Vasumitra of the 'Sunga' dynasty. (A change like ओद्रक–मद्रक– शुद्रक must have taken place.) In 'Vayupurana it is said that (i) Odraka will succeed Vasumitra as king, and (ii) he will be as valourous as Vasumitra and (iii) he will rage a war with the foreign subjects This Odraka was alive in about 180 B C. He had fought against Yavanas. He has comsosed a drama named, Mrcchakatika which is a version of the drama 'Garudatta' composed by the peoet Bhasa,a contemporary of Nanda Historions obserye silence about king Sudraka after (merly) saying that he was a king.

Some research scholars opine that a sister of some Bharthari born in a royal family of the Malava country, was married to Vimalcandra, father of Govindacandra, a contemporary of Dharma-Kirti. But this Bhartrhari is different from the author of 'Vakyopadiya. Even Dinnaga mentions Bhatrhari, exponent of the doctrine of 'sabdda-brahma. So it is a blunder of historians to decide dates of Bhartrhari, Dharamakirti, Kumarila and others by relying upon Itsing.

Katandi

The author of 'Nayacakra' mentions a work named 'Katandi in his 'Nayacakra while expounding and refuting the Vaisesika system of philosophy. This work may be a 'bhasya' or a 'tika' on 'Kanadasutra'. The name of the author of this work is not known from this work, for, the author (Mallavadin) refers to him as merely' Katandikara'. He must be vaisesesika scholar. We do not find in the Vaisesika works available at present, any referenee to this 'bhasya' or 'tika'. any comments or notes on it or any extracts from it. But in Anargharaghava (act V.) a drama, there is Mention of Ravana as Vaisesika scholar of Katandi.

From the following lines (occurring this drama if becomes clear that Ravana is the author of Katandi ;–रावण : -भो भो लक्ष्मण ! वैशेषिककटन्दी पण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि, क्वासौ रामः? तेन सह विवादिष्ये।"

Rucipati Upadhyaya has mentioned 'Katandi as "Ravana-bhasya, and has in this very place cited as evidence 'Nyaya-Kandali This very Ravana may have been mentioned in his 'bhasya' by Sayana Acarya, the author of a 'bhasya on 'Veda'. Baladev Upadhyaya writes in his Vaidika sahitya (p. 37) that Ravana has composed even a 'bhasya' on 'rigveda' and has given even his own 'pada-patha'. Punyaraja' in his commentary on 'Vakyapadiya' has said as under while elucidating the couplet beginning with ; पर्वतादागमं लब्ध्वा | " :–

पर्वतात् त्रिकूटैकदेशवार्त्ति त्रिलिङ्गैकदेशादिति, तत्र ह्युपल-तले रावणविरचितो मूलभूतो व्याकरणागमस्तिष्ठति | "

Ravana' mentione even herein may be none else but the author of Katandi. Moreover, in 'Ratnaprabha a commentory of Vedanta Sankara-bhasya it is said : " रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्ट्या वेदं भाष्यम् " |.

1 He is looked upon as a contemporary of Candragupta II by historians–Introduction (11–14–15) to 'Astangahrdaya.'

2 See the introduction of 'Nayabindu' published in 'Chaukhamba Sanskrit Series', Benaras.

3 Sanskrta Vyakarana (p. 263).

4 *It meanes method of writing or reciting Vedic texts in which each word is written or recited separately and in its original form "–H. R. K.

From this it follows that there is a 'bhasya' composed by Ravan a in the literature of the Vaisesika system of philosophy. If all these Ravanas are identicaly, his date gets proved as posterior to that of Patanjali and anterior to that of Vasurata.

In the introduction of 'Vaisesika-'narsana' edited in Vikrama Samvat 1969 by Mahadev Sharma son of Gangadhar Bhatt having 'Bakre) as the surname it is said :-

> " पदार्थसंग्रहाभिधप्रशस्तदेवप्रणीतवैशेषिकसूत्रभाष्यस्य
> साक्षात् परंपरया वा व्याख्या रूपेका द्वितीया तु रावणप्रणीतभाष्यं
> भारद्वाजीया वृत्तिरिति द्वे प्राचीनतरे रावणभाष्यस्य सद्भा
> वः किरणावली भास्करकृतनाममात्रनिर्देशादवगम्यते "

From this it is inferred that this very 'Bharadvajiya vritti may be 'vakya grantha' and the bhasya grantha is Ravan's 'Katandi'. Both of them are furnished with a commentary by 'Prasastmeti'. The name of the commentary is not known. At least this fact is certain that this Prasastmati is anterior to Mallavadin Suri the author of Naya cakra. But it remains to be determined as to how old Prasasmati is. Prasastadeva, the author of 'Padarthadharmasangraha, is not as old as Prasastamati, and he is named as 'Prashastapada' too. This very 'Bharadvajavritti is mentioned by Sankarmisra in his 'Vaisesikasutropaskara'. Commentators of the available 'Vaisesikasutra' hardly mention the view of Prasastamati. That this prashastamati a Vaisesika philosopher, is anterior to Mallavadin Suri, is a settled fact.

Why does the author of 'Nayacakra refute 'Katandi' even when there are a good many ancient commentaries of 'Vaisesikasutra'? A reply (to this question) is that it seems that since Jainism is therein refuted[1] by presenting it as the 'purvapaksa' the author (Mallavadin Suri) has selected this work for counter-refutation. The study of Nayacakra easily reveals this reason.

From the refutation of 'syadvada' occurring in 'Katandi it is inferrd that even in those days 'syadyada' may have been expounded in a logical way. As this work of 'Katandi has now almost perished it is not available to us. We believe that it is baseless to conjecture that there was an ordinary exposition (of syadvada) prior to its logical treatment by only a certain scholar in the Jaina regime.

Prasastamati

He is one of the commentators of 'Vaisesikasutra'. He is mentioned many a time in the literatures of the Jainas and the Buddhists. It is not known as to which work was composed by him. Then what to say about its acquisition? Only quotations given by mentioning his name are found in the Jaina and Buddhist works. The commentator (Simhasuri) in this 'Nayacakra' has used the word 'ca' in 'कटन्द्यां टीकायां च' (p. 620) and thereby he has enlightened us that

---

[1] Jaisism is dealt with from " मया विगृह्यैवात्र वादः वैद्यार्थीयमतावलिम्बनं (महावीरमतावलम्बिनं) स्वामेवोद्दिश्य"

there is a commentary on 'Katandi'. By writing ahead 'टीकायां प्रशस्तमतौ' (p. 621) he gives us an inking that the commentator is Prasastamati. From this it follows that the commentary 'Katanai' on the 'Vaisesikasutra', is composed by Ravana and Prasastamati has commented upon it.

Just as in previous spokes views of both Vasubandhu and Dinnaga are at a time refuted so here, too, both 'Katandi' and its commentory are simultaneously refuted.

On Sankhyakarika there is a commentary named as 'Yuktidipika'. Therein the name of Prasastamati is mentioned, and it contains refutations of views of Buddhist scholars up to Dinnage, but there is no mention of Dharmakirti. Hence it is inferred that this work (Yukti dipika) is composed in the intervening period between Dinnaga and Dharama Kirti

Kanada

This sage is the originator of the Vaisesika darsana. This 'darsana' is very ancient. It is named as 'Vaisesika' as it has laid much emphasis on 'visesa (particularity) out of the permanent entities. The originator of this 'darasana is variousls named such as Kanada, Kanabhuj, Kanabhaksa and Aulukya. The main entities propounded in this 'darsana' are: substance, quality, action, universal generalty particularity, inherence and non-existence and these are admitted by many philospophers, in one way or the other. Since these Vaisesika aphorisms belong to a very ancients period, there is a great possibility for variants. So it is natural that the readings of printed 'Vaisesikasutra may differ from those occurring in Nayacakra.

By taking into account the subtance of the aphorisms (of Vaisesikasutra) Prashastpada Acharya has compoed a 'bhasya'. It is called 'Prashastapadabhasya'. Since it really lacks in the characteristic of 'bhasya' it should not be designated as 'bhasya'. Prashastapada Achary, too does not name this composition of his as 'bhasya' but names it as 'Padarthadharmasangraha'[1] Even in 'Prameyakamalamartanda' (p. 532) it is called 'Padarthaparavesakagrantha'. The date of Prashastapada Acarya is believed to be the fifth century of the Christian era.

In 'Nayacakra' we find many quotations from 'Upanisads', 'Mahabharata' and (other) Vedic works. Further quotations from Upanisads are given as 'authority' by prefixing to them 'anvaha' to show that his exposition (of Jainism) agrees with that of Upanisads. According to Brahmin Pandits these are very anciant works. These 'Vpanisads' are lakes of spiritual knowledge Various rivers of knowledge have originated from this lake and they are spread in India. They are the corner stones of 'darsanas' such as Sankhya', Vedanta etc.

This 'Upanisads' are expositions of knowledge by way of the final part of 'Veda'. Though the number of 'Upanisads' is big the Vedantins look upon ten 'Upanisads' as the main ones.

While refuting the Vaisesika view Mallavadin Suri has quoted the following sentence (in the 7th spoke) :-

'निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात्'

---

1 One scholar in his introduction to this 'bhasya' says :—

"प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्यतः । पदार्थधर्मसंग्रह : प्रवक्ष्यते महोदय : "

प्रशस्तपादाचार्य-कृतपदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते, भाष्यतया केचिद् व्यवहरन्ति, तद-संगतम्, प्रणम्येत्यारभ्य पदार्थ-धर्मसंग्रह : प्रवक्ष्यते परन्तु कालवशात् भाष्यादेरसौलभ्याच्च सूत्रपाठस्यातीवान्यथात्वं जातामित्यत्र न संदेह : । "

Uddyotakara,[1] too, has given this sentence in his 'Nyaya-vartik', but it his not his own. It may be from another ancient work pertaining to 'Vaisesikasutra'. This ancient work may be 'vakya-grantha'. For that very reason the commentator (Simhasura) seems to have suggested 'Vakya-kara' by later on quoting the following sentence :

' इति तु वाक्यकाराभिप्रायोऽनुगतो भाष्यकारे :'

This 'Vakya-grantha' must have been furnished with some 'bhasya-grantha. This too, is inferred from this quotation. It is possible that Prashtamati may have composed a commentary on this 'Bhasya' - the commentary which has been criticized in many places by the author (Mallavadin). Vadin Deva Suri has however mentioned (the name of) Atreya as the author of the 'bhasya' on 'Vaisesikasutra, in 'Syadvadaratnakara'. Whether this 'bhasya' is his or not remains to be settled.

The commentator has mentioned some work by way of the following .

' तंत्रार्थसङ्ग्रहादिभ्योऽवगन्तव्यम '

That work is 'Tanrarthasangraha or taking the reading 'tatra' for 'tantra' it is 'Arthasangraha' or by correcting the above quotation as ' तंत्रार्थ : सङ्ग्रहादिभ्यो वगन्तव्य.' it is 'Sangraha'. It is difficult to know whether this 'Sangraha is the work composed by Vyadi Acarya in connection with grammer or some other work. The definition of 'pratyaksa' (perception) accepted by the Sankhyas and its exposition are respectIvely as under :-

" श्रोत्रादिवृत्ति : प्रत्यक्षम् "

' श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाऽधिष्ठिता वृत्ति : शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमम ग्रहणे वर्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षम्

---

1. One scholar has said about Uddayotakar : The poet Subandhu has said in his 'Vasavadatta akhyana' as under :-

'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्'

In the beginning of 'Vasavadatta this poet has laments as under in connection with Vikrama:-

'सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः ।

सरसीव कीर्त्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥'

As the word 'sa' here indicates the experienced object, it proves that this poet is contemporaneous with Vikrama or this very lamentation about Vikrama, shows that this poet flourished very shortly after Vikrama. If he had flourished after a long period, there was no possibility for such a lementation, Hence Uddyotakara is earlier then this Subandhu. Uddyotakara refutes the view of Dinnaga, So Dinnaga is anterior to Uddyotakara and hence to Vikrama. (Investigation of the date of Vatsyayana by Pandit Sudarsanacarya of the Punjab) By believing this the inference that Kalidasa, a contemporary of Vikramaditya has suggested the name of Dinnaga in the following verse of his 'Meghaduta' can be also justified. :-

' दिङ्नागानां पथि परिहरन् '

Historians differ regardieg the date of Vikramaditya. So the above mentioned view cannot be accepted as final.

This has been refuted by this author. We come accross this definition in various works such as Uddyotakara's Nayavartika Dinnaga's Pramanasamuccaya and Siddha-sena 'Divakar's' Dvatrimsad-dvatrimsika. But no author out of Uddyotakara and others, has pointed out the name of the work in which it occurs or the name of its author. But surely Vacaspatimtsra has said in his 'Nyayavartka-tatparyatika as under (and thereby indecated the name of the author).

" वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह ' श्रोत्रादिवृत्ति'रिति । '

But even then he has not mentioned the work. In 'Yuktidipika', a commentare on Sankhyasaptati we come accross the following line ·

" श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणा : "

From this, too, the name of the work where this definition occurs is not know.

Sastitantra

But it is heard that there is a very ancient and voluminous work named as 'Sastitantra and composed by 'Varsaganya'.[1] But there is a difference of opinion amongst historians regarding the following :-

(I) Is Pancasikhacary the author of 'Sastitantra, or Varsaganya ?

(II) Are Pancasikhacarya and Varsaganya names of one and the same persons or those of different persons ?

In the Bhasya on the 13th aphorism of the fourth 'pada' (foot) of 'Yogabhasya' there occur the following lines :—

---

१ समस्ततंत्रार्थविघटनं ' वार्षगणे तंत्रे 'तेन बहुधाकृतं तंत्रं' ' कृत्स्नस्य षाष्टितंत्रस्य ' ' पञ्चाशिखेन मुनिना बहुधाकृतं तंत्रं षाष्टितंत्राख्यं ' ' अयं पंञ्चाशिखः षाष्टिसहस्रगाथात्मकं विपुलंतंत्र '

On the basis of those sayings 'Tantra' is taken to mean 'Satstiantra.' And since Pancasikha Acharaya belongs to the 'Vrsagana' lineage, he is named 'Varsagana' and as 'Varasganya' words having in the end the termination for 'lineage'. This 'Sastitantra' is designated as 'Yogasastra' too. The word Yoga is a synonym, too, of 'Sankhya', It is said in (Bhagavad) Gita 4 :-

"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । "

For this very reason Vacaspatimisra too has made the following statement in Bhamati.

" योगशास्त्रं व्युत्पादयता आह स्म भगवान् वार्षगण्य : "

or by elucidating that Varsaganya says while profounding 'Yogasastra, there is no reason to believe 'Sastitantra is a work of Yogasastra. This Sankhya Acarya may have expounded entities of yoga.

'निराकरणार्थें अभ्युपगमसिद्धान्तसूचनार्थें'

For this very reason he may have used the 'pada' having the termination 'satr' meant for the present tense in,"

" योगशास्त्रं व्युत्पादयता "

'तथाच शास्त्रानुशासनम्
गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥'

In its commentary 'Tattvavaisardi' Vacaspatimisra has said :

'षष्टितन्त्रस्य सांख्यशास्त्रस्य'

While quoting this very couplet in 'Bhamati a commentary on the 'Bhasya' of 'Brahmasutra' (ch. II, B.) Vacaspati misra has said : -

'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः'

Hence it follows that according to Vacaspatimisra the author of 'Sastitantra' is Varsaganya. In the third spoke of 'Naycakra' Mallavadin Suri has said.

'किमवशिष्यते वार्षगणं तन्त्रे सुभाषिताभिमतम्'

So this Suri, too believes that the author of 'Sastitantra' is Varsaganya. According to some historians this Varsaganya is Sankhya Yogacarya anterior to Isvarakrsna and alive in the middle of the first century of the christianera. Chinese historians believe that the auther of Sastitantra to Pancasikea Acharya and so does Isvarakrsna too. If the following couplets are well considered, the fact that Iswarakrsna belisves that 'Sastitantra' is a work of Pancasikhacarya will appear as valid :-

"एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकंपया प्रददौ ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन बहुधाकृतं तंत्रम् ॥
शिष्यपरंपरयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥
सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितंत्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥"

Even Sankaracarya in his Jayamangala says : -

"पंचशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तंत्रं षष्टितंत्राख्यं षष्टिखण्डकृतमिति तत्रैव षष्ट्यर्था व्याख्याताः"

In Suvarnasaptati, too, we find the following :

"अयं पंचशिखः षष्टिसहस्रगाथात्मकंविपुलं तंत्रं प्रोक्तवान्" "क्रमाच्छिष्या बुद्धिमन्तस्ताभ्यः परम्परेण विकल्पंते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते"

We believe that this 'Sastitantra' was not seen by Vacaspatimisra. For he attributes the authorship of following sentence to Pancasikha, in his Tatvaisaradi.

But he has quoted in 'Yuktidipika' composed in the sixth century of the Vikrama era. by prefixing to it the following :-

"तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति"

In that very work we come across the following :-

"तथा च वार्षगणाः पठन्ति तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति इत्यत्र प्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् संसर्गाच्च सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति"

This occurs even in the Bhasya of Vyasa. In its commentary Vacaspatimisra has attributed this to Vyasa, a great sage. On finding this sentence in Vatsyana's Bhasya on 'Nyayasutra' some persons interested in history, conjecture the relation of Prior and Posterior regarding. The dates of

Vyasa and Vatsyayana Thus The authorship of 'Sastitantra' has not been definltely decided. Therein ignorance alone of a Buddhist monk named as 'Paramartha' and that of historians are the cause.

We rather feel that 'Varsaganya' is not the name of any particular individual but it must be a synonym of 'Pancasikha' as is the case with 'Mathara', a name derived from the lineage, 'Vatsyayana' of that Paksilaswamin and 'Bharadvaja' that of Uddyotakara. The name' 'Varsaganya may have been derived from the 'Vrsagana lineage The word 'Vrsagaṇa occurs in the 'gargadi' 'gana' of the following aphorism of Panini :– 'गर्गादिभ्यो यञ्'

The word 'Varsaganya', has in the end the termination 'Yan' as under:– "वृषगणस्य गोत्रापत्यं वार्षगण्य :"

The 'patha' "अग्निशर्मन् वृषगणे" occurs in 'Nadadi' 'gana' occurring in the aphorism "नडादिभ्यः फक्". In the 'Vrsagana' lineage there is the 'phak' termination from the word 'agnisarman'.. This lineage is technical

According to Paramartha, Varsaganya is the teacher of Iswarkrisna, and he belongs to the firs century, But this is not correct, for the name 'Sastitantra' occurs in the very ancient Jaina canonical treatises viz. Anuyogadvara, Nandisutra and Kalpasutra and Bhagavati too. Thus 'Sastitantra is very ancient It is not contradictory that in some place Pancasikha Acharya is said to be the author of 'Sastitantra and in some other place Varsaganya is so reffered to. For one is the name derived from the lineage and the other is the name of an individual. Both appear to be identical.

Isvarakrishna.

The author of 'Nayacakra' has not quoted even a single couplet from 'Sankhyasaptati composed by Isvarakrisna. But he has mainly dealt with only entities treated in 'Sastitantra.' For this very reason he has said :–"किमत्राशिष्यते वार्षगणे तंत्रे". It is believed that Isvara Krisna belongs to the first century of the Vikrama era, This author (Mallavadin Suri) while refuting topics of other systems of philosophy has done so by resorting to their original works only. That is why Sankhyasaptati may not have been utilized as an authority, Scholars may investigate this matter.

The Buddhist historians believe that Vasubandhu has composed Paramarthasaptati. by way of criticizing this 'Sankhyasaptati. They say that once a Sankhya Acarya by name 'Vindhyavasin' defeated in a dispute Buddhamitra 'guru' of Vasubandu in his absence. On coming to know about this defeat after some time, Vasubandhu invited Vindhyavasin for a scriptural debate. But at that time Vindhyavasin was dead. So for his satisfaction he composed 'Parmarthasaptati by way of a refutation of 'Sankhyasaptati,' But we think that this Vindhyavasin is not same as Isvarakrisna, for some historians even say that a debate on oath has taken place between Iswarakrisna and Dinnaga, pupil of Vasubandhu. Therein Isvarakrisna got defeated but even then he did not embrace Buddhism. Consequently Dinnaga got dejected and stopped giving spiritual advice to the pepole. When he was pacified at the instance of arya Manjusri he composed 'Pramanasamuccaya. As these are contradictory statements, a doubt arises as to which of them is correct. Whatever it may be, Vindhyavasin the author of Sankhyasaptati is not Isvarkrisna, for doctrine of both of them differ[1],

---

(१) महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पंचतन्मात्राण्यहंकारश्चेति विंध्यवासी, प्रकृतेर्महान्, ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशक इतीश्वरकृष्णः, इंन्द्रियाणि विभूनीति विंध्यवासी, परिच्छिन्नपरिमाणमित्यपरे । अधिकरणमेकादशविधमिति विन्ध्यवासी, त्रयोदशविधमित्यपरे, संकल्पाभिमानाध्यवसायानामन्यत्वमपरेषाम्, एकत्वं विंध्यवासिनः अन्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विंध्यवासिनः, सूक्ष्मशरीरं नास्तीति विंध्यवासी, अस्तीति ईश्वरकृष्णादयः ।"

Surely, there was a Sankhya Acarya named as Rudrila. A debate may have taken place between him and Buddhamitra. In the following ancient couplet there is mention of Vindhyavasin Rudrila :-

' यदैव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद दधीतिच ।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥ '

'Kanakasaptati' is mentioned in 'Anuyogadvara'. If this 'Kanakasaptati' (Suvarnasaptati) is believed to be same as Sankhyasaptati, it gets proved that Isvarakrisana flourished during the regime of Vikrama or he is anterior to him. At least this is certain that there was no connection of Isvarakrisna with either Vasubandhu or Dinnaga.

Sankarasvamin, Haribhadra Suri and Matharacarya all these three scholars were pupils of Vasubandhu. Mathara Acarya has composed a commentary on 'Sankhyasaptati.' It was translated into Chinese language by 'Paramartha Mahasaya' (a great personage) (500 A. D to 560 A. D.) So say Buddhist historians. But this is not accepted by Tilaka Mahasaya, and we, too, hold the same opinion For, even a bit of similarity is not seen between 'Matharavatti' and its translation by Paramartha. In 'Matharavatti Isvarkrsna is honourably mentioned. Even the name 'Mathara' occurs as an illustration of 'Mithyasruta' (false scripture) in Anuyogadvara. In Bhagavati there is mention of only 'Sastitantra.' Consequenty if Isvarakrisna and Mathara noted in 'Anuyoga' (dvara) are Matharacarya it gets proved that the date of Matharacarya is posterior to that of 'Bhagavati' and anterior to that of 'Anuyogadvara.' Arya Raksita Suri, the author of Anuyogadvara, was born in Vikrama Samvat 52, got initiated in 74, became 'Yugapradhana' in 114 and died in 127.

Even Haribhadra Suri, a pupil of Vasubandhu, is different from Haribhadra Suri, the author of great works such as 'Anekantajayapataka' etc, well known in Jainism. Haribhadra Suri, a Jaina Acarya, has refuted in his works thesis of ancient and modern Buddhists such as Dharamakirti and others. In the first spike of Nayacakra Mallavadin Suri has referred to Buddhavacana, 'Abhidharmagama' and even 'Prakaranapada' its commentary by Vasumitra, by way of the following sentence :-

" चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलम् ।

Further, he has quoted as under from works such as Abhidharmapitaka etc :-

धर्मो नामोच्यते नामकायः पदकायो व्यंजनकाय इति ॥

Historians have not settled the date of the 'nirvana' of Buddha. Jayacandra Vidyalankara in his 'Bharatiya ruparekha' mentions it as 544 B.C. and Pandit Baladev Upadhyaya in his Bouddha darsana as 482 B.C i.e. 426 years prior to the Vikrama era In the line of Hiuen Tsang (Yuan-Charvang) the 'nirvana' of Buddhadeva was said by some to have taken place 1200 years ago and by some others, as 1500 years ago Some said that it was 900 years ago. According to. Fahien, Buddha died in 1100 B. C., for the installation of the image took place 300 years after the 'parinirvana' of Buddha. At that time the ruler of the Hana country was king Pinga of the 'Cava' vamsa. Pinga ruled from 750 B. C. to 719 B. C.

1. He has come to India in 630 A. D.-H. R. K.
2. He Visited India In 400. A. D.-H. R. K.

Bhagavaddatta 'Mahasaya' informs us that the 'nirvana' of Buddha may have taken place 1350 years after the Bharata, war i e. 1730 years before the Vikrama era. Pannyasa Kalyanavijayaji has said in his 'Viranirvana Samvat aura Jaina 'Kalaganana' (p 160) that the parinirvana of Buddha took place fourteen years and five and a half months ahead of the date of Mahavira's salvation. Thus the date of the 'Nirvana' of Buddha is uncertain.

The first council (sangiti) was held just a few years after the 'nirvana' of Buddha; the second 326 years before the Vikrama era, and the third during the regime of King Asoka. In all these three councils 'Sutra, 'Vinaya and 'Abhidharma were collected in succession. Thereafter, in the fourth council held near Kashmir by Kaniska of the 'Kusana' dynasty.King of Pataliputra, 'bhasyas' were composed on Tripitaka by Vasumitra II and Sthaviravadins headed by Asvaghosa. These 'bhasyas are called 'mahavibhasa'

There is a difference of opinion amongst historians regarding the date of Kaniska Some historians say that the date of the regime of Kaniska is 100 B. C In his royal court there were Pandita Nagarjuna and Asvaghosa. It is believed that Asvaghosa is the originator of the Mahayana 'siddhanta,

Nagarjuna

Nagarjuna flourished after Asvaghosa. He has composed works such as 'Madhyamakarika. 'Vigrahavyavarthim' etc. He is looked upon as a contemporary of Gautamiputra Yajnasri So it is the beginning of the first century A.D. This Nagarjuna has taught transcendental and worldly doctrines in his work 'Suhrllekha' to Yajnasri Satavahana Nagarjuna who has expounded in details in a logical way the Madhyamika doctrine treated extensively ie Prajnaparamita has established in his 'Madhymika karika' nihilism which developes pratitya' samutpada' of Buddha, This Karika reveals the logical power and extraordinary genius of Nagarjuna. Philosophers opine that this world has neither a beginning nor an end as it is subject to origination, permanence and destruction But Nagarjuna has refuted this view When imagination ('kalpana') about the relation between effect and cause does not stand (to reason) how can there be origination etc.? Refutation of this 'Kalpana' commences from the following couplet of 'Madhyamikakarika ;-

" न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ " ॥171॥

The variant for the latter hemistich is ;-

" चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः "

The author of 'Nayacakra after taking this very couplet into account; has extensively dealt with it in the spoke 'niyamaniyam (12th). For proving it the author, after resorting to the following reasonings which are expounded extenso in even in 'Paramanavartika has treated nihilism :-

Asiddhi, Ayukti anutpada, samagridarsana and adarsana. He has refuted this doctrine in the (corresponding) interval (of the spoka) by means of sound arguments.

---

1. Matrceta is a well known Buddhist author, He was old in the time of Kaniska. Kaniska invited him to come to his assembly. But Matrceta was unable to do so, so he wrote a letter to him. This letter known as 'Maharaja Kaniska lekha' exists even now in the Tibetan language. This Kaniska flourished 400 years after Buddha. (Bharat Varsaka Itihasa, p. 331) Hiuen Tsang, too, says that Kaniska was alive in the400th year after that of the nirvana of Buddha.

Aryadev, pupil of Nagarjuna, has composed works such as 'catuhsataka,' 'Hastvalaprakaran etc The author of 'Nayacakra has quoted the following couplet from Hastavalaprakarna (v. 1) ·

" रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानं "

Another name for this work is 'Mustiprakarana', and it is furnished with a commentary by Dinnaga.

Vasvbandhu

Acarya Vasubandu was a veteran philosopher of Buddhism. A big 'bhasya' was composed on 'Jnanaprasthana' in the time of Kaniska. It is called 'vibhasa'. This is furnished with a commentary named as 'Mahavibhasasastra'. By resorting to this 'bhasya' Vasubandhu composed Abhidharmakosa and commented upon it. In the earlier period (of his life) this scholar was Vaibhasika but later on, he accepted Yogacara doctrines by coming in contact with his eldest brother Asanga. As regards this (Vasubandhu) Buddhist scholars say that he got so much dejected in his after life on being reminded of his blasphemy of mahayana in his earlier life that he become ready to cut off his tongue. At that time too his brother Asanga saved him. Vasubandhu then began to bear the burden of serving the Mahayana sect. He composed many works pertaining to this sect.

While logically refuting the sentence regarding 'pratyaksa' occurring in 'Abhidharmapitaka', Mallavadin Suri has extensively reflected upon 'Abhidharmakosa' and its 'bhasya and then refuted it. Just while doing so, he has refuted 'Prakaranapada' composed by Vasumitra.

There is a difference of opinion regarding the date of Vasubandhu. Takakusu, a Japanese scholar has assigned to him the date 500 A D. But Dharmaraksa who was alive in about 400 A. D has translated into Chinese language works of Asanga, the eldest brother of this Vasubandu So this Acarya is anterior to Dharamraksa. Pandit Vaman has said as under, in his commentary on Kavyalankara.

" सोयंऽसंप्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः " ।

Thereby historians believe that by 'kratadhiyam' the commentator (Vamana) refers to Vasubandhu i. e to say they mention Vasubandhu as a minister of Candragupta (I) of the 'Gupta' dynasty. This king of the 'Gupta' dynasty flourished in the former half of the third century. It is reasohable to believe this very date as that of vasubandhu.

Historians hold different opinions regarding the date of the commencement of the 'Gupta' dynasty Some scholars believe that the Gupta dynasty had commenced during the Andhra reign period and not later. This very 'Gupta' dynasty is called 'Andhra' Bhrtya dynasty. There is the following statemeut in 'Kaliyugarajavrttanta.

" एते प्रणतसामन्ताः श्रीमद्गुप्तकुलोद्भवाः श्रीपार्वतीयांध्रभृत्य-नामानः चक्रवर्तिनः ॥ "

In the begining this dynasty was ruling in the mountain region named 'Srisaila' in the southern direction of the river 'Krsna'. In that dynasty there was Samudragupta son of Candragupta (I) As this Samudragupta was expert in music, some had designated him as 'Gandharvasena', His son–Jewel the third king (in that dynasty) equalled the Sun in valour[1]. So some historians believe him to be 'Vikramaditya Candragupta (II) Sakari Sahasanka'. If this belief is correct Vasubandhu will be anterior to this Vikramaditya.

1. There was some valourous king whose name was 'Vikramaditya. So the belief that author valourous kings by adopting the title of Vikramaditya to show their provess say that a certain king is Vikramaditya, is untenable.

Carakasamhita

In this 'Nayacakra' we come across some quotations from 'Caraka' (samhita) and 'Susruta' (samhita). These two 'samhitas' are the most ancient works of medical science, are authoritative and are the basis for the subsequent works of this science Prior to (the composition of) these two works there existed some 'Sutras[1]' (aphorisms) and scriptures pertaining to 'Ayurveda.' Punarvasu Atreya had taught 'Ayurveda' to his six pupils. Caraka has composed this (Caraka) 'samhita' by making 'pratisamiskara' (adoptations) of the 'tantra' (scientific work) composed by Agnivesa. For in this 'samhita' every chapter begins with 'आत्रेय उवाच' and in many places (of this 'samhita') it is said. Agnivesa asks a question and Punarvasu Atreya replies. Such being the nature of this 'Samhita', Punarvasu Atreya is its original preacher. It is not possible to say that after separating statements of Agnivesa all these remaining statements are those of Punarvasu for at the end of chapters the following line occurs ;—

"अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसस्कृते"

Thus Punarvasu Atreya gave a sermon. Caraka made 'pratisamiskara' of the tantra composed by Agnivesa and composed 'Carakasamhita.' 'Pratisamiskara' means amplification of conciseness or abbreviation of expatiation. Even later on, Drdhabala added 41 chapters of his own. Thus there are 120 chapters in 'Carakasamhita.'

In ancient times we come across three persons, each named as 'Atreya'. They are : (I) Punarvasu Atreya, (II) Krsna Arteya and (III) Bhiksu Atreya. From the following line occuring in 'Mahabharata' 'santi' Paravan Ch. 210, it appears that the original Acarya (author) of 'Ayurveda' must be Krsna Atreya ;

'गान्धर्वं नारदो वेदं कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्'

The commentator Srikantha says 'कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः' and thus he names as Punarvasu, none else but Krasnatreya The following sentences indicate that Punarvasu Atreya and non else is called 'Krasnatreya.'

(caraka cikitsa sthana, ch, XXIII v–153)

'अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्। कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्॥'

From all these sentences it follows that 'Punaivsu Atreya' and none elsee is called 'Krsna Atreya.' Hence it gets settled that Punarvaasu[2] Atreya and Krsna Atreya are names of one and the same individual.

Bhiksu Atreya

In the Buddhist Jatak it is said that in the time of Buddha or some time earlier than that the principal teacher of medical lore in Taksasila was Bhiksu Atreya Jivaka Kumarabhrtya, a physician of Buddha, Pradyota and Bimbasara, had learnt medical science from

---

" ऋषींश्च सूत्रकारानभिमंत्रयमाणः " 'Caraka' vimana sthana

" विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकाराणामृषीणां सन्ति सर्वेषाम्॥ "

Caraka, 'Sarira' Sthana (Ch. VIII)

तथा " विविधानि हि शास्त्राणि प्रचरन्ति लोके " Caraka, Vimana sthana ch. 8

1. This Punarvasu Atreya is made known even by the name 'Candrabhagin' (Caraka st. XII, 'Bhela-samhita' p. 39.) This name suggests that this Atreya may have been a resident of a place named 'Candrabhaga.'

thus Atreya. According to Hershal (?), this very Atreya is Punarvasu Atreya, the original expounder of 'Carakasamhita. If this opinion is correct, (this) Atreya may have flourished in about 600 B.C. Some historians believe that Punarvasu Atreya is very ancient (older than Bhiksu Atreya) and Bhiksu Atreya is different from him. But Punarvasu Atreya and Bhiksu Atreya are contemporaries for in 'Yajnapurusiya' 'adhyaya' (chapter) the name of even Bhiksu Atreya is mentioned amongst persons who discussed with Punarvasu Atrey'a.

'Caraka' – Caraka referred to in the following aphorism of Panini's grammer, is a sage who founded a branch of Yajurveda: but he is not Caraka, the adapter of Agnivesa tantra ·

" कठचरकाल्लुक् "

Cakakrapanidatta, a commentator of 'Caraka (samhita) bows to Patanjali, adapter of 'caraka' in the beginning of his commentary and identifies Caraka with Patanjali as can be seen from his following verse :–

" पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रातिसंस्कृतैः । मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः । "

Further, Bhoja, a commentator of 'Yogasutra, Vijnanabhiksu, the author of 'Yogvartika' and even Nagesabhatta a grammarian, look upon Caraka and Patanjali as non-distinct for Caraka believes yoga to be a means of liberation and while mentioning tattvas (entities) he enumerates 'tattvas' accepted by the Sankhyas. But commentators of 'Mahabhasya' such as Bhartrhari, Kaiyata and others have nowhere mentioned Patanjali as the author of Yogasutra or 'Caraksamhita.' some on finding nihilism and vijnanavada refuted in 'Yogasutra say that its author is not Patanjali. But this cannot be looked upon as a strong valid argument to prove this statement. For even the Buddhists cannot say that nihilism and vijnanavada originated from Buddha and none else. So there is no sound contradiction in believing Patanjali as the anthor of 'Yogasutra.' For one individual named as Patanjali is the originator of a branch of 'Samaved. Even Vacaspatimisra quotes a sentence from some Patanjali's work in his bhasya on 'Yogasutra.' Further, even in 'Yuktidipika' we come across sentences of Patanjali, pertaining to the 'Sankhyedarsana.' There is a reference to Angivasa Patanjali in Matsyapurana. Panini mentions Patanjali in upkadigana in 2-4-69 In 'Caraka' ther is an expositian of the 24 'tattvas' [1] of the 'sankhyas.' It agrees with one given by Pancasikha, excluding Isvara (God). In 'Caraka' there is no mentind of tanmatras (subtile) and primary elements. So there is no hitch in identifying this Caraka with Patanjali . This Patanjali is different from one, the author of 'Mahabhasya' on grammer. The author of 'Patanjalisakha' 'Yogasutra' and 'Nidanasutra' is one and the same Patanjali whereas Patanjali, the author of 'Mahabhasya' is different from him. In Caraka there is mention of predicaments propounded is Vaisesikasutra.[2] So (the

---

1. प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि ॥

These 'tattvas' along with 'Purusa' are the 25 'tattvas,' is the view of Sankhyasaptati. In Patanjala 'Yogasutra' and 'Mahabharata' there is mentiod of 26 tattvas and 'Caraka,' that of 24.

2. 'समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः । स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्र नियतो गुणः ॥ यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समावायि तत् । तद्द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ '
Caraka sutra, sthana, Ch.I, v. 49.

1. Vide 'caraka' 'sutras' sthana, Ch. XV, Yajnapurusiya adhyaya.

(date of) adaptation of 'Caraka' is posterior to (the date of) Kanada sage and anterior to that of Patanjali, the author of 'Mahabhasya.' There was a physician named Caraka in the court of renouned Kaniska, a king of kings. Some historians believe that this very Caraka is the adaptor of 'Agnivesa tantra'. But there is no clear proof to identify them except that both have the same. name This Kaniska[1] flourished about 50 years before the vikrama era. Even Asvaghosa refers to Atreya's sermons as 'Samhita' in 'Buddhacarita' by way of the following verse ;—

"चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद"

He believes that Caraka is only an adopter and not an author. Consequently since its author (Atreya) is prior to Asvaghosa he cannot be Caraka, a contemporary of Kaniska.

Drdhabala who has added 41 chapters in 'Caraka samhita,' was born in Pancanadapura in the 'Kashmir' province Scholars such as Cakrapani, Datta, Vijayaraksita and others who have extracted pathas added by him refer to these pathas as 'Kashmira-patha'. Vagbhata has extracted a 'patha' added by Drdhabala and one 'patha' of Vagbhata is cited by Varahamihira in his 'Kandarpika' Prakrana Hence Vagbhata is anterior to Varahamihira, and Dradhabala is anterior to 'Vagbhata, Vagbhata is believed to have flourished in the fifth century A. D. There is no hitch in believing the date of Drdhabala as 300 A. D. to 400 A. D. Drdhabala is son of Kapilabala.[2] This Kapilabala is mentioned by Vagbhata in his 'Astangasangraha.'

Susrutasamihita

Susruta has composed this tantra by collecting sermons delivered by Divodasa Dhanvantari-on Salyatantra. But in Susrutasamihita as available to-day, there is an exposition of all the eight 'angas' (limbs) of Ayurveda The first five 'sthanas' consist of 120 chapters. They are collectively known as 'Sansrutatantra' and 'Vrddhasusruta' as well. To this is added Uttaratantra having 66 chapters. In this Uttaratantra are incorporated topics treated by Agnivesa, Bhela, Videha, Parvataka Jivaka and others in their respective tantras. It is difficult to say whether the author of Uttaratantra while adding Uttaratantra, has made emendations and additions in the previous five 'sthanas' or not.

Adapted Susrutasanihita as available to-day is silent regarding the following questions ;-

(I) Who added this Uttaratantra?

(II) Had anyone adapted Susrutasamihita, prior to one who edded. For, 'pathas' extracted from Vrddhasus'ruta by many commentators are not to be found in this Susruta.

---

1. Nagarjuna has not however mentioned the name of Kaniska in (any one of) his works, We find that Samvats 3 to 41 are written on coins of Kaniska obtained from Saranath, Sanchi Mathura, etc. If this Samvat is looked upon as that of Kaniska, Nagarjuna cannot be taken to be a contemperary of Kaniska. Further Kumaralata who is believed to be a contem-porary of Nagarjuna, and as a predominent Acarya of the 'Sautrantika' school has described Kaniska as a king of ancient times in his work.

2. **Caraka cikitsasthana XXX 290.**

Susruta has been adapted many a time as persons who did so, names of Vrddha-Vagbhata, Jejjata, Candrata and Nagarjuna From the following we learn that Susruta is son of Visvamitra :-

' विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति

शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति '

Of these two the first seems in 'Susrutasamhita itself. 'Susruta asks 'Salihotra' sage regarding a ferrier. Hence this 'Susruta' is believed to be a contemporary of great sages. By this 'Susrutasamhita is meant the original Susruta. Adapted Susruta is posterior to adoptation of Caraka. This means that Caraka as available today and Susrutasamhita' had been compiled in the fifth century A. D.

According to Dallana, adaptor of this 'Susruta is 'Nagarjuna There have been many 'Nagarjuna'. One of them is a Buddhist nihilist Another Nagarjuna is the author of Lohasastra, Yugasataka etc and he is conversant with 'Rasasastra (the science of Alochemy). Third Nagarjuna is mentioned as a friend of King 'Sabavahana' by 'Bana' in his Harsacarita[1]. According like Jaina tradition in Prabandhacintamani Nagarjuna, a contemporary of 'Satavasana' is said to be a well versed.

Adaptation of Susruta has taken place in the science of alchemy. Sometime between the second century A. D. and the fourth for there is a clearly perceived extract from Sasikhyakarika' in 'Susruta'. So how can Nagarjun who is a contemparary of Kaniska and on exponent of 'Nihilism' be the adapter? Some believe that even Caraka a physician, was alive at that very time. King Satavahana[2] is called 'Yajnasti Satakarna'. Moreover, in Nagarjunas philosophical work Upayahrdaya composed 2000 years ago from to-day 'Susruta' is referred to as under, while expounding the topic of 'agama-varnana' in a chapter following 'Uddesa' 'prakarana':-

" भैषज्यकुशलः मैत्रन्निरेसन शिक्षकः सुश्रुत : "

The author of Mahabhasya on grammar, has mentioned 'Sausruta' as an illustration, in his bhasya on 1-1-3. In the varlika on " शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानम् "

2-1-170, Kutapasansruta is mentioned as an illustration, Even Panini has used the word 'Sansrutaparthiva' in the ganapatha of 6-2-37. Hence Susruta is anterior to all these Acaryas,

'Susruta Acarya' has mentioned Subhuti Gautama as an Acarya who flourished prior to him. This Subhuti is not same as Subhuti pupil of Buddha. Subhuti is mentioned in Buddhist works while dealing with spiritualism only. This Subhuti Gautam, a physician is different from him. According to Dr. Hoarnle this Susruta flourished 600. years before the vikrama ere whereas according to Hyaster and Givindranath Mukhopadhyaya in 1000 B.C.

" तामेकावलीं तस्मान्नागार्जुनो नाम लेभे त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम् "

(Harshacarita)

'Sisuka,' Satavahana (I) ruled with the help of an army having 100 vehicles. Hence he his dynasty is called Satavadharia.'

'Mimamsa.'

There are two varieties of mimamsa (i) Purva mimamsa and (ii) Uttaramimamsa. The aphorisms of Purvamimamsa are composed by sage Jaimini whereas there of Uttara-mimamsa as by the great sage Vedavyasa These two great sages are expounders of vedic Karmakanda (the department ef veda which relates to ceremonial acts and sacrificial rites ') and vedic Jnana-kands (' the esteric portion of the veda which treats of the knowledge of the supreme spirit ') respectively. Both these sages are contemporaneous, for there is mention of Badarayana (Vyasa) in the Jaiminisutras and that of Jaimini in Brahmasutra. Krisna Dvaipayana performed the Vyasa of Veda i. e. its distinction. So he is called ' Vedavyasa. ' This very vyasa is believed to be the author of Mahabharata, Puranas etc. About this (belief) there is no concensus of opinion amongst historians. Some Pandits believe that Jaimini is pupil of Vyasa. In none of the aphorism of the twelve chapters of Jaimini (sutra), and philosophical tenet of the Buddhists is dealt with This scripture treats Karmakanda-sacrifies etc Herein much attention is not paid to the exposition of vastu-tattva (reality of a substance) only sacrificial rites are expounded. For this very reason Mallavadin suri has designated this ' vedavadi-mimamsaka ' as ' ajnanavadin ' (expounder of ignorance). If ' ajnanavada ' is accepted in the treatment of ' vastu-tattva ' preaching of a ritual and even its (corresponding) scriptnre become ill-regulated. Hence it is difficult to know the reason why there is no mention of Jaiminisutra or any other work of (Purva) ' mimamsa ' or any quotation therefrom, even when there is a detailed exposition, after saying rhat the scripture dealing with an oblation to fire etc, is useless. There is a refutation based in the style accepted by ' Mimamsakas ' by resorting sentences of only the vedas ' Vidhi (injunction) ' anuvada ' (' that which points to an injunction given before and illtustrates it by way of comment on to vidhi ') ' itikartavyata ' (duty), ' bhavana ' etc. are treated. Some Acaryas say that only a ritual such as a sacrifice[1] etc. is ' dharma ' in the ' mimamsaka ' system of philospphy, whereas others opine that apurva (" merit and sin as the cause of future happiness or misery) arising from a ritual is ' dharma. Both these views have been dealt with by Mallavadin Suri. These (views) do not beeome clear from the text but they become so by the exposition of the commentator (Simhasura)[2].

Even ' apauruseyata (" the state of not being of human origin ") of the vedas is refuted in various places. Similarly in ' Purusavada ' too, no work is extracted. This fact, too, deserves to be considered,

The name of ' Upavarsa,' as the author of the ' Vartika ' on ' Jaiminisutras ', is specially mentioned. He is followed by ' Sabarasvamin ', the author of the ' bhasya '. Both these Acaryas have flourished before mallavadin Suri, for ' Kumarilabhatta ' who flourished very shortly after this

---

१ य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते, कथमवगम्यतां ? यो हि यागमनुतिष्ठति तंधार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा याचको लावक इति. तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्म शब्देनोच्यते, न केवलं लोके, वेदेऽपि ' यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ' इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मशब्देनोच्यते – Sabara Bhashya on 1-1-2 p. 17. यागादिकर्मनिर्वर्त्यं अपूर्वं नाम धर्ममाचक्षते वृद्धमीमांसकाः।

' मा भूद्यज्ञसंज्ञायाः' क्रियाया एव धर्मत्वं यथा कैश्चिन्मीमांसकैरेवं व्याख्यायते...अग्निहोत्रमिति धर्मः क्रियाभिव्यंग्य उच्यते Commentary (p. p. 165-6) on Dvadasara nayacakra.

2. Muni Kalyanavijayaji says in Vira nirvana Samvat aura Jaina Kalaganana that; the order of Sthaviravati occurring in Nandi is not by way of a succession list.

Acarya, has mentioned views of Sabarsvamin in his works such as (Mimamsa) Slokavartika; The date of Sabarsvamin is believed to be about 150 A. D. But in the commentary on Nayacakra, similarity of thought with Sabara-'bhasya' is seen in certain places (Statements). For instance

"उपदेशादेव न (?) तज्ज्ञानयोगः" "वंध्याया दौहित्रस्मरणानत्"

in the commentary of the text. and purvavijnanakaranabhava (non existence of previous the cause of vijnana) etc. while 'discussing Vaidaka heaven etc. Most probably, the commentator (Simhasura) must have seen Sabara-bhasya.

Investigation of the Date of Mallavadin Suri

Mallavadin Suri given in this work of his quotations from 'Anuyogadvara' and Nandisutra by way of an evidence. So he is posterior to both the authors of these sutras (canonical treatises). All the modern scholars admit that the author of Anuyogadvara is venerable Aryaraksita Suri, If this Suri is none else but student of Vajrasvamin he has flourished after vira Samvat 597. The author of 'Nandisutra' is 'Devavacake Gani' who is pupil of Dusya Gani, and who is different from Devarddhi Gani 'Ksamasramana the redactor of the (Jaina) canon. This Dusya Gani Acarya is pupil of Lohitya[1] Suri, pupil of Bhutadinna, pupil of Nagarjuna Suri.

This is what is know from the sthaviravati of Nandi. Nagarjuna mentioned herein is a contemporary of Anuyogadhara Skandila suri of the Nagendra Vamsa.

The date of this (Mallavadin) Suri is mentioned as vira Samvat 827 to 840. (Vikrama Samvat 357 to 370) by Pannyasa Kalyanavijayaji in his prabandha paryalocana of Prabhavakacarita. Hence it follows that Devavacaka Gani, the author of Nandisutra, was certainly alive in vira Samvat 840, but this date does not seem to be reasoneble. Venerable Mallavadin Suri respectfully quotes from Nandi by referring to this sutra as under,

भगवदर्हदाज्ञाऽपि श्रूयते

This means even the commandment of the divine Tirthankara is heard. Conseqently it follows that the author of Nandisutra is far anterior to this author (Mallavadin). The date of Skandila Suri, a contemporary of Devavacaka Gani, mentioned as vira Samvat 827 to 840 is not quite appropriate. The date of this Suri is already treated by us, while discussing the date of Siddhasena Divakara Suri, In this Nayacakra we do not come across any quotation from any work of Buddhist Acarya Dharmakirti[1], any view of his or any thesis of his who flourished earlier than Vikrama Samvt 600. So there is no place whatsoever for doubting the fact that the author of Nayacakra is antirior to Dharmakirti. Jinabhadra Gani Ksamasramana, the author of Mahabhasya (i. e. Visesavassayabhasa) has refuted the doctrine[2] of simultaneous 'upayogas (attentions) attributed to Mallavadin. So Mallavadin is earlier than vikrama Sanvat 645 to 677. It appears that in this work (Nayacakra) nothing is based upon work of Uddyotakara, who has refuted (views of) Dinnaga, who is antierior to Dharmakarti and who flourished in the sixth century. Consequently this (Mallavadin) Suri is anterior to even Uddyotakara. It seems to us

---

(1) See Brhuditihas. (2) That this doctrine is a production of Mallavadin Suri and that of none else cannot be believed, for in Sammatitarka composed by Siddhasena Divakara, we come accross all the three doctrines viz. simultanety of two upayogas, succession of two upayogas and nondistinction of two upayogas.

that this Suri who is posterior to Dinnaga, is not far from him. This is what appears from the study of his work. If this is proper, the author of Nayacakra is undoubtedly anterior to Uddyouakara. Some believe that the date of Dinnaga is 345 A. D. to 425 A. D. On this basis the date of the author of (this) Nayacakra is proved to be about 450 A. D

Harisvamin has composed a bhasya on S'atapatha Brahmana. He is pupil of Skandasvamin the author of the Bhasya on Rgveda and a commentator of the bhasya on Nirukta. The bhasya on Rgveda was composed by Skandasvamin in vikrama Samvat 680, This Skandasvamin has cited, one verse from Slokavartika in his commentary on the bhasya of Nirukta VIII, 2 and in this very chapter III. 10. one verse from Tantravartika and one verse from Bhamata's work while commenting on X, 16, Even Harisvamin refers to the doctrines of Kumarilabhatta and Prabhakara by mentioning "इति प्राभाकराः" in his bhasya. Prabhakara is pupil of Kumarilabhatta. This Kumarila (bhatta) is a contemporary of Dharmakirti.

Both of them have mentioned each other's name and refuted views of each other in their respective works. On this basis. Kumarila and Dharmakirti are anterior to Skandasvamin (who flourished some time before vikrama Samyat 680), Hence they can be assigned a date earliier than 600. On the other hand Mallavadin Suri has not noted any reasoning or view of either Dharmakirti of Kumarila, For this, reason too, there is no scope for even a bit of doubt in believing that this Suri is anterior to both of them.

Rahula Sankrtyayana in his introduction to Pramanavartika points out that Dinnaga flourished in 425 (421) A. D. and Dharmapala in 575 A. D. and thus there is a difference of 150 years between their dates. Hence the date of Dinnaga can be certainly somewhere between the fourth and the fifth centuries of the 'Vikrama era, This does not affect in the least the date of Mallavadin Suri, as decided by us, So the statement that Mallavadin Suri has flourished in the fifth century of the vikrama era, gets established by this very small proof. Further even dates of works and authors mentioned in Nayacakra, do not crete any hitch in this decision taken about the date of this Suri.

Varddhamana Suri in this Ganaratnamahodadhi has said that Mallavadin has composed nyasa on Visrantavidyadhara, a grammar composed by Vamana. Even in the Brhadvrthi of Haima S'abdanusasana there is mention of Vrs'ranta-nyasa in the following lines ;—

"विश्रान्तन्यासकृत् तु असमर्थत्वाद् दण्डपाणिरित्येत्र मन्यते" "विश्रान्तन्यासस्तु किरात एव कैरातो म्लेच्छ इत्याह"

But the author of this Nyasa is not Mallavadin Suri, the author of Nayacakra, There are three individuals, 'Mallavadin' by name, Some one out of them may be the author of this Nyasa, There is no proof to say that he is none else but the author of this Nayacakra. For, herein, while

---

1 He has said at the end of his bhasya:-
यदब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशत् शतानि वै। चत्वारिंशत समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥"

Thus the date of the bhasya is kalisamvat 3730, and it equals "Vikrama Samvat 696. Even in the copper plate of Lohanera of Pulakeşi II, Saka Samvat 552 is men-tioned, That this Harisvamin is a judge of Candragupta vikramaditya can be seen from the following verse.

"श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यात् शातपथीं श्रुतिम्॥

discussing gramatical topics, the mulakara (the author of the text) has cited as authorities only Panini and Bhasyakara (Patanjali). Further, even in proving validity of forms the mulakara and his commentator (Simhasura) have quoted aphorisms of Panini only. Nowhere is mention of any saying of vamana.

Moreover, the author of Nayacakra has expounded a good many couplets of Pramanasamuccaya, a Buddhist work on logic and has refuted them letter by letter by means of solid arguments. The author of Pramanasamuccaya is Dinnaga, who is one of the principal pupils of Vasubandhu, who is a great logician and who is conversant with mantras (incantations) and tantras (magical and mystical formularies) This scholar (Dinnaga) has flourished in the latter half of the third century of the Christian era. There are six sections in Pramanasamuccaya At present they are available only in the Tibetan language. Only the 'Pratyaksa' secton restored in Sanskrit from that language, is available as printed in Madras. In to the days of this author of ours the entire work existed in Sanskrit couplets. This Suri has thoroughly refuted perception (ocular proof), pertaining inference, apoha (negative or relatve meaning of words) and jati (analogue) after expounding couplets pertaining to them.

(Alambanapariksa of this very Dinnaga and its commentary are refuted by resorting to statements embodied therein) Dinnaga has refuted by advancing arguments, definitions of 'avayavas' (members of a syllogism) accepted by Gautama and Vatsyayana and has established three 'avayavas.' These arguments are refuted at length by Uddyotakara in his Nyayavartika and even by Kumarilabhatta in his Sllokavartika.

This Dinnaga has composed even a commentary on Hastavalaprakarana of Aryadeva. This Dinnaga refutes in some places the doctrine of his teacher Vasubandhu, and this is pointed out in many a place in this work (Nayacakra). The author of vis'vakosa says that Dinnaga flourished in the second or the third century A. D, Dr. Satischandra Vidyabhushan 'Mahasaya' believes that this period is the end of the fifth century.

The mulakara has investigated the following (definition of 'Pratyaksa' (perception)

"ततोऽर्थाज्जातविज्ञानं प्रत्यक्षम्"

This definition is given by Vasubandhu in his 'Vadavidhi'. This work was composed by him at the time he was 'Vaibhasika', (by faith) The mulakara, Uddyotakara and even 'Vacaspatimisra' believe that this definition is given by 'Vasubandhu'. Dinnaga refutes this definition and cuts a joke as under :-

How can 'Vasubandhu' be the author of vadavidhi' which is viciated by such a blemish ?

The author of Nayacakra has not cited any couplet from Alambanapariksa composed by Dinnaga but he has certainly utilized its contents.[1] Alambanapariksa[2] and its commentary as printed to day, are sanskrit versions of these works written in languages such as Tibetan etc. It is possible that changes may have taken place in the couplets (of Alambanapariksa) and its commentary translated by linguists ouly at different times, from Sanskrit into another language and vice versa. For that very reason it is natural that there may be differences in the couplets and

1. Vide p. 104 214 of Dvadasaranayacakra and Alambanapariksa (v. 2)
2. Vide p. 104 218 of Dvadasaranatka commentary p. 3 & 9 on Alambanapariksa.

the commentary embodied in Nayacakra (on the one hand) and its commentary (on the other hand) For instance there is a difference between the sentence " विषयोहि[2] नाम यस्य०" quoted by the commentator (Simhasura) and the Sanskrit commentary of Alambanapariksa of Dinnaga available to-day. Neyertheless, from this very view-point we have mentioned this extracted sentence as belonging to the commentary on Alambanapariksa. Simılerly we find variations in couplets of Pramana-samuccaya. (Hence) Corrections made in Nayacakra and its commentary by resorting to transformed Sanskrit works cannot be accepted as absolutely reliable.

The author of the bhasya on Brhatkalpa, is Sanghadasa Gani Mahattara One verse of (the commentary of) Brhatkalpa is quoted in this work by Mallavadin Suri. It is difficult to say whether this verse belongs to the Niryukta (of Brahatkalpa or to its Bhasya. If this verse (really) belongs to the Niryukti there remains nothing to consider. But in the printed (edition of) Brhatkalpa, this verse is numbered as one of the verses of Bhasya, even though it is a difficult task at present to distinguish verses of the bhasya of Brhatkalpa from those of its Niryukti. Even Malayagiri, a competent commentator has not dared to point out that these are verses of the bhasya and these, of the 'niryukti.' Even then this verse is assigned a place by us as a verse of the bhasya in the list of quotations, on the basis of the printed edition.

Some scholars believe that this Sanghadasa Gani Mahattara of this bhasya is different from the author of Vasudevahindi. Further, they believe that the author of the bhasya on Brhatkalpa is posterior to the author of vasudevahindi. Up till now it has not been distinctly decided as to when (Sanghadasa Gani Mahattara,) the author of the laghu-bhasya flourished. If the verse quoted by Mallavadin Suri belongs to the bhasya, we must say that he (Sanghadasa) has flourished prior to the fifth century of the vikrama era and by no means later.

It does not seem fair that some scholars believe that this Acarya (Sanghadasa Gani) belongs to the fourth century of the vikrama era as his name ends with 'dasa' and that none had his name ending in 'dasa' before this century. Even in 'narratives' belonging to the period of Lord Mahavira we come across names ending in 'dasa' e. g. Jinadasa. Even in the story of Narmadas-undari who flourished in the time of Arya Suhastin a name ending in 'dasa' occurs, Moreover the name of one of the four pupils of 'caturdasapurvadhara' Bhadrabahusvamin, was 'Godasa', and a gana was named after him as 'Godasa[1]. This name occurs in the Sthaviravati of Kalpasutra. Hence 'surmises' of the fourth, sixth and seventh centuries on seeing merely names ending in 'dasa' are only conjectures and not reliable facts- Sanghadasa gani Mahattara may be the earliest bhasyakarha amongst many out of the Jaina Suris.

If Sanghadasa Gani Mahattara the author of the bhasya on Brahatkalpa is (same as) the author of the bhasya on Nisitha (Nisaha). so it follows that his date is certainly posterior to that of the composition of Anuyogadvara. For in spite of there being a complete and extensive exposition of aspects in Anuyogadvara, it lacks in the following varieties connected with primary and secondary forms of the dravya-hasta (privative aspect of hand) other than Jna-Sarira

This Pramanasamuccaya is not completely available (in Sanskrit) so we have not been able to obtain its sections dealing with inference, 'apoha' etc. The 'mulakara' and his commentator may have incorporated in this work verses belonging to sections on inference etc. and their expositions but we have supplemanted merely verses by taking into account quotations and reflections as available in this work.

(body of the knower) and bhasya-S'arira body to which is attributed a condition of some future existence after death the varieties noted as under in the bhasya on Nisitha ;-

' मूलोत्तरो य दव्वे मूलगुणनिव्वत्तितो
कट्ठचित्तलेखादि, (Nisitha) उत्तरगुणनिव्वत्तितो मृतावस्थशरीरे '

So this may be looked upon as a sort of dilation, for this very reason the date of the composition of Anuyogadvara is earlier than that of the composition of the bhasya on Nisitha. Further, if the author of the bhasya on Nisitha is non-distinct from that of the bhasya on Brhatkalpa it gets proved that the bhasya on Brhatkalpa is composed at a date posterior to that of the composition of Anuyogadvara Anuyogadvara is earlier than even Nandi; for the name of Anuyogadvara is mentioned in Nandi and the author of Nandi is very ancient. So this much becomes certain that the date of the author of the bhasya is later than the first or the second century of the vikrama era, and not earlier. This date is not later than the first or the second century the vikrama era, and not earlier. This date is not later than the fourth cenury i. e. to say he flourished sometime between the second and the fourth centuries.

From the safer statement made by the commentator (Simhasura Gani) in his commentary on Nayacakra it may be conjectioned that there must have been a bhasya on Nandisutra. He has first of all quoted an aphorism of Nandi on p. 219 and there after saying ' तद्व्याख्यानिदर्शनंच ' he has introduced the verse ' तं जदि आवरिज्जेजा ' Later on, on p. 462 he has mentioned this very statement (Pabha). There he has not stated the name of the sutra, the bhasya or its exposition subsquently on p. 749 he has quoted the verse " तथा भाष्येऽपि " after stating ' तंपि जदि आवरिज्जेजा ' Hence it is inforced that there must be a bhasya on Nandi by way of its exposition.

In spite of this, the verse here quoted as belonging to the bhasya, is found in the bhasya on Brhatkalpa with a very slight difference. Just as the another of Nandisutra has incorporated verses of the Niryukti so perhaps the commentator may have done so in the case of this verse of the bhasya on verse Brhatkalpa or it may be that this very verse of the bhasya on Nandi may have been incorporated by the another of the bhasya on Brahatkalpa in his bhasya, Whatever it may be, the commentator of Naya cakra takes it to beverse belonging to the bhasya If this bhasya on Nandi was extent in his days and he may have made this reference, the foll owing questions arise:-

1. How many verses were there in the 'bhasya' on 'Nandi'?
2. Who composed this 'bhasya'?
3. When did he flourish ?

The 'Mulakara' (mallavadin) has no where quoted this verse as an evidence, but only the commentator has done so. In 'Nandi' at available at present this verse is not seen as mentioned as belonging to the 'bhasya' and not the next Nandi) None else but the commentator of 'Nayacakra' named as Acarya Simhasur Gani Ksamas'vamane, is the first to say that this verse belongs to the 'bhasya' on 'Nandi,' So it may be that the date of the composition of the 'bhasya' on the 'bhasya' on 'Nandi' may be posterior to that of Mallavadin Suri, and anterior to the date of the commentator of 'Nayacakra' Only this much can be definitely said at present.

On p. 153 the 'Mitakara prefixing it with " उक्तं हि :- अन्यत्रानुवादादरादिभ्यः "

The exception resembling this is seen as only " अन्यत्रानुवादात् " 'in Gautamasutra. We come across a collection of corrplats emboding these exceptions but they are extra by anothers who

flourished later than this auother. The following couplet is met with in the commentary (p. 401) on Brhatkalpa, in 'Saddar'sanasamuccaya (pp, 15–) and in the commentary on 'Sthana' (Sthana II, uddes'a 3) :– " अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासू । ईषत् संभ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरूक्तम् ॥

The 'mulakara may have come accross such a couplet or some apporism or it may be that in some other works it may have been occasionally mentioned and the 'mulakra' may have recommended it as" अनुवादादरादिभ्य :"

The commentator has dilated upon it and has so expounded it that it may seem to be an exposition of some couplet. It indeed appears that the commentator elucidates the couplet by noting its parts, Thereby the complete couplet gets ready as under :– " अनुवादादरवीप्सा "

One verse indicating non-existance of repation in other meanings (?) Than this is noted as under in Haribhadra Suri's commentary (P. 3) on Nandi :– सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणेसु य न हाँति पुनरुत्तदोसाओ ॥

The discussion about the fault repetition is very ancient. Here the author has discussed repetition so far only ' anuvada ' is concerned

The author of ' Nayacakra' has mentioned the following two couplets by way of a corroborative evidence in spoke II named as ' Vidhividhi " :– यथाविशुद्धमाकाशं. तथेद-मम्तं सिद्धं.

These two verses are no doubt cited by many authors but none of them has mentioned their source or the name of their author, These are met with in the ' bhasya ' on ' Brahadaranyaka ' (III, 543–4). This ' vartika ' is composed by Suresvara Acarya who is pupil of Sankaracarya and who is said to have flourished in the earlier part of the nineth century A. D., but these couplets are not composed by him, they are merely extracted by him. For, Haribhadra Suri who flourished a little bit prior to him, has jncorporated (?) them in his ' S'ashtravartasanmacarya ' as is, 545–6 Even in Bharatr. hari's commentary on his own work ' vakyapadiya ' he has cited these two verses along with the following.

" तस्यैकमपि. "

" प्रकृतित्वमन. "

Hence these couplets are very ancient. And as they belong to a period earlier than that of our author, no hitch arises in deciding the date of our author. Some scholars are tempted to believe that Dhane'svara Suri and Mallavadin Suri are one and the same individual. But they have not advanced any solid proof for it.

The commentator of "Nayacakra ' has mentioned Mallavadin Suri' as the name of the author) in his auspicious stanza on P. 81. Some modern scholars declare that this name is not real – it is an adjective. But they do not advance any proof for it. On the contrary the author himself in the ending portion of his work (v. 1102) distinctly mentions" श्रीमत्–श्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन " and thereby points out his name as " Mallavadin Suri ". His name " Malla " is from the very time he got initiated. and it is probable that the word " Vadin " may have been added to his name after he had attained a victory in disputes. Thereafter the very name ' Mallavadin ' must have become so very well known that the author himself, too, began to write his name as ' Mallavadisuri '. So this name ' Mallavadin ' is not merely an adjective Moreover this author and various other authors mention that the name of the author of ' Nayacakra ' is " Mallavadinsuri ".

This finishes the discussion about the name of this work, its author's name and his date. Consequently we now deal with the commentary and the commentator.

The Commentator

In order to explain the great prawess, and essence of the scripture 'Nayacakra' which is full of deep meaning and philosophical thoughts and which is composed by Mallavadin Suri, Acarya Simhasura Gani Ksamas'ramana who is revered by the (Jaina) regime, who is the erest jewel of logicians and who is proficient in all Systems of philosophy, has composed a commentary named as 'Nyayagamanusarini'

The original scripture 'Nayacakra' has perished owing to the prowess of time, and it his remained untraced in spite of many a search. If this 'Nyaygamamsarini' commentary was not composed and if its manuscripts were not preserved in bhandaras (libraries) it would have been impossible to restore the original Nayacakra even in this form, and we would have learnt only the name 'Nayacakra' Simhasura Gani Ksamas'ramana has indeed much obliged not only scholars of the doctrine of non-absolutism but even the entire circle of learned persons, by composing this commentary. In spite of there being this commentary, the original 'Nayacakra' in nothing but unavailable. But we can form some idea about it by means of this commentary. If the commentator had expounded the text by re-producing its sentences in toto or by noting its parts, it would not have required any labour to restore it, and the entire text would have been completely restored in its original form and not as restored now. The commentator has however incorporated a little bit more than three fourths of the original work. This portion is restored by means of parts noted in this commentary, synomyms used for explanation, consistency of meanings inference and expositions. Consequently none should believe that Mallavadin suri may have cómposed his work just resembling this restoration.

He has however composed a work far better and more deepsensed than this restoration, This restorotion is merely a bird's eye view of it. It has not been possible to fill in gaps in the original work when the meaning of a sentence is pointed out by noting only its part Moreover, works of other systems of philosophy utilized by the 'Mulakara' are not to be had, Some of the available works such as 'Pramanasamaccaya' etc. are written in another language (other than sanskrit), so much difficulty is experienced in restoring the corresponding original portions, In such cases the text is prepared with the help of this commentary only.

On going through this commentary of 'Nayacakra' sound scholarship of the comamentator does not remain unreveaved. There is not the slighest exaggeration in saying that this commentator is thoroughly expert in expounding and refuting non Jaina 'dars'anas' as he has deeply studied extensive works such as works of the six systems of philosophy, Pannini's grammary, Patanjal'a 'Mahabhasya' and 'Vakyapadiyy',

He expoundas nature of heterodox systems of philosophy by taking into account view points by means of his extra-ordinary genius, then he refutes their doctrines by means of valid proofs and in the end make them consistent with 'Syadvada.' He is very proficient in the Jaina canon and Jaina philosophy. Hence we can very well realize extraordinary scholarship of this commentator.

In spite of his such proficienty in his own 'darsana' and those of others, there is not a bit of self importance and desire for glory in this Ksamas ramana. For that very reason, nc

where in his commentary, he has made even a suggestion etc. about the name of his native place, and those of his 'Kula (family) branch and teacher and his date etc. Even then we can atleast infer that this commentator is posterior to Acarya Jinabhadragani Ksamas ramana and anterior to Kotyacarya Mahattara. For in this commentary we come across a citation from 'Visesavaysaka bhasya of Jinabhadra Gani Ksamasramana and Kotyacarya Mahattara who completed Ksamasramanas in complete commentary on his own work Visesavasyakabhasya has mentioned the name of Simhasuri Gani in his commentary on 'Visesavasyakabhasya.'

This commentator is posterior to Jinabhadra Gani (666 of Vikrama era.) Some scholars believe that Kotyacarya is pupil of Jinabhadra Gani and hence they opine that Kotyacarya is pupil[1] of Jinabhadra Gani and hence they opine that it gets proved that this commentator (Kotyacraya) is a contemporary scholar of Jinabhadra Gani. From the study of this commentary it gets established that the date of this commentator cannot be later than the seventh century, though the exposition of the Sankhya system of philosophy occurring in his eomentary of the third spoke, agrees with 'Yuktidipika, an ancient commentary of 'Sankhyasaptati', But it cannot be said that this exposition has this very commentary as its basis, for, at the end he has remarked that this finishes investigation of 'Varsaganyatantra'.

Hence it can be assumed that the commentator has based his exposition on no other work but 'Sastitantra' extant in his time. 'YuktidIpika' belongs to a period later than that of Dinnaga and earlier than those of scholars such as Dharmakirti, and Kumarila. Even the following characteristie of inference. well known in the Sankhya system of philosophy. is extracted in the second spoke. :—

'सम्बद्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्

The seven varieties of this inference viz.

'मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिस्वस्वामिवध्यघाते' etc.

may have been mentioned mostly on the basis of no other work but Sastitantre

The commentator of Nayacakra has no where in his entire commentary mentioned views, or expositions of Dharmakirti or given quotations from his works even when there are good many works of this veteran Buddhist Acarya. This fact prevents us from believing that the commentator flourished in the seventh century. But there is uo other go in so believing. Since he has cited 'Visesavasyakabhasya' as an authority, If the quistion of the date of the author of 'Visesavasyaka-bhasya' as decided at present, is further investigated, we feel that the date of this commentator shall have to be changed and Ksamasramana may be looked upon as having flourished in the sixth century. If it thus gets proved that Ksamasramana, the author of 'Mahattara belongs to the sixth and if it is considered that Kotyacarya Mahatra is certainly pupil of Ksamasaramana, the date of the commentator of Nayacakra may be established as the sixth century

SAUNAGA AND BHAGURI : Name of these two Acaryas have been mentioned by the commentator while dealing with grammatical topics.

'सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः'

---

1. See Jaina Paramparano Itihasa (Page 458).
2. Vide Padamanjari (Part 2, Page 761).
3. Katyayana; sunaga;Bhrradvaj; Krostr; Vydava: Vyaghrabhuti; Vaiyaghrapadya are sevene commentators.

This Sunaga Acary is posterior to Katyayana. Kaiyata, the author of 'mahabhasya-pradipa has said :

'कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः'

Saunaga[2] has composed a 'vartika' on 'Astadhyayi' of Panini. Patanjali writes :

'इहहि सौनागाः पठन्ति कुजश्चाञ् कृतप्रसङ्गः'

Further as regards the aphorism 'ओमाङो' Patanjali weile denying 'ca' has said :

'एवं हि सौनागा : पठन्ति चोऽनर्थकोऽधिकारादंङ : etc.

These evidences prove that Saunaga is anterior to Patanjali and posterior to Katyayana. From the following sentence it appears that Acarya Bhagurl has composed some grammatical work :-

'वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो :

This commentator (Simhasuri) while describing divisions of time such as susama susama etc. as under has said in his commentary on the second spoke that grass is four fingers in measure:-

'सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायां चात्रैव...चतुरङ्गुलहरिततृणा :'

This description is not to be seen in any available Svetambar works except this commentary But it is found as under in Tiloyapannati composed by Yativrsabha, a Digambara Acarya :—

'चतुरङ्गुलपरिमाणा तणन्ति जाएदि सुरहिगंधड्ढा ॥ ३२२ ॥

The date of this Yativrsabda Acarya is said to be Saka[3] Samvat 380 (515 V. S.), and that of the composition of 'Tiloyayapnnatti' as about Saka Samvat 405.

Jugalkishor Mukhtar says that the date of 'Tiloyapannati' is anterior to that of Svetambara works of Devarddhi Gani and that of Avasyaka-niryukti etc.[4] But this clearly shows nothing else but his partiality. Svetambara 'agamas' are not composed by Devarddhi Gani, but they have been redacted by him. His date is at present believed to be Vira Samvat 980 (510 V. S.) whereas that of Yativrsabha Acarya, 515 V. S. 'Niryuktis' are composed for earlier than this. This is what is stated by us while discussing the date of the author of 'Nayacacra'. In spite of this, to say that the basis for mentioning grass to be four fingers in measure, is nothing else but 'Tiloyapanoatti, deserves investigation.

Good many topic whice are available today, are not to be found in extant 'agamas'. What proof is there that such a thing may not have occurred in this case ?

In 'Samaya-prabhrta of Kundakunda Acarya, the following verse occurs while dealing with the topic of 'Kartr-karman' :-

" जीवपरिणाम हेउं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्माणिमित्तं, तहेव जीवोवि परिणमइ ॥१२॥

---

1. Vide ANEKANT (Vo 1. Z. Z.) See जैनसाहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश " P. 56
2. See Page 455.
3. Vide "Anekanta" (Vol. II, P. 521.)
4. In the introduction of "Prevacanapariksa" published from Bombay in A. D. 1935: is said to be the beginning of the Christian era.

A verse having the same meaning and differing from it very slightly is quoted as under by the commentator on Page 461 :-

जीवपरिणामहेउं कम्मत्ता पुग्गला परिणमंति ।
पोग्गलकम्मणमित्तं जीवोवि तहेव परिणमेइ ॥

Even in the commentary[1] of Malayagiri Suri on Prajnapana this very verse occurs. This verse is met with in other works, too. It occurs in Curni, a Paiya (Prakrit) commentators on 'Karma-prakrti'. We have not so far at all studied the questions as to who its author is and when he flourished. Whatever it may be, this verse must have been compossed by Kundakunda Acarya, It is believed that this Acarya flourished in the first century of the Vikrama era.[1] If Kundkunda Acarya really belongs to the first[2] century, it may have to be surely accepted that he flourished prior to the date of the division of the Jaina Church as Svatambara and Digambara.

The commentator has cited as authority even Kalpasutra as under :-

" अप्पणो निक्खमणकालं आभोएत्ता चइत्ता रज्जं "

It is well known that the author of this "Kalpasutra" is Bhadrabahuswamin, a "caturdasa-purvadhara". This proves the antiquity of even "Kalpasutra". Some raise a doubt that this Bhadrabahusvamin is not one who flourished in Vira Samvat 170 but he is one belonging to the sixth century of the Vikrama era. Scholars may investigate the propriety of this statement.

Simhasuri Gani has cited even Yoniprabhrta as an authority. (This) Yoniprabhrta is a portion of Purva sutra (a part of) the twelth "anga". Purvas became extinct in Vira Smvat 1000. Hence the chance of attainment is not only for remove but is impossible. If the commentator has given a quotation on seeing "Yoniprabhrta", it must be said that this Acarya must have been conversant with Purva. The adjective Ksamsramana, too, proves this fact. Jinabhadra Gani Ksamasramana has suggested in V. 1775 of his "Visesavasyakabhasya" that by Jonivharana is meant Yoniprabhrta, a Prakirnaka. In the "bhasya" (V. 58) of "Vyavaharasutra" and in the "bhasya" (v. 1303) of Brhatkalpa, the meaning of 'Joni' is stated to be "Yoniprabhrta". In one of the sutras, the meaning of 'Joni' is mentioned as indicating 'Jyotisa' (astrology). One manuscript of Yoniprabhrta exists at present in a library at Berlin and author at Poona. We cannot decide whether this two manuscripts are of the same work or not, since we have not seen those manuscripts. But the manuscripts of Poona has been described by many scholars. The commentator has while citing Yoniprabhrta has treated this topic as under:—

" द्विविधंयोनिः, योनिप्राभृतेऽभिहिता सच्चित्ताऽचित्ताच, तत्र सच्चित्ता योनिर्द्रव्याणि संयोज्य भूमौ निखाते दन्तराहित मनुष्यसर्पादिजात्युत्पत्तिः अचित्ता योनिर्द्रव्ययोगेच यथाविधि सुवर्णरजतप्रवालाद्युत्पत्तिरिति

This topic is not to be found in the manuscript of Yoniprabhrta at Poona. Therein, it seems that are treated topics pertaining to medical science etc., so Yoniprabhrta referred to by the commentator is a portion of Purva and nothing else.

The commentator has mentioned "Vrksayurveda", too, as an authority, As this "Vrksayurveda" could not be had, I remain contented by merely mentioning its name regarding its subject matter. In "Sarmgadharapaddhati", a chapter consisting of 236 verses and named as "Vrksayurveda or "Upavana Vinoda[1]" is preserved. Durgashankar Kevalram Shastri says that another work named as "Vrksayurveda" and composed by Raghavabhatta is available[2].

1. Is said to be the begining of the christia era.
2. Vide "Vaidyakalpataru" (May, 1932, No. 5)

The commentator has mentioned in one place even "Yogasastra" by way of a comparative evidence. The author of 'Yogasutra' is Patanjali, a great sage. One should not commit a mistake of believing that this very Acarya is the originator of 'Yoga. For, according to the following observation of 'Yajnavalkya' 'Smrti,' Hiranyagarbha is the originator of 'Yoga . :-

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन :

Patanjali is however an expounder of 'Yoga.' Vacaspati Misra suggests this very thing in his Tattvavasaradi' (a commentator on Yogasutra) while elucidating' अथ योगानुशासनम् the first aphorism of Yogasutra by stating 'शिष्टस्य शासनमनुशासनम्' According to the Indian tradition, the author of 'Yogasutra' and Patanjali,[1] the author of 'mahabhasya, a grammatical work, are one and the same individual. Even though there are in the fourth 'pada' of 'Yogasutra' aphorisms 1, 14 & 15 which repute vijnanavada,' yet 'vijnanavada" has originated prior to maitreya and ASanga. As regards the date, this Patanjali is a contemporary of King Puspamitra of Sunga dynasty.

King Puspamitra flourished in about B C 225, on this 'Yogasutra' is composed a 'bhasya' named as 'Vyasabhasya.' This sage Vyasa is different from the great sage Vyasa the author of 'Puranas. So it is difficult to say as to which Vyasa composed this 'bhasya.' Historians say that this Vyasa has not flourished prior to the third century of the Vikrama era. The following observation made in the bhasya on 'Yogasutra' (III, 13), is met with even in the commentary on 'Nayacakra' :-

"संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनाम् एवं लिङ्गादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्याविनाशिनाम् तास्मिन् विकारसंज्ञा"

(It is difficult to decide as to whether this original source of this statement made in the third spoke is 'Yogabhasya' or some other (work). Since this observation of Yogabhasya is made by way of a quotation, it seems that there is no objection in believing it to be as belonging to 'Yogabhasya) and no other work.

The commentator has cited 'Tandulaveyaliya' as an authority. This work is well known as 'Payanna' in the Jaina world. Hence this work is anterior to Simhasuri Gani Ksamasramana in date. This work comprising 500 verses, deals with a beautiful description of the following topics – the description which creates 'vairagay' (absence of wordly desires and appetite) embronic condition of a 'mundane' being and ten condiiions following its birth, ossus, structure varieties of the shape of the body, visramas of time. the number of veins etc.,

The description of the body, various conditions of a mundane being such as its embryonic condition etc. can be compared with that given in 'Susruta, The author of this work (Tandvlaveyaliya) This it is not known but there is no doubt regarding its antiquity. The name 'Tandulaveyaliya' occurs in Jinadasa Gani mahattara's 'curni' on 'Dasavaikalika' According to modern historians this mahattara flourished in Vikrama Samvat 799 whereas according to the old ones sometime prior to Saka Samvat 500, This name occurs in 'too.

---

1 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि

2. Vide "Bharatiya darsana" Page No. 349

3/4 'इह पुष्यमित्रं याजयामः (3-2-123) and–

'पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति' (3-1-26)

In Ubhayanayara (P. 509) it is said : " भुवश्च इति कर्त्तरिणप्रत्ययं केचिदाहुः ". In this way in " भवतीति भावः " the termination 'na' is used in the case of the agent. According to Panini the termination 'ac' is used in this case. According to Bhasyakara the word 'bhava' is formed by adding 'ac' termination after nyanta. There a commentary named Kasika on Panini's sutras. Therein the word Bhava is established by adding the termination 'na' in the case of the agent, on the basis of " भवतेश्च ".

Further in the spoke vidhi-vidhi (p. 207) it is said :– ण प्रकरणे भुवश्चोषसंख्यानम् , "

After saying this the termination 'na' is used for the agent. But it is not known as to which grammer this " vartika " belongs. But it must be some ancient grammer about which we are in the dark. In " Kasika " tbe observation is : " भवतेश्च "

This commentator has given the following quatation from " Paniniyasiksa:–
" आत्म बुद्ध्या समेत्यर्थान् " etc..

This ' siksa consists of 60 verses. It informs us about topics pertaining to pronounciation of lettets The author of this Siksa is not known, At the end of this ' Siksa there is a salutation to Pani[3]ni. So it appears that ' siksa ' is not composed by Panini If it is so, its author, too, most be anterior to this commentatator. Or if the three to four verses given at the end of this Siksa are looked upon as interpollations, the author of the remaining couplets can be said to be panini. Scholars may themsvees decide this question.

This commentator has quoted a couplet begining with
' विकल्पयोनयः शब्दाः '

This couplet is connected with Buddhism. and its author is Bhadanta Dinna (Dinnaga). Haribhadra Suri, too, has quoted this couplet in ' Anekantajayapataka ' Dinnaga, Dinna, ' Bhadanta Dinna ' and Dattakabhiksu are names of one and the same individual.

Arya Sivasarman Suri has composed a fascinating work named as ' Kammapayadi.' This work is named by venerable Haribhadra Suri os ' Kammapaydi ' Sangani, too, Jinabhadra Gani Ksamasramana has mentioned this work in ' Visesanavati, According to research scholars this Ksamasramana has composed ' Visesavaya kabhasya ' in Vikrama Samvat 666,

The second Purva named as 'Agrayani' has 14 sections each named as 'Vastu'. Its fifth section consists of 20 'pahudas. Of them the fourth 'pahuda' is named as 'Kammapayadi'. This Suri has composed 'Karmaprakrti' as an extract from it, It is clear that Arya 'Sivas'arman Suri

1. In the commentary on "Tandulaveyaliya", on the author of this "Payanna" is said to be a pupil initiated by Lord Mahavira.

२. ' सुत्ते विभंगस्सवि परूविअंओहिदंसणं बहुसो ।
किस पुणो पडिसिद्धं कम्मयडीइ पणयम्मि ॥ '

३. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणंप्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५७ ॥
येन धौता गिरःपुंसा विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५८ ॥

४. " सोहियणाभोगकयं कहं तु वरदिहि वायन्नु ॥ ४५४ ॥

was conversant with Purva[1]. Knowledge of 'Purvas' became extinct in Vira Samvat 1000 i. e. Vikrama Samvat 530. Hence the author of 'Karmaprakrti flourished earliar than V. S. 530 The last personage conversant with Purva is Acarya Satyamitra.

Scholars interested in history to believe that this Arya Sivasaraman Suri flourished in the fifth century But they have no proof for it. Venerable Umasvati has mentioned air-bodied and fire bodied beings as 'trasa' whereas Sivasarman Suri designates them as 'Suksmatrasa' by qualifying 'Trasa' as 'Suksma'. Hence there is no doubt in saying that Suri is posterior to Umasvati as already stated.

One verse of this 'Karmaprakrti is extracted by this commentator. Consequently it gets proved that he flourished after Vikrama Samvat 530 and not earlier

Two verses 141 and 142 of 'Visesavasyakabhasya agree with those of the 'bhasya' on 'Brhatkalpa'. The 'Mulakara' has not quoted a single verse from 'Visesavasya kabhasya but he has done so from the 'bhasya' on 'Brhatkalpa[1].' For this reason, too, the 'bhasya' on 'Brhatkalpa is earlier than 'Visesavasyakabhasya. All the same, this commentator has not quoted these two verses from it, but he has done so from 'Visesavasyakabhasya' and no other work.

The first two verses occur in (the bhasya on) 'Brhatkalpa' whereas all the three[1] just one after the other in 'Visesavasyakabhasya'. So we decide that the commentator has quoted from no other work but 'Visesavasyakabhasya'.

The following line is quoted from either 'Astangahrdaya' or 'Caraka'

"चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात्श्लेष्मणो भयम् "

It is believed that the author of 'Astangahrdrya' flourished in the fifth century A. D. Hence it gets paoved that the commentator flourished after the fifth century of the 'Vikrama' era,

The commentator of 'Nayacakra' has given in this way numerous quotations by way of corroboration, in his own exposition. Some of them are seen as utilized by posterior author. too Sources of some quotatious are untraceable. In this very way, the original sources of quotations occurring in the text and its commentary remain untraced. That is why we have not mentioned their sources e. g. for "कःकंटकानां प्रकरोति "

They are met with in 'Prameyakamalamartanda. The Sanskrit commentaryon 'Brhatkalpa etc., but all of them are extracts,

On taking into account sources traced by us for quotaations we can say that the strongest proof for believing that the commentator is posterior to the 'Mulakara' is no other work but 'Visesavasyakabhasya. The commentator has given the following quotation in the first spoke. ;—

'विद्वन्मन्याद्यतनबौद्ध परिक्षि (क्लृ ?) तसामान्यम् '

---

१ "णिच्छयओ सव्वलहु, " P. 349

" पण्णविणिज्ज०जंचोद्दस०अक्खरलंभेण "

They are found in this very sequcnce in printed works.

The Buddists of today take 'samanya' to be 'arthantarapoha' (?). Hence it cannot be interpreted that this is done in the time of the commentator and not earlier. This statement of his is applied to Budhists living in the time of the 'Mulkar.' I think that the word 'Adyatana' is characteristjcly used in the senese of 'Navina' (new). Whatever it may be, this sentence

So he alone can be Adyatana Bauddha.

suggests that Dinnaaga is 'Adyatana Bauddha.' For he differs from Vasubandhu in some points and so he is 'naving.' 'Adyatana Bauddha' cannot be interpreted as referring to Dharmakirti, for even the commentator is anterior to him and neither posterior nor contemporaneous. Formerly (?) the meaning was.'

'अन्यापोहकृतश्रुतिः'

Dinnaga and none else has given the 'Sabdartha' as under and he has expounded Samanya as 'Arthantarapoha'.

"शब्दान्तरार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते"

So he alone can be Adyatana Bauddha

Hence there is a possibility to believe that Dinna and the Commentator, too, may be contemporaries. The 'Mulakara' too, expounds by taking this definition (p. 737) into account. Consequently it appears that the 'Mulakara' and the commentator must be contemporaries but since the commentator has quoted from 'Visesavasyakabhasya', he is definitely posterior to the 'Mulakara'. The commentator has composed his coumentary at on other time but when the 'Mulakara' was not alive, and the commentator has quoted on p. 1152, the sixth couplet from 'Alambanapariksa.'

The commentator has suggested the treatment of categories pertaining to monism, dualism and the doctrine of a triad the categories of 'Upanisad' (Vedant darsana) indicated by the word 'Vedahsiva' mentioned as under :- 'सांख्ययोगवैशेषिकवेदशिरःप्रभृतिषु प्रकृतिपुरुष द्रव्यगुणादि नित्यानित्यद्वैताद्वैतत्रेतादि पदार्थ प्रक्रियाभेदः'

'Purusavadins' (advoctes of one soul) or brahmamatravadins (Advoctes of only brahman) who believe in monistic categories are one variety of the followers of Vedanta 'darsana.' Persona believing in dualist categories i. e. Brahman (logus) and non soul or brahman and the soul or prakrti matter and 'purusa' (mind) is also a variety of Vedanta 'darsana.' Persons who believe in categories partaining to a triad i. e. 'brahman', the individual soul, and non-soul is another variety of Vedanta 'darsana'.

'EKADANDI : Sanyasina, dvidandi, Sanrasins and tridandi-sannyasins believe in advaita, davaita padarths respectivly. All these seats are very ancient, and they are mentioned in one from or other in 'Upanisads'. For that very reason there is no harm in believing that the commentator flourished in the sixth century. Or according to this text these can be interpaeted (?) as 'purusadvaitavada' (non-duality of soul), 'prakrti-purusa dvaita-vada, (dualty of matter and mind) and 'traita-padarth vada' (the doctrine of the categories perttaining to a triad) in the from of dravyas (matter) etc; soul, and God,

Prasastadeva Acarya has cited as under a view of some one, in the 'hetvabhasa' (fallacy) chapter of his 'Padarthadharmasangraha' of 'Vaisesika dars'ana :— "एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्त लक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनात् अयमन्यः संदिग्धइति केचित्"

Even the commentator of 'Nayacakra' has mentioned on P. 400 a 'laksana' (definition) almost resembling this. He has however dropped the words " इतिकेचित "

This shows that the commentator has not extracted this sentence from 'Padarthadharmasangraha.' It must be a view of some earlier Acarya. That is why Prasastadeva Acarya has mentioned "इतिकेचित्" We have already proved while discussing the date of Prasastamati that Prasastadeva is not anterior to this commentator. Scholars have decided that the date of Vyomasiva Acarya who composed 'Vyomavati,' a commentary on 'Padarthadharmasangraha' is 670 A. D. So certainly Prasastadeva has not flourished later than 610 A. D. The commentator has cited the following in purusavada :— " शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितोरसः। दन्तनिष्पीडितः श्रेष्ठो यान्त्रिकस्तु विदाहकृत् "

Only its first hemistich is fully seen Jejjatas commentary. The author of 'Brhallaghu panjika says :—

" अविदाही कफहरो वातपित्तनिवारणः। वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः"

—Susruta ch. XIV, V 140-141

Jejjata however says :—

कफकृच्चाविदाही च रक्तपित्तनिर्बहणः शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रसः (गुरुविदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ॥

We think thet Jejjata may have given this quotation from some other work. Just as this commentartor has quoted the following from some earlier work so he may have quoted the above mentioned line from some work:- " दिवास्वप्नमवश्यायं प्राग्वातं वा तुवर्जयेत् "

Jejjata, too, may have done so. The date of Jejjata is mostly 375 A. D. to 413. A. D. Jejjata is pupil of Vagbhatta. This is what is learnt from " लम्बश्मश्रु० " Both of them the teacher and the pupil mention Bhattara Harichndra, a commentator of 'Caraka'. Vagbhatta does not mention his name. Hence it follows that Bhattara Haricandra, though a contemporary must be a youth. This Haricandra is a contemporary of Candragupta, who was alive from 375 A. D. to 413 A. D. So Jejjata, too, must have floruished during that period. Most of the persons opine that author of 'Astangahrdaya' and that of 'Astangasangraha' are one and the same individual.

Thus from sources traced by us and discussions embodied in this work it cannot be proved that Simhasuri Gani Ksamasramana flourished latter than the sixth century. When it gets proved that the commentator who is a devotee of the doctrine of non-absolutism and who is a head jewel amongst scholars belongs to the sixth century, our statement about the date of 'Mulakara' gets very well proved.

Simhasuri Gani Ksamasramana has composed a commentary on this 'Nayacakra' the commentary which has helped us in restoring the unavailable text, though incompletely. The commentator has named his commentary as only 'vyakhya' by stating " अनुव्याख्यास्यामः ' in the beginning of his commentary.

Only from a line occurring at the end of the ninth spoke we learn : (I) the name of the commentanor is " Simhasuri Ganivadi-Ksamasramana and " (II) the name of the commentary is 'Nyayagamanusarini', On this very basis the name of the 'vyakhya' is given as 'Nyayagamanusarini' in this edition. But on reflecting we realize that this line at the end of the ninth spoke is not written by the commentator, some one may have later on written it according to a.

tradition. If the author, of this sentence was the commentator, the following questions arise:–

(1) Why is this (sentence) here only and why not at the end of all the spoke?

(II) Why did he not mention the name of the 'Vyakhya' at the end of that fourth spoke where 'अर्थमेतत् पुस्तकम्' is written?

(III) Why did he not write at the end, though necessary?

From this it may be conjectured that the commentator may not have named his 'Vyakhya', and if named, he did not think it proper to mention it. To be above glory and fame is also a characteristic of a dispassionate sage. For that very reason he has not composed his colophon.

If it is ready so, the question as to what the name of this 'Vyakhya' is, remains unanswered. In ancient days a commentary such as 'niryukti'. 'Bhasya' and 'Curni' is composed. But it was not the custom that it should have certainly a (special) name. There was even this custom that the 'Vyakhya' or the like oomposed on a work should be designated by adding the word Vyakhya or so at the end of the name of the work concerned. This is what can be easily realized by one who goes through ancient commentaries. The same thing may have happened in the case of this commentary, too. If the commentator had named his commentary, the name ought to have been mentioned at the end of every spoke and atleast in the end. But even though the commentator has completed his commentary, he has not used any word to indicate its completion. Hence it follows that his nature may have been to write nothing more than what is said by the 'Mulakara'. He has commenced his commentary by writing only one verse "जयति." as an auspicious 'introduction' in the beginning of the first spoke.

In all the manuscripts we find that in the beginning of the third spoke, the verse "कमलदलविपुलनयना". is written by way of an auspicious introduction. This may have been subsequently written by some one; but it does not come from the pen of the author or that of the commentator. This verse is no doubt very ancient but since it is written here, it is looked uopn as interpolated by some subsequent writer.

Just as the commentator did not think of mentioning his owu name, so he may not have thought (if desirable) to name his commentary.

That is why no where in this commentary we come across its name mentioned either distinctly are even hinted at. For that very reason some name this commentary as 'Nyayagamanusarini' and some as 'Nyacakravala' (da?). But since this commentary is composed according to 'nyaya' (logic) and 'agama' (canon), the name 'Nyayagama nusarini' is more probable. The real name should be either 'Dvadasaranyacakravyakhya' or 'Nayacakravyakhya.'

This commentary follows only the 'anvaya' (order), so it elucidates the meaning of a word by pointing out its etymology or its synonym or so. The commentator restricts himself to what is written in the text. He has not dealt with any topic which is not necessary from the stand point of the text. Further he has not dropped any essential item, Thus this commentary is not very extensive It is (just) sufficient. For that very reason one has not to exert much in inferring the text. Nevertheless, the philosophical subject is so intricately treated in this commentary that an ordinary student of philosophy cannot grasp its meaning; Even gramatical topics connected with grammatical works such as 'Patanjala bhasya are' verywell elucidated. Consequently the genius of the commentator pertaining to all the 'darsanas' shines like a

'Suryakanta' jewel. If we were to thouroughly make a compratiwe study of the text, and its commentary it is distinctly realized that even the commentator is an unparallaled disputatant as is the case with the anthor. The cmmentator is expert in grmmar and philosophy. Then what to say about (his knowledge of) Jainism? There in he was a preceptor, endowed with divine knowledge an extraordinary exponent of 'syadvada' and well known and proficient in reconciling all 'darsanas' with 'syadvada.' Even the gloss named 'Visamapadavivecana' is given in this edition. This work (Nayacakra) is extremely difficult for ordinary students. It is very hard to understand the essences inner substance contained in it. For this reason our excellent teacher who has edited this work by immensely exerting himself in spite of his old age, has elucidated by means of his gloss such topics as appeared to him to be difficult and intricate the topics treated in the text and its commentary.

Our highly respected, venerable and excellent teacher who is conversant with the six systems of (Indian) philosophy is not only an author of many works and a poet but he is a thorough scholar of many subjects. Even today the diligent uninterrupted inclination, study and devotion to learning of this great and virtuous personage put even young men to shame.

In spite of this old age he obliges himself and others by composing new works in various languages. Further, he is a great votary of scriptural knowledge and makes his pupil ardent devotees of the same. If he had not undertaken to edit this work, I would not have gained even what little knowledge I could get from it. The three revered personages by Mallavadin Suri, who is the author of this work and who is a lion amongst disputants, the commentator and the glossator have obliged the entire mankind. I have dealt with many a topic associated with Mallavadin Ksamasramana, an excellent preceptor and Dvadasaranayacakra on the basis of materials I have come across during my study.

This is my first attempt to write and think in this way. I am conscious of my imperfections that have crept in this undertaking of mine. I shall consider my labour as fructified provided the materials presented by me as an humble student of history bcome useful to scholars in coming to the right decision even in a small measure. I request scholars to judge impartially and I make an humble recommendation to rectify my errors and to highly enlighten us. I conclude this introduction by expressing my desire that learned readers by studying this great work Jewel pertaining to philosophy may accomplish complete development of the doctrine of non-absolutism and thereby fructify the labour of the great sage, the editor.

Atam - Kamala - Labdhi - Suriswaraji
Jain Gnana Mandir
6-Ash Lane P. Church St.,
Dadar, Bombay 28.
13-3-60.

Panyasaji **Vikramavijayji** Gani deciple of Vijaya **Labdhi Surisvaraji** adorable at excellent teacher and exalted preceptor.

H R. Kapadia.

N. B :- I crave indulgence of the learned readers for any ommissions or commissions that may have crept in this Foreword (the 'literal' translation of 'Prak-Kathana') prepared within a fortnight at the instance of Munisri **Bhaskaravijayaji** in spite of my old age and eye trouble as well as want of sufficient time and equipment.

Sankdi Sheri, Gopi pura,
Surat.
17-3-60.

H. R. Kapadia.

Muni Haribhadra Vijayaji has gone through the all proofs of this English Translation of the Forward.



सेवापरायण धर्मश्रद्धालु सुश्रावक
श्रीयुत चन्दुलाल जमनादास शाह, छाणी.



छाणी (जि. वडोदरा) श्री संघे निर्माण करेल

श्री जैन श्वेतांबर ज्ञानमंदिर

(आतुं उद्घाटन वडोदराना ना. महाराजा श्रीमंत सयाजीराव गायकवाडना शुभ हस्ते थयुं हतुं)

साधुचरित श्रुत भक्त श्री. चंदुभाई

जन्म जीवन अने मृत्यु ए आ संसारना प्राणीओ माटे नियत थयेलो क्रम छे। जगतना चोकमां अनेक जीवो जन्मे छे, जीवे छे, अने विदाय ले छे। जन्मवुं अने जीववुं तेमनुं ज सार्थक छे के, जेओ पोताना सद्विचार अने सदाचारनी सुवास चीरकाल सुधी मघमघती रहे, तेवी रीते जीवे छे। अहीं आपने एवा ज एक साधुचरित श्रुत भक्तनी पीछान करवानी छे।

गरवी गुजरातना वडोदरा शहेरथी अनेक माईल दूर आवेलुं नानकडुं छाणी गाम कामथी घणुं मोटुं छे। बे सुंदर जिनालयो विशाल काय उपाश्रयो अने श्री जिनागमादि साहित्यनां सुरक्षणार्थे निर्मित थयेल भव्य श्रीजैन श्वेतांबर ज्ञानमंदिर आदिथी सुशोभित छे। जैनोनी लगभग सो घरनी वसती धरावता आ गामना श्रावको धर्म श्रद्धा अने धर्म रक्षा माटे पंकायेला छे। आ छाणीमांथी १७ पुरुषो अने पचास दुपरांत स्त्रीओए संयम ग्रहण करी, त्याग मार्गनी कठिन आराधना करी छे।

श्री. चंदुभाई आ छाणी गामना वतनी छे। छाणीनी भूमिना स्वाभाविक सुसंस्कारो उपरांत तेमनामां बीजी पण अनेक विशेषताओ छे। प्रकृतिए सज्जन धर्माराधनपरायण अने धर्मसेवाना हर कोई कार्यमां यथाशक्ति फाळो आपवामां तत्पर श्री. चंदुभाई एटला ज प्रमाणिक अने गुरुभक्त छे। तेओनां पितानुं नाम छे श्री. जमनादास हीराचंद। श्री. जमनादासभाई पण अडग धमश्रद्धालु हता, प्रतिष्ठा अंजन-शलाका आदि कार्यो केवल श्री जिनभक्तिथी करवामां तेओए पोताना जीवननो घणो समय गाळयो हतो। जीवनना अंतिम वर्षोमां वृद्धवये संयम ग्रहण करी, तेओ जीवन कल्याण करी गया छे।

श्री. चंदुभाई जिनपूजा, प्रतिक्रमण अने पौषाधदि द्वारा कल्याण मार्ग साधी रह्या छे। चतुर्थव्रत ग्रहण पण सं. १९९४ मां कर्युं हतुं, बाल्यवयथी ज तेओ धर्माराधक क्रियाभिरुची छे। श्री संघना वहीवटी कार्यमां पण तेमणे घणो भोग आप्यो छे, पोताना व्यवसायने गौण करी श्री संघनी प्रवृत्तिमां तेओ वर्षोथी भाग ले छे.

श्री जैन श्वेतांबर ज्ञान मंदिरनो कारभार हजी सुधी संभाली रह्या छे।

पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय लब्धि सूरीश्वरजी महाराजना गुणानुरागथी तेओश्री 'लब्धि सूरीश्वर जैन ग्रंथमाला'नुं सारू संचालन करे छे.

आ ग्रंथमाला आज सुधीमां जैन साहित्यनां ४४ ग्रथरत्नोनुं प्रकाशन करी चुकी छे आ ग्रंथमाला उपरांत श्री. चंदुभाई 'श्री कमलसूरीश्वरजी शास्त्र संग्रह' तथा उपाध्यायजी 'श्री वीरवीजयजी शास्त्र संग्रह' आदि ग्रंथ भंडारोनी पण सुंदर देखरेख राखी रह्या छे.

श्री चंदुभाईनुं कुटुंब पण धर्म परायण छे. तेमना लघु पुत्र श्री जयंतिलाल १८ वर्षनी युवानवये संयम ग्रही, मुनीश्री जिनभद्र विजयजी तरीके विचरी रह्या छे. तेमनां पुत्री श्री पद्माबहेन (श्री प्रियंकरा श्री जी) तथा दोहित्रीओ (श्री पुष्पलता श्रीजी) जयलक्ष्मीश्रीजी (श्री कमल प्रभाश्रीजी) पण संयमी जीवन जीवी रह्या छे.

शारिरीक अस्वास्थ्य अने वृद्ध वये पण जे रीते धर्मसेवा तेओ करे छे तेवी ज रीते अखंड सेवा परायण जीवन जीवतां चिरायु बनो तेवी मंगल कामना छे.

चन्द्रबाहु मोहनलाल शाह

श्रीमल्लवादिसूरिस्तुतिः



वादरंगे मल्ल इव मल्लवादी सुविश्रुतः ।
शासनोद्योतकर्ता यः सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ १ ॥

नयचक्रं कृतं येन दुर्ग्राह्यं पण्डितैरपि ।
तद् द्रष्टुं लब्धसौभाग्यः सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ २ ॥

विधिनियमभेदाभ्यां द्वादशारप्ररूपकः ।
स्याद्वादतुम्बकर्त्ता च सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ३ ॥

स्तुतः श्रीहरिभद्रेण हेमचन्द्रेण यो भृशम् ।
अन्यैर्वाचकवर्यैश्च सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ४ ॥

निजमातुलजेतारं बौद्धाचार्यं सुयुक्तिभिः ।
वादेऽजयत् भृगोः पुर्य्यां सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ५ ॥

नयप्रमाणपाथोधिः द्वादशारैस्तरङ्गितः ।
येन श्रीगुरुदेवेन सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ६ ॥

नयचक्रं द्वादशारं, भवचक्रनिवारकम् ।
येन प्रपंचितं सम्यक्, सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ७ ॥

मल्लवादीति यः प्रातः स्मरणीयः जिनेन्द्रवत् ।
विदुषां सर्वसूरीणां सेवे तं मल्लवादिनम् ॥ ८ ॥

स्तुतिकर्ता

श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वर

न्यायागमानुसारिणीसमलङ्कृतस्य

द्वादशारनयचक्रस्य विस्तरतो विषयक्रमः

[चतुर्थविभागः]

इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता

नवमो नियमभङ्गारः



विधिनियमसर्वभङ्गवृत्त्यात्मकैकत्वाधिकारे वर्तमाने उभयनियमभङ्गारदर्शनेऽप्यपरितुष्यत उत्तरनयस्य नियमभङ्गस्योत्थानम्, तस्मिंस्तु दूषिते स्वमतप्रदर्शनं युक्तमिति तद्दूषणार्थमाह–

यदि भेदप्रधानो भावः कथमसौ भावो भवितुर्भेदस्य क्रियाभेदातिरेकेण स्वरूपमपि प्राप्तुं समर्थः? अस्वतंत्रत्वादभवितृत्वादसन् खपुष्पवत्, ततश्च भेत्तव्यस्याभावाद्भेदा अपि न भवितुमर्हन्ति खपुष्पवदिति धर्मधर्मिस्वरूपविरोधः, घटादिभेदाभावः, भेत्तव्याभावाद्गगनोदुम्बरकुसुमवत्, यथा गगनकुसुमादुदुम्बरकुसुममुदुम्बरकुसुमाद्वा गगनकुसुमं भेत्तृ भेत्तव्यं वा न तथोपसर्जनप्रधानयोः, ततश्चात्यन्तनिरुपाख्यत्वाच्छून्यत्वापत्तौ स्ववचनादिविरोधा अपि।

यदि भेदप्रधानो भाव इत्यादि, यावद्धर्मधर्मिस्वरूपविरोधः, यद्भेदो भवति प्राधान्येनान्वयोऽस्योपसर्जनमित्युक्तं तत्र तमेवंविधं भावमवधारयामः, कथमसाविति, स त्वयेष्टोऽन्वयो[1] भावो भवितु[ः] भेदस्य क्रियाभेदातिरेकेण–भवितारं कर्त्तारमन्तरेण स्वरूपमपि प्राप्तुमसमर्थो निश्चयः कस्मात्? अस्वतंत्रत्वात्–अकर्तृत्वादभविता, अभवितृत्वादसन् खपुष्पवत्, तस्यान्वयस्य–भावस्याभावे भेदा एव विप्रकीर्णा भेद्यवस्तुरहिताः स्युः, ततश्च भेत्तव्यस्यान्वयस्याभावाद्भेदा अपि न भवितुमर्हन्ति,[अ]विद्यमानो हि भेदः कुतो भिद्यते? असौ निर्भेद्यत्वात् खपुष्पवदिति भेदाभावाद्धर्मधर्मिणोः स्वरूपाभावेऽन्वयोपसर्जनो भेद-

---

पूर्वोदितस्य नयस्य भेदमात्रप्राधान्यादन्वयाभावप्रसङ्गः उपसर्जनत्वात्, एवं तदभावे भेदोऽपि न स्यात्, गगनोदुम्बरकुसुमवत्, सामान्यविशेषयोरन्यतरोभयप्रधानोपसर्जनपक्षविकल्पानामत्यन्ताभावाभिमुखानां त्यागादग्नीन्धनवत्तत्त्वान्यत्वोभयसत्ताऽवक्तव्यता श्रेयसीति नियमनयं वर्णयितुम्, अथवा विधिनियमयोर्यावद्भङ्गात्मकैकवृत्तिलक्षणसम्यक्त्वाधिकारे वर्त्तमाने पूर्वोदितोभयनियमभङ्गारेऽपि विकलात्मकत्वादपरितोषान्नियमविकल्पचतुष्टयभेदान्तर्गतनियमभङ्गमतप्रदर्शनाय पूर्वनयं दूषयितुमुपक्रमतइत्याह–**विधिनियमेति**। पूर्वमतेऽन्वयोपसर्जनभेदप्रधानता व्यवस्थापिता, तद्दूषयति–**यदि भेदप्रधान इति**। भेदः प्रधानभावेन भवति, अस्य चोपसर्जनमन्वय इति यदुक्तं भवता तथाविधो भावः–अन्वयः सम्भवति न वेति विचारयाम इत्याह–**यद्भेदो भवतीति**। भवत् प्रधानं कर्तृसाधनं भाव उपसर्जनम्, भवति हि विशेषः, यदसौ भवति भवनमापद्यते भवनक्रियामनुभवति स्वरूपप्रतिलम्भे गुणभूतं क्रियात्वं प्रतिपद्यमानोऽर्थो विपरिवर्त्तते, घटाख्यो विशेषो हि जलधारणादिभवनेषु वर्त्तमानः परमार्थो भवति, घटः कर्त्ता, तेन कर्त्रा भवित्रा भूयते, स एव भवतीति भवति, न तु भवनेन कर्त्रा भूयते, न भवनं घटो भवति, उपसर्जनत्वात्, न हि भवनं कर्तृ भवितुं शक्नोतीति त्वयोक्तमिति भावः। तत्प्रतिषेधमाह–**स त्वयेष्ट इति,** भवनरूपो भावो यदि भविता न स्यात् तर्हि सः स्वस्वरूपमेव न लभेत निश्चयस्तु दूरे, भवनरूपो भावो हि भवितृत्वं नानुभवति, द्रव्यत्वापत्तेरितीष्टं भवताम्, तथा च सोऽस्वतन्त्रः, स्वतंत्रो हि कर्त्ता, अकर्तृत्वाच्चासौ न भवति, अभवितृत्वात्तु खपुष्पवदसावसन्नेव स्यादिति भावः। एवमन्वयात्मनो भावस्याभावे केवलं भेदाः परस्परासंसृष्टा भवेयुः, सम्बन्धकभेद्यवस्तुरहितत्वादित्याह–**तस्यान्वयस्येति**। एवं सति भेदा, अपि न भवेयुर्भेत्तव्याभावात्, यस्यासौ भेदस्तस्याभावे भेदोऽपि कथं स्यात् तस्माद्भेदस्य भेत्तव्यस्य चाभावे को धर्मः को वा धर्मीति धर्मधर्मिणोः स्वरूपस्यैवाभावादन्वय उपसंर्जनं भेदः प्रधानं तथाविधश्च शब्दार्थ इत्येवं वचनमसङ्गतार्थमेव, निराकृतधर्मधर्मिस्वरूपत्वादित्याह–**ततश्च भेत्तव्यस्येति**। तथा

---

1 सि. क्ष. छा. डे. त्वयोष्टोन्वयो०।

प्रधानः शब्दार्थ इत्येतद्वाक्यं निराकृतधर्मधर्मिस्वरूपकं संवृत्तम्, तदुपसंहृत्य साधनमाह–घटादिभेदाभावो भेत्तव्याभावात्, गगनोदुम्बरकुसुमवदिति, उभयोर्भेत्तृभेत्तव्ययोरभावे न गगनकुसुमादुदुम्बरकुसुम[मु]-दुम्बरकुसुमाद्वा गगनकुसुमं भेत्तृ भेत्तव्यं वेति दृष्टान्तः, तथोपसर्जनप्रधानयोः–सामान्यभेदयोरिति दार्ष्टान्तिकोऽर्थः, ततश्चात्यन्तेत्यादि, इत्थं निरुपाख्यत्वाच्छून्यत्वापत्तौ स्ववचनाभ्युपगमानुमानप्रत्यक्षविरोधा अपि प्राप्ताः, ते चानिष्टा इति ।

किञ्चान्यत्–

पृथिवी घटो भवतीत्यत्र निर्धार्यं किं पृथिवी भवति? उत घटो भवति? उभयं वा भवति? न भवति वेति, तत्र यदि विशेष एव, नास्त्येवेतीदानीमेवोक्तत्वात् कुतः सामान्यस्य प्रधानोपकारिता, अथ पृथिव्यादेरन्वयित्वं प्रवृत्तेर्भवति सत्त्वात् ततश्चोपसर्जनत्वं सामान्यस्य नास्ति, स्वतत्त्वव्यापित्वात्, भावत्वात्, प्रवर्त्तमानत्वाच्च भेदवत्, उभयस्मिंस्त्वसति भावे भवितरि च यद्यभाव एव भेदोऽप्यनुभूयते, तेनैव भेदेन न भूयेत, अभावत्वात् खपुष्पवत्, न ह्यभावो भावो भवति ।

(**पृथिवीति**) पृथिवी घटो भवतीत्यत्र निर्धार्यं किं पृथिवी भवति न घटः? उत घटो भवति न पृथिवी? उभयं वा भवति? न भवति[वा]इति, तत्र यदि विशेष एवेत्यादि, सामान्यस्योपसर्जनस्याभावे [1]विशेष एवेति नास्त्येवेतीदानीमेवोक्तत्वात्, असति च घटे विशेषे कुतः सामान्यस्यासतोऽसत्प्रधानोपकारितेति, अथेत्यादि, अथ मा भूत् पृथिव्यादिसामान्योपसर्जनत्वे द्वयोरपि सामान्यविशेषयोरभावदोष इति

च साधनमाह–**घटादिभेदेति,** घटादीनां भेदानामभावः साध्यः, भेत्तव्याभावादिति हेतुः, गगनोदुम्बरकुसुमवदिति निदर्शनम् । दृष्टान्तं घटयति–**उभयोरिति,** भेत्तुर्भेदस्य भेत्तव्यस्य भावस्याभावे यथा गगनकुसुमात् उदुम्बरकुसुमं भेत्तृ न भवति यथा वोदुम्बरकुसुमाद्गगनकुसुमं भेत्तव्यं न भवति तथोपसर्जनप्रधानयोर्न भेत्तृभेत्तव्यभाव इति भावः । एवञ्चोभयोर्निरुपाख्यत्वात् शून्यतापत्तौ स्वसामान्यलक्षणवचनाभ्युपगमादिविरोधा अप्यनिष्टा भवेयुरित्याह–**इत्थमिति** । ननु सामान्यविशेषयोरुभयोः प्रधानताया उपसर्जनताया विशेषोपसर्जनसामान्यप्रधानताया वाऽसम्भवात् सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानता त्वयाऽभ्युपगम्यते तत्र यो भवति घटादिर्भेदः स भवनोपसर्जनः प्रधानमिष्टः प्रकृत्यर्थोपसर्जनप्रत्ययार्थप्रधानत्वात्, तथा च पृथिवी घटो भवति, पृथिवीप्रकृत्या घटस्य भेदस्य भवनमुच्यते तत्र विचार्यते–**पृथिवी घट इति** । व्याचष्टे–**पृथिवीति** भवनक्रियाश्रयः किं पृथिवी, किं घटः किं वोभयम्, उतोभयं न भवतीति विकल्पेषु को विकल्पस्त्वयाऽभ्युपेयते तद्वक्तव्यमित्यर्थः । यदि विशेष एव भवतीत्युच्यते तदाऽऽह–**तत्र यदीति,** एवेत्यवधारणेन सामान्यं न भवतीति गम्यते, तथा चाभवनात् सामान्यमसत् प्राप्तं तदभावे च भेत्तव्याभावेन भेदोऽपि न भवेदित्युक्तमेवेति भावः । एवं विशेषस्यापि घटस्यासत्त्वापत्तावसत् सामान्यं प्रधानस्यासतः कुत उपकारि स्यादित्याह–**असति च घट इति** । अथ पृथिव्यादेः सामान्यस्योपसर्जनत्वेन घट एव भवनक्रियामनुभवति न पृथिव्यादीत्यभ्युपगमे सामान्यविशेषयोरभावः प्रसज्यते तद्वारणाय पृथिव्यादिसामान्यं भवति प्रवर्त्तते इत्युच्यत इत्याशङ्कते–**अथ मा भूदिति** । तथा सति यथा विशेषो घटः कर्त्ता, तेन कर्त्रा भवित्रा भूयते स भवतीति भवति, एवं पृथिव्यादिसामान्यमपि कर्तृ, तेन कर्त्रा भवित्रा भूयते तद् भवतीति भवति, तथा च घटादिवत् पृथिव्याद्यपि प्रधानमेव स्यात्, नोपसर्जनम्, विशेषभवनमेव भावभवनमिति न स्यात् किन्तु सामान्यभवनमपि भावभवनं स्यात्, तस्मात् भेदवत् सामान्यमपि भावः, स्वस्य यत्तत्त्वं भावत्वं तद्व्यापित्वात्, भवितृत्वं हि भावत्वं तच्च सामान्यविशेषयोर्व्यापीति नोपसर्जनं सामान्यमित्याह–

१ सि. छा. डा. क्ष. °भावो न गगन० । २ सि. क्ष. छा. डे. विशेषणो वेति ।

पृथिव्यादेरन्वयित्वं प्रवृत्तेर्भवति, सत्त्वात्, ततश्चोपसर्जनत्वं सामान्यस्य नास्ति, स्वतत्त्वव्यापित्वात् भावत्वात्, प्रवर्त्तमानत्वात् भेदवत्, इत्थमप्युपसर्जनत्वनिवृत्तिः, उभयस्मिंस्त्विति, सामान्ये-पृथिव्यां भेदे च घटे द्वयेऽप्यसति भावेऽन्वये[1] भवितरि च विशेषे स यद्यभाव एव भेदोऽप्यनुभूयते-भेदेन स भेद इतीष्यते तेनैव भेदेन न भूयेत, अभावत्वात्, अभावत्वमभवनक्रियात्मकत्वात्, खपुष्पवत्, न ह्यभावो भावो भवतीति दृष्टान्तार्थप्रदर्शनात् ।

अथ भाव एवासौ भेद इष्यते ततो भावाव्यतिरेकाद्भूतत्वादुभयथापि न पुनर्भूयेत, भूतघटादिवत् आकाशादिवत्, वैयर्थ्यात्, न हि भूत एव भवति, तथासत्यसत्त्वापत्तेः, यदि भूतमेव भवेत्ततस्तदसत् स्यात्, उत्पद्यमानत्वादजातघटवदित्यनिष्टा च सा भेदेषु पृथक् सत्सु भवनाऽन्वय औपचारिक इत्यत्रोच्यते ननु त्वयैव स्वद्रव्ये पृथिव्यादौ घटादिभेदं ब्रुवता तस्यावस्थामात्रं घटादिभेदा इत्युक्तं भवति, यथाऽङ्गुलिर्वक्रीभवतीत्युक्ते औपचारिकत्वं वक्रतायाः नाङ्गुलेः, न हि वक्रत्वमङ्गुलिर्भवति, अनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवदिति ।

(**अथेति**) अथ भाव एव-मा भूदेष दोष इति अन्वयस्वभाव एवासौ भेदो भाव एवेष्यते ततो भावाव्यतिरेकात्-भावात्मकत्वात् अन्वयात्मकत्वात् भूतत्वादुभयथापि-प्रधानोपसर्जनत्वाभ्यां पृथिवीघटत्वाभ्यां न पुनर्भूयेत, भूतत्वाद्भूतघटादिवत् आकाशादिवत्, वैयर्थ्यात्, तद्दर्शयति-न हि भूत एव भवतीति, कस्मात् ? तथा[सत्य]सत्त्वापत्तेः यदि भूतमेव भवेत्-उत्पन्नमेवोत्पद्येत ततस्तदसत् स्यादुत्पद्य-

---

ततश्चेति पृथिवी भवतीति भवतीत्यभ्युपगमादित्यर्थः, उपकार्यस्य यदुपकारि तदुपसर्जनं भवति, भवितुर्भेदस्योपकार्यस्य सामान्यमुपकारि चेत्स्यादुपसर्जनम्, यदा तु भेदवत्तदपि भवति ततः प्रधानमेव तत् भवितृत्वात् भेदवदतोऽनुपसर्जनं स्यादिति भावः । तदेवं विशेषस्यैव भवनक्रियावत्त्वे सामान्यस्याभावादनुपसर्जनत्वम्, सामान्यस्यापि भवनाश्रयत्वे प्रधानत्वादनुपसर्जनत्वमित्युभयथाऽप्यनुपसर्जनता स्यादित्याह-**इत्थमपीति** पृथिव्यादेर्भावत्वेऽपीत्यर्थः । एवं सामान्ये भावत्वस्य भेदे च भवितृत्वस्यासत्त्वे यद्यभाव एव भेदः तर्हि अभावेन भेदेन न भूयेत-अभावो भेदो भवतीति न स्यादित्याह-**उभयस्मिंस्त्वितीति**, सामान्ये भेदे चेत्यर्थः, असति-भावे भवितरि चासतीत्यर्थः । **यद्यभाव एवेति**, अभावस्वभाव एव यदि भेदोऽनुभूयत इत्यर्थः । **तेनैवेति** सामान्येनैव भेदेन न भूयेत-सामान्यं भेदो न भवतीत्यर्थः । हेतुमाह-**अभावत्वादिति**, भावत्वाभावात्-भवनक्रियात्मकत्वाभावादित्यर्थः । तदेव दर्शयति-**न हीति** । एतद्दोषवारणाय भेदस्य भावत्वमभ्युपगम्यत इत्याशङ्कते-**अथ भाव एवेति** । व्याचष्टे-**मा भूदेष इति** । यदि भेदो भावो भवनात्मकस्तर्हि नासौ भविता किन्तु भूत एव, अन्वयवत्-सामान्यवदित्याह-**अन्वयस्वभाव एवेति**, भेदोऽन्वयस्वभाव एव, अत एव भावो भवनक्रियात्मक इतीष्यत इत्यर्थः । भवनं हि न भवितृ किन्तु भूतमतो भेदोऽपि भूत एव स्यादित्याह-**ततो भावाव्यतिरेकादिति** भावाभिन्नत्वात्-भावत्वात् भावो हि अन्वय एव, अत एव भूत इति भावः । **उभयथापीति**, भेदो यद्यभाव एव, अन्वयस्य भाव एवासौ भेदो भाव एवोभयथापि पृथिवीघटौ न भवेताम् प्रधानभावेनोपसर्जनभावेन वा, भूतत्वात्, उत्पन्नघटवत्, न ह्युत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिरनवस्थानात्, अर्थक्रियानुपपत्तेश्चेति भावः । उत्पन्नेन कुतो न पुनर्भूयत इत्यत्राह-**वैयर्थ्यादिति**, स्वरूपलाभाय हि उत्पत्तिरपेक्ष्या, यदा तु स्वरूपं प्रागेव लब्धं तदा पुनरुत्पत्तिरकिञ्चित्करी, न हि कस्यापि भूतस्य पुनर्भवनं दृष्टं युक्तं वेति भावः । कुतोऽयुक्ततेत्यत्राह-**तथासत्यसत्त्वापत्तेरिति** । तां प्रकाशयति-**यदि भूतमेवेति**, यथाऽजातो घटो यदि भवेदुत्पत्तिकालावच्छिन्नत्वादसन्नेव तदानीम्, न तु भूतः, एवं भूतमप्युत्पद्यमानत्वा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. भावेस्त्वयो भ० ।

मानत्वात्, अजातघटवदित्यसत्त्वापत्तिः, अनिष्टा च सेति न भावो[1] भवति नाभावो भवत्युभयं पृथिवी घटश्चेति, भेदेष्वित्यादि, स्यान्मतं भेदेषु—घटादिष्वेव पृथक् सत्सु परमार्थतो योऽसौ भवति भवतीति भवनाऽन्वयः स औपचारिक इत्यत्रोच्यते—ननु[2] त्वयेत्यादि, ननु त्वयैव स्वद्रव्ये पृथिव्यादौ[3]विति स्वात्मन्येव[4], ततश्च तस्य पृथिव्यादिद्रव्यस्यावस्थामात्रं घटादिभेदा इति, घटादिभेदा एवौपचारिकाः पृथिव्यादिसामान्यमेव तत्त्वमित्युक्तं भवतीति, किमिवेत्यत आह—यथाङ्गुलिरित्यादि, यथाऽङ्गुलिर्वक्रीभवतीत्युक्तेऽङ्गुलेरवस्था वक्रता, अङ्गुलेः सामान्यस्य भेदोऽवस्था[5]मात्रमित्यौपचारिकत्वं वक्रताया नाङ्गुलेः, यस्मान्न वक्रत्वमङ्गुलिर्भवति, वक्रत्वस्यावस्थात्वादङ्गुलेरङ्गुलिरेव वक्रीभवति, न वक्रतैवाङ्गुलीभवति, कस्मात् पुनर्न वक्रत्वमङ्गुलीभवति ? उच्यते—अनुत्पन्नत्वात्, खपुष्पवत्, एवं तावदयुगपद्भाविकालभिन्नाभिमतपर्यायेषु द्रव्यमात्रत्व[6]मुक्तम् ।

युगपद्भाविदेशभिन्नाभिमतपर्यायेष्वपि—

भेदत्वाच्च रूपवत्, यथा घट एव चक्षुरादिग्रहणापदेशविशिष्टत्वाद्रूपं रसो गन्ध इत्यादि भेदेनोच्यते, विज्ञानमात्रस्य तत्र भेदत्वाद्वस्तुनोऽभिन्नत्वादेवं पृथिव्यादिसामान्यभेदाः ।

(**भेदत्वाच्चेति**) भेदत्वाच्च रूपवत्, तदवस्थामात्रमिति वर्तते, यथा घट एव चक्षुरादिग्रहणापदेशविशिष्टत्वात् रूपं रसो गन्ध इत्यादि भेदेनोच्यते अङ्गुलिर्वा, विज्ञानमात्रस्य तत्र भेदत्वाद्वस्तुनो घटस्याभिन्नत्वात्, एवं पृथिव्यादिसामान्यभेदाः घटादयोऽश्मसिकतादय[श्च]विज्ञानमात्रेणेति ।

किञ्चान्यत्—

अत उक्तन्यायात् द्रव्यस्य पर्यायानाश्रितत्वाच्च पर्यायप्रवृत्तेः सर्वथाऽनुपपत्तिः, एवं

देवासद्भवेत्, न चेष्टापत्तिः, अन्वयस्य भावत्वेष्टेः, एवञ्च भावो न भवति नाप्यभावो भवति, पृथिव्यपि न भवति, घटोऽपि न भवतीति भावः । ननु भेदा एव परस्परासंसृष्टाः परमार्थतो विद्यन्ते, तेष्वयं भवति, अयमपि भवतीति योऽयं भवनान्वयः स औपचारिकः, न तु वस्तुभूतः कश्चिद्भावः, तस्माद्भेदो भाव एवेति शङ्कते—**स्यान्मतमिति,** घटादिषु स्वातन्त्र्येण पृथक् विद्यमानेषु भवत्ययं भवत्ययमिति स्वानुरक्तभवितृप्रत्ययोपकारित्वेन सामान्यमुपचरितं न परमार्थसदिति भावः । समाधत्ते—**ननु त्वयैवेति** द्रव्यपृथिवीमृदादयो भेदाः सदादिरूपा एव, सदेव हि द्रव्यं भवति, द्रव्यमेव पृथिवी भवति एकभवनात्मकत्वाद्घटादीनाम्, भेदानां सद्द्रव्यपृथिवीमृदात्मकत्वाच्च स्वद्रव्ये पृथिव्यादौ स्वात्मन्येव भेदाभ्युपगमाद्घटादिभेदा उपचरिता एव, पृथिव्यादय एव तत्त्वं पृथिव्यादीनामेव घटादेरवस्थामात्रत्वादित्युक्तं भवतीति भावः । निदर्शनमाह—**यथाऽङ्गुलिरिति,** अङ्गुलेरवस्था वक्रता, सा चावस्थाऽऽगमापायित्वाद्बाधिता न तत्त्वभूता, सामान्यमङ्गुलिरेव तत्त्वं भेदस्तु औपचारिकः, न हि वक्रत्वमङ्गुलीभवति, अङ्गुलेरनुत्पन्नत्वात्, खपुष्पवदिति भावः । एवमयुगपद्भाविषु कालभेदेन भिन्नेषु पर्यायेषु द्रव्यमात्रं तत्त्वं पर्यायास्तु द्रव्यस्यावस्था औपचारिका इत्युपपादितमित्याह—**एवं तावदिति** । अथ युगपद्भाविपर्यायाणामप्यौपचारिकत्वमाह—**भेदत्वाच्चेति** । भेदा युगपद्भाविनः पर्याया भेदत्वादेव रूपादिवद्द्रव्यस्यावस्थामात्रं, चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानविषयतां गतो घटादिरेव हि रूपमित्यपदिश्यते, रसनग्राह्यतां गतं गुडादिद्रव्यमेव रस इत्युच्यते घ्राणग्राह्यतां गतं कुसुमादिद्रव्यमेव गंध इत्युच्यते, तस्मात् विज्ञानमात्रस्यैव वस्तुतो भेदाद्घटादिद्रव्यमेव तत्त्वं रूपादयस्त्वौपचारिका इत्याशयेनाह—**यथा घट एवेति** । एवं पृथिव्यादिसामान्यमेव तत्त्वं घटादयस्तु विज्ञानमात्रभेदप्रयुक्तौपचारिका इत्याह—**एवं पृथिव्यादीति । विज्ञानमात्रेणेति,** घटादयस्तु केवलं विज्ञानेनैव भिन्ना इति भावः । पूर्वोक्तविध्यादिनयेषु त्रिभुवनमिदं एकसर्वगतनित्यकारणभूतवस्तुमात्रविजृम्भितम्, भेदा न सन्त्येव परमार्थतः पृथगिति प्रतिपादितमित्याह—**अत उक्तन्यायादिति ।**

---

१ सि. क्ष. डे. छा. भवति न भावो भ० । २ सि. क्ष. छा. डे. नन्वन्वयेत्यादि । ३ सि. क्ष. °दितिष्विति । ४ सि. क्ष. °न्येन । ५ सि. क्ष. भेदवस्था० । ६ सि. क्ष. °त्वयुक्तम् ।

विशेषस्वरूपप्रत्यपेक्षायां पूर्वं भवनमस्वतन्त्रं पृथग् वा वृत्ति स्यात्ततो निर्मूलत्वादसन् घटः खपुष्पवत् ।

अत उक्तन्यायादित्यादि, अतीतविध्यादिद्रव्यार्थिकनयेष्वेकसर्वगतनित्यकारणवस्तुमात्रविजृम्भितं स्तिमितसरस्तरङ्गादिवत् त्रिभुवनं भिन्नाभिमतमप्यभिन्नमेव, द्रव्याश्रितत्वाद्भेदानाम्, अवस्थादिसंज्ञानां पुरुषादिवादेषु प्रतिपादितत्वात्, द्रव्यस्य पर्यायानाश्रितत्वाच्च, पर्यायप्रवृत्तेरित्यादि, इति सर्वथैव भवनविध्यनुपपत्तिः, एवं पूर्वातीतद्रव्यनयप्रदर्शनेन, विशेषस्वरूपेत्यादि, तस्यापि च विशेषस्य स्वरूपं प्रत्यपेक्ष्यमाणं अन्वयसामर्थ्यादृते न लभ्यते, तद्यथा [स्वं] रूपयति पालयति, कार्यस्यात्मनोऽवस्थादेः स्वरूपमिति कारणं भवनमन्वयः स्वेनैव महिम्ना पृथग्वर्तते भेदादृतेऽपि यथोपवर्णितमनेकधाऽतीतनयेषु, तद्यदि पूर्वं भवनमस्वतंत्रं पृथग्वा वृत्ति यथा त्वयैवेष्टं स्यात् ततः किं ? ततो निर्मूलत्वादसन् घटः खपुष्पवत् ।

स्यान्मतं किं घटस्य मूलेन भवनेन ? किं न स्वयमेव भवति ? इत्येतच्च—

नापि स घटः स्वयमेव भावः, विशेषप्रधानपक्षहानेः, नाप्यस्य भावः असत्त्वाविशेषात् खपुष्पवदेवेति पूर्वोक्ताविर्भावादिभेदानुपपत्तिविरोधात् ।

(नापीति) नापि स घटः स्वयमेव भावः, कस्मात् ? विशेषप्रधानपक्षहानेः—यदि विशेष एव भावस्ततो घट एव विशेषः स एव भावो भवनं तेन भूयतेऽन्वयेन भावेनेत्यतः तथाभावत्वाद्घटस्यापि

व्याचष्टे-**अतीतविध्यादीति** एकं सर्वगतं नित्यं कारणं यद्वस्तु तन्मात्रविजृम्भितं भिन्नात्मकमपि त्रिभुवनम्, तदेव वस्तु आकारनानात्वोन्नीयमानस्वरूपभेदं चकास्ति, तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात्, अतोऽभिन्नमेव, घटपटादिप्रतिनियतव्यवहारप्रतिपाद्या घटादयो भेदाः सर्वगतस्य वस्तुनः प्रदेशा एव, न ततोऽतिरिक्ता इति भेदा द्रव्याश्रिता द्रव्याभिन्ना इति भावः । तच्च न पर्यायाश्रितं किन्तु पर्याया एव द्रव्याश्रिताः, एवमपि पर्याया न भवन्ति, यदि हि भवन्ति तर्हि भवनाश्रयः पर्यायः स्यात्, भवनञ्च द्रव्यं तत्कथं पर्यायाश्रितं भवेत्, तस्मात् सर्वथा पर्यायाणां भवनविधेरनुपपत्तिरित्याह-**द्रव्यस्य पर्यायानाश्रितत्वाच्चेति** । तर्हि किं विशेषस्य स्वरूपम्?, अन्वय एवेत्याह-**तस्यापि च विशेषस्येति,** अन्वयसामर्थ्यादेव विशेषस्य स्वरूपं लभ्यते, अन्वयो हि स्वतोऽव्यपदेश्यं किन्तु तत्सम्बन्धित्वेन प्रतीयमानविशेषव्यपदेश्यम्, अत एव विशेषः परतंत्रः, अन्वयसामर्थ्यादात्मलाभात्, एवञ्च विशेषस्य स्वकार्यस्य स्वावस्थाया वा परिपालनादन्वय एव विशेषस्य स्वरूपम् तदेव कारणं भवनं द्रव्यमित्युच्यते, स चान्वयः स्वतंत्रः, तस्मात् स्वमहिम्नैव भेदमन्तरेणापि पृथक् शक्नोति वर्त्तितुमिति द्रव्याश्रितत्वं भेदानामिति भावः । भेदा घटादयः परमार्थतः पृथक् सन्तः, तत्र भवनान्वय औपचारिक इति भेदाश्रितं द्रव्यं न स्वतंत्रं न वा पृथग् वृत्तीति त्वदभ्युपगतं यदि स्यात्तर्हि भेदा मूलरहिता भवेयुः, अतो निर्मूलत्वात् खपुष्पादिवदसन्तो भेदाः स्युरित्याह-**तद्यदीति,** एवञ्च भवनमेव भेदानां मूलमेषितव्यमिति भावः । ननु घटादिर्मूलं भवनं विना किं स्वयमेव न भवतीत्यत्राह-**नापि स इति** । यदि घटः स्वयमेव भावः स्यात्तर्हि विशेषं प्रधानं न स्यात्, तथा च सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानपक्षः परित्यक्तः स्यादित्याह-**नापि स घट इति** विशेषो यदि स्वयमेव भवति, घट एव भावो भवनमुच्यते, घटेनान्वयेन भावेन भूयत इति घट एव भावो जातः, भावश्च सामान्यमात्रं तदेव प्रधानमतो घटोपसर्जनभावप्रधानता प्राप्तेति सामान्योपसर्जनविशेषप्रधानप्रतिज्ञा त्यक्ता भवेत्, विशेषोपसर्जनसामान्यप्रधानताप्राप्तेः, एवञ्च घटः स्वयमेव भाव इत्यनुपपन्न इति भावः । **तेन भूयत इति**-घटो भावो भवतीत्यर्थः, तथा भावत्वात्-घटस्य भावेन भवनात् घटादिविशेषजातस्य भावमात्रं सामान्यमर्थः स्यात्, भावस्यैव प्राधान्यात्, विशेषो हि भावमनुरुणद्धि, अतो भावः प्रधान-

भावमात्रं सामान्यमर्थः, घटादिविशेषजातमपि तत्प्राधान्याद्विशेपस्य भावानुरोधात् सामान्योपसर्जनविशेष-प्रधानप्रतिज्ञाहानिः, एवं तावद्घटो भाव इत्येतदयुक्तम्, स्यान्मतं घटस्य भावो विशेपस्य सम्बन्धिनः सम्बन्धषष्ठ्या, यथा घटस्य विनष्टस्य कपालानि, अभावस्य भावहेतुत्वात् निरुद्धस्य, कपालानि हि घटनिरोधहेतुकानि उत्पद्यन्ते, तदुपकारित्वात्, किमिव ? यथाङ्कुरस्य बीजं निवर्त्तमानमुपकारीति, एतच्च—नाप्यस्य भावः कस्मात्? ततश्चासत्त्वाविशेषात् खपुष्पवदेवाविशेपः, इति पूर्वोक्तवदाविर्भावादिभेदानुपपत्तिविरोधादित्यनेनातीतं ग्रन्थमतिदिशति—यदेतदसत्त्वं नाम त्वया कचिन्मन्यते ततोऽन्यत् कार्यम्, तदसमर्थविकल्पत्वात्, घटपटवत्, विकल्पासामर्थ्यं वाऽसत्कार्ययोरित्यादि यावत्स्ववचनादिविरोधोपसंहारेण विशेषविरोधोपयोगप्रसङ्गात् स्वरूपविरोध इति ।

आह—

ननु विशेषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यत इत्यत्रोच्यते दृश्यमानत्वेऽपि यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टं यथा मृगतृष्णिकासलिलगन्धर्वनगरादि, मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हि भवनस्य पृथग्भावेनाभवनात् सलिलनगरयोरसत्त्वं दृष्टं तथा सामान्योपसर्जनतायां विशेषस्य, अथोच्येत त्वया शीतादिजीवादिविशेषाभावात्तयोः स्यादसत्त्वम्, नावश्यं विशेषे घटादौ पृथिवीविशेषैर्भाव्यम्, यदि स्युर्विशेषे विशेषा अविशेष एव स्याद्विशेषः सामान्यमेव विशेषवत्त्वात्, सद्द्रव्यत्वपृथिव्यादिसामान्यवदिति ।

ननु विशेष इत्यादि, सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते, तस्माद् दृष्टविरुद्धेयं कल्पनेत्यत्रोच्यते—दृश्यमानत्वेऽपीत्यादि, प्रत्यक्षव्यभिचार[1]प्रदर्शनसाधनम्, यथा दृश्यते तथा तस्याभवनादसत्त्वं दृष्टम्, यथा मृगतृष्णिकेत्यादि दृष्टान्तः, तद्व्याख्या—मृगतृष्णिकागन्धर्वनगरयोर्हीत्यादि, भवनस्य

मर्थः सम्पन्न इति भावः । घटो न भावः, किन्तु घटाद्भिन्नः, घटस्य भाव इति सम्बन्धषष्ठ्या भेदावगमात्, तथा च निरुद्धे घटे भावो भवति, यथा घटे निरुद्धे कपालानि भवन्ति, निरोधरूपोऽभावो हि भावस्य हेतुः, घटनिरोधात् कपालभवनात्, घटो हि भावस्योपकारिणः स्वयं निवर्त्तमानः, यथा बीजं निवर्त्तमानमङ्कुरस्योपकारि भवति, एवञ्च घटो न भाव इत्याशङ्कते-**स्यान्मतमिति,** न हि घटः स्वयं भावः, किन्तु घटस्य भावः, यथा घटस्य कपालानि, पूर्वभावनाशेनोत्तरभाव उत्पद्यत इति निरुद्धो घटः कपालहेतुः, यथा निवर्त्तमानं बीजमङ्कुरस्य तथा भावे घटो हेतुरिति भावः । नाभावो भावहेतुरिति समाधत्ते-**नाप्यस्येति,** अभावभूतघटसम्बन्धी भाव इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह-**ततश्चासत्त्वाविशेषादिति,** अभावो हि न सन् खपुष्पवत् तस्य भावः कथं स्यात्, असत आविर्भावादिविशेषस्यानुपपत्तेः पूर्वोक्तविध्यादिनयेषु सूपपादितत्वात् स एव ग्रन्थोऽत्रापि भाव्यः, तदेवाह-**इति पूर्वोक्तवदिति** । उक्तं ग्रन्थं दर्शयति-**यदेतदसत्त्वं नामेति,** पूर्वं विध्यादिनयेषूपपादितमेतत्, तत्रैव द्रष्टव्यम् । एवञ्च विशेषस्वरूपमेवापोदितं भवतीत्याह-**स्ववचनादीति** । ननु सामान्योपसर्जनो विशेषः प्रत्यक्षत एवावगम्यते तस्मादसत्त्वाविशेषादविशेषत्वप्रसञ्जनं प्रत्यक्षविरुद्धमित्याशङ्कते-**ननु विशेष इति** । व्याकरोति-**सामान्योपसर्जन इति,** स्पष्टम् । युक्तं प्रत्यक्षतो दृश्यते विशेष इति परं यथा दृश्यते न तथा तस्य भवनमतोऽसन्नित्युत्तरयति-**प्रत्यक्षेति,** प्रत्यक्षतो यथा दृश्यते तद्व्यभिचारेणाभ्युपगम्यत इत्यसन्निति भावः । दृष्टान्तमाह-**मृगतृष्णिकेति,** मृगतृष्णिकागन्धर्वनगराभ्यां व्यतिरिक्तयोस्सलिलनगरयोरभावात् केवलं तयोरेव दर्शनात् तावेव भावौ न तु तयोः पृथग्भावेन भवनं दृश्यतेऽतस्तयोरसत्त्वमेवं सामान्योपसर्जनविशेषत्वे सामान्यस्य सत्त्वात्ततः पृथग्भावेनाभवनात् सलिलनगर-

१ सि. क्ष. इत्यतयुक्तम् ।

पृथग्भावेन[ा]भवनात् [अ]परमार्थसत्त्वात् सलिलनगरयोरसत्त्वं दृष्टं यथा तथा सामान्योपसर्जनतायां विशेषस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यसत्त्वमिति, अथोच्येत त्वया शीतादी[1]त्यादि, मृगतृष्णिकासलिले शीतमृदुद्रवतादिविशेषाभावात् गन्धर्वनगरे [नगरे] दृश्यमानजीवाजीवविशेषधर्माभावात् स्यादसत्त्वम्, नावश्यं विशेषे घट[2]पटादौ पृथिवी[वि]शेषा[3]श्मसिकतादिभेदैर्भाव्यम्, यतो विशेषासत्त्वादसत्त्वं कल्प्येत, यदि स्युर्विशेषे विशेषा अविशेष एव स्यात्सामान्यमेव—अन्वय एव स्याद्विशेषः, विशेषवत्त्वात् सद्द्रव्यत्वपृथिव्यादिसामान्यवत् ।

अत्राचार्य आह—

अपि च वयमप्येतदेव ब्रूमोऽविशेष एव स्यादिति यदि तथा भवनेन विशेषेण विना भवेदन्वयो विशेष एव निःसामान्यः स च नास्ति खपुष्पवत्, नापि सामान्यमेव निर्विशेषम् तथा तथा वस्तुनोऽभवनात्, मृगतृष्णिकाऽन्वाकृतजलविशेषापि किं शीतादिभेदा न भवति? न भावाभावादेव, यथा वाऽसौ विशेषभावाभावात् नास्ति, तथा घटादिः विशेषोऽन्वयभावाभावान्नास्ति, यदि विशेष एव प्रधानं स्यात् सलिलभावानन्वितमिव घटाद्यपि मृगतृष्णिकाकल्पमसत् स्यात् निरुपाख्यत्वात्, उपाख्या हि भवनप्राणिका, इदं तदिति सोपाख्येयेति, ततो न किञ्चित् स्यात्, पृथिव्यादिसामान्येनानुपष्टब्धत्वात्, खपुष्पवत् ।

(अपि चेति) अपि च वयमप्येतदेव ब्रूमः—अन्वय एवाविशेषै[4]ः सामान्यमेव स्यादिति, यदि तथा भवनेन विशेषेण—आकृत्याख्येन विना भवेदन्वयो विशेष एव निःसामान्यः स च नास्ति, खपुष्पवत्, नापि

योरिव विशेषस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यसत्त्वं स्यादित्याह—**भवनस्येति,** सामान्यस्थानापन्नस्य भवनस्य मृगतृष्णिकादेः पृथग्भावेनाभवनात् तस्यैवासति कुतः सलिलनगरयोः विशेषयोः सत्त्वं प्रत्यक्षयोरपि, तथा सामान्यमपि भवनात्मकस्य पृथग्भावेन भवनाभावादसत्त्वात् प्रत्यक्षस्यापि विशेषस्यासत्त्वमिति भावः । सलिलधर्मनगरधर्मयोर्मृगतृष्णिकासलिलगन्धर्वनगरयोरदर्शनात्तयोः स्यादसत्त्वमित्याशङ्कते—**अथोच्येतेति ।** पयोगताः शीतलत्वमृदुलत्वद्रवत्वादिधर्मा मृगतृष्णिकासलिले नास्तीति प्रदर्श्य गन्धर्वनगरे नगरस्य विशेषाः प्रत्यक्षा जीवाजीवादिविशेषरूपा धर्मा न सन्तीति दर्शयति—**गन्धर्वनगर इति ।** तस्मात्तयोरसत्त्वं भवतु नामेत्यर्थः । परन्तु विशेषे न विशेषा अभ्युपगन्तुं शक्या इत्याह—**नावश्यमिति,** घटादिर्विशेषो पृथिवीविशेषा ये अश्मसिकतादिभेदाः न तद्वान् भवितुं शक्नोति, विशेषस्य विशेषवत्त्वे सम्भवति सति हि विशेषेऽस्मिन् विशेषाभावादसन् विशेष इति वक्तुं युज्येतेति भावः । कुतो विशेषस्य विशेषा न सम्भवन्तीत्यत्राह—**यदि स्युर्विशेष इति,** विशेषस्य विशेषवत्त्वे तस्य विशेषत्वं स्वरूपमेव न स्यात्, विशेषवत्त्वस्य सामान्यत्वव्याप्तेः सामान्यतैव स्यात् सत् द्रव्यं पृथिव्यादि यथा विशेषवत्त्वात् सामान्यं तद्वदिति भावः । अत्राऽऽचार्य उत्तरमाह—**अपि चेति ।** वयमप्येवमेव ब्रूमो यदि भवनेन विना विशेषो भवेत्तर्हि स निर्विशेषोऽन्वय एव स्यादितीति व्याचष्टे—**अपि च वयमपीति ।** एतदेव समर्थयति—**यदि तथेति । विशेष एव निःसामान्य इति ।** भवनं हि आकृतिलक्षणो विशेषः तेन विना यद्यन्वयः स्यात्, सोऽन्वयो विशेष एव निःसामान्यः स्यात्, नास्ति च तथाविधो विशेषः खपुष्पवदिति भावः । एवं निस्सामान्यविशेषाभावमुक्त्वा निर्विशेषसामान्याभावमाह—**नापीति,** तथा भवनेन विशेषेण विना यो भवेत् तत्र सामान्यमेव विशेषरहितम्, तथाविधवस्तुनोऽभवनात्, न हि घटावस्थानाद्यक्रियमाणं वस्तु भवितुमर्हतीति भावः । अन्वयेन विना विशेषो नास्तीत्यस्य विशेषेण विनाऽन्वयो नास्तीति वैधर्म्यनिदर्श-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. शीतादिरित्यादि । २ सि. क्ष. छा. डे. घटाघटादौ । ३ सि. क्ष. छा. डे. °शेषाणामश्म० । ४ सि. क्ष. डे. छा. °शेषं सामा ।

सामान्यमेव निर्विशेषम्, घटावस्थानाद्यक्रियमाणविशेषणस्य[1] तथा तथा वस्तुनोऽभवनात्, तद्वैधर्म्यं मृगतृष्णिकायामित्यत आह–मृगतृष्णिका अन्वाकृत[2]जलविशेषाऽपि किं शीतादिभेदा न भवतीति कारणनिर्णयार्थं प्रश्नः, व्याकरणं चास्य भावाभावादेव, यथा वाऽसाविति, यथा मृगतृष्णिकादि भावाभावान्नास्ति तथा घटादिर्विशेषोऽन्वयभावाभावान्नास्ति, परस्य तु दोषः, यदि विशेष एव प्रधानं स्यात् सलिलभावेत्यादि सलिलभवनेनानन्वितं घटाद्यपि मृगतृष्णिकाकल्पमसत् स्यात्, निरुपाख्यत्वात्, उपाख्या हि भवनप्राणिका किमित्युपाख्येयेत्यत[3] आह–इदं तदिति [4]सोपाख्येयेति, पृथिवीति द्रव्यं सद् घट इति वा, ततः किं ? न किञ्चित् स्यात्, कस्मात् ? पृथिव्यादिसामान्येनानुपष्टब्धत्वात्, खपुष्पवत् ।

किञ्चान्यत्—

तथा कस्माद्धटपटादिविशिष्टवृत्त्येव उदकज्वलनानिलाकाशादिना पृथिव्यादि न व्यज्यते ? अत्यन्तमन्यस्य पृथिवीद्रव्यस्य वैलक्षण्याद्वा सर्वद्रव्यगणव्यतिरेकेण निरन्वयो निरुपाख्यः कश्चिदेवार्थः कस्मान्न स्यात् ? अत एव च मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययजीवकर्मसम्बन्धसन्तत्याख्यान्वयाभावात् पुण्यपापकर्मानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः, मोक्षानुपपत्तिः, तत्प्रतिपक्षपरिणामविशेषानुपपत्तेः, पुरुषकारानुपपत्तिश्च, अनियततथाप्रवृत्तेः ।

तथा कस्मादित्यादि, यदि विशेषः सामान्यनिरपेक्षः स्यात् ततो यथा घटः, पट इति वा विशिष्टया वृत्त्या पृथिव्यादि व्यज्यते तथोदकज्वलनानिलाकाशादिना कस्मान्न व्यज्यते पृथिवीविभिन्नेन,

---

भमाह–**तद्वैधर्म्यमिति ।** अन्वाकृतजलविशेषा मृगतृष्णिका केन हेतुना शीतादिभेदा न भवतीति पृच्छति–**मृगतृष्णिकेति,** अपिना प्रतिभाससमानता विशेषस्य मृगतृष्णिकायां सूचिता, मृगतृष्णिकादेः जलादिविशेषभवनाभावान्न सत्त्वमिति ब्रूते–**व्याकरणमिति,** समाधिरित्यर्थः, भावस्याभावादिति हेतुः, भावस्य–विशेषस्यान्वयस्य वाऽभावादित्यर्थः । एतदेव निरूपयति–**यथा वाऽऽसावितीति ।** दार्ष्टान्तिकमाह–**तथा घटादिरिति,** सामान्यरूपस्य भावस्याभावाद्विशेषोऽपि नास्तीति विशेषमात्रवादिनो दोष इति भावः । पुनर्व्याख्याति–**यदि विशेष एवेति,** सलिलभावेनानन्वितस्य मृगतृष्णिकादेरिव प्रधानं घटादिविशेषः असन् स्यादिति भावः । असत्त्वे हेतुमाह–**निरुपाख्यत्वादिति,** आख्याननिमित्ताभावादुपाख्यातुमशक्यत्वादित्यर्थः । आख्याने निमित्तं किमित्यत्राह–**उपाख्या हीति,** भवनमेवोपाख्यायां निमित्तमिति भावः । घटः किमित्युपाख्येय इत्यत्राह–**इदं तदितीति,** अयं घटादिः पृथिवीति द्रव्यमिति सदिति वोपाख्येयः, घटादेर्भवनाभावे तथोपाख्यातुमशक्यत्वान्निरुपाख्यतया घटादि मृगतृष्णिकाकल्पमसत् स्यादिति भावः । निरुपाख्यत्वे किं स्यादित्यत्राह–**न किंचित् स्यादिति,** घटादि किमपि न स्यादित्यर्थः । हेतुमाह–**पृथिव्यादीति,** पृथिवीद्रव्यादिसामान्येनानन्वितत्वात्, यथा खपुष्पादि पृथिव्यादिसामान्यानन्वितत्वान्न किञ्चित् तथा घटाद्यपि स्यादिति भावः । विशेषस्य सामान्यनिरपेक्षतायां दोषान्तरमाह–**तथा कस्मादिति ।** सामान्यं हि व्यक्त्यभिव्यंग्यम्, घटपटादिविशिष्टसम्बन्धेनैव पृथिव्यादिसामान्यं व्यज्यते सामान्यस्य व्यापकत्वेऽपि, घटपटादीनामेव पृथिव्यादेरपेक्षणात्, न तु पृथिवीभिन्नेन जलानलानिलादिना पृथिव्या अभिव्यक्तिः, तेन सह तस्या विशिष्टवृत्तेरभावेन निरपेक्षत्वात्, एवञ्च विशेषो यदि सामान्येनान्वितो न स्यात्तर्हि घटादिना पृथिव्यादेरभिव्यक्तिवज्जलादिनापि कुतो न व्यज्यते पृथिव्यादि, सामान्यनिरपेक्षतायास्तुल्यत्वात्, विशिष्टवृत्तिकल्पकाभावाच्चेत्याशयेन व्याकरोति–**यदि विशेष इति ।** व्यक्तिभ्योऽत्यन्तं भिन्नस्य पृथिवीद्रव्यस्य ताभ्यो विलक्षणत्वात् सर्वद्रव्यगणेन साकं तस्य व्यतिरेकात्–असम्बन्धात् निरन्वयोऽत एवावेद्यरूपः निरुपाख्योऽत एवावाच्यः कश्चिदर्थः

---

१ सि. क्ष. डे. छा. स्थानादक्रिय० । २ सि. क्ष. °त्वाकृत० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °पाख्यायेत्य्येत्यत आह । ४ सि. क्ष. छा. डे. सोपाख्येयेन ।

अत्यन्तमन्यस्य पृथिवीद्रव्यस्य वैलक्षण्याद्वा सर्वस्य द्रव्यगणस्य व्यतिरेकेण निरन्वयो निरुपाख्यः कश्चिदेवावाच्योऽवेद्यरूपोऽर्थः कस्मान्न स्यात्, अन्वयरहितत्वात्, अत एव चेत्यादि, यस्मादन्वयरहितस्य निरुपाख्यस्याभावः तस्मान्मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययजीवकर्मसम्बन्धसन्तत्याख्यान्वयाभावान्नरकादिगतिविशेषसुखदुःखफलाख्यसंसारविशेषार्थप्रवृत्तयोः पुण्यपापकर्मणोरनुपपत्तिः तदनुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः, तत्प्रतिपक्षसम्यग्दर्शनादिपरिणामविशेषानुपपत्तिः, ततस्तत्प्राप्यमोक्षानुपपत्तिरपि, ततः शास्त्राभ्यासादिपुरुषकारानुपपत्तिः, अनियततथाप्रवृत्तेः ।

अथ मा भूवन्नेते दोषा इति तथानियतप्रवृत्तिरिष्यते ततः—

सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्तौ जीवो नारकः संसारी मुक्त इत्यादिवत् पृथिवी घट इत्यन्वयप्राधान्यमेवैषितव्यम्, विशेषस्तु घटः पृथिवीमनुवर्त्तते, लोके प्रधानं ह्यनुवर्त्त्यते, गुणस्त्वनुवर्त्तते नीलोत्पलवत्, सदापि विशेषानुवृत्तेरुक्तवन्नेति चेन्न, विशेषाभावादिति पूर्वनयेषु बहुधा भावितत्वान्न विशेषैकान्तपक्षः सामान्यं शक्नोत्यत्यन्तं निवर्त्तयितुम्, नापि सामान्यैकान्तपक्षो विशेषपक्षमतस्तौ न क्षमौ ?

(**सत्याञ्चेति**) सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्तौ जीवकर्मसम्बन्धसंसारमोक्षादिकायां जीवो नारकः संसारी मुक्त इत्यादिवत् पृथिवी घट इत्यन्वयप्राधान्यमेवैषितव्यम्, विशेषस्तु घटः पृथिवीमनुवर्त्तते, जीवत्वं नारकत्वादिः, कस्मात् ? यस्माल्लोके प्रधानं ह्यनुवर्त्त्यते, न गुणः, गुणस्त्वनुवर्त्तते, न प्रधानम्,

---

कस्मान्न स्यात् ? येन निरुपाख्यत्वादसदेव स्यादित्युच्यत इत्याह–**अत्यन्तमन्यस्येति,** विशेषादत्यन्तभिन्नस्येत्यर्थः । हेतुमाह–**अन्वयेति** । अन्वयरहितत्वान्निरुपाख्यत्वादभावे दोषान्तरमाह–**यस्मादिति,** पुण्यपापकर्मणोरनुपपत्तिर्दोषः, पुण्यपापकर्मणोः प्रवृत्तिर्विशिष्टसंसाराय, विशिष्टसंसारश्च नरकादिचतुर्गतिविशेषेषु सुखदुःखस्वरूपफललक्षणः, पुण्यपापकर्मणी चात्मनि जीवकर्मसम्बन्धसन्तानरूपान्वयाद्भवतः, जीवकर्मसम्बन्धस्तु मिथ्यादर्शनादिहेतुभ्य इति सिद्धान्तः, तत्र यदि सामान्यराहित्यमुच्यते तदा जीवकर्मसम्बन्धसन्तानरूपसामान्यस्याभावात् कथं पुण्यपापकर्मणी उपपद्येते इति भावः । एवञ्च संसारोऽपि न स्यादित्याह–**तदनुपपत्तेरिति,** पुण्यपापकर्मानुपपत्तेरित्यर्थः । पुण्यपापकर्मानुपपत्तेरेवाऽऽत्मनस्तत्प्रतिपक्षसम्यग्दर्शनादिपरिणामो न स्यादित्याह–**तत्प्रतिपक्षेति,** पुण्यपापकर्मप्रतिपक्षेत्यर्थः । तथाविधपरिणामविशेषाभावे तत्प्राप्यो मोक्षोऽपि न स्यादित्याह–**ततस्तत्प्राप्येति** । एवं मोक्षप्राप्त्यर्थं शास्त्राभ्यासादिप्रयत्नोऽपि न स्यादित्याह–**तत इति** । अहेतुकेषु नियतप्रवृत्त्यसम्भवादिति हेतुमाह–**अनियतेति** । सम्प्राप्तदोषराशिविधूननाय तेन प्रकारेण नियतप्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि सामान्यस्यावश्यंतया प्राधान्यं प्रदेयमित्याह–**सत्याञ्चेति** । व्याचष्टे–**सत्याञ्च तथानियतप्रवृत्ताविति,** जीवः कर्मसम्बन्धमनुभवन् संसरति गतिषु, मुच्यते तदर्थशास्त्राण्यभ्यस्यति चेति नियतप्रवृत्तेरभ्युपगमे नारकत्वससारित्वमुक्तत्वादिविशेषेष्वनुवर्त्तनशीलस्य सामान्यस्य जीवस्य प्राधान्यम्, अन्यथा कस्य नारकादित्वं स्यात्, तथा चाप्रधानं विशेषः सामान्यं प्रधानमित्यभ्युपेयमिति भावः । पृथिव्याः प्राधान्यं दर्शयति–**पृथिवी घट इतीति** । अन्वयभूता पृथिव्येव प्रधानं घटस्तु गुणभूतो विशेषः, पृथिव्याः पृष्ठतो गमनात्, एवं नारकत्वादिर्विशेषः जीवमनुसरतीति दर्शयति–**विशेषस्त्विति** । तत्र हेतुमाह–**यस्माल्लोक इति,** गुणैः प्रधानमनुवर्त्त्यते, न तु प्रधानेन गुणोऽनुवर्त्त्यते, स्वातंत्र्यक्षतेः, गुणस्त्वनुवर्त्तते, न तु प्रधानम्, यथा नीलोत्पलमित्यादौ प्रधानमुत्पलं द्रव्यत्वात्, भेद्यत्वात्, इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यत्वात्, नीलो गुणो भेदकत्वात्, अतो नीलस्योपसर्जनतैव, नीलञ्च तदुत्पलञ्चेत्येव विग्रहो न तूत्पलञ्च तन्नीलञ्चेति, उत्पलशब्दस्यानुपसर्जनत्वात् प्रधानत्वादिति भावः । ननु वाच्यताऽर्थविशेषस्य, वाचकतापि शब्दविशेषस्येष्यते, अनयोरेव सत्त्वात्, सामान्यभूतयोरर्थशब्दयोरसत्त्वात्तस्य च विशेषस्य पूर्वमदृष्टत्वात् स एव सामान्यादुपसर्जनात्

नीलोत्पलवदिति, सदापि विशेषानुवृत्तेरुक्तवन्नेति चेत्–स्यान्मतं ननूक्तं–'अर्थशब्दविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते । तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् सामान्यादुपसर्जनात् ॥' (प्र० स०) इत्यादिप्रपञ्चेन विशेष एव सामान्येनानुवर्त्यते, न विशेषेण सामान्यमिति, एतन्न[1], विशेषाभावात्, स एव हि विशेषो नैवास्तीति पूर्वनयेषु बहुधा भावितम्, तस्मान्न विशेषैकान्तपक्षः सामान्यं शक्तो[त्य]त्यन्तं निवर्त्तयितुम्, नापि सामान्यैकान्तपक्षो विशेषपक्षमतैस्तौ[2] न क्षमौ–सामान्यविशेषैकान्तपक्षौ ।

वक्ष्यमाणमवचनीयं वस्तु प्रतिपत्तव्यम्, नाप्यभावनिरन्वयं न भाव एव, नाविशेषम्, न विशेषोपसर्जनम्, न विशेष एव, नोभयोपसर्जनं नोभयप्रधानम्, सर्वविकल्पेष्वणुभावापत्तिदोषदर्शनात्, अवचनीयभावविशेषकारणकार्यैकानेकप्रधानोपसर्जनादिविकल्पं अवक्तव्यतत्त्वं वस्तु भवति, एवं हि भवनमग्नीन्धनवत् तद्विकल्पानुपपत्तेः ।

(**वक्ष्यमाणमिति**) वक्ष्यमाणमनन्तरं वस्तु प्रतिपत्तव्यमवचनीयम्–भवनविशेषाभ्यां कारणकार्यत्वाभ्यमेकानेकत्वाभ्यां प्रधानोपसर्जनत्वाभ्यामित्यादिभिर्विकल्पैर्विकल्प्यमामवक्तव्यतत्त्वं वस्तु भवति, नाप्यभावनिरन्वयं न तदुपसर्जनम्, भावोपसर्जनं विशेषप्रधानम्, वस्त्वित्यभिसम्बध्यते, न भाव एव, निराकृतविशेषः, तथा नाविशेषं–विशेषशून्यं, न विशेषोपसर्जनं सामान्यं प्रधानमिति, न विशेष एवात्यन्ततिरस्कृतसामान्यः, नोभयोपसर्जनं वस्तु, अत्यन्तनिराकृतस्वातंत्र्यसामान्यविशेषम्, नोभयप्रधानं, अत्यन्तस्वतंत्रतुल्यकक्षसामान्यविशेषम्, सर्वविकल्पेष्वणुभावापत्तिदोषदर्शनात्, कीदृक् तर्हि वस्तु भवतीत्यत आह–अवचनी-

---

ज्ञाप्यतेऽज्ञातत्वादित्यनन्तरपूर्वनये उक्तत्वात् सदापि विशेषविषयैवानुवृत्तिः सामान्यकर्तृकेति त्वदुक्तवन्न विशेषकर्तृकेत्याशङ्कते–**सदापीति,** सर्वदा विशेषस्यैवानुवृत्तेराश्रयत्वान्न विशेषनिरूपितानुवृत्तिः सामान्यस्येति चेदिति भावः । पूर्वनये प्रोक्तां कारिकामुपन्यस्य सामान्येन विशेष एवानुवर्त्यत इति स्थापयति–**स्यान्मतमिति । अर्थेति,** अर्थश्च शब्दश्चार्थशब्दौ तयोर्विशेषस्तस्य, वाच्यश्च वाचकश्च वाच्यवाचकौ तयोर्भावः, विशेषस्य पूर्वमदृष्टत्वेऽपि सामान्योपसर्जनन्यायेनोच्यत इति प्रागुक्तत्वेन सामान्यमेवानुवर्त्तते न विशेषः, तच्चोपसर्जनत्वाद्गुणभूतमिति भावः । पूर्वोदितेषु द्रव्यार्थिकनयेषु विशेषो नास्तीति भावितत्वान्न सामान्यस्य गौणत्वमित्युत्तरयति–**विशेषाभावादिति ।** एवञ्चैकान्तविशेषपक्ष एकान्तसामान्यपक्षो वा सामान्यं विशेषं वा निवर्त्तयितुमक्षमावित्याह–**तस्मान्नेति ।** सामान्यविशेषादिनाऽवचनीयं वस्तु प्रतिपत्तव्यमिति दर्शयितुमाह–**वक्ष्यमाणमिति ।** कथमवचनीयं वस्त्वित्यत्राह–**भवनविशेषाभ्यामिति ।** विकल्पान्निषेधति–**नाप्यभावेति,** अभावो–विशेषः, स चान्वयरहितः सामान्योपसर्जनः, अन्वयरहितो विशेषः प्रधानं सामान्यञ्चोपसर्जनमेवंविधं वस्तु न भवतीति भावः । **न भाव एवेति,** भावः–सामान्यं तदेवात्यन्ततिरस्कृतविशेषं वस्तु न भवतीत्यर्थः, अत्र पक्षे प्रधानोपसर्जनभावो नास्तीति भेदः । **तथा नाविशेषमिति,** निर्विशेषं, सामान्यप्रधानं विशेषोपसर्जनमपि वस्तु न भवतीत्यर्थः । **न विशेष एवेति,** अत्यन्ततिरस्कृतसामान्यो विशेष एव वस्तु न भवतीत्यर्थः, अत्रापि न प्रधानोपसर्जनभावः । **नोभयोपसर्जनमिति,** सामान्यं विशेषश्चोभयमप्युपसर्जनमेव न प्रधानमेवंविधमपि वस्तु न भवतीत्यर्थः । **नोभयप्रधानमिति,** सामान्यं विशेषश्चोभयमपि परस्परानपेक्षं स्वतंत्रमेवंविधमपि वस्तु न भवतीत्यर्थः । कुत एवंविधं वस्तु न भवतीत्यत्र कारणमाह–**सर्वविकल्पेष्विति,** अन्यतमविकल्पात्मकवस्त्वभ्युपगमे तद्वस्तु केवलमणुस्वरूपो भावः स्यात्, न तु स्थूलरूपमपीति भावः । किं स्वरूपं तर्हि वस्त्वभ्युपेयमित्यत्राह–**अवचनीयभावेति,** अवचनीयाः–अनभिधीयमानाः भावविशेषकारणकार्यैकानेकप्रधानोपसर्जनादिविकल्पा यस्मिन् वस्तुनि,

---

१ सि. क्ष. छा. डे. एतद्वविशेषा० । २ सि. क्ष. छा. डे. °मतात्तत्क्षेमौ ।

ग्भावविशेषेत्यादि समासदण्डको गतार्थः, उक्तपर्यायविकल्पयुगलके एतस्यार्थस्य भावनार्थमुदाहरणम्– एवं हि भवनमग्नीन्धनवदिति, तत्र तावदग्नीन्धनयोरेकत्वं नानात्वं[उभयत्वं]अनुभयत्वं अन्यतरप्रधानोपसर्जनता च स्यादिति विकल्प्य सर्वथाऽप्यवक्तव्यतैवेति वक्ष्यमाणो दृष्टान्तार्थः, तद्विकल्पानुपपत्तेः ।

तत्रैकत्वं तावन्न घटत इति ब्रूमः, कथम् ?

यथा नैकत्वमग्नेरिन्धनेन सह घटते, यदि स्यादेकत्वम्, दग्धेन्धनवदग्निर्न प्रवर्त्तेत, अनिन्धनप्रवृत्तेश्चाभावतैवाग्नेः, अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्त्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः इति वचनादप्रवृत्त्यसत्त्वार्थत्वात्, न प्रवर्त्तते, एकत्वाद्दग्धेन्धनवत् ।

यथा नैकत्वमित्यादि, तच्चैकत्वमग्नेरिन्धने[न]सह[1], इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात्, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा० २–३–१९) तृतीया[2], इन्धनमेवाग्निरेव वा स्यात्, तत्र तावदग्नेरिन्धनेन[3] सहैकत्वं घटते, तेन सहैकत्वात्, तत्प्राधान्यात् वक्ष्यते दोषोऽसत्त्वं, यदि स्यादेकत्वमग्नेरिन्धने[न], दग्धेन्धन[4]वदग्निरिन्धनरहितत्वान्न प्रवर्त्तेत, यथा दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्त्तते, तथाऽस्याप्रवृत्तिरनिन्धनप्रवृत्तेश्चाभावतैवाग्नेः स्यात्, 'अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्त्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः' इति वचनादप्रवृत्ति[अ]सत्त्वार्थत्वात्, अप्रवृत्तेरसत्त्वपर्यायत्वात्, तदुपसंहृत्य साधनमाह–न प्रवर्त्तते, एकत्वाद्दग्धेन्धनवत्–यथा दग्धेन्धनोऽग्निरिन्धनेन सहैकत्वादिन्धनव्यतिरेकेणा[5]प्रवर्त्तमानत्वादेकत्वादप्रवृत्तेरसन् तथाऽग्निरिति ।

अत्राह–

यथेन्धनमग्निना सहैकत्वेऽप्यनुपजाताग्निकं प्रवर्त्तमानं दृष्टम् तथेन्धनेन सहैकत्वे प्रवर्त्तितुमर्हत्यग्निः सूक्ष्मावस्थ इति चेत् को वा ब्रवीत्यग्निरहितावस्थायामिन्धनत्वम्,

एते विकल्पा यस्मिन् वस्तुनि न प्रसरन्ति तथाविधं वस्त्ववक्तव्यस्वरूपं भवतीत्यर्थः । भावविशेषादिविकल्पेष्ववक्तव्यतत्त्वं वस्त्विति भावनार्थं दृष्टान्तं दर्शयति–**एवं हि भवनमिति,** अग्नीन्धनवदेवं ह्यवचनीयं वस्तु भवतीत्यर्थः । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिभावनाय विकल्पान् प्रदर्शयति–**तत्र तावदिति** । अग्नीन्धनयोरेकत्वादिविकल्पानुपपत्तेरवक्तव्यतैवेति हेतुं दर्शयति–**तद्विकल्पानुपपत्तेरिति** । तयोरेकत्वासम्भवमादर्शयति–**यथा नैकत्वमिति** । यदग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते तत् किमग्नेरिन्धनेन सह, इन्धनस्याग्निना वा सह स्यात्, आद्येऽग्निः प्रधानमिन्धनमप्रधानम्, अन्त्ये इन्धनं प्रधानमग्निरप्रधानम्, सहपदयोगेऽप्रधाने तृतीयायाः 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण विहितत्वात्, किं वैकान्तेनेन्धनमेव स्यात्, उतैकान्तेनाग्निरेव वा स्यादिति, अत्र पक्षयोः सर्वथाऽन्यतरस्यापह्नुतिरिति व्याचष्टे–**तच्चैकत्वमिति** । इन्धनेन सहाग्नेरेकत्वपक्षं दूषयति–**तत्र तावदिति** । इन्धनेन सहाग्नेरेकत्वेऽग्नेः प्राधान्याद्यथा दग्धेन्धनोऽग्निर्न प्रवर्त्तते तथाऽयमप्यग्निर्न प्रवर्त्तेत, अप्रवृत्तेश्चासत्त्वं तस्य स्यादित्याह–**यदि स्यादेकत्वमिति** । इन्धनरहितत्वात् प्रवृत्तिरहितत्वाच्चाग्निरभाव एव स्यादित्याह–**अनिन्धनेति** । प्रवृत्तेः सत्त्वस्य चास्तिभवतीत्यादिवचनेन पर्यायत्वात् प्रवृत्त्यभावे सत्त्वमपि नास्तीत्याह–**अस्तिभवतीति** । फलितमर्थमनुमानप्रयोगेण दर्शयति–**न प्रवर्त्तेत इति,** अग्निरिति शेषः । हेतुसाध्ये समर्थयति–**यथेति** । नन्वग्निर्न प्रवर्त्तेत एकत्वाद्दग्धेन्धनवदित्यत्रैकत्वमनैकान्तिकमित्याशङ्कते–**यथेन्धनमिति** । अग्निना सहैकत्वमापन्नं हीन्धनमग्नेस्तत्रानुत्पन्नत्वेऽपि ज्वलने प्रवृत्तिदर्शनात् सूक्ष्मतयाऽवस्थानमग्नेरनुमीयतेऽतस्तत्रैकत्वेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तद्वदेवेन्धनेन सहैकत्वमापन्नोऽग्निः प्रवृत्तिसमर्थ एव, सूक्ष्मतया तत्राप्यनिन्धनस्याग्नेः सद्भावादत एकत्वमनैकान्तिकमित्यादर्शयति–**यथेन्धनमग्निनेति** । अग्निना सहैकत्वमापन्नस्येन्धनत्वमेव नास्तीति तस्य विपक्ष-

१ सि. क्ष. छा. डे. सहाऽत्वनस्याग्निना । २ सि. क्ष. छा. डे. तृतीयेननमेवाग्नि० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °रित्वनेन । ४ सि. क्ष. छा. डे. तदग्ने त्वनवदग्नि० । ५ सि. क्ष. छा. डे. °न्धनात्यव्यति० ।

तदपेक्षत्वादिन्धनत्वस्य, दह्यते दीप्यत इतीन्धनमग्नित्वपरिणतावेव ञि इन्धी दीप्ताविति स्मृतेः दह्यमानमिन्धनं भवति नानिध्यमानं, कारकाणामेव कारकत्वात् ।

यथेन्धनमित्यादि यावत् सूक्ष्मावस्थ इति चेत्-य[1]थेन्धनमग्निना सहैकत्वेऽप्यनुपजाताग्निकं प्रवर्त्तमानं दृष्टं तथाऽग्निर[2]पीन्धनेन सहैकत्वे प्रवर्तितुमर्हति सूक्ष्मावस्थः-कार्यानुमेयोऽप्रत्यक्ष इत्यर्थः, त[3]स्मादनैकान्तिकत्वादहेतुस्तदेकत्वमिति चेन्मन्यसे-अत्र ब्रूमः-को वा ब्रवीतीत्यादि, अग्निरहितावस्थाया[7]मिन्धनत्वस्यैवाभावात् विपक्षाभावेऽनैकान्तिके[4]ताभासता, तद्व्याचष्टे-तदपेक्षत्वादिन्धनत्वस्य-दीपनोऽग्निः, इन्धनदीपनदहनभस्मीकरणार्थत्वात् तत्परिणतावेवेन्धनमिष्यते दह्यते दीप्यत इतीन्धनमग्नित्वपरिणतावेव, एकत्ववादिनो विशेषेणातत्परिणतावग्नित्वेन्धनत्वयोरभावात्, 'ञि इन्धी दीप्तौ' इति स्मृतेः विरोधित्वा[5]दनिध्यमानस्यानिन्धनत्वमत आह-दह्यमानमिन्धनं भ[6]वति नानिध्यमानम्, किं कारणम्? कारकाणामेव कारकत्वात्, कर्तृकर्मादिशक्त्यावेशावस्थायामेव कर्तृकर्मादिकारकत्वं कारकाणामसङ्कीर्णात्मलाभं स्यात्, नान्यथा, सर्वमृद्घटादित्वप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तं सूक्ष्मावस्थाग्निरिन्धनरहित इति, तदपि नोपपद्यत इत्येतत् प्रदर्शनार्थमाह—

सूक्ष्मावस्थत्वेन चाग्नेः दीप्तिविशेषावस्थाप्राप्तिः सामान्यविशेषाद्यवस्थयोरन्यत्वे सिद्धे स्यात्, तदपि तु चिन्त्यमेव, सिद्धश्चेद्भेदः कथमग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते, अथोच्येत नाहं ब्रवीम्यग्नेरिन्धनेन सहैकत्वम्, किन्त्विन्धनस्याग्निना सह, यद्यप्यग्नेरिन्धनेन सहैकत्वेऽप्रवृत्तेरसत्त्वं सम्भाव्यते तथापि अदोषत्वेऽस्ति न्यायः तद्यथा-आदिधक्षदिन्धनाद्यप्येकत्वात् दृष्टत्वात्, दृष्टा हीन्धनेऽनुपजाताग्निके प्रागव्यक्तस्याग्नेः पश्चाद्व्यक्तिः, उत्तराधरयोररण्योर्निर्मथनेन, सहभावश्च द्विष्ठ इति प्रागभ्युत्पत्तेः सत एवाग्नेर्व्यक्तिवदग्नावपीन्धनस्य सत्त्वमेवेति ।

सूक्ष्मावस्थत्वेन चेत्यादि, इन्धनाव्यतिरेकेण दीप्तिसामान्यावस्थस्याग्नेः सूक्ष्मातीन्द्रियेन्धननी-

---

त्वाभावेन हेतोरेकत्वस्यानैकान्तिकतारूपाऽऽभासता नास्त्येवेत्याह-**को वा ब्रवीतीति ।** अग्न्यपेक्षत्वादिन्धनत्वस्याग्न्यभावे इन्धनत्वमेव नास्तीति दर्शयति-**तदपेक्षत्वादिति ।** ञि इन्धी दीप्तौ, दीपी दीप्तौ, दह भस्मीकरणे, इतीन्धनदीपनभस्मीकरणानामेकार्थत्वेन दीपनदहनपरिणतावेवेन्धनत्वादनुपजाताग्निकस्येन्धनत्वमेव नास्ति, अदीपनादिति व्याचष्टे-**दीपनोऽग्निरिति ।** दीप्तिदहनपरिणामाभावे एकत्ववादिमते इन्धनस्येन्धनत्वमग्नेरग्नित्वञ्च नास्त्येवेत्याह-**एकत्ववादिन इति ।** अदीप्यमानस्यानिन्धनत्वं ञि इन्धी दीप्ताविति स्मृतिविरोधात्, विरुध्यते हि स्मृतिस्तदानीं तस्येन्धनत्वेऽभ्युपगम्यमाने इत्याह-**दह्यमानमिन्धनं भवतीति ।** नानिध्यमानमिन्धनं भवति, क्रियोपहितस्यैव कारकत्वात्, न तु क्रियोपलक्षितस्य, तथात्वे हि सर्वकारकाणां सङ्कीर्णता स्यात् कर्त्तैव कर्म करणं सम्प्रदानमित्यादिरूपेण, तस्मात् कर्तृत्वशक्त्युपहितस्य तु न कर्मत्वादिशक्तिविशिष्टत्वम्, तस्मादिध्यमानमेवेन्धनं भवति नान्यथेत्याह-**कारकाणामेवेति,** करोतीति कारकम्, तत्तत्क्रियाविष्टमेव कारकमिति भावः । तदेवाह-**कर्तृकर्मादीति ।** विपर्यये दोषमाह-**सर्वमृदिति,** मृण्मात्रस्य घटत्वापत्तिः घटभवनयोग्यत्वान्मृद इति भावः । नन्विन्धनेन सहैकत्वमापन्नोऽग्निरनिन्धनः सूक्ष्मावस्थः उत्तरकालं प्रवृत्तिदर्शनादनुमेय इति यदुक्तं तदनुपपन्नमित्याह-**सूक्ष्मावस्थत्वेन चेति ।** व्याचष्टे-**इन्धनाव्यतिरेकेणेति,** इन्धनाभिन्नस्य दीप्तिसामान्यावस्थस्याग्नेर्दीप्तिविशेषावस्थाप्राप्तिः याऽवस्था सूक्ष्मेणा-

---

१ सि. क्षा. छा. डे. यथेत्व नम० । २ सि. क्ष. डे. छा. °रपीत्यनेन । ३ सि. क्ष. डे. छा. तस्मानैका० । ४ सि. °कतीभास० । ५ सि. क्ष. छा. डे. त्वाशानिध्य० । ६ सि. क्ष. छा. डे. भवत्यनिध्य० । ७ सि. क्ष. छा. डे. स्थायाममि ।

लाग्निका दीप्तिविशेषावस्थाप्राप्तिर्या त्वयोच्यते, एवं गुण्यवस्थस्य गुणावस्थाप्राप्तिः कार्यावस्थस्य कारणावस्थाप्राप्तिश्च सामान्यविशेषकार्यकारणगुणप्रधानानामन्यत्वे[1] सिद्धे स्यात्—तथा वक्तुं युज्येत, तदपि तु चिन्त्यमेव एतेषामन्यत्वम्, सामान्यविशेषाद्यवस्थयोर्भेदासिद्धेः, सिद्धश्चेद्भेदः कथमग्नीन्धनयोरेकत्वमुच्यते, अथोच्येतेत्यादि, स्यान्मतं तव नाहं ब्रवीमि-अग्नेरिन्धनेन सहैकत्वम्, किन्त्विन्धनस्याग्निना सहैकत्वम्, तद्व्याख्या—यद्यप्यग्नेरित्यादि, सत्यं यथाऽग्नेरिन्धनेन[3] सहैकत्वेन कृतादेकत्वादप्रवृत्तिर्दग्धेन्धनवदनिन्धनस्य, अप्रवृत्तेश्च[ा]सत्त्वं सम्भाव्यते दोषः तथा—एकत्वेऽसत्त्वदोषसम्भावनायां सत्यामप्यदोषत्वेऽस्ति न्यायः, तद्यथा-आदिध[क्ष]दिन्धनाग्न्येकत्वात्, इन्धनस्याग्निना सहैकत्वान्न भविष्यति दोषः, कस्मात्? दृष्टत्वात्, दृष्टा हि इन्धनेऽनुपजाताग्निके प्रागव्यक्तस्याग्नेः पश्चाद्व्यक्तिरुत्तराधरयोररण्योर्निर्मथनेन, किञ्च यस्मात् सहभावश्च द्विष्ठ इति, इतिशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्, यथाऽग्निना सहेन्धनं भवत्येवमग्निरपीन्धनेन भवतीत्यतः प्रागग्न्युत्पत्तेः सत एवाग्नेर्व्यक्तिवदग्नावपीन्धनस्य सत्त्वमेव, अन्यथा सहभावानुपपत्तेरिति ।

अत्र ब्रूमः—

एतदेव त्वं पृच्छ्यसे—अथ भेदप्रवृत्तिः कथम्? कस्मान्नेन्धनमव्यक्तत्वेन्धनाग्नित्वाभ्यामरण्यवस्थायामिव ज्वालावस्थायामग्निः? तत्रेन्धनमग्निरेव स्यात्, दहनैकत्वात्, अन्तवत्, अन्ते वाऽग्निरिन्धनमेव स्यात्, इन्धनैकत्वात्, प्राग्वदिति, विकल्पाच्चैकत्वव्याघातः, एकत्वे कुतोऽयं विशेषः, इदं न सहेदं सहेति, अद्वैतवादिनामिव, एकत्वे मथनक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च, दृष्टश्चोपकारकव्यापारभेदव्यवहारः ।

तीन्द्रियनीलाग्निना विशिष्टा त्वयोच्यते सा सामान्यविशेषयोर्भेदे सति स्यात्, न हि तयोरभेदे सा विशेषावस्था सम्प्रति नास्ति पश्चात् प्राप्यत इति वक्तुं शक्यते, एवं कार्यकारणयोः गुणप्रधानयोर्भेदे सत्येव कार्यावस्थस्य कारणावस्थाप्राप्तिः, गुण्यवस्थस्य गुणावस्थाप्राप्तिश्च वक्तुं युज्येतेति भावः । सामान्यविशेषादीनाञ्चान्यत्वं नास्त्येव सिद्धमित्याह—**तदपि तु चिन्त्यमेवेति,** अन्यत्वन्तु चिन्त्यमेवेत्यर्थः । कारणमाह—**सामान्येति** । यदि सामान्यविशेषयोर्भेदः स्यात्तर्हि अग्नीन्धनयोरेकत्वोक्तिर्न युज्येत, न हि भिन्नयोर्घटपटयोरिवैकत्वं सम्भवतीत्याह—**सिद्धश्चेदिति** । नन्विन्धननिरूपितैकताऽग्नेर्नोच्यते येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु अग्निनिरूपितैकतेन्धनस्योच्यत इत्याशङ्कते—**स्यान्मतं तवेति** । दोषाभावमेव स्फुटीकर्त्तुं व्याचष्टे—**सत्यमिति,** अर्धाङ्गीकारे पदमेतत्, अग्निर्न प्रवर्त्तते, एकत्वात्, दग्धेन्धनवत्, अग्नेरेकत्वञ्चेन्धननिरूपितैकत्वात्, अप्रवृत्तेश्चानिन्धनोऽसावग्निरसन् स्यादित्यङ्गीकृतांशः । अनङ्गीकृतांशमादर्शयति—**एकत्वेऽसत्त्वदोषेति** । कोऽसौ न्याय इत्यत्र न्यायं दर्शयति—**तद्यथेति,** इन्धनमग्निमत्, इन्धनाग्न्येकत्वात्, अग्निनिरूपितैकत्वान्न दोष इति भावः । तदेव समर्थयति—**दृष्टत्वादिति,** अग्निप्रागभाववतीन्धनेऽधरारणिरूपे उत्तरारणिनिर्मथनेनाग्नेरभिव्यक्तिर्दृष्टा, स चाग्निरिन्धने प्रागनभिव्यक्तोऽस्ति, अन्यथा पश्चात्तस्याभिव्यक्तिरेव न स्यादिति भावः । हेत्वन्तरमपि प्रागिन्धनेऽग्निसत्त्वं व्यवस्थापयदग्नावपीन्धनसद्भावगमकमाह—**सहभावश्च द्विष्ठ इति,** सहभावस्य द्विष्ठत्वादिति भावः । तदेवाह—**इतिशब्दस्येति,** अग्निसहभाव इन्धनस्य अन्यथाऽग्निरिन्धनान्न भवेत्, प्रागसतोऽनुत्पत्तेस्तस्मात् प्रागिन्धनेऽव्यक्तसन्नग्निः, एवञ्च सहभावादग्नेरपीन्धनसहभावो भवेदेव, न हीन्धनेन सहासतोऽग्नेरग्निना सह वाऽसत इन्धनस्य सहभावः सम्भवति तस्मात् सहभावस्य द्विष्ठत्वात् प्रागिन्धनेऽग्नेरिव पश्चादग्नावपीन्धनस्य सत्त्वमेवेति भावः । नियमनयवादी मतमिदं निराचष्टे—**एतदेवेति** । नन्विदमेवाहं त्वां

---

१ सि. क्ष. छा. डे. मनन्यत्वे । २ सि. क्ष. छा. डे. मनन्यत्वम् । ३ सि. क्ष. छा. डे. रित्वग्निनेन ।

(**एतदेवेति**) एतदेव त्वं पृच्छयसे-अथ भेदप्रवृत्तिः कथम्-अग्नीन्धनयोरेकत्वे? को विशेषहेतुर्येन सहभावस्य द्विष्ठत्वादित्युच्यते त्वया, अत्रानिष्टापादनसाधनमपि तद्यथा-कस्मान्नेन्धनमित्यादि, इतरेतरैकरूपापत्त्यभ्युपगमात्, [1]अव्यक्तत्वेन्धनाग्नित्वाभ्यामरण्यवस्थायामिव ज्वालावस्थायामत्र चेन्धनमग्नि[रग्नि]-रपीन्धनमेव स्यात्, तत्र तावदिन्धनमग्निरेव स्यात्, दहनै[2]कत्वादन्तवत्-अन्तकालवत्-केवलाग्निकालवत्, ज्वालाङ्गाराद्यवस्थावदित्यर्थः, अन्ते वेति तद्विपर्ययेणेन्धनत्वापत्तिरग्नेर्ज्वालाद्यवस्थस्येन्धनैकत्वात् प्राग्वत्-अरण्यवस्थावत् अनिष्टं[3]चैतत्, किञ्चान्यत्-विकल्पाच्चैकत्वव्याघातः, इन्धनेन सहाग्निरेकोऽग्निना सहेन्धनमिति विकल्पाभ्युपगमादेकत्वप्रतिज्ञाहानिः, भेदे हि सत्येतौ विकल्पौ युज्येते, तदेकत्वे विकल्पानुपपत्तेः, अतस्तद्दर्शयन्नाह-एकत्वे कुतोऽयं विशेषः-[4]इदं न सहेदं सहेति विकल्पानुपपत्तिप्रदर्शनं गतार्थं पुरुषाद्येककारणमात्राद्वैतवादिनामिव, किञ्चान्यत्-एकत्वे मथनक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च, एकत्वव्याघात इति वर्त्तते, अधरारणिराधारो मथनक्रियायां करणमुत्तरारणि[5]रग्निः कर्मेत्येवमादिकारकव्यापारादिभेदः सर्वलोकप्रसिद्धो नोपपद्यते, अग्नीन्धनयोरेकत्वात्, आकाशमथनाद्यभाववत्, दृष्टश्चोपकारकव्यापारभेदव्यवहारः, तस्मादयुक्तमेकत्वम्।

अथापि कथञ्चिदभ्युपगम्याप्यग्नीन्धनैकत्वं यदेकत्वेनाभिमतं तदेकमिति न वक्तव्यमेकत्वात्, एकदेवदत्तहस्ताद्यनेकत्ववत्, हस्तोऽप्येक एवेति न वक्तव्योऽङ्गुल्याद्यनेकत्वात्, अङ्गुलिरपि पर्वादिबहुत्वात् पर्वापि त्वगादिपर्वावयवस्कन्धबहुत्वात् स्कन्धोऽपि परमाणुबहु-

---

पृच्छामि यदग्नीन्धनयोरभेदे केन हेतुना भिन्ना प्रवृत्तिर्भवेत् सहभावस्य द्विष्ठत्वञ्च सिद्ध्येदितीति व्याचष्टे-**अथ भेदेति,** अग्नीन्धनयोर्भेदप्रवृत्तिरित्यर्थः, सर्वदैवाग्नित्वादिन्धनत्वाद्वा न प्रवृत्तिसंभव इत्यभिप्रायः। अस्मादेवाभिप्रायादनिष्टमापादयति-**कस्मान्नेन्धनमित्यादीति,** ज्वालावस्थायामग्निरिन्धनं कस्मान्न भवति, अग्निरिन्धनम्, इन्धनमग्निरित्यन्योन्यैकरूपतास्वीकारात्, अरण्यवस्थायामिन्धनेऽव्यक्ताग्नित्वं ज्वालावस्थायामिन्धनेऽग्नित्वमिति,/ एवमिन्धनमग्निरग्निरपीन्धनं स्यादिति भावः। प्रयोगमत्रार्थे दर्शयति-**तत्र तावदिति,** इन्धनमग्निरेव स्यात्, तस्य दहनेन सहैकत्वात्, ज्वालाङ्गाराद्यवस्थावदित्यरण्यवस्थेन्धनस्याग्नित्वप्रसञ्जनमिति भावः। ज्वालाद्यवस्थस्याग्नेरिन्धनेन सहैकत्वादरण्यवस्थावदिंधनत्वमापादयति-**अन्ते वेति,** ज्वालाद्यवस्थायां वेत्यर्थः। इन्धननिरूपितैकताऽग्नौ, अथवाऽग्निनिरूपितैकतेन्धन इति पक्षद्वयकल्पनाऽग्नीन्धनयोरभेदे न स्यात्, स्याच्चेदेकत्वं तयोर्व्याहन्यत इत्याह-**विकल्पाच्चेति**। अग्नीन्धनयोरेकत्वे इन्धनमग्निना सह नैकं किन्त्वग्निरिन्धनेन सहैक इति विशेषः किंप्रयुक्तः?, प्रयोजकाभावान्न स्यादित्याशयेनाह-**एकत्वे कुतोऽयमिति**। पुरुषादेरेकस्यैव कारणतयाऽभ्युपगमेऽद्वैतवादिनां चतुरवस्थाद्यनुपपत्तिर्विशेषाभावात्, अवस्थाचतुष्टयसत्त्वे वा एकत्वव्याघातो यथा तथाऽत्रापीत्याह-**पुरुषादीति**। यद्यग्नीन्धनयोरेकत्वं तदाऽग्निं प्रत्यधरारणिराधारः, उत्तरारणिः करणम्, करणव्यापारश्चाग्निसाधने मथनक्रियेत्येवमादिसर्वलोकप्रसिद्धकारकव्यापारविशेषा विरुध्यन्त इत्याह-**एकत्वे मथनक्रियेति,** मथनक्रियाश्रयधारणादधरारणिः क्रियासिद्धावुपकुर्वदधिकरणम्, यद्व्यापारादनन्तरं क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्विवक्ष्यते तत्करणं यथोत्तरारणिः, व्यापारो मथनक्रिया, उत्तरारणिजन्यत्वादग्निजनकत्वाच्च, अग्निः कर्म, कर्तुः क्रिययेप्सिततमत्वादित्येवं कारकभेद इन्धनाग्न्योरेकत्वेऽनुपपद्यते, कारकभेदोपपत्तौ तयोरेकत्वव्याघात इति भावः। कारकभेदं दर्शयति-**अधरारणिरिति,** अधरारणावुत्तरारणिनाऽग्निं मथ्नातीति प्रयोगः। न ह्येकमाकाशमाकाशे वा कश्चिन्मथ्नातीति निदर्शनमाह-**आकाशेति**। अग्नेरुपकारकाणां व्यापाराश्च दृष्टा अतो नैकत्वं तयोरित्याह-**दृष्टश्चेति**। अथाऽभ्युपगम्याप्येकत्वमवक्त-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. अव्यक्तत्वेत्वनाग्नि०। २ सि. क्ष. छा. डे. दहमेकस्यादत्तवदंतकाल०। ३ सि. क्ष. छा. डे. ष्टं चैतत्वै किं चा०। ४ सि. क्ष. छा. डे. इदं न संदेहं सहेति। ५ सि. क्ष. छा. डे. °रणिरतः।

त्वात्, अणो रूपाद्यनेकत्वात्, रूपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वात् प्रतिक्षणैकस्याप्यनन्तानेकत्वात्, सोऽप्यनेकः परस्परासङ्कीर्णरूपः केनचित् कदाचिदसम्बध्यमानत्वात्, असमानत्वादवक्तव्य एव, सम्बद्धो ह्यर्थः सामान्येनोच्यत इति, एवमग्नीन्धनयोरपि ।

अथापि कथञ्चिदित्यादि, त्वन्मतानुवृत्त्याऽभ्युपगम्याप्यग्नीन्धनैकत्वं कथञ्चित्-केनचिन्न्यायान्तरेण-द्रव्यार्थिकदिशेत्यभिप्रायः, तथापि यदेकमित्यभिमतं तदेकमि[ति][1] न वक्तव्यं स्यात्, एकमेवेति, न वक्तव्यमित्यर्थः, कस्मात्? एकत्वात्[2], यत्रैकत्वं तत्रैकमेवेत्यवक्तव्यं दृष्टम्, एकदेवदत्त-हस्ताद्यनेकत्ववत्-यथा एक इत्यभिमतो देवदत्तो हस्तपादाद्यवयवबहुत्वादेक एवेति न वक्तव्य एवमग्नीन्धन-योरपि दार्ष्टान्तिको वक्ष्यते, हस्तोऽप्येक एवेति न वक्तव्योऽङ्गुल्याद्यनेकत्वात्—अङ्गुलिप्रकोष्ठबहिरन्तस्तलादि-बहुत्वात्, अङ्गुलिरपि पर्वादिबहुत्वात् पर्वापि त्वगादिपर्वावयवस्कन्धबहुत्वात् स्कन्धोऽपि परमाणुबहुत्वात्, एकमेवेति न वक्तव्यमिति वर्त्तते यावदणोरिति, मूर्त्तद्रव्यमेव पर्यन्तावधित्वात् किमणुरेक इति वक्तव्यो नेत्युच्यते—अणो रूपाद्यनेकत्वात्—रूपरसगन्धस्पर्शबहुत्वात् रूपाद्यात्मकत्वात्, [किं] रूपं रसो गन्धः स्पर्शो वैक इति वक्तव्यः नेत्युच्यते—रूपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वात्-रूपमपि क्षणे क्षणेऽन्यदन्यदुत्पद्यते विनश्यति चेत्यन्य-त्वादनेकमनेकत्वाद्रूप[मेक]मिति न वक्तव्यमेवं रसो गन्धः स्पर्शश्च वाच्यः, स्यान्मतं देशभिन्नेष्वङ्गुलिपर्वत्वग्रू-पादीनामनेकत्वादेकमित्यवक्तव्यं स्यात् कालभिन्नस्तु क्षणिक एक एव रूपाद्यन्यतमोऽसाधारणोऽर्थः किमि-त्येक इति नोच्यत इत्यत्रोच्यते—प्रतिक्षणैकस्याप्यनन्तानेकत्वात्-क्षणे क्षणे ह्येकः प्रतिक्षणैकः, क्षणं क्षणं प्रति-

---

व्यत्वमेकताया आह-**अथापीति** । कथञ्चिच्छब्दार्थमाह-**केनचिन्न्यायान्तरेणेति,** भवन्मतमनुवर्त्तमानोऽग्नीन्धनयोरेकत्वं द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेणाभ्युपगच्छामि तथापि यत्ते एकमित्यभिमतं वस्तु तत्त्वयैकमिति न वक्तव्यम्, यद्यप्येकमिति केनचिन्नयेन वक्तुं शक्यते तथाप्येकमेवेति न निर्धार्य वक्तव्यमित्याह-**तथापीति** । हेतुमाह-**एकत्वादिति,** एक इत्यभिमतो देवदत्तः किन्तु स एक एवेति न वक्तुं शक्यः, अवयवावयविनोरभेदेनावयवानेकत्वेन तस्याप्यनेकत्वात्, तस्माद्यत्र यत्रैकत्वं तत्र तत्रैकमेवेत्यवक्तव्यत्व-मिति प्रतिबन्धादग्नीन्धनयोरप्येकत्वविषयाऽवक्तव्यता सिद्धेति भावः। इममेव दृष्टान्तं दर्शयति-**एकदेवदत्तेति**। घटयति-**यथेति** तर्हि हस्त एक इति वक्तुं शक्य इत्यत्राह-**हस्तोऽपीति** । तदवयवानामनेकत्वं दर्शयति-**अङ्गुलीति** । अङ्गुल्यप्यनेक एव, तदवयवानामनेकत्वादित्याह-**अङ्गुलिरपीति** । पर्वादीनामपि तदवयवबहुत्वादनेकत्वमाह-**पर्वापीति** । त्वक्स्कन्धस्याप्यवयव-बहुत्वकृतमनेकत्वमाह-**स्कन्धोऽपीति** । अङ्गुलिरपीत्यारभ्य यावत्परमाणोरितिग्रन्थं सर्वत्रैकमेवेति न वक्तव्यमित्यनुवर्त्तनीयम्, अवयवधाराया मूर्त्तद्रव्यभूतोऽणुरेव पर्यन्तावधिरित्याह-**एकमेवेति** । अणुरपि नैकत्वेन वक्तव्यः, रूपरसगन्धस्पर्शबहुत्वादित्याह-**अणोरिति** । नन्वेकस्मिन्ननेकेषां गुणानां सद्भावे को विरोधः, येनाणोरेकत्वं व्याहन्येतेत्याशङ्कायामाह-**रूपाद्यात्मकत्वादिति** न हि गुणगुणिनोरत्यन्तं भेदो वैशेषिकाणामिवाभ्युपगम्यते, अत्यन्तभेदेऽस्येदमिति सम्बन्धानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात्, किन्तु तयोरभेद एव, एवञ्च रूपाद्यात्मकत्वादणूनां रूपात्मकोऽणुरन्यो रसात्मकश्चान्यः, अन्यथा रूपरसादीनां साङ्कर्यप्रसङ्ग इति भावः। तर्हि रूपं रसादि वैकमिति वक्तव्यं स्यादित्यत्राह-**रूपादेरिति** । एकक्षणवर्त्तिनो रूपादेर्विरोधाद्द्वितीयक्षणेऽवृत्तेस्तदन्यत्वमेव प्रतिक्षणमुत्पद्य तदन्यक्षणे विनाशाद्रूपादिरप्यनेक एवेत्याह-**रूपमपीति**। ननु प्रोक्तरीत्याऽङ्गुलिपर्वादीनामाश्रयलक्षणावयवदेशभेदेनानेकत्वादेकमित्यवक्तव्यत्वे-ऽपि कालभिन्नस्तु क्षणमात्रस्थायी रूपाद्यर्थ एक इति वक्तव्यः स्यादेवेत्याशङ्कते-**स्यान्मतमिति**। समाधत्ते-**प्रतिक्षणैकस्यापीति,** अत्र 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इति सूत्रेण वीप्सार्थे प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञेति दर्शयति-**क्षणं क्षणमिति,** क्षणिको ह्यर्थोऽसाधारण उच्यते, अत एवासावनन्त एव, परस्परासङ्कीर्णरूपः, अनयोरेषां वेदं साधारणमिति केनचित् कदाचिदप्य-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. तदेहमि० । २ सि. क्ष. छा. डे. एकस्मात् ।

वर्त्स्येत इति वीप्सार्थकर्मप्रवचनीयत्वात् प्रतेः, सोऽप्यनेकः परस्परासङ्कीर्णरूपः केनचित् कदाचिदसम्बध्यमानत्वात्; असमानोऽसाधारणः, असमानश्चानेकः, समानत्वे ह्येकत्वं स्यात्, तस्मादसम्बन्धादसमानत्वादनेकत्वेऽप्यवक्तव्य एव, सम्बद्धो ह्यर्थः सामान्येनोच्येत-अयं स इति, इत्थमयमिति वा, तत्तु नास्ति सामान्यमित्यवक्तव्यः, एवं तावदेकत्वेऽग्नीन्धनयोरवाच्यत्वमुक्तम् ।

अथ मा भूवन्नेते दोषा इत्यग्नीन्धनयोरन्यत्वमभ्युपगम्यते चेत् तेन तर्ह्यग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिद्ध्येत्, शक्यञ्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः, त्वया न शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणं रूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं शक्यं वक्तुम् ।

अथ मा भूवन्नित्यादि, एतत्पक्षत्यागेन पक्षान्तरपरिग्रहे कारणमाचक्षाणः पक्षान्तरं ग्राहयति, अग्नीन्धनयोरन्यत्वपक्षो [1]निर्दोष इति मन्यमा[2]नेनाभ्युपगम्यते चेत्त्वया [3]सोऽपि निर्दोष इति मा मंस्थाः, तेन तर्हीत्यादि, तेन-अग्नीन्धनयोरन्यत्वाऽभ्युपगमेन कारणेनेदमाप[4]तितं स्यादग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, घटादेरिवाकाशस्य सौषिर्यम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिद्ध्येत्, शक्यञ्च प्रतिपत्तुम[5]यमस्मादन्य इति, किमिव ? यथाऽन्येषामित्यादि, अन्येषां घटादीनामग्नीन्धनादिभ्यः, अन्येभ्यः पटादिभ्य-[6]श्चान्येषाम्, तत्तु त्वया[न]शक्यतेऽग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, यस्मान्न हि अन्यदन्यसाधारणम्, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्माद्घटादि पटाद्य[7]न्यसाधारणरूपं न भवति तन्त्वादीनां तस्माच्छक्यते[च]ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथेन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणमग्ने रूपं घटस्येव जलाहरणादि पटादिविलक्षणं शक्यं वक्तुम् ।

सम्बद्ध्यमानत्वात्, सम्बध्यमानतायां हि तत् साधारणमेव स्यात् साधारणञ्चैकमिति वक्तुं शक्यम्, यतश्चेदमसाधारणमत एवानेकम्, अनेकत्वाच्चैकमिति न वक्तव्यमिति भावः । तदेवाह-**असमानोऽसाधारण इति ।** कदाचित् केनचित् सम्बध्यमानस्य सामान्यत्वमेवेत्याह-**सम्बद्धो ह्यर्थ इति ।** एवञ्चैकत्वेनावाच्यत्वमुपसंहरति-**एवं तावदिति ।** प्रोक्तदोषपरिहारायाग्नीन्धनयोरेकत्वपक्षं परित्यज्यान्यत्वपक्षोऽभ्युपगम्यत इत्याह-**अथ मा भूवन्निति ।** व्याचष्टे-**एतत्पक्षत्यागेनेति,** तयोरेकत्वपक्षत्यागेनेत्यर्थः । **अग्नीन्धनयोरिति,** तयोरन्यत्वपक्षं निर्दुष्टं मत्वा यद्यभ्युपैषि तर्हि तत्रापि दोषं ब्रूम इति भावः । दोषमेवाऽऽदर्शयति-**तेन तर्हीत्यादीति,** यद्यग्नीन्धनयोरन्यत्वं तदाऽभ्युपेतुं शक्यं यदाऽग्नेरिन्धनात् पृथक् स्वरूप निश्चितं भवेत्, यथा घटादेराकाशमन्यत्, तस्य च स्वरूपं सुषिरतेति निश्चितम्, तथा अग्नेरन्यत्वे त्वया तत्स्वरूपं वाच्यमिति भावः । पृथग्भूतस्येन्धनात् स्वरूपस्य सति दर्शनेऽग्नेरिन्धनादन्यत्वं सिद्ध्यति, ततश्चाग्निरिन्धनादन्य इति प्रतिपत्तुं शक्यत इत्याह-**निर्दिष्टे हीति ।** निदर्शनमाह-**अन्येषामिति**-घटादीनां अग्नीन्धनादिभ्योऽन्येभ्यः, अन्येभ्यः पटादिभ्यश्चान्येषां अग्नीन्धनादीनामन्यत्वं प्रतिपत्तुं शक्यं पृथग्रूपस्य सिद्धत्वादिति भावः । अग्नेस्तु पृथग्रूपमिन्धनाद्दर्शयितुं न शक्यमित्याह-**तत्तु त्वया न शक्यत इति ।** भिन्नानामेकं साधारणं स्वरूपं न भवितुमर्हतीत्याह-**यस्मान्न हीति,** घटादेः पटादेश्च यत्स्वरूपं न हि तदेव तन्त्वादीनां भवितुमर्हति, भिन्नरूपत्वादेव च पृथग्भूततया निर्देष्टुं शक्यत इति भावः । अग्नेस्तु इन्धनात् पृथग्भूतमसाधारणं तत्त्वं न वक्तुं शक्यम्, शक्यते च पटादिविलक्षणं घटादेर्जलाहरणादितत्त्वं वक्तुमित्याह-**न तथेन्धनादिति ।** ननु घटपटयोर्विशेषकृतं नानात्वं पृथिवी घट इति च सामान्यकृतमेकत्वं यथा त्वया तत्त्व-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. पक्षे निर्दोष इति । २ सि. क्ष. छा. डे. मन्यमानोऽभ्यु० । ३ सि. क्ष. छा. डे. सोऽपि दोष० । ४ सि. क्ष. छा. डे. °पतितस्याऽग्ने० । ५ सि. छा. डे. °मदस्माद० । ६ सि. क्ष. छा. डे. अग्नीन्धनादीनाम० । ७ सि. क्ष. छा. डे. °श्चामनेषा तत्तुत्वमाश० । छा श्चामतेषातत्तुत्वया श० ।

सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां त्वत्प्रदर्शितपृथिवीघटपटादिनिर्देशवदत्रापि स्यादिति चेदुच्यते न मम किञ्चित् सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति, त्वन्मतानुवृत्त्या प्रतिपादनार्थं संवृत्त्या पृथिवीघटपटवदित्युदाह्रियते, मन्मतेन तु सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानवस्थिततत्त्वघटपटसंवृत्तितुल्यसंवृत्तिवन्नाग्नीन्धने निर्दिश्येते, तस्मादनिरूप्योऽसन्नापद्येताऽग्निः, अनिन्धनत्वे सत्यरूपत्वात् खपुष्पवत्, घटपटादिष्वप्येतत्साधनं योज्यमिति ।

(**सामान्येति**) स्यान्मतं कथं त्वयाऽधुना घटात् पटोऽन्य इति विशेषेण नानात्वेन पृथिवी घट इति च सामान्यकृतैक्येन निर्दिष्टं रूपम् ? तथाऽग्नीन्धनयोरपि शक्यत एव वक्ष्यमाणं दाह्यदाहकत्वादीत्यत्रोच्यते, न मम किञ्चिद्अवक्तव्यवादिनः सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति वस्तु किञ्चित्, किं तर्हि ? त्वन्मतानुवृत्त्या प्रतिपादनार्थं संवृत्त्या सामान्यविशेषैकत्व[नानात्व]ाभ्यां पृथिवीघटपटवदित्युदाह्रियते न मन्मतेन, मन्मतेन तु तावनवस्थिततत्त्वावेवेति, तत्प्रदर्शयन्नुदाहरति-सामान्यविशेषेत्यादि सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वाभ्यामनवस्थितं तत्त्वं ययोस्ताविमौ घटपटौ-सामान्यविशेषैकत्वनानात्वानवस्थिततत्त्वघटपटौ तयोः संवृत्तिः-उपचारः,[तां] अभ्युपेत्य परकल्पनेनोदाहरणम्, तया तुल्यसंवृत्तिवत् । यथा संवृत्त्या घटपटाविष्टावप्यसाधारणरूपौ निर्दिश्येते, न तथाऽग्नीन्धने इत्यर्थः, तस्मादनिरूप्योऽनिरूप्यस्त्वसन्नापद्येताग्निः, कस्मात् ? अनिन्धनत्वे सत्यरूपत्वात्, खपुष्पवत्, उपादानस्वरूपात् पृथगनिरूपितात्मरूपत्वादित्यर्थः, घटपटादिष्वप्येतत्साधनं-अमूर्त्त्वे[1] सत्यरूपत्वात् घटोऽसन् खपुष्पवत्, अतन्तुत्वे सत्यरूपत्वात् पटोऽसन् खपुष्पवदित्यादियोज्यमिति ।

अथोच्यते यदेतत् ज्वाला देशेऽग्ने रूपमिति, तद्वा कुतोऽनिन्धनम् ? अग्नित्वपरिणतत्वेन पुद्गलानामाकाशदेशेऽवस्थानाज्ज्वालाधृतेः, वैद्युतस्याप्युदकेन्धनत्वान्नानैकान्तिकत्वम्,

मधुना पूर्वञ्च निर्दिष्टं तथाऽग्नीन्धनयोरपि दाह्यदाहकत्वादिपृथग्रूपमस्तीत्याशङ्कते-**सामान्यविशेषेति** । भावं प्रकाशयति-**स्यान्मतमिति** । अहमवक्तव्यवादी, अस्मन्मते न किमपि वस्तु केनचिद्रूपेण सामान्येन विशेषेण वाऽन्येन वा केनचित्प्रकारेणैकमिति वा नानेति वा व्यवस्थितमस्ति, केवलं त्वन्मतमनुवर्त्तमानेन संवृत्त्या कल्पनारूपया सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां पृथिवीघटपटादि निर्दिष्टम्, न त्वस्मदभ्युपगमोऽयमिति समाधत्ते-**न मम किञ्चिदिति** । तर्हि तव किं मतमित्यत्राह-**मन्मतेन त्विति,** घटपटौ मन्मतेनानवस्थिततत्त्वावेवेति । एतदेव निरूपयति-**सामान्यविशेषयोरिति,** सामान्यनिरूपितैकत्वविशेषनिरूपितनानात्वाभ्यां ययोर्घटपटयोः स्वरूपमनवस्थितं तयोरुपचारमभ्युपेत्य परकल्पनानुसारेणोदाह्रियते, तथाविधघटपटसंवृत्त्या न समानाऽग्नीन्धनयोः संवृत्तिरित्यर्थः । असमानतामेवाह-**यथा संवृत्त्येति,** घटपटौ संवृत्त्या स्वीकृतावपि तयोरसाधारणस्वरूपौ निर्देष्टुं शक्यौ, अग्नीन्धनयोस्तु न निर्देष्टुं शक्यौ, अतोऽग्नीन्धनसंवृत्तिर्न तत्तुल्येति भावः । तस्मादनवस्थिततत्त्वत्वेनाग्नेर्निरूपयितुमशक्यत्वादसत्त्वमापद्यत इत्याह-**तस्मादिति** । असत्त्वे हेतुमाह-**अनिन्धनत्वे सतीति,** नास्तीन्धनमुपादानतया यस्यासावनिन्धनस्तस्य भावस्तस्मिन्, अग्नेरिन्धनान्यत्वेनानुपादानता, अन्यस्योपादानत्वासम्भवात्, तथा च स्वरूपाभावादनिरूपितात्मरूपोऽग्निः सञ्जातः, अत उपादानस्वरूपात् पृथगनिरूपितात्मरूपत्वात् खपुष्पवदसन्नग्निरिति भावः । अमुमेवोपादानस्वरूपात् पृथगनिरूपितात्मरूपत्वहेतुमन्यत्रापि घटपटादावतिदिशति-**घटपटादिष्वपीति** । योजनां दर्शयति-**अमूर्त्त्वे सतीति,** मृत्स्वरूपात् पृथगनिरूपितात्मरूपत्वात् खपुष्पवद्घटोऽसन्निति, तन्तुस्वरूपात् पृथगनिरूपतात्मरूपत्वात् खपुष्पवत् पटोऽसन्नित्येवं योज्यमिति भावः । हेत्वसिद्धिमाशङ्कते-**अथोच्यत इति** । नन्वग्नाविन्धनस्वरूपात् पृथगनिरूपितात्म-

1 छा. अमूतत्वेन सत्य० । सि. क्ष. छा. डे. °सदाप० ।

यदि स्यादनिन्धनोऽग्निर्निरवशेषदग्धेन्धनोऽपि भवेदग्नित्वाज्ज्वालावत्, अथोच्येत तावन्नाहं ब्रवीम्यग्नेरिन्धनेन सहान्यत्वम्, किन्त्विन्धनस्याग्निना सहान्यत्वम्, यद्यप्यग्नेरिन्धनेन सहान्यत्वेऽनिन्धनत्वे सत्यरूपत्वादप्रवृत्तेरसत्त्वं सम्भाव्यते तथाप्यदोषत्वेऽस्ति न्यायः............ इन्धनाद्ग्न्यन्यत्वात् हुतवहवत् दृष्टत्वात्, दृष्टा हि लोके इन्धनमाहरति काष्ठमाहरतीति, अत्रोच्यते तद्विषय एवैष उपचारोऽग्नित्वपरिणतिकालसिद्ध्यथार्थेन्धनत्वं मुख्यमपेक्ष्य, तदन्यत्वे च स नैव स्यात्, मुख्येन्धनाभावात्, अत एव तु तदपरिणतावपीन्धनत्वस्योपचारः सिद्ध्यति, गौणस्य मुख्यमूलत्वात् सिंहमाणवकवत्, चित्रकरादिवद्वा ।

(**अथोच्यत इति**) अथोच्यते यदेतज्ज्वाला देशे-अथाचक्षीथास्त्वं-इन्धनात् पृथगग्नेरस्ति रूपम्, तद्यथा ज्वाला गगनदेशे, तस्मान्मयाऽऽख्यातं ते पृथगिन्धनादग्निरूपम्, तस्मादरूपत्वासिद्धेर्नासत्त्वमित्यत्र ब्रूमः-तद्वा कुतोऽनिन्धनम् ? यत्र ज्वालारूपमग्नेर्गगनदेशे तदपीन्धनसहितमेव, अग्नित्वपरिणतत्वेन पुद्गलानामाकाशदेशेऽवस्थानाज्ज्वालाधृतेः, न ज्वालाऽनिन्धना, अग्नित्वादङ्गाराद्यग्निवत्, वैद्युतस्याप्युदकेन्धनत्वान्नानैकान्तिकत्वमतोऽग्निरिन्धनात् पृथग्भूतो नास्ति, यावच्चेन्धनं तावदेवाग्निनिष्ठितत्वं नो विध्यात इत्युच्यते, तस्मान्नेन्धनात् पृथगग्निर्वक्तुं शक्यः, एवमनिच्छतो दोष उच्यते, यदि स्यादनिन्धनोऽग्निः सततमेव निरवशेषदग्धेन्धनोऽपि-मुर्मुराद्यवस्थोत्तरकालमपि[1] भवेदग्नित्वात्, ज्वालावदनिष्टश्चैतत्, एवं तावत् पूर्वोक्तैकत्ववदिन्धनेन सहाग्नेरन्यत्वं न वक्तव्यम्, अथोच्येतेत्यादि विकल्पान्तरं पूर्ववदिन्धनस्यान्यत्वं हुतवहवत् दृष्टत्वात् लोके हि दृष्टमिन्धनमाहरेति काष्ठमाहरेति, न हि दृष्टाद्गरिष्ठं प्रमाणमस्ति, ग्रन्थश्च यद्यप्यग्नेरित्यादि यावदाहरतीति[2] गतार्थः पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरं तद्विषय एवैष उपचारः, अग्नित्वपरिणतिकालसिद्ध्यथार्थेन्धनत्वं मुख्यमपेक्ष्य

रूपत्वमसिद्धम्, आकाशदेशे परिदृश्यमानाया इन्धनस्वरूपादन्यस्या ज्वालाया अग्निस्वरूपत्वात्, न हि ज्वाला सेन्धनेत्याशयेन व्याचष्टे-**अथाचक्षीथास्त्वमिति** । अनिन्धनमग्निरेव न भवति, यद्यग्निरवश्यं तेन सेन्धनेन भाव्यमित्याशयेनासिद्धतां व्युदस्यति-**तद्वा कुतोऽनिन्धनमिति,** आकाशदेशेऽग्ने रूपं ज्वालेति यदुच्यते सापि ज्वाला सेन्धनैव, नानिन्धना, ज्वाला हि आकाशदेशेऽग्नित्वेन परिणताः पुद्गला एवेति भावः । तत्र साधनप्रयोगमाह-**न ज्वालाऽनिन्धनेति,** यो योऽग्निः स सेन्धन एव, अङ्गाराद्यग्निवत्, ज्वालाऽपि तादृशीति भावः । न च विद्युदादेरग्नित्वेऽपि न सेन्धनत्वमिति व्यभिचारः, तस्याबिन्धनत्वादित्याह-**वैद्युतस्यापीति** । तस्मादिन्धनपृथग्भूतस्याग्नेरसत्त्वमेव, यावदिन्धनं तावदग्निसत्ताऽस्त्येव, अत एवायमग्निर्न विध्यातः-न शान्त इत्युच्यत इत्याह-**यावच्चेन्धनमिति** । अग्नित्वमस्तु सेन्धनत्वं मास्त्विति व्यभिचारशङ्कानिवर्त्तकं तर्कमाह-**यदि स्यादनिन्धन इति,** अनिन्धनाग्न्यभ्युपगमे इन्धने निरवशेषं दग्धे सति मुर्मुराद्यवस्थोत्तरकालमपि सर्वदाऽग्निर्भवेत्, तव मतेऽनिन्धनस्यापि तस्याग्नित्वात् ज्वालावत्, न चैवं सततं वर्त्ततेऽग्निस्तस्मान्नानिन्धनोऽग्निरिति, अग्नेरन्यत्वे पृथग्रूपाभावात्, पूर्वोक्तैकत्वावाच्यत्ववदिन्धननिरूपितान्यत्वेऽप्यग्नेर्न वक्तव्यमेवेति भावः । अथाग्निनिरूपितान्यत्वमिन्धनस्येति शङ्कते-**अथोच्येतेत्यादीति** पूर्ववत्-इन्धनस्याग्निनिरूपितैकत्वविषयग्रन्थवदित्यर्थः, यद्यप्यग्नेरिन्धननिरूपितान्यत्वकृतादग्नीन्धनयोरन्यत्वादप्रवृत्तिः, अनग्नेरिन्धनस्याप्रवृत्तेश्चासत्त्वं दोषः सम्भाव्यते, एवं दोषसम्भावनायामपि न्यायोऽस्त्यदोषत्वे, इन्धनाग्न्यन्यत्वात्-इन्धनस्याग्निना सहान्यत्वान्न भविष्यति दोष इति भावः । हेतुमाह-**हुतवहवद् दृष्टत्वादिति,** लोके हि अग्निकाम इन्धनमाहरति काष्ठमाहरतीत्यनग्नीन्धनमिन्धनत्वेन व्यवहरति, न हि प्रत्यक्षादस्मात् किञ्चित् प्रबलं प्रमाणमस्तीति भावः । पूर्वोदितग्रन्थमेव स्मारयति-**ग्रन्थश्चेति,** एवं सहभावस्य द्विष्ठत्वादप्यग्नीन्धनयोरन्यत्वं बोध्यम् । अत्रोत्तरमाह-**तद्विषय एवैष** इति, इन्धनमाहरति

१ सि. क्ष. छा. डे. निरवशेषादग्नित्वतोपि । २ सि. क्ष. छा. डे. °यावदाहेतीति ।

तद्विषयेऽग्न्यपरिणतेऽपि दारुणीन्धनत्वमुपचाराद्भवति, तदन्यत्वे-अग्नीन्धनान्यत्वे स उपचारो नैव स्यात्, मुख्येन्धनाभावात् खरविषाणतीक्ष्णकुण्टादिसाधर्म्याभावे तदुपचाराभावव[1]त्, अत एव त्वित्यादि, अग्निपरिणतदारुमुख्येन्धनत्वादेव तदपरिणतावपीन्धनत्व[2]स्य सिद्ध्यत्युपचारः, कस्मात्? गौणस्य मुख्यमूलत्वात् सिद्धे हि मुख्ये सिंहे शौर्यादितत्साधर्म्यात् माणवकः सिंह उच्यते नासति मुख्ये सिंहे, चित्रकरादिवद्वा चित्रलेखनादिक्रियापरिणत्यवस्थालब्धचित्रकरत्वव्यपदेशो नासति तत्क्रियापरिणामे ।

तस्याग्नित्वपरिणतावेवेन्धनत्वसंवादिनीं स्मृतिं ज्ञापिकामाह—

ञि इन्धी दीप्ताविति ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणा दीपन इत्यग्निमिन्धः, पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वात्स्वात्मवन्नान्यत्वम्, अदह्यमानं हीन्धनमेव न भवति, कारकाणामेव कारकत्वादित्यादिव्याख्यातत्वात् ।

(ञीति) ञि इन्धी दीप्ताविति ननु स्मरन्त्यभियुक्ता वैयाकरणाः शब्दार्थसम्बन्धज्ञाः दीपन इत्यग्नि-दीप्तिस्वभावः, अग्निरेवेन्धनं दीप्त्यर्थत्वादिन्धः, किञ्चान्यत्-पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वात्स्वात्मवन्नान्यत्वम् यथा प्रागेकत्वे यद्यग्निरिन्धनेन सहैकः स्यात्ततो दग्धेन्धनवदेकस्याप्रवृत्तेरभावतैव स्यादित्यादिग्रन्थोक्तेन न्यायेनैकत्वं निषिद्धम्[3], यावत् सहभावस्य द्विष्ठत्वादिति तथाऽन्यत्वे दग्धेन्धनवदन्यस्याप्रवृत्तेरभावतैव स्यादित्यादितुल्यार्थागमविशेषेण ग्रन्थो योज्यः, अन्यत्वेऽप्यभावापत्तिसाम्यात् स्वात्मवन्नान्यत्वमिति, अग्निस्वात्मा-

---

काष्ठमाहरतीत्यादिरग्नित्वेनापरिणते दारुणीन्धनत्वकाष्ठत्वादिव्यवहार औपचारिकः, स च मुख्यापेक्षः, मुख्येन्धनादि चाग्नित्वलक्षणपरिणामविशिष्टं दार्वादि, एतदपेक्षयाऽग्निपरिणामरहिते दार्वादाविन्धनत्वकाष्ठत्वादिव्यवहार औपचारिक उपपद्यत इति भावः । इन्धनेऽग्निनिरूपितत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु नैष उपचार उपपद्यते, मुख्यस्येन्धनस्याभावात्, यथा खरविषाणादौ तीक्ष्णत्वकुण्टत्वादेर्नोपचारः साधर्म्याभावादित्याह—**तदन्यत्व इति** । इदमेव पुनः स्पष्टीकरोति—**अग्निपरिणतेति,** तदपरिणतावपि—अग्न्यपरिणतदारुण्यपीन्धनत्वस्योपचारः सिद्ध्यतीत्यर्थः । हेतुमाह—**गौणस्येति,** उपचारो हि सादृश्यनिबन्धनः, सादृश्यञ्च प्रसिद्धाप्रसिद्धधर्मिगतो गुणविशेषः, यथा माणवकः शौर्यादिना सिंह इत्युपचर्यते, शौर्यं सादृश्यं प्रसिद्धसिंहगतमप्रसिद्धमाणवकधर्मिगतञ्च, सिंहे शौर्यं पूर्णमतः प्रसिद्धो धर्मी मुख्य उच्यते, माणवके केनचिदंशेन न्यूनमतोऽप्रसिद्धधर्मिवृत्ति, तथाविधं च शौर्यरूपं गुणमादायातिशयविशेषप्रदर्शनाय माणवकस्य सिंहत्वेनोपचर्यते, तस्मादुपचारस्य सादृश्यमूलत्वात् सादृश्यस्य प्रसिद्धाप्रसिद्धधर्मिगतत्वात् प्रसिद्धधर्मिगतस्याभावे कथं तत्सादृश्यं भवेत्, कथं वा तेन चोपचारः? तस्माद्गौणस्य मुख्यमूलत्वमिति भावः । निदर्शनान्तरमाह—**चित्रकरादिवद्वेति,** अयं चित्रकर इति सम्प्रत्यलिखत्यपि पुरुषे व्यवहारः चित्रलेखनादिक्रियायां पूर्वं परिणतः स आसीत्, तत्परिणत्यवस्थायां स चित्रकरत्वव्यपदेशमापन्नोऽत एवेदानीमपि स चित्रकर उच्यते, न तु कदाचिदपि चित्रकरत्वपरिणतिविधुरस्तद्वदिति भावः । अग्नित्वपरिणतस्यैव दारुण इन्धनत्वं स्मृत्या ज्ञायत इत्याह—**ञि इन्धी दीप्तावितीति** । शब्दार्थसम्बन्धविदो वैयाकरणा ञि इन्धी दीप्ताविति स्मरन्ति दीपन इत्यनेनाग्निम्, तेनाग्नेर्दीपनस्वभावता गम्यते, इन्धनस्य दीप्त्यर्थत्वाच्च दीपनस्वभावोऽग्निरेवेन्धनमिति सिद्ध्यतीत्याह—**ञि इन्धीति** । पूर्वोदितैकत्वपक्षदोषमन्यत्वपक्षेऽप्यापाद्याग्निरेवेन्धनमित्यादर्शयति—**पूर्वोक्ताच्चेति** । पूर्वंग्रन्थं स्मारयति—**यथा प्रागिति** । तं दोषमन्यत्वपक्षे दर्शयति—**तथाऽन्यत्व इति** । तदेवमिन्धनस्यान्यत्वे दग्धेन्धनवत्प्रवृत्त्यसम्भवादभावताप्राप्तेर्नान्यत्वं स्वात्मवत्, तद्वृत्तेरित्युत्तरयति—**अन्यत्वेऽपीति** । दृष्टान्तं घटयति—**अग्निस्वात्मेति,** अग्नि-

---

१ सी. क्ष. छा. डे. °भावात् । २ सि. क्ष. छा. डे. इन्धनत्वं सि० । ३ सि. क्ष. छा. डे. निषिद्धावत्सहासहत्वदिष्टत्वादिति ।

ऽग्नेर्यथाऽन्यो न भवति तथेन्धनमपि तद्वृत्तित्वात्-तस्य वृत्तिः, तद्वृत्तिः, सैव वा वृत्तिस्तद्वृत्तिः तद्वृत्तिरेव वृत्तिरस्य 'तद्वृत्तिः-अग्निदीप्तिरेवेन्धनत्ववृत्तिदीप्तिरूपवृत्तित्वादग्निरेवेन्धनमग्न्यात्मवत्, अदह्यमानं हीन्धनमेव न भवति, कारकाणामेव कारकत्वादित्यादिव्याख्यातत्वात्, एवं तावदिन्धनोदाहरणेऽग्न्यन्यत्वव्याघात उक्तः ।

काष्ठोदाहरणेऽपि तद्यथा—

काष्ठशब्दव्यवहारेऽप्यग्निकाष्ठयोरन्यत्वं व्याहन्यते, यदाऽयमग्निः ततोऽन्यो नास्ति सेन्धनात्, ननु यदैव काष्ठमनग्नि दृष्टं तदा तेन विना दृष्टत्वादन्यत्वसिद्धिरिति, अत्र ब्रूमः–अथाभेदवृत्तिरन्यत्वे न प्राप्नोति, अदीप्यमानाकाशेन्धनत्वाप्राप्तिवत्, कस्मान्न काष्ठमग्निः दीप्यमानावस्थायामिवाव्यक्ताग्नित्वावस्थायाम्? अग्निः काष्ठमेव, काष्ठमग्निरेव वा स्यात्, प्राग्वत् पश्चाद्वाऽनन्यत्वात् ।

काष्ठशब्देत्यादि, काष्ठशब्दव्यवहारेऽप्यग्निकाष्ठयोरन्यत्वं व्याहन्यते, तद्यथा यदाऽयमित्यादि काष्ठेन्धनोऽग्निस्ततोऽन्यो नास्ति सेन्धनात्, वैद्युतोऽप्युदकेन्धनपृथग्भूतो नास्ति, अत्राऽऽशङ्का-ननु यदैव काष्ठमर्नग्नि[1] दृष्टं तदा तेन विना दृष्टत्वादन्यत्वसिद्धिरिति[2], अत्र वयं ब्रूमः-अथाभेदवृत्तिः—दृष्टा हीयमभेदवृत्तिः, दीप्यमानं काष्ठमिन्धनमिति सा चाभेदवृत्तिरन्यत्वे न प्राप्नोति, अदीप्यमानाकाशेन्धनत्वाप्राप्तिवत्, कस्मादित्यादि परस्पररूपापादनेनानिष्टापादनं यथासंख्यं प्राग्वत् पश्चाद्वद्वा[3]ऽनन्यत्वादिति गतार्थं साधनद्वयम् ।

स्वात्मा यथाऽग्नेर्नान्यस्तथेन्धनमप्यग्नेर्नान्यत् तद्वृत्तित्वात्, अग्नौ वर्त्तनादित्यर्थः । तद्वृत्तित्वमेव व्याचष्टे–**तस्य वृत्तिरिति,** अग्नेरेवेन्धनं वृत्तिः स्वरूपविशेषः, अग्निदीप्तिरेव इन्धनम्, अग्निदीप्तिरेव वेन्धनस्य दीप्तिरित्यर्थः, सैव वृत्तिरित्यस्यार्थोऽग्निदीप्तिरेवेन्धनत्वपदेनोक्तः, तद्वृतिरेव वृतिरस्येत्यस्यार्थोऽग्निवृत्तिदीप्तिरूपवृत्तित्वादित्यनेनोक्तः, तस्मादग्निस्वात्मवदग्निरेवेन्धनमित्यर्थः । इध्यमानं हीन्धनं भवति, अनिध्यमानन्तु नेन्धनं भवति, कर्त्तृकर्मादिक्रियाऽऽविष्टास्यैव कारकत्वात्, न हि यन्न करोति तत्कारकम्, गगनकुसुमादीनामपि कारकत्वापत्तेः, नापि कदाचित्करोतीति कारकम्, कर्त्तृकर्मादिकारकाणां सङ्करापत्तेः, यदा कदाचित्कर्त्तुरपि कर्मादित्वादित्याशयेनाह–**अदह्यमानमिति,** वर्त्तमानकालावच्छेदेन दहनक्रियाननुगतमित्यर्थः । एवञ्चेन्धनस्याग्नेरन्यत्वे दोष इन्धनाश्रयेणोक्त इत्याह–**एवं तावदिति ।** काष्ठशब्दाश्रयेणाह–**काष्ठशब्देति ।** काष्ठमाहरेत्यादिव्यवहारोऽपि काष्ठाग्न्योरन्यत्वे व्याहतो भवति, उपचारस्य मुख्यमूलत्वात्, अग्निपरिणतिकाले सिद्धं यथार्थं दार्वेव मुख्यं काष्ठमपेक्ष्य ह्यग्न्यपरिणतस्य दारुणः काष्ठेन्धनत्वव्यवहारः, तत्राग्निकाष्ठेन्धनयोरन्यत्वे तु स उपचारो नैव स्यात्, यदा तु काष्ठेन्धनोऽग्निरेव, काष्ठेन्धनादन्योऽग्निर्नास्ति, अरूपत्वात्, वैद्युतोऽप्यग्निरबिन्धनत्वात् सेन्धन एव, ततोऽयं व्यवहारो न विरुद्ध्यत इत्याह-**काष्ठशब्दव्यवहारेऽपीति ।** अनन्यत्वमेवाह–**तद्यथेति ।** नन्वनुपजाताग्निकं काष्ठं दृष्टमिति विनाप्यग्निना काष्ठस्य दर्शनादग्निकाष्ठयोरन्यत्वमित्याशङ्कते–**ननु यदैव काष्ठमिति ।** यदि तयोरन्यत्वमेव तर्हि कथमभेदवृत्तिः स्यात्, दृष्टा ह्यभेदवृत्तिः, दीप्यमानावस्थायां काष्ठमिन्धनमिति, न हीदमभेदवृत्तिस्तयोरन्यत्वे घटते, न ह्यदीप्यमानमाकाशमिन्धनं भवितुमर्हति, तस्मात्तयोरनन्यत्वमभ्युपेयं तदैवाभेदवृत्तिः स्यादित्याशयेनाह–**अथाभेदवृत्तिरिति ।** काष्ठाग्न्योरन्यत्वेऽथ कस्मान्नाग्निः काष्ठम्, दीप्यमानावस्थायामव्यक्ताग्नित्वावस्थायामिवेति परस्पररूपापादनाय शङ्कते–**कस्मादित्यादीति,** अव्यक्तावस्थायां यदि काष्ठमग्निर्न चेत् तर्हि दीप्त्यवस्थायामपि काष्ठमग्निर्न स्यात्, काष्ठाग्न्योरन्यत्वादिति भावः । यदि तदानीं प्राग्वदग्निः काष्ठेन्धन एव तर्हि पश्चाद्वत् काष्ठमग्निरेव स्यादनन्यत्वादनिष्टञ्चैतदित्याह–**प्राग्वदिति ।** काष्ठमनग्निरिति विरुद्धं वचनमित्याह–**यदि काष्ठमिति ।** काश्रृ दीप्ताविति धातोः काशनात् काष्ठं भवति,

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °नग्नित्वं । २ सि. क्ष. छा. डे. °दनात्व० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °द्वद्वादन्य० ।

किञ्चान्यत्—

यदि काष्ठं कथमनग्निः काशनाद्दीपनादङ्गनात्, काष्ठमनग्नि तदिति स्ववचनविरोधः, इन्धनमनग्निरित्यपि, काशृ दीप्ताविति कर्तृवाचिनि थन्प्रत्यये काष्ठमिति रूपसिद्धेरशेषविरोधः, किं दारुण्यपि शक्यमित्थं भावयितुम्? को हि नाम शक्यं न शक्नुयाद्वक्तुम्, दह भस्मीकरण इत्येकार्थत्वात् तथापि दानरक्षणार्थदारुशब्दस्याविवक्षितत्वाददोषो गगनाविवक्षावत् ।

(**यदीति**) यदि काष्ठं कथम[न]ग्निः? काशनात् काष्ठमग्नित्वमेव, काशनाद्दीपनादङ्गनान्नान्यथा, तस्मात् काष्ठमनग्नि तदिति स्ववचनविरोधः, तथेन्धनम[न]ग्निरित्यपि स्ववचनविरोधः, यस्मात् काष्ठं नियमादग्निः, अग्निरपि नियमात् काष्ठम्, एवमिन्धनमग्निश्चेति ततः स्ववचनविरोधः, तद्भावनार्थं तदर्थसंवादिनीं स्मृतिं ज्ञापकमाह-काशृ दीप्तौ काशतेरौणादिके कर्तृवाचिनि थन्प्रत्यये काष्ठमिति रूपसिद्धेरित्यस्माद्धेतोरशेषविरोधः—तथादृष्टत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, लोकेन रूढत्वाद्रूढिविरोधः, एवमनुमितत्वादनुमानविरोधः, तथाऽभ्युपगमादभ्युपगमविरोध इति, किं दारुण्यपि शक्यमित्थं भावयितुम्? दाणू दाने, देङ् रक्षणे, दोऽवखण्डने, दैप् शोधने इत्येतेषां चतुर्णामन्यतमस्य रुप्रत्ययान्तस्य दार्विति रूपसिद्धेः, को हि नाम शक्यं न शक्नुयाद्वक्तुम्, शोधनावखण्डनार्थस्तावत् सिद्धमेव, दह भस्मीकरणे एकार्थत्वात्, तथापि दानरक्षणार्थयोरसम्भवात्तदर्थदारुत्वमुदाहरणं तन्नोदाहरणत्वेन विवक्ष्यते, कस्मात्? अनिन्धनत्वादाकाशवत्, दीप्त्यर्थासम्भवाद्दारुशब्दस्याविवक्षितत्वाददोषोऽत्र गगनाविवक्षावत् ।

किञ्चान्यत्—

सहासहभवनद्वयमपि द्विष्ठमतो यद्येकमथ नाना सर्वथाऽप्येकमन्यदिति वा न शक्यते वक्तुम्, अथापि कथञ्चिदभ्युपगम्यापि काष्ठाग्न्योरन्यत्वं त्वन्मत्या यदन्यत् तदन्यदेवेति न वक्तव्यमन्यत्वात्, हस्ताद्यन्यानन्यदेवदत्तवत्, चक्षुरादिव्यपदेशविशिष्टरूपाद्यात्मकघटवत्,

---

तथा च काशनं दीपनमङ्गनमिति पर्याया इति काष्ठस्याग्नित्वसिद्धौ काष्ठमनग्नीति वचनं परस्परविरुद्धम्, तस्य काष्ठमिति वदन् पुनरनग्नीत्युच्यत इति स्ववचनविरोध इत्याह-**काशनादिति**। एवमिन्धनमनग्नीति वचनमपि तस्य दारुणो दीप्त्यर्थकधातुनिष्पन्नेन्धनशब्दवाच्यत्वं वदन्नग्नित्वाभिधानं स्ववचनविरुद्धमेवेत्याह-**तथेन्धनमिति** । स्ववचनविरोधमेवाह-**यस्मात् काष्ठमिति** अग्निकाष्ठेन्धनानां दीप्त्यर्थत्वाव्यभिचारादेकार्थत्वं तत्र काष्ठेन्धनत्वं वदन् अग्नित्वनिषेधं ब्रूयात्तर्हि स्ववचनेन विरोधः स्यादिति भावः। तत्र पर्यायत्वे संवादिस्मृतिं ज्ञापयति-**काशृ दीप्ताविति,** काशृ दीप्ताविति काशृधातोरौणादिके 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' इति थन् प्रत्ययेन काष्ठमिति रूपं सिद्ध्यति, एवञ्च काष्ठमनग्नीत्युक्तौ प्रत्यक्षादि सर्वे विरोधा भवन्तीति भावः । विरोधानेवाह—**तथा दृष्टत्वादिति** दीप्यमानकाष्ठस्येन्धनाग्नित्वेन दृष्टत्वात् प्रत्यक्षविरोध इत्यर्थः । काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इति लोके रूढत्वाल्लोकविरोध इत्याह-**लोकेनेति**। अनुमानाभ्युपगमविरोधौ दर्शयति-**एवमिति,** काष्ठमिन्धनमितीत्यर्थः । एवं दारुशब्दार्थोऽप्यग्निरिति दर्शयति-**किं दारुण्यपीति** दानरक्षणावखण्डनशोधनार्थेषु वृत्तिभिः दाण् देङ् दो दैप् धातुभिः रुप्रत्ययान्तैर्दारुशब्दस्य सिद्धिरित्याह-**दाण् दान इति**। तत्र दह भस्मीकरण इत्यनेन समानार्थत्वात् शोधनार्थावखण्डनार्थधातुनिष्पन्नदारुशब्दः काष्ठेन्धनादिशब्दवदुदाहरणं भवति, दानरक्षणार्थकधातुनिष्पन्नदारुशब्दस्त्वाकाशादिवदनुदाहरणम्, दीप्त्यर्थासम्भवेनेन्धनत्वाभावादित्याह-**शोधनेति**। सह भावोऽसहभावश्च द्वयोर्भवति, यदि काष्ठाग्न्योरेकत्वमेकान्तेन यदि वा काष्ठेन सहाग्नेर्नानात्वं सर्वथा सहासहभावो न घटते, पुरुषाद्येककारणमात्राद्वैतवादिनामिव, अदीप्यमानाकाशस्येन्धनत्वाप्राप्तिरिव, एवञ्च तयोरेकत्वमन्यत्वं वा वक्तुं न शक्यत इति न काष्ठेन सहाग्निरन्य इत्याह-**सहासहभवनेति**। व्याख्याति-**सहभवनमिति,** अग्नेः काष्ठनिरूपितैकत्वं काष्ठ-

सम्बन्ध्यन्तरापेक्षविशिष्टपितृत्वादिव्यपदेशात्मकदेवदत्तवच्चैकः, अन्यथा तद्भेदाभावात् भेदास्त एवान्य इति वक्तुमशक्याः, देवदत्तात्मकत्वात् घटाद्यात्मकत्वाच्च..रूपादिक्षणान्तरान्यानन्यपरमाणुवदिति ।

सहासहेत्यादि[1], सहभवनं [असहभवन]मित्येतद्द्वयमपि द्विष्ठमतो यद्येकं काष्ठं, [अग्निना] अग्निर्वा काष्ठेन, अथ नाना सर्वथाऽप्यनयोरन्योऽन्याविनाभाविनोर्भवत्येतत्तु[2], तत्तु द्वयमेकं[इति]अन्यदिति वा न शक्यते वक्तुम्, तस्मान्न तदन्यत्, अथापि कथञ्चिदित्यादि, पूर्ववदभ्युपेत्य त्वन्मत्याऽन्यत्, अन्यदेवेति न वक्तव्यमन्यत्वात्, हस्ताद्यन्यानन्यदेवदत्तवत्, हस्ताङ्गुलिपर्वत्वक्स्कंधपरमाणुरूपरसक्षणिकत्वाद्यन्यत्वेऽपि [यथा] देवदत्त एवैकस्तथाऽ[य]मर्थो गृह्यते, चक्षुरादिव्यपदेशविशिष्टरूपाद्यात्मकघटवत्, सम्बन्ध्यन्तरापेक्षविशिष्टपितृत्वादिव्यपदेशात्मकदेवदत्तवच्च स एवैकः, अन्यथा-तदेकत्वाभावे तद्भेदाभावात् भेदास्त एवान्य इति वक्तुमशक्यः, देवदत्तात्मकत्वात् घटाद्यात्मकत्वाच्च, तत्प्रतिपादनोपायप्रदर्शनो ग्रन्थो यावत् रूपादिक्षणान्तरान्यानन्यपरमाणुवदिति भावनोदाहरणं भावितार्थमेवमन्यत्रापि घटादौ भावयितव्यमिति ।

अत्राह—

अभावस्तर्हि, अग्न्यनग्नित्वव्यावृत्तेः, खपुष्पवत्, यथा खपुष्पं नाग्निर्नानग्निः, तदेकत्वानेकत्वव्यावृत्तेरसच्च, तथाऽग्नीन्धने स्यातामिति, ननु भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वान्नास्तीत्यप्यवचनीयमेव, यदि दाह्यदाहकत्वलक्षणनियमो न व्यवस्थितः ततोऽग्निरपि दह्येत काष्ठवत्, पच्येत, ओदनवत्, भुज्येत चौदनवदेव, तथेन्धनमपि पृथगेव दहेत् पचेच्चाग्निवदित्यनुभयताऽप्यवक्तव्यैव ।

अभावस्तर्हीत्यादि, ते अग्नीन्धने न स्तः तर्हि, कस्मात्? अग्न्यनग्नित्वव्यावृत्तेः व्यावृत्ताग्न्यनिरूपितनानात्वं वा भवत्विति भावः । त्वन्मतानुवृत्त्याऽग्निकाष्ठयोरन्यत्वं पर्यायार्थिकदिशाऽभ्युपगम्यापि दोषमादर्शयति-**अथापीति,** यदन्यदित्यभिमतं तदन्यदेवेति न वक्तव्यम्, अन्यत्वात्, यत्र यत्रान्यत्व तत्र तत्रान्यदिति न वक्तव्यमेव दृष्टम्, यथा हस्तपादाद्यवयवादन्य इत्यभिमतोऽपि देवदत्तः स्वयमनन्यत्वादन्य एवेति न वक्तव्य एवमग्निकाष्ठावपीति भावः। एवं हस्तोऽप्यन्य एवेति न वक्तव्यः, अन्यत्वात्, पर्वाद्यन्यानन्याङ्गुलिवत्, अङ्गुलिरप्यन्य इति न वक्तव्यः, अन्यत्वात्, त्वगाद्यन्यानन्यपर्ववत्, पर्वाप्यन्य इति न वक्तव्यम्, परमाण्वन्यानन्यत्वक्स्कन्धवत्, त्वक्स्कन्धोऽप्यन्य इति न वक्तव्यः रूपाद्यन्यानन्यपरमाणुवदिति अन्य इत्यवक्तव्यत्वसिद्धिर्बोध्या । अन्य एवेत्यवक्तव्यत्वे निदर्शनान्तरमाह-**चक्षुरादिव्यपदेशेति,** यथैक एव घटः चक्षुर्विषयतामासाद्य रूपमिति व्यपदिश्यते रसनाविषयतामाप्य रस इति घ्राणविषयतामुपेत्य गन्ध इति त्वग्विषयतामुपेत्य स्पर्श इति, एकोऽपि च चक्षुरादिव्यपदेशविषयतापेक्षयाऽन्यः, अतोऽन्य एवेत्यवक्तव्यस्तद्वदित्यर्थः । अपरं निदर्शनमाह-**सम्बन्ध्यन्तरेति,** यथैक एव पुरुषः पुत्रापेक्षया पितेति भ्रात्रन्तरापेक्षया भ्रातेति दौहित्रापेक्षया मातुल इत्येवमेकोऽपि तत्तत्सम्बन्ध्यपेक्षया नानाव्यपदेशभाग्भवति तद्वदिति भावः । विपक्षे घटदेवदत्तादेरेकत्वाभावे तस्य भेदाभावात्ते भेदा अन्ये इति वक्तुमशक्याः, देवदत्तस्वरूपादनन्यत्वात्, घटादेरूपादेरनन्यत्वाच्चेत्याह-**तदेकत्वाभाव इति ।** अन्यदित्यवक्तव्यत्वप्रतिपादनोपायः प्राक् प्रदर्शित एवेति तद्ग्रन्थो भावितार्थ इत्याह-**तत्प्रतिपादनोपायेति,** अवक्तव्यत्वप्रतिपादनोपायेत्यर्थः । एवन्तर्हि तस्याग्नित्वमनग्नित्वमपि नास्ति ततश्चानुभयत्वं स्यादित्याह-**अभावस्तर्हीति ।** हेतुमाह- **अग्न्यनग्नित्वव्यावृत्तेरिति,** एकत्वेऽनग्नित्वव्यावृत्तिः, अन्यत्वेऽग्नित्वव्यावृत्तिरिन्धनस्य स्यादिति भावः । हेतुं समीकरोति-**व्यावृत्तेति,** इन्धनाग्न्योरेकत्वे इन्धनमग्निरेव स्यात्, दहनैकत्वादितीन्धनत्वव्यावृत्ताग्नित्वं

१ सि. क्ष. छा. डे. सहासेत्यादि । २ सि. क्ष. छा. डे. °वत्येतनु तत्तु० ।

नग्नित्वादित्यत एकत्वेऽग्निरेवेन्धनमन्यत्वेऽनग्निः, तथेन्धन[ा]निन्धनत्वव्यावृत्तेरित्यपि भवति हेतुः, तत्पर्यायार्थत्वात्, खपुष्पवत्-यथा खपुष्पं नाग्निर्नानग्निः, तदेकत्वानेकत्वव्यावृत्तेरसच्च तथाऽग्नीन्धने स्याताम्-उभयमपि नेत्यर्थः, अत्र वयं ब्रूमः, ननु भिन्नेत्यादि, एतदप्यनुभयत्वं न वचनीयम्, कस्मात्? भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वात्, भिन्नं-विविक्तमसङ्कीर्णं व्यवस्थानं-काष्ठमेवेदं दाह्यशैत्यादिलक्षणमग्निरेवायमौष्ण्यदाहकादिलक्षण इति तदेव व्यवस्थानं चिह्नं लक्षणमस्योभयस्य तद्भावाद्भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वात्, संवृत्तिसन् घटपटवन्नानुभयत्वम्, तस्माल्लक्षणसद्भावान्नास्तीत्यप्यवचनीयमेव, स्यान्मतं दाह्यदहनलक्षणत्वासिद्धिस्तल्लक्ष्यधर्म्यसिद्धेरित्येतच्च न, यस्मात् सिद्धं सत्त्वं धर्मधर्मिणोरिति, तत्प्र[सा]धनार्थमाह-यदि[दा]ह्यदाहकत्वेत्यादि, यदि काष्ठं दारु दाह्यमेव दाहकोऽग्निरेवेति लक्षणनियमो न स्यात्तयोर्व्यवस्थितः ततोऽग्निरपि दह्येत काष्ठवत्, पच्येतौदनवत् पाचकत्वलक्षणाव्यवस्थानात् पाक्यत्वात्, ततो भुज्येत चौदनवदेवं[3], पृथगनिष्टञ्चैतत्, तस्माद्व्यवस्थितं पाचकदाहकत्वादिलक्षणमग्नेः, तथेन्धनमपि दाह्यपाक्यादिव्यवस्थितभिन्नलक्षणं यदि न स्यात् पृथगेव दहेत् विनाप्यग्निना काष्ठतृणादिसंहतं पचेच्चौदनादिकमग्निवदग्नित्वादित्यतो दहनमन्तरेणैव पाकः स्यात्, न तु भवति, तदुपसंहरति–इत्यनुभयताप्यवक्तव्यैवेति ।

अनुभयश्चेन्नास्ति उभयमस्ति तर्हि तच्चोभयं भिन्नव्यवस्थानवृत्तमपि, एवं नाभ्युपगम्यते ततो सर्वात्मकैकनित्यकालाद्यन्यतमभावतत्त्वमसन्निरुपाख्यं चेत्येतदुभयं स्यात्, तच्च न भवति निष्ठितत्वादेषां पक्षाणाम्, अनुभयत्वप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेन्न, अन्यत्वावक्तव्यत्वात्,

---

प्राप्तम्, अन्यत्वे इन्धनमनग्निरेव स्यात्, अन्यत्वादित्यग्निर्व्यावृत्तानग्नित्वं तथा च प्रवृत्त्यभावादसत्त्वं प्राप्तमिति भावः । एवं व्यावृत्तेन्धनानिन्धनत्वादित्यपि हेतुः शक्यो वक्तुम्, अग्नीन्धनयोः पर्यायत्वात्, हेत्वोरपि पर्यायार्थत्वादित्याह–**तथेन्धनेति,** व्यावृत्तेन्धनानिन्धनत्वादित्यर्थः, एकत्वे इन्धनमेवाग्निरन्यत्वेऽनिन्धनमिति भाव. । दृष्टान्तमाह–**खपुष्पवदिति** । घटयति–**यथेति,** यथा खपुष्पं नैकमतो नाग्निः, नानेकमतश्च नानग्निरेवञ्चासत् तथाऽग्नीन्धनयोरेकत्वव्यावृत्त्याऽग्नित्वव्यावृत्तिरनेकत्वव्यावृत्त्याऽनग्नित्वव्यावृत्तिस्तस्मादुभयमपि नेति भावः । अग्नीन्धनयोरनुभयत्वमप्यवचनीयमेव, उभयत्वव्यवस्थापकलक्षणसद्भावादित्याशयेनाह–**ननु भिन्नेत्यादीति** । हेतुं व्याचष्टे–**भिन्नं विविक्तमिति** । दाह्यमनुष्णस्वभावं काष्ठं भवतीति काष्ठलक्षणम्, दाहक उष्णस्वभावोऽग्निरित्यग्निलक्षणं लक्षणप्रमाणाभ्याञ्च वस्तुसिद्धिः, भिन्नभिन्नलक्षणत्वाच्च काष्ठमग्निश्चेत्युभयं सिद्ध्यति, न तु कल्पनया सद्भावमापन्नयोर्घटपटयोरिवेत्याह–**काष्ठमेवेदमिति,** एवञ्च लक्षणस्य व्यवस्थापकस्य सद्भावेनोभयोरस्तित्वे कथं नास्तीति वक्तव्यं स्यादिति भावः । ननु वस्तुसिद्धौ हि असङ्कीर्णव्यवहाराय लक्षणमपेक्षणीयम्, यतो हि लक्षणं धर्मविशेषः, आश्रयसिद्धौ चायमस्यासाधारणो धर्म इति वक्तुं शक्यते, यदा चैकत्वनानात्वव्यावृत्त्या वस्तुन एवाभावस्तदा कस्येदं लक्षणं स्यादित्याशङ्कते–**स्यान्मतमिति** । धर्मधर्मिणोर्न सत्त्वमसिद्धम्; दाह्यत्वदाहकत्वयोर्लक्षणयोर्व्यवस्थितत्वादिदमेव दाह्यं न दाहकम्, इदमेव च दाहकं न दाह्यमिति हि व्यवस्थितिः, काष्ठस्य दाह्यत्वमेव न दाहकत्वमग्नेर्दाहकत्वमेव न दाह्यत्वम्, यदि धर्मावेतौ क्वचिद्व्यवस्थितौ न स्यातां तर्हि दाह्यमग्निरपि स्यात् काष्ठमिव, पाचकोऽप्यग्निः पच्येत, पाक्यपाचकत्वलक्षणयोरप्यनवस्थितत्वात्, ओदनवदेव भुज्येत च, न चैवमतो दाह्यत्वदाहकत्वादिधर्माणां व्यवस्थितधर्मिवृत्तित्वाद्धर्मधर्मिणोः सत्त्वं सिद्धमित्याह–**यदि काष्ठमिति** । यद्यग्निः पाचक एव दाहक एवैवं काष्ठं पाक्यमेव दाह्यमेवेति व्यवस्थितलक्षणं न स्यात्तर्हि विनाप्यग्निमोदनादिकमग्निरिव पचेत्, दहनेन विनापि पाको भवेत्, न चैवमतः पाक्यदाह्यादिलक्षणेन काष्ठं व्यवस्थितमित्याह–**तथेन्धनमपीति** । एवञ्च लक्षणसद्भावादग्नीन्धनयोरनुभयताप्यवक्तव्यैवेत्युपसंहरति–**इत्यनुभयतापीति** । उभयत्वपक्षमाशङ्कते–**अनुभयश्चेदिति** । अनुभयत्वपक्षप्रतिषेधे हि तत्प्रतिपक्षभूत-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °शैलादि° । २ सि. क्ष. छा. डे. पाक्यत्वात् । ३ सि. क्ष. छा. डे. °देकपृथ° ।

अन्यत्वप्रतिषेध एकत्वमिति चेत् न, तस्याप्यवक्तव्यत्वात्, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वप्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति सर्वथाप्यवक्तव्यतैव ।

(अनुभयश्चेदिति) अनुभयश्चेन्नास्त्युभयमस्ति तर्हि, तच्चो[1]भयं भिन्नव्यवस्थानवृत्तमपि, एवं नाभ्युपगम्यते ततो-भिन्नव्यवस्था[2]नवृत्तोभयत्वा[न]भ्युपगमे तु प्राप्तं कीदृगुभयम्? तद्यथा सर्वात्मकैकेत्यादि, एकं सर्वात्मकं नित्यं सर्वगतमनुत्पादव्ययं कालनियतिस्वभावप्रधानपुरुषादीनामन्यतमद्भावतत्त्वमसद[3]पोहनिरुपाख्यमवस्त्वत्यन्तासत् खपुष्पादि चेत्येतदुभयं स्यात्, एकत्वान्यत्वानुभयत्वाभावे गत्यन्तराभावात्, तच्च न भवति निष्ठितत्वादेषां पक्षाणाम्, अनुभयप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेत् स्यान्मतमनुभयमुभयाभावोऽसत्त्वम्, असत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वादुभयं तत्प्रतिपक्षः सती एव द्वे वस्तुनी भवितुमर्हत इति, त[4]न्न, अन्यत्वावक्तव्यत्वात्, एतदुभयत्वमन्यत्वमेव परस्परभिन्नलक्षणे अग्नीन्धने अन्योऽन्यस्मादन्ये इति, तच्च अन्यत्वं विचारितमसदेवेति, तस्मादस्याप्यवक्तव्यत्वम्, असत्त्वादव[5]क्तव्यत्वान्नानुभयत्वप्रतिषेधादुभयत्वम्, अन्यत्वप्रतिषेध एकत्वमिति चेत्-स्यान्मतमन्यत्वप्रतिषेधे तर्ह्येकत्वमेव सिद्ध्यतीत्येतच्च न, तस्याप्यवक्तव्यत्वात् एकत्वस्याप्यसत्त्वस्योपपततैव मयोक्तत्वादवक्तव्यतैव, इत्थमेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रतिषिद्धानि, स्यादाशङ्का-सामान्यविशेषयोरग्नीन्धनयोश्चैकत्वाद्यभावेऽप्यन्यतरप्रधानोपसर्जनतया प्रवृत्तेरस्तु वक्तव्यतैवेत्येतच्चायुक्तम्, एकत्वाद्ययुक्तिवत्तदयुक्तेरिति तदतिदिशन्नाह-एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वप्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति, यस्मादेतयोः सामान्यविशेषयोरप्रवृत्तेरग्नीन्धनयोश्चासत्त्वमेव, एकत्वा-

---

उभयत्वपक्षः प्रसज्यते, अग्नीन्धनोभयञ्च भिन्नव्यवस्थानलक्षणसद्भावमित्याह-**तच्चोभयमिति**। यदि तदुभयं परस्परासङ्कीर्णप्रतिनियतलक्षणं न स्यात्तर्हि तत् कथं भवेदित्याशङ्कते-**एवं नाभ्युपगम्यत इति,** ईदृशोभयत्वानभ्युपगमश्चैकत्वान्यत्वानुभयत्वासम्भवस्योक्तत्वादिति भावः। तयोरेको भावः एकत्वसर्वात्मकत्वनित्यत्वसर्वगतत्वानुत्पादव्ययत्वादिधर्मात्मकः कालो वा नियतिर्वा स्वभावो वा प्रधानं वा पुरुषादि वा स्यात्, अपरश्चासदपोहात्मकं निरुपाख्यं वा वस्तु अत्यन्तासत् खपुष्पादि चेत्युभयं स्यादिति समाधत्ते-**एकं सर्वात्मकमिति,** ईदृशं सदसद्धटितमुभयत्वं ग्राह्यमिति भावः। कथमीदृगेवोभयं वस्तु स्यादित्यत्र हेतुमाह-**एकत्वेति,** एकत्वस्यान्यत्वस्यानुभयत्वस्य चाग्नीन्धनयोः प्रतिषिद्धत्वात्तथाऽभ्युपगन्तुमशक्यतयोक्तगति विनाऽन्यस्या गतेरभावादिति भावः। भवत्वीदृगेवेति, न, तथाविधकालादिभावानां प्राक् प्रतिषिद्धत्वादित्याह-**तच्च न भवतीति**। नन्वनुपदमसद्रूपमनुभयमभावस्तर्हि ते इत्यादिना प्रतिषिद्धम्, तथा चानुभयाभावोऽसदभावः सद्रूप एवेति सदात्मकवस्तुद्वयमेवोभयं भवितुमर्हतीति शङ्कते-**अनुभयेति**। व्याचष्टे-**स्यान्मतमिति**। उभयत्वं ह्यन्यत्वमेव, परस्परभिन्नलक्षणवस्तुविषयत्वात्ते चाग्नीन्धनरूपे वस्तुनी परस्परतोऽन्ये इति वाच्यं, तत्र चान्यत्वमप्रवृत्तेरसदित्युक्तं प्राक्, असत्त्वमभ्युपगम्याप्यन्यदिति न वक्तव्यमित्यपि प्रतिपादितमेव, तथा चासत्त्वादन्यत्वावक्तव्यत्वाच्चानुभयत्वप्रतिषेधे उभयत्वं प्राप्नोतीत्यपि न सुन्दरमिति समाधत्ते-**अन्यत्वावक्तव्यत्वादिति**। अभिप्रायं स्फुटयति-**एतदुभयत्वमिति,** अग्नीन्धनोभयत्वमित्यर्थः। ननु तर्ह्यन्यत्वप्रतिषेधात्तत्प्रतिपक्ष एकत्वं सिद्ध्यतीत्याशङ्कते-**अन्यत्वेति**। एकत्वस्याप्यसत्त्वैकत्वावक्तव्यत्वयोः प्रागुपपादितत्वादित्याह-**तस्यापीति**। तदेवमेकत्वादीनां प्रतिषेधमुपसंहरति-**इत्थमिति**। नन्विन्धनं सामान्यमग्निर्विशेषः, तयोश्चैकत्वान्यत्वाद्यभावेऽपि प्रधानोपसर्जनभावेन प्रवृत्तिसम्भवात्तथाभावेन वक्तव्यता स्यादित्याशङ्कते-**स्यादाशङ्केति**। एकत्वादीनां तयोरसम्भवस्य प्रतिपादनेन प्रधानोपसर्जनभावोऽपि न सम्भवतीत्यतिदेशतो निराकरोति-**एकत्वान्यत्वेति**। तत्कथमित्यत्राह-**यस्मादेतयोरिति,** एतयोः सामान्य-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. तत्त्वोभयं। २ सि. क्ष. छा. डे. स्थानवृत्तो न वृत्तोभ०। ३ सि. क्ष. छा. डे. °सदनीहनिरु०। ४ सि. क्ष. छा. डे. तदनान्यत्वा०। ५ सि. क्ष. छा. डे. °दव्यक्तं व्यत्वाच्चानुभयत्व०।

न्यत्वपक्षयोरिति प्रतिपादितम्, तस्मादनयोरसतोः का प्रधानोपसर्जनता खपुष्पवन्ध्यासुतयोरिव ? सा हि सतोरेव स्वामिभृत्ययोर्दृष्टेति, किञ्चान्यत्वपक्ष एवैषा प्रधानोपसर्जनता युज्यते, स च निषिद्धः, अग्नीन्धनयोश्च प्रवृत्तेरेतावती गतिः स्यात्, यदुतैकत्वं नानात्वमुभयत्वमनुभयत्वमग्न्युपसर्जनमिन्धनप्रधानत्वमिन्धनोपसर्जनमग्निप्रधानत्वमिति, सर्वथा न घटते, तस्मात् सर्वथाप्यवक्तव्यतैवेति दृष्टान्तवर्णनमिदं कृतम् ।

एवं सामान्यविशेषयोस्तावद्यद्येकत्वं विशेषस्य भावेन नान्यत्वं, ततोऽनात्मनो भावस्याप्रवृत्तेरभावतैव स्यात्, न प्रवृत्तिर्भावस्य, एकत्वात्, दग्धेन्धनवत्, ननु यथा विशेष एकैकोऽपि प्रवर्त्तमानो दृष्टस्तथा सूक्ष्मावस्थ एकको भावः प्रवर्त्स्यतीति चेत् को वा ब्रवीति निःसामान्यस्य विशेषस्य प्रवृत्तिम् ? अत एव विशेषत्वात् सन्नेव विशेषीभवति, तदपेक्षत्वाच्च विशेषस्य, रूपं हि रसाद्विशिष्यमाणं सम्बद्धरसमपेक्ष्य विशेषो भवति तथा रसोऽपि नासत् खपुष्पाद्यपेक्ष्य, विशिष्यते स तस्मात्तेन वा स इत्यादिकारकाणामेव कारकत्वात्, अविशिष्यमाणो हि विशेषः विशेष इति निर्देशमेव नार्हेत्, विशिंषन्नन्यमन्येन च विशिष्यमाणः विशेषो भवति, तस्मात् स्थितमिदं सामान्यमेव विशेषः इति, तथा च कुतः पृथक् प्रवृत्तिर्विशेषस्य ? को वाऽऽश्वासो विशेष एकैक एव प्रवर्त्तत इति ।

एवमित्यादि, प्रस्तुतसामान्यविशेषादिदार्ष्टान्तिकवर्णनायोत्तरो ग्रन्थः, सामान्यविशेषयोस्तावत् तद्यथा-यद्येकत्वं विशेषस्य-घटादेर्भावेन-अन्वयेन पृथिव्यादिना, किमुक्तं भवति ? सामान्यमेव निर्विशेषं भवत्येकमिति, अतस्तत्प्रदर्शनार्थमाह-नान्यत्वमिति, ततः-किं ? ततोऽनात्मनो भावस्य-अश्मसिकतामृल्लोष्टवज्रादिघटादिविशेषात्मलाभरहितस्यानात्मत्वं पृथिव्यादेः सामान्यस्य, अनात्मत्वाच्च खरविषाणवदप्रवृत्तिः, अप्रवृ-

---

विशेषयोरग्नीन्धनयोरेकत्वेऽन्यत्वे चाप्रवृत्तेरसत्त्वं प्रतिपादितमेवेति तयोरभावादेव प्रधानोपसर्जनभावो निर्विषय एव खपुष्पवन्ध्यापुत्रयोः प्रधानोपसर्जनभावस्येवेत्यर्थः । विद्यमानयोरेव स्वामिभृत्ययोः प्रधानोपसर्जनभावो दृष्ट इत्याह-**सा हीति,** प्रधानोपसर्जनता हीत्यर्थः, अग्नीन्धनयोरेकत्वपक्षे प्रधानोपसर्जनता न स्यादेव, अपि त्वन्यत्वपक्षे सम्भवेत्, सा च न सम्भवतीत्युक्तमेवेत्याह-**किञ्चान्यत्वपक्ष इति ।** एवञ्चाग्नीन्धनयोः यदि प्रवृत्तिः स्यात्तदैकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वाग्न्युपसर्जनेन्धनप्रधानत्वेन्धनोपसर्जनाग्निप्रधानत्वान्यतमरूपेण गतिः सम्भवेत्, सा च सर्वथा न घटत इति सर्वथाप्यवक्तव्यतैवेत्यवचनीयं वस्तुतत्त्वं भवतीति प्रतिपादनार्थं सामान्यविशेषयोरेकत्वादिविचारे दृष्टान्ततयोद्भाविमग्नीन्धनोदाहरणवर्णनं पर्यवसन्नमित्युपसंहरति-**अग्नीन्धनयोश्चेति ।** अथ दार्ष्टान्तिकं व्यावर्णयति-**एवं सामान्यविशेषयोरिति ।** अथ किंविषय उत्तरो ग्रन्थ इत्यत्राह-**प्रस्तुतेति,** एतन्नयेन विचार्यतयोपन्यस्तेत्यर्थः । सामान्यविशेषयोरेकत्वविचारे यदि विशेषनिरूपितैकत्वं सामान्यस्येति सामान्यवादिपक्षमुद्भावयति-**यद्येकत्वमिति,** अत्र 'यद्येकत्वं विशेषेण घटादिना भावस्यान्वयस्य पृथिव्यादेः' इति पाठः समीचीन इति भाति, उक्तपाठेन तु सहार्थयोगेऽप्रधानतृतीयायुतस्य भावस्याप्राधान्यं विशेषस्य प्राधान्यं स्यात्तथा चेदमुक्तं भवति सामान्यमेव निर्विशेषं भवत्येकमितीति ग्रन्थेन सामान्यप्राधान्यज्ञापकेन विरोधः स्यादिति चिन्त्यं सुधीभिः । घटादिविशेषनिरूपितैकत्वं पृथिव्यादिसामान्यस्येत्यर्थः । ततश्च किमुक्तं भवतीत्यत्राह-**सामान्यमेवेति,** अप्रधानस्य विशेषस्य प्रधाने सामान्येऽन्तर्निविष्टतयाऽप्रतिभासनात् सामान्यमेवैकं भवति नान्यत्वं-विशेषो भवतीत्युक्तं भवतीति भावः । तदा विशेषवादी दोषमाचष्टे-**ततोऽनात्मन इति,** यदि सामान्य-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. नान्यत्रेति ।

त्तेरभावतैव स्यात्, खरविषाणवदेव, तत् साधनेन दर्शयति-न प्रवृत्तिरिति गतार्थम्, ननु यथेन्धनमित्यादि स एव ननु यथा विशेष एकैकोऽपीत्यादि पूर्वपक्षः, किन्तु रूपादियुगपद्भाविपर्यायविशेषवादिनं प्रतिषिद्धमुदाहृत्य भाववादित्वन्मते तत्प्रवृत्तिवन्मन्मते सूक्ष्मावस्थ एकको भावः प्रवर्त्स्यतीति ब्रूयात्, अत्रावक्तव्यवादी तन्मतेनोत्तरं ब्रूते-को वा ब्रवीतीत्यादि, निःसामान्यविशेषप्रवृत्त्यभावोपपादनेन दृष्टान्तासिद्धिं वर्णयति-अत एव विशेषत्वात् सन्नेव विशेषीभवति-सामान्यमेव नासत् खपुष्पादीत्यर्थः, तदपेक्षत्वाच्चेति-रूपं रसाद्विशिष्यमाणं सम्बन्धरसमपेक्ष्य विशेषो भवति तथा रसोऽपि रूपं रसो घटो वाऽन्योऽन्यम्, नासत् खपुष्पमपेक्ष्येति, तद्दर्शयति कारकव्याख्यया विशिष्यते स तस्मात्तेन वा स इत्यादिना कारकत्रये दर्शिते सम्भवीन्यन्यान्यपि कारकाण्यूह्यानीत्यादिग्रहणम्, अविशिष्यमाण[1] इत्यादि, यदि भावेन रहितो विशेपस्ततो विशेष इति निर्देशमेव नार्हेत् विशिंषन्नन्यमन्येन च विशिष्यमाणो विशेषो भवति, व्यापारावेशादेव कारकाणां कर्त्रादीनां कारकत्वात्, विशेषक्रियावेशाभावे ह्यविशेष एव स्यादिति, तस्मात् स्थितमिदं सामान्यमेव विशेषः-सामान्यापेक्ष एवेति, तथा च कुतः पृथक् प्रवृत्तिर्विशेषस्य सामान्याविनाभावात्, को वाऽऽश्वासः-न मनोरथोऽपि करणीयो रूपं रसो वा घटपटादिर्वा विशेष एकैक एव प्रवर्त्तत इति, त्वन्मनोरथानुवृत्त्या[2] संवृतिसत्त्वेनाभ्युपगतयोर्घटपटयोरिवान्यत्वप्रतिपत्तेर्निमित्तभूतयोरिति[3] स्वप्नेऽप्येवं मा मंस्था इत्यभिप्रायः ।

मेवैकं भवति तर्हि पृथिव्यादिसामान्यस्यानात्मता प्रसज्यते, अश्मसिकतादिविशेषरूपेणात्मलाभाभावात्, अनात्मनश्च खरविषाणवदप्रवृत्तेरभावतैव स्यादिति भावः । अप्रवृत्तित्वमेवानुमानेनाह-**न प्रवृत्तिरिति,** न प्रवर्त्तेत सामान्यम्, एकत्वात्, दग्धेन्धनवदिति मानम् । पूर्वोदितग्रन्थमत्रार्थेऽतिदिशति-**नन्विति ।** तद्व्याचष्टे-**ननु यथेति,** विशेषवादो यद्यपि प्रतिषिद्धस्तथापि तन्मते सामान्याभावेऽपि विशेष एवैकः प्रवर्त्तते तथा मन्मतेऽपि सूक्ष्मावस्थां सामान्यं प्रवर्त्स्यति को दोषो जगद्वैचित्र्यलक्षणकार्येण सामान्यस्य प्रवृत्तेरनुमेयत्वात् सूक्ष्मावस्थ इत्युक्तमिति भावः । मतमिदमवक्तव्यवादी निराचष्टे-**को वा ब्रवीतीति,** विशेषवादिमतानुसारेण समाधिरियम्, सामान्यरहितस्य विशेषस्य प्रवृत्तिरेव नास्माभिरभ्युपगम्यते येन तन्निदर्शनं भवेत्, सामान्यरहितविशेषप्रवृत्त्यसम्भवरूपविशेषत्वादेव सन्नेव विशेषो भवति, नासन् खपुष्पादिरिति भावः । कस्माद्विशेषो भवतीत्यत्राह-**तदपेक्षत्वाच्चेति,** सदपेक्षत्वादित्यर्थः, यतः सन्नेव विशेषो भवतीति सदपेक्ष्यते नासत् खपुष्पादि, यतश्च स विशेषो विशिष्यमाणत्वाद्भवति, यथा रूपं रसादिभ्यो विशिष्यमाणं तदपेक्षया विशेषो भवति सदेव, रसो वा रूपादिभ्यो विशिष्यमाणो विशेषो भवति सन्नेव, तस्मात् सामान्यमेव विशेषो भवति, न तु निःसामान्यस्य प्रवृत्तिरिति भावः । कारकव्याख्याप्रदर्शनेन उक्तं द्रढयति-**विशिष्यत इति,** विशिष्यते स, तस्मात्स विशिष्यते, तेन स विशिष्यत इति कर्मापादानकर्तृकारकनिदर्शनानि, अन्यकारकसम्भवे तदपि विज्ञेयमिति भावः । **अविशिष्यमाण इत्यादीति,** यो विशिष्यते विशेषणक्रियाश्रयो भवति स विशेषो, विशिष्यमाणो व्यावृत्तो भवति विशिष्यमाणो हि सन्नेव, रसाद्यन्यं विशिंषन् रूपादिः रसादिना वा विशिष्यमाणो विशेषो भवति, तस्माद्विशिष्यमाणभावस्याभावे यो येन यस्माद्वा विशिष्यते तथाविधभावस्याभावे विशेषणक्रियाभावे च स विशेष एव न स्यात् खपुष्पादिरिवेति भावः । करोति व्यापिपर्त्ति इति व्यापारविशिष्टस्यैव कर्त्रादीनां कारकता न तु निर्व्यापाराणाम्, तस्माद्विशिंषन्नेव विशेषो न तु क्रियाविहीन इत्याह-**व्यापारावेशादेवेति ।** सामान्यमेव सामान्यापेक्षो विशेषो भवतीत्युपसंहरति-**तस्मादिति ।** एवञ्च विशेषस्य सामान्यानन्तरीयकत्वात्तद्रहितविशेषस्य शशशृङ्गायमाणत्वाद्विशेष एव केवलं प्रवर्त्तते रूपादिर्घटादिर्वेति स्वप्नेऽपि न विचिन्त्यमित्याह-**तथा च कुत इति ।** यथा त्वया सामान्यमात्रवादिनाऽन्यत्वप्रतिपत्तेर्निमित्तं संवृतिसत्त्वेनाभ्युपगतो घटपटादिरेवेष्यते न तु वस्तुभूतः, तथैवास्माभिः सामान्यमभ्युपगम्यत इति स्वप्नेऽपि मा मंस्था इत्यभिप्रायं विशेषवादिनो दर्शयति-**त्वन्मनोरथानुवृत्त्येति ।** नन्वनुपजात-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. अविशिष्यमाणेत्यादि० । २ छा. त्वन्मतेरनु० । ३ सि. क्ष. छा. डे. निमित्तभूतमिति ।

सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिदिगप्यवयवावयविविशेषसामान्यकारणकार्याणां भेदे सिद्धे स्यान्नान्यथा, प्रधानावस्था हि सूक्ष्मा महदादिविषयस्थूलापेक्षैव ते चाऽवस्थे परस्परापेक्षे परस्परमन्तरेण न भवतः, एतच्च सूक्ष्मावस्थोक्त्यैव त्वयाऽभ्युपगतं भवति, तद्व्यतिरेकेणाव्यवस्थानात्, तथा च तदनुपपत्तिरभावत्वापत्त्यभ्युपगमात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादवस्थयोः ततश्च तेऽभ्युपगमहानिः ।

सूक्ष्मावस्थेत्यादि, यापि प्राप्तिदिक् काचित् त्वयोन्नीयते केनचिन्नयान्तरेण सूक्ष्मावस्थो भावो विशेषरहितस्तिष्ठतीति साप्यवयवानामवयविनो विशेषाणां सामान्यात् कारणात् कार्याणां भेदे सिद्धे स्यादिति संभाव्येत, नान्यथा, प्रधानावस्था हि सूक्ष्मा-सत्त्वरजस्तमसां समता, सा महदादिविषयस्थूलावस्थापेक्षैव, त एव गुणाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च, ते चाऽवस्थे[1] परस्परापेक्षे सर्पस्फटाटोपकुटिलगतिस्थितिकुण्डलकीभवनादिवत् सर्पमन्तरेण न ते विशेषा भावं न ताननन्तरेण स इति, एतच्च सूक्ष्मावस्थोक्त्यैव त्वयाऽभ्युपगतं भवति, स च सूक्ष्मताभावो[2] बाल्युवमध्यमस्थविराद्यवस्थाविशेष एव भवति, तद्व्यतिरेकेणाव्यवस्थानात्, तथा च तदनुपपत्तिः-एवञ्च सति भावस्यान्वयाख्यस्य भावत्वानुपपत्तिः, अभावत्वापत्त्यभ्युपगमात् कस्मात्? प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादवस्थयोः-सूक्ष्मस्थूलयोः, यथा घटः प्रागभूत्वा[3] भवति भूत्वा[4] च न भवतीत्यभावात्मकत्वादसन्नेव प्राक् पश्चाच्च, एवमसूक्ष्मः सूक्ष्मो भवति पुनश्च न भवति तथाऽस्थूलोऽपीत्यभाववादित्वमापन्नं भाववादिनस्तेऽभ्युपगमहानिश्च ।

विशेषावस्थतयाऽवस्थितं सामान्यं सूक्ष्मावस्थं सामान्यमुच्यत इति केनचिन्नयेन द्रव्यार्थिकविशेषेण त्वया स्वीक्रियते तदनुचितमित्याह-**सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिदिगपीति** । व्याचष्टे-**यापीति,** प्राप्तेः-सूक्ष्मावस्थाप्राप्तेर्भावस्य सामान्यस्य दिक्-सूचनमुन्नीयते सूक्ष्मावस्थो भावो विशेषरहितः तिष्ठतीत्यर्थः एवमुन्नयनं तदा स्याद्यदा सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोः कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो नान्यथेति समाधत्ते-**साप्यवयवानामिति,** अवयविनः सामान्यात् कारणादवयवानां विशेषाणां कार्याणाञ्च भेदे प्रमाणविषयीभूते सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिः सम्भाव्येत, अन्यथा त्ववयव्यादीनामवयवाद्यविनाभावात्तदवस्था दुर्लभैवेति भावः । **प्रधानावस्था हीति,** त्वया प्रधानावस्था-कारणावस्था सूक्ष्मावस्थेत्यभ्युपगम्यते सा चावस्था सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यरूपा, तस्याः सूक्ष्मता च महदादिविकारनिष्ठस्थूलतानिरूपितैव महदादयश्च गुणानां वैषम्यम्, एवञ्च गुणेष्वेव स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वञ्चाऽऽस्ते, ते च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे परस्परापेक्षे, अतो नैकमन्तरेणापरस्य सम्भवः यथा सर्पमन्तरेण तदवस्थाः स्फटाटोपादयः ता अवस्था विना वा सर्पो न भवितुमर्हति तथा विशेषं विना सामान्यस्य सामान्यं विना वा विशेषस्य न सम्भव इत्यनुपजातविशेषावस्थारूपसूक्ष्मावस्थानुपपत्तिरिति भावः । परस्पराविनाभावस्त्वयाप्यभ्युपगत एवेत्याह-**स च सूक्ष्मताभाव इति,** अवस्थाविशेष एव भावस्यायम्, अवस्थाविशेषव्यतिरेकेण भावस्यावस्थानं न सम्भवतीति भावः । एवञ्च स्थूलसूक्ष्मावस्थावद्भावाभ्युपगमे तद्भावस्य भावत्वमेव व्याहन्यत इत्याह-**तथा चेति** । भावत्वानुपपत्तौ हेतुमाह-**अभावत्वापत्त्यभ्युपगमादिति,** स्थूलसूक्ष्मावस्थाभ्युपगमेऽन्वयाख्यो भावोऽभाव एवेत्यभावत्वाभ्युपगमप्रसङ्ग इति भावः । तत्कथमित्यत्राह-**प्रागभावेति,** प्रागभावः सूक्ष्मता, प्रध्वंसाभावः स्थूलतेति ते अवस्थे अभावात्मिके, घटात्मको भावो हि प्रागभूत्वा भवति, स च प्रागभावस्तस्य सूक्ष्मता, सूक्ष्मताया विनाश एव स्थूलता, अतो घटः प्राक् सम्प्रत्यप्यभावात्मकः पश्चाद्विनश्यन्नप्यभावरूप एवेत्यभावात्मकत्वं भावस्यापन्नम्, अभावात्मकत्वाच्चासन् स्यादिति भावः । असत्त्वमेवाऽऽख्याति-**एवमसूक्ष्म इति,** असूक्ष्मः-सूक्ष्मताविनाशरूपो घटः सूक्ष्मो भवति तिरोहितो भवति, अभावरूपो भवतीति यावत्, पुनश्च न भवति, पुनश्च सूक्ष्मो न भवति-स्थूलो भवति सूक्ष्मताप्रध्वंसरूपो भवतीति भावः । एवं स्थूलावस्थाश्रयेणाह-**तथाऽस्थूलोऽपीति,** अस्थूलः स्थूलो भवति, पुनश्च न भवतीत्युभयथाप्यभावात्मकत्वापत्त्या त्वमभाव-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. तेनावस्थे । २ सि. क्ष. छा. डे. सूक्ष्मतांयान्भावोपालं युव० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °भूतत्वा० । ४ सि. क्ष. छा. डे. भूतत्वा च ।

अथाभावत्वमेव भावस्याभ्युपगच्छसि ततश्च चक्षुरादिलक्षणलक्ष्यारूपाकाशादिविशेषाणां निर्बीजानामुत्पत्तिरसतीति सर्वशास्त्रलोकगतव्यवहाराभावप्रसङ्गः ।

(**अथेति**) अथ मा भूदभ्युपेतहानिरित्यभावत्वमेव भावस्याभ्युपगच्छसि ततश्च चक्षुरादिलक्षणेत्यादि, यद्यसत्त्वं सामान्यस्येष्टं तस्माच्चासतः सामान्यात् चक्षुरादिरूपादीनामाकाशादीनाञ्चावस्थाख्यानां विशेषाणां निर्बीजानामुत्पत्तिरसती, रूपस्य चक्षुर्लक्षणम्, आदिग्रहणात् श्रोत्रत्वक्जिह्वाघ्राणानि शब्दस्पर्शरसगन्धानां लक्षणानि, लक्ष्या रूपादयः शब्दाद्यात्मकानि वाऽऽकाशादिभूतानीत्यादिसर्वशास्त्रलोकगतव्यवहाराभावप्रसङ्गाद्भावस्याभावत्वमपि नाभ्युपगन्तव्यमिति ।

अथोच्येत प्रागग्नीन्धनैकत्वे दोषादिन्धनाग्न्यैकत्वाभ्युपगमवद्यदि भावो विशेषान् व्याप्नोति, न तु विशेषो भावम्, एकदेशवृत्तित्वात् तस्माद्विशेषेण सह सामान्यस्यैकत्वं नास्ति, अस्ति तु विशेषस्य सामान्येन सह, भावोपग्रहान्तर्भावितवृत्तेर्विशेषत्वादिति, एतदेव त्वं पृच्छ्यसे-अथ भेदवृत्तिः कथम्? दृष्टा हि भेदेन वृत्तिर्लोकेऽनयोः, एकत्वेऽनयोश्च विशेषाविशेषवृत्त्योः कोपपत्तिः? ।

अथोच्येतेत्यादि, प्रागग्नीन्धनैकत्वे-अग्नेरिन्धनेन सहैकत्वे दोषादिन्धनस्याग्निना सहैकत्वे दोषाभावं मन्यमानेन यथा परिहारः परेणोच्यते तथेदं भावस्य विशेषेण सहैकत्वे दोषाद्विशेषस्य भावेन सहैकत्वे दोषाभावं मन्यमानः परिहारमाह—तद्यथा—यदि भावः सामान्यं पृथिवीत्यादि घटपटादीन् अश्मसिकतादींश्च विशेषान् व्याप्नोति, न तु विशेषोऽश्मघटादिः भावं पृथिवीत्वं व्याप्नोति, एकदेशवृत्तित्वात्, तस्माद्विशेषेण सह घटेन पटेन वा [सामान्यस्य] पृथिव्या एकत्वं नास्ति, घटस्य त्वस्ति विशेषस्य सामान्येन पृथिव्यादिना भावेन

वाद्येव जातः, तस्मात्ते प्रतिज्ञाहानिः प्राप्तेति भावः। ननु भवतु भावस्याभावत्वम्, तथैव वयमभ्युपगच्छाम इति यद्युच्यते तदाऽप्याह—**अथाभावत्वमेवेति ।** अभावत्वानभ्युपगमे ह्यभ्युपगमहानिः स्यात्, वयन्त्वभावत्वमभ्युपगच्छाम इत्याह—**अथ मा भूदिति ।** दोषमाचष्टे—**ततश्चेति,** अभावस्वरूपाद्भावाद्विशेषाणां सर्वशास्त्रलोकव्यवहारविषयाणामुत्पत्तिर्न स्यात्, निर्बीजत्वात्, प्रकृतेर्हि महान्, महतोऽहङ्कारः, तस्मात् षोडशको गणो भवतीति, षोडशको गणः एकादशेन्द्रियाणि पंचतन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्यश्चाकाशादिपञ्च भूतानि भवन्ति, तत्र चक्षुरादीन्द्रियैः रूपादयो लक्ष्यन्ते, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः आकाशादि भूतानि लक्ष्यन्त इत्यादिनिखिलशास्त्रलोकव्यवहारा न भवन्ति, असतः कस्याप्यनुत्पत्तेरिति भावः। भावं स्फुटयति—**यद्यसत्त्वमिति । चक्षुरादीति,** तत एव प्रत्यक्षविषयताश्रयत्वान्महदादिपरित्यागेनोक्तम् । उपसंहरति—**भावस्येति,** तस्माद्भावस्याभावत्वमभ्युपगन्तुमशक्यमिति भावः । तदेवं भावस्यावस्थारूपताभ्युपगमे प्रोक्तदोषसंभवाद्वादी तत्पक्षं विहायावस्थानां भावरूपतामभ्युपगच्छेच्चेत्तदाप्याह—**अथोच्येतेति।** किमुच्येत वादिनेत्यत्राह—**प्रागग्नीन्धनैकत्व इति,** यथेन्धननिरूपितैकत्वस्याग्नेरभ्युपगमे प्रागपि दग्धेनवदप्रवृत्त्याऽसत्त्वापत्तिदोषादग्निनिरूपितैकत्वमिन्धनस्य स्वीकृतं तथाऽत्रापि भावत्वव्याप्तत्वाद्विशेषाणां तेषामेव भावत्वमभ्युपगच्छामः, तेषां भावनिरूपितैकत्वात्, न तु विशेषनिरूपितैकत्वाद्भावस्य विशेषात्मकत्वम्, विशेषाव्याप्तत्वाद्भावस्य, विशेषाणामेकदेशवृत्तित्वादिति पूर्वपक्षाशयः । **भावस्येति,** विशेषनिरूपितैकत्वे भावस्य प्रोक्तदोषाद्भावनिरूपितैकत्वे विशेषस्य दोषाभावं मन्यमान इत्यर्थः । स्वाभीष्टं विशेषाणां भावव्यापित्वं दर्शयति—**यदि भाव इति ।** अनिष्टं भावस्य विशेषव्यापित्वं निराकरोति—**न तु विशेष इति ।** भावः कुतो न विशेषव्यापीत्यत्र हेतुमाह—**एकदेशवृत्तित्वादिति,** विशेषो हि भावस्यैकदेशः, तस्मान्नैकदेशः परिपूर्णं भावं व्याप्तुं शक्नोतीति भावः । एवञ्च घटपटादिविशेषनिरूपितैकत्वं सामान्यस्य नास्ति, पृथिव्यादिसामान्यनिरूपितैकत्वन्तु घटादिविशेषस्यास्तीत्याह—**तस्माद्विशेषेणेति ।** अत्र हेतुमाह—**भावोपग्रहेति,** भावेन गृहीतः सन् स्वस्मिन् विशेषस्य वर्तनमन्तर्भावयति स्वात्मसात्करोति भावस्याऽऽत्मरूपतामापद्यतेऽतो विशेषः सामान्येनैकत्वं भजते भावाव्यतिरिक्तत्वादिति भावः । व्याचष्टे च—

सह, कस्मात् ? भावोपग्रहान्तर्भावितवृत्तेर्विशेषत्वात् भावस्य-सामान्यस्योपग्रहेण तेनोपगृहीतत्वात् तस्मिन्नन्तर्भाविता वृत्तिर्वर्त्तनमस्तित्वं विशेषस्य भावात्मरूपापन्नत्वात् कारणात् विशेषस्य विशेषत्वं नान्यथा, तस्माद्भावोपग्रहान्तर्भावितवृत्तेर्विशेषत्वाद्विशेषस्य सामान्येन सहैकत्वमस्तु, भावाव्यतिरिक्तात्मत्वात् को दोष इति, एत[दे]व पृच्छ्यते सामान्यविशेषैकत्ववादी सामान्योपलम्भानिवृत्तेः, अथ भेदवृत्तिः कथमिति पूर्ववदेव, दृष्टा भेदेन वृत्तिर्लोकेऽनयोः, तद्यथा—पृथिवीत्यविशेषेण घटपटादिष्वभिन्ना भावस्य, घटः पटो न भवतीति घटपटादेर्भिन्ना विशेषस्य, तेन वृत्ती परस्परविभिन्ने तयोः कोपपत्तिरेकत्वे ?

परस्पररूपतापत्तौ नानात्वकृतायां कस्मान्न समानभूतः सन्नविशेषरूप एव संवृत्तः ? भावो वा विशिष्टत्वाद्विशेषरूपः ?, तदेकत्वात्, दृष्टा चेयं सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदवृत्तिः, विकल्पाच्चैकत्वव्याघातः, एकत्वे कुतोऽयं विशेषः-इदं न सह, इदं सह इति, विशेषणक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च ।

परस्पररूपतापत्तौ नानात्वकृतायामिति, तद्दर्शयत्यनिष्टापादनद्वारेण कस्मान्न समानभूतः सन्नविशेषरूप एव संवृत्तः ? योऽयं घटो रूपादिर्वा विशेषः पटादिभ्यो रसादिभ्यो वा व्यावृत्तोऽपि मृन्मृदेवेत्यव्यावृत्त्या समानभूतः सन् सन् सन् भवति भवति पृथिवी पृथिवीत्येव वा निर्विशेषः कस्मान्न भाववद्भवति ? प्रतिषेधद्वयस्याविशेषानिष्टापादनात्, दृष्टं विशेषं समर्थयति—भावो वा विशिष्टत्वाद्विशेषरूपः, कस्मान्न संवृत्त इति वर्त्तते, तदेकत्वाद्विशेषवत्, मृद्भवनपृथिवीत्वत्यक्तरूपो रूपरसादिविशेष एव कस्मान्न भवति, उभयत्र तदेकत्वादिति हेतुः इतरेतरस्वरूपे दृष्टान्तौ, दृष्टा चेयं सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदवृत्तिः, अनिष्टापादनसाधनञ्च-भावो विशेष एव स्यात्, तदेकत्वात् तत्स्वात्मवत्, विशेषो वा भाव एव

भावस्य सामान्यस्येति । अवक्तव्यत्ववादी सामान्यविशेषयोरेकत्ववादिनं पृच्छति सामान्यवादसम्भविदोषानिवृत्तेः—**एतदेवेति ।** किं तदित्यत्राह—**अथ भेदवृत्तिः कथमितीति,** विशेषस्य भावाव्यतिरिक्तत्वे इतरेतररूपापत्त्या भावस्य भूतत्वेन भवनासम्भवाद्विशेषस्य घटपटादेर्भेदेन वर्त्तनं कथम्, दृष्टं च सामान्यविशेषयोर्भेदेन वर्त्तनं लोके, यथा घटपटादिविशेषेषु पृथिव्यविशेषेणाभिन्ना वर्त्तते, घटस्य पटस्य च पृथिवीत्वात्, घटपटादिविशेषाणान्तु भिन्नं वर्त्तनम्, घटः पटो न भवतीति परस्परं विभिन्नत्वात्, तस्मात् सामान्यविशेषयोरेकत्वे वृत्तौ परस्परविभिन्नता कथमिति भावः । सामान्यविशेषयोरितरेतररूपापत्तौ चानिष्टमाह—**परस्पररूपतापत्ताविति ।** सामान्येन सह विशेषस्यैकत्वादेव परस्पररूपापत्तिरित्याह—**परस्परेति,** विशेषः सामान्येनैकत्वात् समानभूतः, अत एव सामान्यवत् कस्मान्नाविशेषरूप एव सञ्जातः, घटपटादयो विशेषाः परस्परं भिन्ना अपि सामान्यभूतत्वादविशेषरूपेण मृन्मृदिति पृथिवी पृथिवीति वा सन् सन्निति समानभूता भाववत् कुतो निर्विशेषा न भवन्तीति भावः । कस्मान्नाविशेषरूप एवेति नञ्द्वयप्रयोगादविशेषरूपताऽनिष्टेति सूचयतीत्याशयेनाह—**प्रतिषेधद्वयस्येति ।** नाविशेषरूपता विशेषस्य, दृष्टविरोधात्, दृष्टो हि विशेषत्वेन विशेष इत्यत्राह—**दृष्टं विशेषमिति,** यदि विशेषो दृष्ट उच्यते तर्हि भावस्य विशेषात्मकत्वाद्विशिष्टभूतः कुतो न संवृत्तः विशेषवत्, सामान्यस्य विशेषेणैकत्वादिति भावः । भावार्थमाह—**मृद्भवनेति,** मृदादयः स्वासाधारणं रूपं मृत्त्वभवनपृथिवीत्वादि विहाय घटपटादिविशेषाः कस्मान्न सञ्जाताः तदेकत्वादिति भावः । सामान्यत्वे विशेषस्य विशेषत्वे च सामान्यस्य तदेकत्वादित्येक एव हेतुरित्याह—**उभयत्रेति ।** विशेषस्य सामान्यत्वापादने भावस्वरूपं भावस्य विशेषत्वापादने च विशेषस्वरूपं दृष्टान्त इत्याह—**इतरेतरेति ।** न चेष्टापत्तिः सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां भेदेन वृत्तेर्दर्शनादित्याह—**दृष्टा चेयमिति ।** उक्तानिष्टापत्तिमेव प्रयोगेण दर्शयति—**भावो विशेष एवेति ।** एवं सामान्येन साधनं प्रदर्श्य दृष्टान्त-

१ सि. क्ष. छा. डे. °रूपानायत्तौ ।

स्यात्, तदेकत्वात्, स्वात्मवत्, मृत्स्याद्घट एव तदेकत्वात् घटस्वात्मवत्, घटो वा मृदेव स्यात् तदेकत्वात् स्वात्मवत्; किञ्चान्यत्—विकल्पाच्चैकत्वव्याघातः-एकत्वे कुतोऽयं विशेषः-इदं न सह, इदं सह ? इति, भावो विशेषेण सहैको न विशेषो भावेन, विशेषो भावेन सहैको न भावो विशेषेणेत्येतौ विकल्पौ नैकत्वे घटेते, विशेषहेत्वभावात्, अन्यत्व एव च घटेते द्विष्ठ[त्व]ात् सहासहभावस्येति, इतश्च नोपपन्नमेकत्वं भावेन सह विशेषस्य-विशेषणक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तेश्च-विशेषणक्रिया कर्त्तरि विशिंषति समवेता विशेष्ये वा कर्मणि पृथिवीघटादौ वा, एतस्या यथाविवक्षमाधारौ, येन पटादिना विपक्षभूतेन विशिष्यते तत्करणम्, भावस्यैव वा विशेषः, यतो विशिष्यते घटोऽयं पटादिर्न भवतीति सोऽर्थोऽपादानम्, यस्मै विशिष्यते प्रतिपाद्यते स सम्प्रदानं श्रोता इत्येषां कारकाणां क्रियायाश्च विपूर्वशिषिधातुवाच्याया भिन्नार्थनिबंधनत्वादेकत्वे सत्यनुपपत्तिः, दृष्टश्चायं कारकव्यवहारो भेदनिबन्धनः, तस्माद् दृष्टत्वादयुक्तमेकत्वम् ।

अभ्युपेत्याप्येकत्वं[1] न युक्तमेवेति ब्रूमः—

अथापि कथञ्चिदित्यादि पूर्ववद्यावत् परमाणुवदिति, अथ मा भूवन्नेते दोषा इति भावविशेषयोरन्यत्वपक्षोऽभ्युपगम्यते चेत् तत्र तावद्यदि भावस्य विशेषेण सहान्यत्वं तेन तर्हि भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं रूपमाख्येयम्, निर्दिष्टे हि पृथग्भूते रूपेऽन्यत्वं सिद्ध्येत्, शक्यश्च प्रतिपत्तुमयमस्मादन्य इति, यथाऽन्येषामन्येभ्यः पटादिभ्यस्तन्तुत्वम्, न शक्यते च भावस्य विशेषात् पृथग्भूतं तत्त्वं दर्शयितुम्, न ह्यन्यदन्यसाधारणरूपं भवति, तस्माच्छक्यते च ततः पृथग्भूतेन तत्त्वेन निर्देष्टुम्, न तथा विशेषात् पृथग्भूतमसाधारणं भावस्य रूपं शक्यं वक्तुम् । सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां त्वप्रदर्शितपृथिवीघटपटादिनिर्देशवदत्रापि स्यादिति चेदुच्यते न मम किञ्चित् सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां व्यवस्थितमस्ति, त्वन्मतानुवृत्त्या संवृतिघटपटवदित्यैक्यं कर्त्तुमुदाह्रियते, अनिरूप्यमाणस्त्वसन्नापद्यते, अविशेषत्वे सत्यरूपत्वात्, खपुष्पवत् ।

मुखेन पुनर्दर्शयति-**मृत्स्याद्घट एवेति** । विशेषनिरूपितैकत्वं भावस्य, न तु भावनिरूपितैकत्वं विशेषस्य, अथवा भावनिरूपितैकत्वं विशेषस्य न तु विशेषनिरूपितैकत्वं भावस्येति विशिष्टौ विकल्पौ वदतस्तव कुतो नैकत्वं व्याहन्यते, एकत्वे हि विकल्पयोरीदृशोर्वैलक्षण्ये न किमपि साधनं पश्याम इत्याशयेनाह–**विकल्पाच्चेति,** विशिष्टे विकल्पेऽभ्युपगम्यमाने एकत्वं कुतः ? एकत्वे च कुतो विकल्पविशेषः—सामान्यं न विशेषेण सह, विशेषः सामान्येन सहेतीति भावः । विकल्पविशेषश्चान्यत्व एव तयोः स्यादित्याह– **अन्यत्व एव चेति** । भावनिरूपितैकत्वं विशेषस्य यदि स्यात्तर्हि विशेषणक्रियातदाधारतत्करणादीनां प्रतीयमानानामनुपपत्तिः, विशेषणं विशेषो विपूर्वकशिषिधातुना निष्पन्नः, विशेषणक्रिया सा क्वचित् कर्त्तृगता क्वचिच्च कर्मगता, कर्म च पृथिवीघटादि, विवक्षामनुसृत्य क्रियायास्तस्या कर्त्तृकर्मणी आधारौ भवतः, घटादि पटादिना विशिष्यते तस्मात् पटादि करणम्, यस्माद्विशिष्यतेऽयं घट एव न पटादिरिति तदपादानम्, यस्मै विशिष्यते प्रतिपाद्यते स श्रोता सम्प्रदानमित्येवं कारकाणां विशेषणक्रियायाश्च भावविशेषयोरेकत्वे भावस्य विशेषाभावादनुपपत्तिः, उक्तक्रियाधारादीनां भिन्नार्थनिमित्तकत्वात्, कारकव्यवहाराणां भिन्ननिमित्तकत्वस्य दृष्टत्वादित्याशयेनाह-**विशेषणक्रियाधारेति** । तदेव समर्थयति-**विशेषणक्रियेति** । अथ द्रव्यार्थिकनयेनैकत्वमभ्युपेत्यापि पूर्ववत् यदेकमित्यभिमतं तदेकमेवेति न वक्तव्यमेकत्वादेकदेवदत्तहस्ताद्यनेकत्ववदित्येवं सर्वं भाव्यमित्यतिदिशति–**अथापि कथञ्चिदि-**

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °प्येकत्वान्नयु० ।

अथापि कथञ्चिदित्यादि, पूर्ववदेकत्वप्रतिषेधेनावक्तव्यप्रसाधनं तमेव ग्रन्थमतिदिशति पूर्ववत् ावत्परमाणुवदिति सावधिकं सहेतुदृष्टान्तापाद्यावक्तव्यत्वनिष्ठं तुल्यगमत्वात् व्याख्यातार्थमेवेति, एवं ामान्यविशेषयोरेकत्वे दोषा उक्ताः, एतद्दोषभयात् पक्षान्तरं निर्दोषं मन्यमानश्चेत् परो गृह्णीयात् अथ ा भू[1]वन्नेते दोषा इति, किं तत् पक्षान्तरम्? अन्यत्वं भावविशेषयोः, तत्राप्येकत्ववत् द्वयी गतिः, भावस्य वेशेषेण सहान्यत्वं विशेषस्य वा भावेनेति, तत्र तावद्यदि भावस्य विशेषेण सहान्यत्वमभ्युपगम्यते तत ्दमापतितं दोषजातं तेन तर्हीत्यादि, यावत् संवृतिघटपटवदैक्यं कर्त्तुमित्यादि, उपसंहारसाधनं-अनिरूप्यमाण-त्वसन्नापद्यते, अविशे[2]षत्वे सत्यरूपत्वात्, खपुष्पवत्, [अ]विशेषत्वं भावस्य विशेषादत्यन्तमन्यत्वात्, ृथिव्या अश्मसिकताद्य[3]वस्थाविशेषमन्तरेणास्थानात् तदात्मत्वमनिच्छत एकान्तेनाविशेषत्वे सत्यरूपत्वं ावस्य, तदतिरेकेणानिरूप्यरूपत्वात्, तस्मादसत्त्वमापन्नं वस्तुनोऽन्यत्वे पृथग्रूपावश्यंभावात्।

तदाख्यानाशक्यत्वे वा सत्त्वमित्युक्तेऽन्यत्ववादिना—

अथोच्येत रूपं पृथग्भावस्य विशेषादनुप्रवृत्तौ, तथा कुतो विशेषं विना? घटपटाद्यनु-प्रवृत्तिरूपत्वेऽपि पृथग्रूपाख्यानाशक्यत्वात्, यदि स्याद्भावो विशेषरहितस्ततो निरवशेष-वेशेषाभावेऽपि खपुष्पादावनुप्रवृत्तिरूपं स्याद्भावत्वाद्घटादाविव।

(अथोच्येतेति) अथोच्येत रूपं पृथग्भावस्य विशेषाद्व्यावृत्तिरूपादनुप्रवृत्तौ, दृष्टमिति वाक्य-

---

्यादीति। अवक्तव्यत्वसाधनं पूर्वग्रन्थेन तुल्यगमत्वाद्व्याख्यातार्थमेवेत्याह-**पूर्ववदिति,** एकमिति न वक्तव्यमित्येकत्वप्रति-षेधेनावक्तव्यत्वसाधनं बोध्यम्। उपसंहरति-**एवमिति।** एकत्वे भावविशेषयोरुदितदोषप्रसङ्गभयेन तयोरन्यत्वपक्षमुत्थापयति-**एतद्दोषभयादिति।** अन्यत्वपक्षेऽप्येकत्वपक्षवत् किं भावस्य विशेषेण सहान्यत्वम्, किं वा विशेषस्य भावेन सहेति विकल्पद्वयं सम्भवति, तत्र विशेषेण सह भावस्यान्यत्वे दोषमाह-**तत्राप्येकत्ववदिति।** पूर्वग्रन्थमेवात्राप्यतिदिशति-**तेन तर्ही-त्यादीति,** भावविशेषयोरन्यत्वाभ्युपगमेन विशेषाद्भिन्नं रूपं भावस्य वाच्यम्, तदैवायमस्मादनेन रूपेणान्य इति प्रतिपत्तुं शक्यते, तच्च रूपं त्वया न शक्यते दर्शयितुम्, रूपेण ह्यसाधारणेन भाव्यम्, न हि साधारणं रूपं भवितुमर्हति, तेनान्यत्वासिद्धेः, एवञ्च विशेषात् पृथग्भूतमसाधारणं स्वरूपं निर्देष्टुं न शक्यम्, तथा घटः पटाद्विशेषत्वादन्यः, सामान्यत्वात् पृथिव्या अनन्य इति सामान्यविशेषैकत्वनानात्वाभ्यां मत्प्रदर्शितपृथिवीघटपटादिनिर्देशवदत्र निर्देष्टुं न शक्यते, अवक्तव्यवादिनो मम कस्यापि ताभ्यां व्यवस्थानाभावात्, त्वन्मतमनुवृत्त्यापि कल्पनया घटपटाद्यभ्युपगम्य तयोरसाधारणं रूपं यथा निर्देष्टुं शक्यते तथाऽत्र न शक्यते निर्देष्टुमिति प्रतिपादनार्थमेव मया तदुदाहृतम्, तस्मादनिरूप्यो भाव इति भावः। ततश्चोपसंहारभूतं साधनमाह-**अनिरूप्य-माणस्त्विति,** यतो भावोऽनिरूप्यमाणोऽत एव भावोऽसन्, अविशेषत्वे सत्यरूपत्वात् खपुष्पवदिति मानेनासत्त्वमापद्यत इति भावः। विशेषणासिद्धिं निराकरोति-**अविशेषत्वमिति,** विशेषभिन्नत्वं तत्, तच्च भावे विशेषादत्यन्तान्यत्वस्याभ्युपगमात्, तथाऽवस्थाविशेषव्यतिरेकेण कस्यापि वस्तुनोऽनवस्थानेऽपि तथात्वमनिच्छतस्तव भावस्यैकान्तेनाविशेषत्वं सिद्धम्, तथा चाविशेषत्वे सत्यरूपत्वं भावस्य नासिद्धमिति भावः। साधनान्तरमाह-**तदतिरेकेणेति,** भावस्य स्वरूपं विशेषातिरेकेणानिरूपितमेवातोऽप्य-सत्त्वं भावस्यापन्नम्, विशेषस्यान्यत्वे हि भावस्य पृथग्रूपमावश्यकम्, तच्च नास्ति तस्मादसत्त्वमिति भावः। पृथक् स्वरूपस्य वक्तु-मशक्यत्वाच्च भावोऽसन्निति निरूपितेऽन्यत्ववादी पूर्वपक्षयति-**अथोच्येतेति।** व्याचष्टे-**अथोच्येत रूपमिति,** व्यावृत्ति-स्वरूपाद्विशेषाद्भावस्यानुवृत्तौ पृथग्रूपं दृष्टमित्यर्थः। इयं पृथिवीयं पृथिवीत्येवं घटपटाश्मादिष्वनुप्रवृत्तिः सा विशेषमन्तरेण कथं

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °वन्नश्यंदोषा°। २ सि. क्ष. छा. डे. °षत्वेरूपत्वा°। ३ सि. क्ष. छा. डे. °द्यवस्थौवि°।

शेषः, अत्र ब्रूमः तथा कुतो विशेषं ? यदेतद्घटाश्मादिषु पृथिवीत्वानुवृत्तिलक्षणं रूपं तद्विशेषेण विना नैवास्तीति तदवस्थं पृथग्रूपाख्यानाशक्यत्वम्, अभ्युपेत्यानुवृत्त्या निर्विशेषं भावमत्यन्तान्यत्ववादिनस्ते दोषं ब्रूमः-यदि स्याद्भावो विशेषरहितस्ततो निरवशेषविशेषाभावेऽपि खपुष्पादावनुप्रवृत्तिरूपं[1] स्यात्, भावत्वात् घटादाविव, अनिष्टञ्चैतत् ।

अथोच्येतैतद्विशेषप्रधानमन्यत्वं मा भून्नाम, तथापि विशेषस्य सामान्येन सहान्यत्वमस्ति दृष्टत्वात्, दृष्टो हि विशेषो भावविनाभूतोऽपि, यथा भिन्नो घट इति, अत्रोच्यते भावविषय एवैष भेदोपचारः, भिदिक्रियाविशेषणविशिष्टावस्था तु भावस्यैव मृत्पिण्डशिबकादिभवनानुविद्धस्य, नाभावस्य खपुष्पादेः ।

अथोच्येतेत्यादि, उक्तदोषभयात् सामान्यस्य विशेषेण सहान्यत्वमित्येतद्विशेषप्रधानमन्यत्वं[2] मा भून्नाम[3], तथापि विशेषस्य सामान्येन सहान्यत्वमस्ति[4] दृष्टत्वात्, दृष्टो हि विशेषो भावविनाभूतोऽपि, विशेष एव भावरहितः क दृष्ट इति तद्दर्शयति-यथा भिन्नो घट इति, भेदो हि घटस्य प्रध्वंसाभावो विनाशपर्यायः, स च विशेषो भावादत्यन्तविलक्षणो दृष्टश्चातोऽन्यत्वं विशेषस्य भावादिति, अत्रोच्यते-भावविषय एवैष भेदोपचारो भिदिक्रियाविशेषणविशिष्टावस्था[5] तु भावस्यैव घटाख्यस्य, अविच्छिन्नमृत्पिण्डशिवकादिभवनानुविद्धस्योत्पन्ननवमध्यमपुराणविशरणावस्थाक्रमेणावयवसंघातक्रमेण जनितात्मलाभस्य, अयमपि

स्यात् ? न हि भावे एकस्मिन् सा घटते तस्माद्विशेषात् पृथग्रूपमाख्यातुमशक्यमेवेत्याह-**तथा कुतो विशेषमिति,** विनेत्यनेन सम्बद्ध्यते। विशेषरहितानुवृत्तिस्वरूपभावमात्राभ्युपगमे दोषमाह-**यदि स्यादिति,** विशेषादत्यन्तं भिन्नोऽनुप्रवृत्तिस्वरूपो भावो यदि स्यात्तर्हि घटपटादावत्यन्तं भिन्ने पृथिवी पृथिवीत्येवमनुप्रवृत्तिर्यथा भवति तथैवाशेषविशेषविनिर्मुक्ते खपुष्पादावपि पृथिवी पृथिवीत्येवमनुप्रवृत्तिर्भवेत्, न चैषाऽभ्युपगम्यत इति भावः। तदेवं सामान्यनिरूपितान्यत्वे विशेषस्य प्रधानस्य दोषमुपदर्श्य विशेषनिरूपितान्यत्वे सामान्यस्य दोषमभिधातुं शङ्कते-**अथोच्येतेति ।** ननु लोके भिन्नो घट इति व्यवहारो दृष्टः, तत्र भेदो विनाशः प्रध्वंसाभावरूपः, तथाविधो विशेषो भावादत्यन्तं विलक्षणः, विनाशात्मकत्वात्, तस्माद्भावरहितस्यापि विशेषस्य दृष्टत्वात् सामान्येन सहान्यत्वं विशेषस्य स्यादित्याशयं स्फुटीकरोति-**उक्तदोषभयादिति,** पृथग्रूपाख्यानाशक्यत्वादिदोषभयादित्यर्थः। अभ्युपेयमंशमाह-**तथापि विशेषस्येति ।** भावविनाभूतविशेषदर्शनमुपदर्शयति-**दृष्टो हीति ।** निदर्शनमाह-**यथा भिन्नो घट इति ।** व्याकरोति-**भेदो हीति,** भेदः विनाशः प्रध्वंसाभावः, अयं विशेषोऽभावरूपो घटाख्याद्भावादत्यन्तविलक्षणो दृष्ट इत्ययं विशेषो भावविनाभूत इति भावः। घटस्यावस्थाविशेषो भेदशब्देनोपचर्यते, न त्वभाव इत्याशयेन समाधत्ते-**भावविषय इति,** भावविषये एव भेदस्योपचारः, विदारणक्रियाविशिष्टावस्थाविशेषो भावस्य घटादेः, घटो ह्यविच्छेदेन मृत्पिण्डशिवकस्थासककोशकादिभवनेनानुविद्धः उत्पन्नोऽपि नवमध्यमपुराणविशरणावस्थाक्रमेण नवीनो भवति मध्यमो भवति पुराणो भवति विशीर्यते कपालो भवतीत्थमवयवानामुपचयापचयप्रबन्धेनात्मलाभमनुभवत्यनुक्षणम्, एवञ्च तस्य घटस्य यः कपालावस्थाविशेषः स एव भेद इत्युपचर्यते घटो ह्यणुसमूहात्मा, अणवश्च न विनश्वराः केवलं तेषां संघातविशेषेण परिणामेन घट उत्पन्न इति तेषां विसंघातपरिणामेन विनष्ट इत्युपचर्यत इति भावस्यैव भेदोपचारविषयः कपालावस्थालक्षणो विशेष इति न भावविनाभूतो विशेष इति भावः। घटस्याविच्छेदेन भेदनक्रियाविशिष्टा अवस्था दर्शयति-**अविच्छिन्नेति-**घटप्राक्कालीना अवस्था एते। घटस्य वर्तमानकालजा

१ सि. क्ष. छा. डे. °रूपस्याभावत्वात् । २ सि. क्ष. छा. डे. गृहान्य० । ३ सि. क्ष. छा. डे. भूवन्नाम । ४ सि. क्ष. छा डे. सहमन्य० । ५ सि. क्ष. छा. डे. °विशेषेण विशिष्टात्तस्यानुभाविनो भावस्यैव ।

कपालावस्थाविशेषः, तस्माद्विनश्वराण्वादिपुद्गलसङ्घातविसङ्घातविषयपरिणामत्वादुत्पन्नो विनष्ट इत्याद्युपचारो भावस्यैव, नाभावस्य खपुष्पादेः सम्भवति ।

यदि मन्येथाः भावे भेदोपचार इति स भावादन्यत्वे खपुष्पवन्नैव स्यात्, न भिन्न इति उत्पन्न इति वोपचर्येत, अभावत्वात् खपुष्पवत्, अत एव च तत्सिद्धिः, भिन्नसमानाधिकरणस्य मुख्यमूलत्वात्, भिन्नो घट इति घटेन समानाधिकरणो भेदोपचारो गौणो मुख्यं भेदमनुप्रवृत्तिसहचरितमवस्थाविशेषं भावस्यापेक्ष्य विनष्टेऽपि क्रियते, अभिन्न एव वा भावे कपालाद्यवस्थायां भेद उपचर्येत स्तिमितसरःसलिलवदनुत्पादव्ययत्वाद्भावस्य, विशिष्यते विशेष इति सतो विशेषत्वात् तदपेक्षत्वाच्च, पूर्वोक्ताच्च तद्वृत्तित्वाच्च ।

(**यदीति**) यदि मन्येथा भावे भेदोपचार इति स भावादन्यत्वे खपुष्पवन्नैव स्यात्, न भिन्न उत्पन्न इति वोपचर्येत घटः, अभावत्वात् [अ]विशेषत्वात् खपुष्पवत्, किञ्चान्यत्-अत एव तत्सिद्धिः, अवश्यञ्चैतदेवं भावविषय एवैष भेदोपचारः, भेदोपचारादेव भेदसिद्धिः भावादेव वा भेदोपचारसिद्धिः, किं कारणं ? भिन्नसमानाधिकरणस्य मुख्यमूलत्वाद्गौणस्य, भिन्नो घट इति घटेन समानाधिकरणो भेदोपचारो गौणो मुख्यं भेदमनुप्रवृत्तिसहचरितं अवस्थाविशेषं नवतरुणमध्यजीर्णादिकं सर्पस्येव स्फटाटोपकुटिलगतिकुण्डलप्रसृतदीर्घत्वावृत्त्याद्यवस्थाविशेषं भावस्यापेक्ष्य विनष्टेऽपि भिन्न इत्युपचारः क्रियते, गौणस्य मुख्यमूलत्वात्, अभिन्न एव वा भावे कपालाद्यवस्थायां भेद उपचर्येत, स्तिमितसरःसलिलवदनुत्पादव्ययत्वाद्भावस्य पुरुषकालादिकारणमात्रस्य, किञ्च विशिष्यते विशेष इति सतो विशेषत्वात्तदपेक्षत्वाच्च-विशिष्यते

अवस्था दर्शयति **उत्पन्नेति** । अयमपीति-भेदोऽपीत्यर्थः । उत्पादविनाशोपचारमाह-**तस्माद्विनश्वरेति**, अविनश्वराणामण्वादीनां ये पुद्गलास्तेषां संघातविषयपरिणामे उत्पन्न इति विसंघातविषयपरिणामे विनष्ट इत्युपचारः परिणामश्च भावरूपः, तत्रैवोपचारस्य कर्तुं शक्यत्वान्नाभावे खपुष्पादिरूप इति भावः । ननु भावेऽवस्थाविशेषे य उपचर्यते तेन तदन्येनैव भाव्यमिति भावविनाभूतविशेषसिद्धिरित्याशङ्कते-**यदि मन्येथा इति** । उत्तरयति-**स भावादिति**, येनोपचर्यते स यदि भावादन्यः स्यात्तदा स न स्यात् खपुष्पवत्, प्रयोगश्च भिन्न इति उत्पन्न इति वा घटो नोपचर्येतेति दर्शयति-**न भिन्न इति** । नन्वभावत्वं घटस्य कथमित्यत्राह-**अविशेषत्वादिति**, विशेषरहितत्वादित्यर्थः । नन्वसत उपचारो न सम्भवति, भेदोपचारश्च क्रियते, अत एव च भेदो भावात्मा सिद्ध्यतीत्याह-**अत एवेति** । भेदोपचारो भावविषय एव, अभावस्योपचारासंभवात्, भेदोपचारश्च क्रियतेऽतो भेदसिद्धिरित्याह-**अवश्यमिति** । भेदसिद्धौ भेदोपचारः, भेदोपचाराच्च भेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयवारणायाह-**भावादेव वेति**, भेदो यदि भावः मुख्यः स्यात्तदैव तत उपचारो भेदस्य स्यात्, प्रसिद्धस्यैवोपचारविषयत्वादिति भावः । तदेव कारणमाह-**भिन्नेति**, भिन्नं यद्वस्तु तेन समानाधिकरणो यः गौणः स मुख्यमूलः, मुख्यमपेक्ष्यैव भवति मुख्यश्च भेदोऽनुप्रवृत्तिसहचरितोऽवस्थाविशेषः, यथा घटस्योत्पन्नस्य नवत्वतरुणत्वमध्यत्वजीर्णत्वाद्यवस्थाः सर्वास्ववस्थासु घटस्यानुवर्त्तनात्, अनुप्रवृत्तिसहिताः, यदा च घटः कपालावस्थां याति तदा घटस्य ता एव मुख्या भेदरूपा अवस्था अपेक्ष्य भिन्नो घट इत्युपचर्यते, मुख्याभावे उपचारासम्भवादिति भावः । तदेवं रूपान्तरापन्ने भेदोपचारमुपदर्श्य कारणमात्रे उपचारं दर्शयति-**अभिन्न एव वेति**, पूर्वं घटः कपालतां गत इति घट एव नास्ति किन्तु कपाले उपचारः, सम्प्रति कपालावस्थावति भावेऽन्वयरूपेऽनुत्पादव्यये कारणे उपचार इति विशेषः । विशिनष्टीति विशिष्यते इति वा यथाविवक्षं कर्तृकर्मव्युत्पत्त्या विशेषो भावस्यैव, तथा स तस्माद्विशिष्यते तेन वा विशिष्यते तस्मै विशिष्यत इत्येवं भावापेक्षत्वाच्च न भावादन्यो विशेष इत्याह-**किञ्च विशिष्यत इति** । भावा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. भावादभेदो० ।

स तस्मात्तेन वा स इत्यादिनाऽविशिंषन्नविशिष्यमाणो वा न विशेष एव, कारकाणामेव कारकत्वादित्यादिग्रन्थेन पूर्वोक्ताचेत्यतिदिशति, किञ्च, तद्वृत्तित्वाच्च, पूर्वोक्ताचेति वर्त्तते, विशेषवृत्तित्वाद्भावस्य विशेषस्वात्मवन्न विशेषेभ्योऽन्यत्वम् तथा भाववृत्तित्वाद्वा भाव[स्वात्म]वद्विशेषस्य भावान्नान्यत्वं तद्वृत्तित्वञ्चानयोरतीतन्यायेन सुभावितम्, घटपटादिभावानुवृत्तिरूपत्वेऽपि पृथगनिर्देशरूपत्वात् ।

स्यान्मतमन्त्यविशेषस्तु परमाणुष्वन्यप्रत्ययहेतुत्वात् व्यावृत्तिरूप एवेति चेन्न यत्—

भावादन्त्यविशेषस्तु नैव पृथग्भूतः, विशेषत्वात् घटवत्, यदा चायं भावाव्यतिरिक्तो न कदाचिदप्यभावो भवति खपुष्पवत्, ननु यदैव सामान्यमविशेषं तदैवान्यत्वम्, न, अविशेषात् भावस्यात्मलाभाभावादभावत्वापत्तेरुक्तत्वात्, यदपि च भावो विशेषेण सह भवति न विशेषः, विशेषो भावेन सह, न भाव इति सहासहवृत्तिभेद उच्यते, स चासिद्धः, सिद्धे ह्यन्यत्वे सहासहभवनं द्विष्ठत्वात्, तथापि कथञ्चिदन्यत्वमभ्युपगम्यापि त्वन्मत्या यदन्यत् तदन्यदिति न वक्तव्यम्, अन्यत्वात् हस्तादन्यानन्यदेवदत्तवत्, यावद्रूपादिक्षणान्तरान्यानन्यपरमाणुवदिति ।

(भावादिति) भावादन्त्यविशेषस्तु[1] नैव पृथग्भूतः, विशेषत्वाद्घटवत्, यथा घटो विशेषो भावात्मकः तद्वृत्तित्वात् स्वात्मवत् भावादपृथग्भूतः तथाऽन्त्यविशेषोऽपि, तद्व्याचष्टे यदा चायमित्या[दि] न कदाचिदप्यभावो भवति, खपुष्पवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः, भावाव्यतिरिक्तविशेषोपलब्धेर्भावाद्विशेषस्यान्यत्वं व्यावृत्तमतोऽसिद्धमन्यत्वमित्युपनयः, अत्राह—ननु यदैव सामान्यमविशेषं तदैवान्यत्वम्-ननु भावोऽनुवृत्तिलक्षणोऽनिराकृतसर्वघटपटादिविशेषो न क्वचित् कुतश्चिद् व्यावर्त्तते, अतो विशेषात् परस्परव्यावृत्तिलक्षणा-

द्विशेषो यद्यन्यस्तर्हि विशेषणक्रियाधारकरणाद्यनुपपत्तिः कारकाणामेव कारकत्वादित्यादि पूर्वोक्तमप्यत्र भाव्यमित्याह—**कारकाणामेवेति** । पूर्वोक्तं तद्वृत्तित्वमप्यत्र भाव्यमित्याह—**किञ्च तद्वृत्तित्वाच्चेति,** तस्य वृत्तिः तद्वृत्तिः, सैव वा वृत्तिः तद्वृत्तिः, तद्वृत्तिरेव वृत्तिरस्य तद्वृत्तिरिति पूर्वमुक्तम्, भावो न विशेषेभ्योऽन्यः, विशेषवृत्तित्वात्, विशेषस्वात्मवदिति भावधर्मिकः प्रयोगः, विशेषधर्मिकस्तु विशेषो न भावादन्यः, भाववृत्तित्वात्, भावस्वात्मवदिति, भावस्य ह्यात्मा विशेषस्वरूपमेवेति विशेषवृत्तित्वं भावस्य, विशेषश्च भावस्य स्वरूपमिति भाववृत्तिः, विशेषो हि भावोपग्रहान्तर्भावितवृत्तिः, भावेनोपगृहीतत्वात्, भावेऽन्तर्भाविता विशेषस्य वृत्तिरित्यादिभावनाऽत्र विज्ञेया । भावनामेव सूचयति—**तद्वृत्तित्वञ्चेति** । कथं भावितमित्येतत्सूचयति—**घटपटादीति,** घटपटादिषु पृथिवी पृथिवीत्यनुवृत्तिलक्षणं रूपं भावस्य विशेषं विना न सम्भवति, अतः पृथगनिर्देशरूपत्वाद्भावस्य रूपं विशेष इति भावः । ननु नित्यद्रव्यवृत्तिः स्वजातीयेतरभेदानुमापको व्यावृत्तात्मा विशेषो योऽन्त्यविशेष इत्युच्यते स व्यावृत्तिमात्रस्वरूपत्वाद्भावादन्य इत्याशङ्कायामाह-**भावादन्त्यविशेषस्त्विति** । पृथिव्या विशेषो घटादिर्यथा भावान्न पृथग्भूतस्तथा सोऽप्यन्त्यो विशेषो विशेषत्वादेव न भावात् पृथग्भूत इत्याह-**भावादिति** । संघटयति—**यथा घट इति,** घटपटादिषु भावस्यानुवृत्तिरस्ति यथा स्वात्मा भावस्य वृत्तिः स्वरूपं भावादपृथग्भूतं तद्वदिति भावः । वैधर्म्यं दर्शयति—**यदा चायमित्यादीति,** विशेषो भाववृत्तित्वादेव न भावव्यतिरिक्तोऽभावो भवति खपुष्पवत्, एवञ्च विशेषस्योपलब्धिर्भावाव्यतिरिक्ततयैवेति विशेषाद्भावान्यत्वं व्यावृत्तमतोऽन्यत्वमसिद्धमिति भावः । ननु यदा समस्तभेदान् परित्यज्य सद्वस्तुमात्रं पदार्थ इति वैकत्वबुद्धिः प्रवर्त्तते तदाऽविशेषं सामान्यमेव तत्र विषयः कस्यचिदप्यव्यावर्त्तनात्तदैव तत्रान्यत्वमस्तीति नासिद्धमन्यत्वमित्याशङ्कते-**ननु यदैवेति** । अभिप्रायं वर्णयति—**ननु भाव इति,** अनुप्रवृत्तिधर्मरूपो भावः यदाऽनुप्रवृत्तिरूपतयैवापेक्ष्यते, आश्रयभूतघटपटादिविशेषो न विवक्ष्यते न वा निराक्रियते तदा स भावो न क्वचित् कुतश्चिद्व्यावर्त्तत इति परस्परव्यावृत्तिस्वरूपविशेषादन्यत्वं तस्येति भावः । निर्विशेषसामान्यस्याप्रवृत्ति-

१ सि. क्ष. छा. डे. भावान्नानात्वत० । २ सि. क्ष. छा. डे. भावादत्यन्तवि० ।

दन्य इति सिद्धमित्येतच्च न, अविशेषात्–उक्तं प्रागनेकधा निराकृतसर्वविशेषस्य भावस्यात्मलाभाभावादभावत्वं, अविशेषत्वाच्च खपुष्पवदसतः कुतोऽन्यत्वम्, किञ्च–यदपि च भावो विशेषेण सह भवति, न विशेषः, [1]विशेषो भावेन सह, न भाव इति च परस्परं सहासहवृत्तिभेद उच्यते स चासिद्धः, तयोरन्यत्वस्यासिद्धत्वात्, सिद्धे ह्यन्यत्वे सहासहभवनं द्विष्ठत्वात् स्यात्, तत्तु न सिद्धम्, तस्माद्युक्ता सहासहभवनकल्पना, अन्यत्वञ्च तयोरभ्युपगम्यापि ब्रूमः, तथापि कथञ्चिदित्यादि यावत् परमाणुवदिति, स एव तुल्यगमो ग्रन्थोऽन्यत्वनिषेधार्थोऽन्यदन्यदेवेति न वक्तव्यमिति प्रतिज्ञाय अन्यत्वात्, हस्तादन्यानन्यदेवदत्तवत्, यावद्रूपादिक्षणान्तरान्या[न]न्यपरमाणुवदिति स व्याख्यानोपायप्रदर्शनेन गतार्थः ।

एवमेकत्वान्यत्वयोर्निषिद्धयोराह परः—

अत्यन्ताभावस्तर्हि तौ, विशेषाविशेषत्वाभावात् खपुष्पवदिति, ननु भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वादनुभयत्वमप्यवचनीयम्, यदि ह्यनुवृत्तिव्यावृत्ती तयोर्भिन्नव्यवस्थाने न स्यातां ततो रूपादिरपि पृथगेव भावात् प्रवर्त्तेत व्यावृत्तिरूपरहितत्वात्, भाववत्, भावोऽपि च रूपादेः पृथगेव व्यावर्त्तेत, अनुप्रवृत्तिरूपरहितत्वात्, खपुष्पवदित्यनुभयताप्यवक्तव्यैव, अनुभयश्चेन्नास्त्युभयमस्तु तर्हि भिन्नव्यवस्थानवृत्तमपि तदेवं नाभ्युपगम्यते ततः सर्वात्मकैकनित्यकालाद्यन्यतमद्भावतत्त्वमसन्निरुपाख्यञ्चेत्येतदुभयं स्यात्, तच्च न भवति निष्ठितत्वादेषां पक्षाणाम्, अनुभयत्वप्रतिषेधादुभयत्वमिति चेन्न, अन्यत्वावक्तव्यत्वात्, अन्यत्वप्रतिषेध एकत्वमिति चेन्न तस्याप्यवक्तव्यत्वात्, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वप्रतिषेधेन च प्रधानोपसर्जनभावोऽपि प्रतिषिद्ध एवेति सर्वथैवावक्तव्यता, द्रव्यगुणकारणकार्यादिष्वप्येवमेवेति स्थितमवचनीयं वस्त्विति ।

(अत्यन्तेति) अत्यन्ताभावस्तर्हि तौ, विशेषाविशेषत्वाभावात्, खपुष्पवत्–भावविशेषयोरविशेषः एकत्वम्, विशेषोऽन्यत्वं तयोः प्रतिषिद्धत्वाद्विशेषाविशेषत्वाभावः, यस्य विशेषाविशेषत्वाभावस्तस्यासत्त्वम्, यथा खपुष्पस्येति, अत्रोच्यते–ननु भिन्नेत्यादि, अनुभयत्वमसत्त्वं तदप्यवचनीयम्, कस्मात्? भिन्नव्यवस्था

निबन्धनासत्त्वस्य प्रागनेकधा निरूपितत्वादित्युत्तरयति–**अविशेषादिति,** अश्मसिकतामृल्लोष्ठवज्रादिघटादिविशेषात्मलाभरहितस्य सामान्यस्य पृथिव्यादेरनात्मत्वात् खरविषाणादिवदप्रवृत्त्याऽभावतैवेति कुतो विशेषादन्यत्वमिति भावः । एवमन्यत्वस्यासिद्धेः भावविशेषयोः सहासहवृत्तिभेदो य उच्यते सोऽप्यसिद्ध एवेति निरूपयति–**यदपि च भाव इति,** सहासहभावस्य द्विष्ठत्वेन भावविशेषयोरन्यत्वे सिद्ध एव तद्भावसम्भवो नान्यथेति भावः । अन्यत्वञ्च त्वन्मत्या तयोरभ्युपगम्याप्यन्यदन्यदेवेति न वक्तव्यम्, अन्यत्वात्, यत्र यत्रान्यत्वं तत्र तत्रान्यदेवेत्यवक्तव्यत्वं दृष्टम्, हस्तपादाद्यवयवान्यानन्यदेवदत्तवत्, एवं हस्ताद्यप्यङ्गुल्याद्यन्यानन्यत्वादन्यदेवेति न वक्तव्यमित्येवं यावत् स्कन्धोऽप्यन्य एवेति न वक्तव्यः, अन्यत्वात्, रूपादिक्षणान्तरान्यानन्यपरमाणुवदित्यन्तं भाव्यमित्याह–**अन्यत्वञ्च तयोरिति ।** तदेवं भावविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे च प्रतिषिद्धेऽत्यन्ताभाव एव स्यादित्याशङ्कते–**अत्यन्ताभावस्तर्हीति ।** सामान्यविशेषयोरेवं विशेषोऽन्यत्वमविशेष एकत्वमेतदुभयञ्च प्रतिषिद्धमतो विशेषाविशेषत्वयोरभावात्तयोरत्यन्ताभावत्वमेव स्यात्, दृष्टं हि यस्य विशेषत्वमविशेषत्वञ्च नास्ति तस्यासत्त्वम्, यथा खपुष्पस्य, तस्मात्तयोरभावत्वं प्राप्तमिति व्याचष्टे–**भावविशेषयोरिति,** सामान्यविशेषयोरनुभयत्वपक्षोऽयम्, एकत्वमपि नास्ति, अन्यत्वमपि नास्तीत्यभ्युपगतत्वात् । अयमपि पक्षोऽयुक्तः, वस्तुव्यवस्थापकस्य लक्षणस्य सत्त्वात्, अस्ति ह्यनुप्रवृत्तिः सामान्यम्, व्यावृत्तिर्विशेष इति तयोर्भिन्नं लक्षणमिति कथमभावः स्यादित्याशयेनोत्तरयति–**ननु भिन्नेत्यादीति ।** अनुभयत्वं ह्यसत्त्वं तदपि तयोरवाच्यमेव

१ सि. क्ष. छा. डे. विशेषाभावेन सह न भावातौ च परस्परमसहेति वृत्तिभेदः ।

नलक्षणत्वात्, यथाऽग्नीन्धनयोर्दहनदाह्यादिव्यवस्थानभिन्ने लक्षणे स्त इत्यनुभयत्वं नास्तीत्युक्तं तथेह भावविशेषयोरप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्थानभिन्ने लक्षणे स्त इत्यनुभयत्वमप्यवचनीयं पूर्ववच्च गमनीयमिति, तत्प्रसाधनार्थमाह–यदि ह्यनुवृत्तीत्यादि, अनिष्टापादनोदाहरणे तु विशेषः–ततो रूपादिरपीत्यादि, रूपं विशेषो रसोऽपि प्रवर्त्तेत पृथगेव भावात्-स्वेनैव रूपेण, व्यावृत्तिरूपरहितत्वात्, भाववत्, भावोऽपि चानुवृत्तिरूपः सन् रूपादेः पृथगेव व्यावर्त्तेत, अनुप्रवृत्तिरूपरहितत्वात्, खपुष्पवत्, यद्यनुप्रवृत्तिव्यावृत्ती सामान्यविशेषयोः भिन्नव्यवस्थाने न स्यातां स्यादेष प्रसङ्गः, प्रस्तुते यस्माद्भावो रूपरसादिष्वनुप्रवर्त्तमानो दृश्यते, विशेषश्च रूपरसादिभ्यः परस्परं व्यावर्त्तमानः, तस्मान्नानुभयत्वमप्यस्ति, किन्तु भिन्नव्यवस्थानलक्षणमुभयत्वमस्तु–अन्यत्वमित्यर्थः, एतदनभ्युपगमे दोष उच्यते-भिन्नव्यवस्थानेत्यादि यावदुभयत्वं स्यात्, सर्वात्मकैकभाव एवोभयत्वं स्यादत्यन्ताभावे खपुष्प एव वा, गत्यन्तराभावात् तच्चानिष्टं सर्वात्मकैकभावोभयत्वमत्यन्ताभावोभयत्वं वा, अनुभयत्वप्रतिषेधादित्यादि पूर्ववत्तुल्यगमो ग्रन्थो यावत् सर्वथैवावक्तव्यतैवेति दृष्टान्ताग्नीन्धनोपसंहारवद्दार्ष्टान्तिकभावविशेषोपसंहारेण गतार्थः, एवमापाद्यावक्तव्यतां सामान्यविशेषयोरतिदिशति–द्रव्यगुणकारणकार्यादिष्वप्येवमेवेति, एवं हि भवति भवनमग्नीन्धनवदित्युपक्रम्य

उभयोः पार्थक्येन व्यवस्थापकलक्षणस्य सद्भावात्, ययोर्भिन्नव्यवस्थापकलक्षणसत्त्वं तयोरनुभयत्वावचनीयत्वं दृष्टम्, यथाऽग्नीन्धनयोः, तयोर्हि दाह्यत्वदाहकत्वरूपभिन्नलक्षणसद्भावादनुभयत्वावक्तव्यत्वं व्यवस्थापितं तथाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपभिन्नव्यवस्थापकलक्षणयोः सद्भावात्तयोरनुभयत्वमप्यवक्तव्यमेवेति निरूपयति–**अनुभयत्वमसत्त्वमिति**। यदि तयोर्भिन्नताव्यवस्थापकं लक्षणं न स्यात्तर्हि प्रसज्यतेऽनिष्टमित्यनिष्टप्रसङ्गापादनद्वारेण प्रकृतमर्थमनुभयत्वावचनीयत्वं समर्थयति–**यदि ह्यनुवृत्तीत्यादीति**। अनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपभिन्नव्यवस्थानलक्षणाभाव आपादकः, तयोः प्रवृत्तिसङ्कीर्णता आपाद्या, तत्रोदाहरणं रूपादिविशेषो भावश्च अग्नीन्धनोदाहरणाद्विशेषं दर्शयति–**ततो रूपादिरपीत्यादीति,** तत्र विशेषो रूपम्, आदिना रसादिरपि ग्राह्यः, अयं रूपादिर्यदि व्यावृत्तिरहितः स्यात् तर्हि भावं विनापि स्वयमेव भाववत् प्रवर्त्तेतेति प्रवृत्तिसाङ्कर्यं बोध्यम्। एवं भावोऽपि यद्यनुप्रवृत्तिरहितः स्यात्तर्हि रूपादिमन्तरेणापि स्वरूपेणैव व्यावर्त्तेत खपुष्पवदिति लक्षयति–**भावोऽपि चेति**। सामान्यविशेषयोरपि स्वकीये लक्षणे परस्परासङ्कीर्णे यदि न स्यातां तर्हीतरेतरप्रवृत्तिप्रसङ्गदोषः स्यात् परन्तु तथा नास्ति, घटपटादिरूपरसादिषु भावोऽनुप्रवर्त्तमान एव दृश्यते, विशेषश्च घटः पटादिभ्यो रूपं रसादिभ्यः परस्परं व्यावर्त्तमान एव दृश्यतेऽतो भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वादनुभयत्वमपि नास्तीत्याह–**यद्यनुप्रवृत्तीति**। उभयत्वं भिन्नव्यवस्थानलक्षणमन्यत्वार्थकमाशङ्कते–**किन्त्विति**। इदञ्चोभयं भिन्नव्यवस्थानलक्षणमपि प्रोक्तरूपेणोभयत्वं सामान्यविशेषविषयं नाभ्युपगम्यते किन्त्वन्यादृगेव, तच्च सर्वात्मकैकनित्यभूतकालनियतिस्वभावप्रधानपुरुषादिष्वेकं भावतत्त्वं तथाऽसदपोहं निरुपाख्यमवस्तु अत्यन्तासत् खपुष्पादिष्वेकमादायोभयरूपं परिगृह्यते गत्यन्तराभावादित्याह–**एतदनभ्युपगम इति,** भिन्नव्यवस्थानवृत्तोभयत्वानभ्युपगम इत्यर्थः, ईदृशोभयत्वानभ्युपगमश्चैकत्वान्यत्वानुभयत्वासम्भवस्योक्तत्वादिति। तर्हि कीदृशमुभयत्वमित्यत्राह–**सर्वात्मकैकभावेति,** सर्वात्मके एकस्मिन् भावे एव कालादिरूपे वृत्तमुभयत्वं अथवाऽत्यन्ताभावे वृत्तमुभयत्वम् सर्वात्मकभावैकघटितमसद्घटितञ्चोभयत्वमिति भावः। तत्र दोषमाह–**तच्चानिष्टमिति,** तथाविधकालादिभावानां पूर्वोक्तभङ्गेषु निरस्तत्वादिति भावः। उभयत्वानुभयत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिकतयैकप्रतिषेधेऽपरस्यावश्यकत्वादनुभयत्वप्रतिषेधे उभयत्वमवश्यं प्राप्नोतीत्याशङ्कते–**अनुभयत्वप्रतिषेधादित्यादीति,** तच्चोभयत्वमन्यत्वरूपमेव, अन्यत्वन्तु प्राक् प्रतिषिद्धमेव, न चान्यत्वप्रतिषेधे एकत्वं प्राप्नोतीति वक्तव्यम्, तस्यापि निराकृतत्वात्, तदेवमेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानां प्रतिषेधात् सामान्यविशेषयोरप्रवृत्तेरसत्वात्, असतोश्च प्रधानोपसर्जनभावयोर्भावगतयोरनुपपत्तिरेवेति प्रधानोपसर्जनभावस्याप्यसम्भवाद्वस्तु सर्वथाप्यवक्तव्यमेवेति भावः। तदेवं सामान्यविशेषयोरवक्तत्वापत्तिवद्द्रव्यगुणयोः कार्यकारणयोरप्यवक्तव्यत्वमित्थमेव भाव्यमित्यतिदिशति–**एवमापाद्येति**। अतिदिश्यमानग्रन्थं सूचयति–**एवं हि भवतीति** अत्राग्नीन्ध-

१ सि. प्रदर्शित क्ष. प्रवर्शित।

स एव दृष्टान्तो ग्रन्थो यावत् सर्वथाप्यवक्तव्यतैवेति, तस्योपरि यद्येकत्वं गुणस्य द्रव्येण सह नान्यतेत्यादि द्रव्यगुणयोः परस्परेण सहैकत्वान्यत्वानुभयत्वोभयत्वप्रधानोपसर्जनत्वप्रतिषेधेन सर्वथैवावक्तव्यतेत्युपसंहारो यावत्तदशेषो ग्रन्थो योज्यस्तथा कारणकार्ययोरपि पुनः सैव ग्रन्थयोजना, आदिग्रहणात् सर्वगतासर्वगत-नित्यानित्यावस्थावस्थावद्भोज्यभोक्त्रादिविकल्पेषु समानः प्रचर्च इति स्थितमवचनीयं वस्तु इति ।

अतोऽन्यथोक्तौ वस्तुविसंवादः, अन्यस्यानन्यत्वेनानन्यस्य चान्यत्वेनावधारणात्, घटपटविपर्ययवृत्तिवदिति ।

(अत इति) अतोऽन्यथोक्तौ वस्तु[वि]संवाद इति प्रतिज्ञा, अन्यस्यानन्यत्वेनेत्यादि यावदवधारणादिति हेतुः, घटपटविपर्ययवृत्तिवदिति[1] दृष्टान्तः, यथा घटे पट इत्यवधार्यमाणे पटे च घट इत्यवधार्यमाणे विसंवाद एवमन्यस्मिन्नन[2]न्यत्वेनेत्यादि योज्यम्, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वैरवधार्यमाणं वस्तु विसंवदते परस्पर[त]इति वस्तु व्याख्यातम् ।

अयञ्च नयो नियम एव वस्त्वितीच्छति, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वैकान्तायतस्ववृत्तेरेव निश्चितनियताधिक्ययमनात्, उक्तविधिना सामान्यविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे द्वित्वेऽनुभयत्वेऽन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वे च निश्चितनियताधिकभावेनायतस्ववृत्तित्वात्, अवक्तव्यत्वे निश्चितनियताधिकभावेन यतस्ववृत्तित्वात् ।

(अयञ्चेति) नयस्वरूपमुच्यते-अयञ्च नियमः-विधिनियमसर्वभङ्गसमूहसम्यक्त्वप्रतिपादनाधिकारे प्रत्येकस्वरूपजिज्ञासायामेष नयो नियम एव वस्त्वितीच्छति, यथावर्णितं नियमशब्दाक्षरार्थं वस्तुना योजयत्यतीतविकल्पवस्तुसं[3]म्भवं प्रदर्शयन्, तद्यथा—सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वैकान्ताय[4]तस्ववृत्तेरेव निश्चितनिय-

नदृष्टान्तग्रन्थः सर्वथाप्यवक्तव्यतैवेति ग्रन्थपर्यन्तो दार्ष्टान्तिकग्रन्थश्च यद्येकत्वं गुणस्येत्यादि सर्वथैवाऽवक्तव्यतेत्यन्तो भाव्यः । कार्यादिष्वित्यत्रादिग्रहणग्राह्यानाह-**आदिग्रहणादिति** । अवक्तव्यत्वनिरूपणमुपसंहरति-**इति स्थितमिति** । अवक्तव्यमेव वस्तु भवति, एतद्विपर्ययेणाभ्युपगमे तु वस्तूनां परस्परतः संवाद एव नश्येदिति नियमभङ्गेन वस्तुव्यवस्था विज्ञेयेति प्रयोगतः स्वेष्टं प्रसाधयन् वस्तु व्याख्यामुपसंहरति-**अतोऽन्यथोक्ताविति** । यथा वस्तुस्वरूपमुपपादितं ततोऽन्यप्रकारेण वस्तुस्वरूपे प्रोच्यमाने न वस्तूनां परस्परं संवादः किन्तु विसंवाद एव भवतीति प्रतिजानीते-**अत इति** । साधनमाह-**अन्यस्येति,** अन्यत्वात्मनोऽनन्यत्वेनानन्यत्वात्मनोऽन्यत्वेनोभयत्वात्मनोऽनुभयत्वेनानुभयत्वात्मन उभयत्वेनाप्रधानोपसर्जनभावात्मनः प्रधानोपसर्जनभावेन वाऽवधारणादिति हेतवः । दृष्टान्तमाह-**घटपटेति** । घटयति-**यथेति,** यथा घटे पटत्वेनावधार्यमाणे पटे वा घटत्वेनावधार्यमाणे विसंवादः, तथाविधार्थक्रियानुपलम्भात्, एवमन्यस्मिन्सामान्यविशेषादिरूपे वस्तुन्यनन्यत्वे नावधार्यमाणेऽनन्यस्मिन् वाऽन्यत्वेनावधार्यमाणे वस्तु परस्परं विसंवदत्येवेति भावः । एवं वैपरीत्येनैकत्वादिभिरवधारणे परस्परं वस्तुविसंवादो दुर्वार एवेत्याह-**एकत्वान्यत्वेति** । अथ नयस्यास्य नियमस्य स्वरूपमुच्यते-**अयञ्चेति** । विधिनियमाश्रयद्वादशभङ्गसमूह एव सम्यक्त्वं परिपूर्णमिति प्रतिपादनप्रस्तावे प्रत्येकभङ्गस्वरूपपरिज्ञानव्यतिरेकेण तदसम्भवात् प्रत्येकनयस्वरूपजिज्ञासायां समुदितायां प्रस्तुतो नयो नियमरूपमेव वस्तु वाञ्छतीति दर्शयति-**विधिनियमेति** । पूर्वविकल्पेषु प्रतिपादितानां वस्तूनामसम्भवं वर्णयन् नियमशब्दार्थानुसारेण वस्तु प्रदर्शयतीत्याह-**यथावर्णितमिति** । निश्चितो यमोऽधिको वेति नियम इति वर्णितमित्यर्थः । पूर्वविकल्पेषु सामान्यविशेषयोरेकान्तेनैकत्वमन्यत्वमुभयत्वमनुभयत्वमन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वं वा वर्णितम्, किन्तु तत्तद्रूपेण वस्तु न वर्त्तते निश्चितनियताधिकभावेन यतत्वाभावादतस्तथाविधायतस्ववृत्तेरेव वस्तुनोऽयं नयो निश्चितनियताधिकभावेन यमयति, नियमात्मकवस्त्वभ्युपगमादित्याह-**तद्यथेति** । नियम-

१ सि. क्ष. छा. डे. विपर्ययाचवृ० । २ सि. क्ष. छा. डे. ऐवमन्यत्वमनत्ववैनेत्यादि । × × छा० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °वस्तुसंभ० । ४ सि. क्ष. छा. डे. °यतः स्व० ।

ताधिक्ययमनात्, यमेर्निपूर्वस्य घञि प्रादिसमासे निश्चितो यमो नियमोऽधिको वा नियमः कस्मात् ? उक्तविधिना सामान्यविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे द्वित्वेऽनुभयत्वेऽन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वे चायतस्ववृत्तित्वान्निश्चितनियताधिकभावेन, अवक्तव्यत्वे निश्चितनियताधिकभावेन यतस्ववृत्तित्वाद्यथार्थनियमसंज्ञोऽयं भङ्गः ।

एवं वस्तुतोऽक्षरार्थतश्च नियमस्वरूपमुक्त्वा शब्दार्थमाह—

अत्र चाभिजल्पः शब्दार्थः प्रागेवोक्तः, आह हि—"शब्दो वाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम् । सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद्रूपमेकीकृतं यदा । शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥ तयोरपृथगात्मत्वे रूढेरव्यभिचारिणि । किञ्चिदेव क्वचिद्रूप्यं प्राधान्येनावतिष्ठते ॥" (वाक्य० कां० २ श्लो० १३०-१३१ ॥) इति सोऽयमित्येकीकृतत्वाच्छब्दरूपस्यार्थेनान्यत्वमवक्तव्यमित्युक्तम्भवति, द्विष्ठत्वादेकीकरणस्यैकत्वमवक्तव्यमित्युक्तम्भवतीति, शेषमभ्यूह्यम्, स शब्दार्थः, पदसंघातो वाक्यम्, देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लामिति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थस्थत्वादवक्तव्यः तदर्थ इति दिक्, एवं च कृत्वा यदप्युक्तं 'सामान्यार्थस्तिरोभूतो विशेषो नोपजायते । उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तिः क्वावतिष्ठतामि'ति (वाक्यप० कां० २ श्लो० १५) तदपि प्रत्युक्तमेव, यथाविचारितनिश्चितमवक्तव्यं वस्त्विति, एवमेव 'नामस्थापनाद्रव्यवाच्येष्टाकरणाद्भावयुक्तवाची शब्द'इति शब्दनयमतं युज्यते, यदवक्तव्यमिति पर्यवणमात्रमाह, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकात्मकस्य वस्तुनो वाचा वक्तुमशक्यत्वात् ।

(अत्र चेति) अत्र चैवंविधभावनायामभिजल्पः शब्दार्थः प्रागेवो[क्तो]ऽभिजल्पः शब्दार्थः प्रासङ्गिको व्यक्त्यादिवस्तुप्रत्याख्यानप्रसङ्गेनोक्त इति न पुनर्व्याख्यायते, तत्सूचनार्थन्त्वाह—आह हीत्यादि तल्लक्षणकारिकाः सूचयंस्तमेव ग्रन्थं समर्थयति—'शब्दो वाप्यभिजल्पत्वमागतः' इत्यादि द्व्यर्धकारिकया शेषमभ्यूह्यमित्यादि, कथं पुनस्तेन ग्रन्थेनावक्तव्यतोक्तेति चेत्तत्प्रदर्शनार्थमाह—सोऽयमित्येकीकृतत्वात् शब्दरूपस्यार्थेन—सोऽयमित्यभेदसम्बन्धवशेनैकीकृतं यदेति वचनादन्यत्वमवक्तव्यमित्युक्तं भवति, अर्थेनेत्येकत्वं—शब्दभिन्नेनार्थेनैकीकरणं द्विष्ठत्वादेकीकरणस्यानेकमेकं क्रियते, शब्दरूपमर्थेनेति वचनादेकत्वमवक्तव्यमित्युक्तं भवति, एताभ्यामेव युक्तिभ्यामुभयत्वमनुभयत्वं प्रधानोपसर्जनते चावक्तव्यानीति

शब्दनिष्पत्तिमाह—**यमेर्निपूर्वस्येति ।** 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति वार्तिकेन बहुव्रीहिसमासः, नियम्यत इति नियमः 'कुगतिप्रादयः' इति समासो वा । **उक्तविधिनेति,** एतन्नयोपदर्शितप्रकारेण सामान्यविशेषयोरेकत्वाद्यभ्युपगमे वस्तुनः स्ववृत्तित्वं निश्चितनियताधिकभावेन नैव यतम्, अवक्तव्यत्वे चैकत्वादेर्निश्चितनियताधिकभावेन वस्तु यतस्ववृत्ति भवतीति नियमसंज्ञाऽस्य भङ्गस्यान्वर्थेति भावः। अथात्र नये शब्दं निरूपयति—**अत्र चेति ।** इत्थमवक्तव्यत्वनियमभावनायाः प्रागुदितोऽभिजल्परूपः शब्दार्थोऽत्राभिमत इत्याह—**एवंविधभावनायामिति ।** शब्दार्थो व्यक्तिर्वा जातिर्वा जातिमान् वेत्यादिशब्दार्थविचारे व्यक्त्यादीनां निराकरणप्रसङ्गे प्रागुक्तोऽभिजल्पः सोऽत्र शब्दार्थो भाव्यः, तत्स्वरूपञ्च तत्रैवोदितं न पुनरत्रोच्यत इत्याह—**व्यक्त्यादीति ।** तत्सूचिकाः वाक्यपदीयकारिका दर्शयति—**आह हीत्यादीति । शब्दो वेति,** अभिजल्पतामुपगतः शब्दो वाच्यतां प्राप्नोतीति तदर्थः । तद्ग्रन्थस्यावक्तव्यतैवाभिमतेत्याह—**सोऽयमितीति,** भिन्नयोः शब्दार्थयोः सोऽयमित्यभेदसम्बन्धेन शब्दस्यार्थेनैकीकरणं यदा तदाऽभिजल्पत्वं प्राप्नोतीति वचनेनैकीकरणादन्यत्वावक्तव्यता, शब्दभिन्नेनार्थेन शब्दस्यैकीकरणादेकत्वावक्तव्यता प्रतिपादिता भवति, एकीकरणं हि एकत्वेनाभूतस्य तद्भावकरणम्, अनेकेषामेकत्वकरणं तच्चैकीकरणमेकस्य न सम्भवति, द्विष्ठं हि तत्तत एकत्वमवक्त-

१ सि. क्ष. छा. डे. °स्वावृत्ति० । २ सि. क्ष. छा. डे. °नियतमसं । ३ सि. क्ष. छा. डे. समर्पयति ।

ज्ञेयानि, स शब्दार्थः–स एष पदार्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः? वाक्ये ज्ञाते वाक्यार्थो ज्ञायत एवेत्याह–[पद]-संघातो वाक्यम्, वर्णसंघातः पदम्, एकाक्षरस्यापि स्वरव्यञ्जनसंघातत्वात्, पदसंघातो वाक्यं कस्मादिति चेदुच्यते देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामिति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थस्थत्वात्–यस्माद्देवदत्तादीनि पदा[न्य]र्थसामान्ये प्रत्येकं वर्तमानानि विशिष्टसंसर्गे अर्थे वर्त्तन्ते स वाक्यार्थः, यथोक्तं 'सामान्यवर्तिनां पदानां विशेषेऽवस्थानं वाक्यार्थः,' (   ) तयोश्च सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वोभयत्वाद्यनेकात्मकार्थत्वस्यावचनीयत्वेन परिग्रहादनेकार्थे स्थितः शब्द एकरूपेणावधारयितुमशक्यत्वादवक्तव्यः तदर्थ इति, एवञ्च कृत्वा यदप्युक्तं 'सामान्यार्थस्तिरोभूतो विशेषो नोपजायते। उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तिः क्वावतिष्ठताम्॥' (वाक्यका० २ श्लो० १५) इति तदपि प्रत्युक्तमेव, यथाविचारितनिश्चितमवक्तव्यं सर्वथा वस्त्विति, दिक्प्रदर्शनमात्रेण शब्दोऽर्थप्रत्यासत्त्या विज्ञानाधानमात्रेण ब्रवीतीत्युच्यते, एवमेवेति, यदपि लक्षणकारेण शब्दनयलक्षणमुक्तं नामस्थापनाद्रव्यवाच्येष्टाकरणाद्भावयुक्तवाची शब्दः' (   ) इति, भावः पर्यायो नियमो गुणो वा तद्युक्तवाची-तद्युक्तमर्थं ब्रूते शब्द इति शब्दनयमतं तदप्येवं युज्यते यदवक्तव्यमिति पर्यवणमात्रमाह, सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकात्मकस्य वस्तुनो वा वक्तुमशक्यत्वात्।

शब्दनयदेशत्वात् पर्यवास्तिक एषः, किं कारणं भावयुक्तवाचित्वे पर्यायग्रहणम्, न सामान्यग्रहणमिति चेदुच्यते भुवो भिन्नधात्वर्थवाचित्वात्, न सत्तैव भूः, पर्यवति भवतीति

व्यमित्युक्तं भवतीति भावः। आभिरेव युक्तिभिरुभयत्वस्यानुभयत्वस्य प्रधानोपसर्जनतायाश्चावक्तव्यतोह्येत्याह–**एताभ्यामेवेति,** एकीकरणतद्विष्ठत्वरूपयुक्तिभ्यामित्यर्थः। वाक्यार्थप्रतिपादनार्थं वाक्यं प्रथमतो दर्शयति तज्ज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वाद्वाक्यार्थस्येत्याह–**वाक्ये ज्ञात इति।** एकाक्षरस्यापि वर्णसंघातलक्षणं पदत्वमस्तीत्याह–**एकाक्षरस्यापीति,** कादेरपीत्यर्थः। पदसंघातस्य वाक्यत्वं समर्थयति–**पदसंघात इति,** प्रत्येकमर्थे वर्त्तमानानां पदानामनेकात्मकेऽर्थे विशिष्टसंसर्गरूपे स्थितत्वात् पदसंघात एव वाक्यमित्यर्थः। तदेवाह–**प्रत्येकवृत्तीति,** प्रत्येकं वृत्तिर्येषा तेषामनेकस्वरूपेऽर्थे स्थितत्वादित्यर्थः। देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामित्यादौ देवदत्तादिपदानि पृथक् पृथक् स्वस्वार्थेषु वर्त्तन्ते, आकांक्षादिसहकृतानि विशिष्टसंसर्गेऽर्थे च वर्त्तन्ते इत्याह–**यस्माद्देवदत्तादीनीति** विशिष्टः संसर्गो वाक्यार्थः, विशिष्टसंसर्ग्यर्थो वा वाक्यार्थः, अयमेव वाक्यार्थोऽत्राभिप्रेतः, पदैः सामान्येन प्रतीयमानानामर्थानां वाक्येन विशिष्टेऽर्थेऽवस्थापनात्, एवञ्च वाक्यार्थो विशेषः पदार्थः सामान्यमिति भावः। विशेषो वाक्यार्थ इत्यत्र परसम्वादं दर्शयति–**यथोक्तमिति,** वाक्यं निरंशमनेकरूपञ्च, अत एव वाक्यं तदर्थश्च विशेषः, पदं हि सर्ववाक्येषु समानरूपमतः पदं पदार्थश्च सामान्यरूपः स एव वाक्येषु सन्निपतितस्तद्वाक्यगतविशेषस्वीकाराद्विशिष्टार्थव्यवहारावसानं पदं जायत इति भावः। वाक्यस्य पदसंघातरूपत्वेन विशेषत्वात् पदवाक्यतदर्थयोश्च सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वाद्यवचनीयतयाऽनेकार्थे वर्त्तमानोऽपि शब्द एकरूपेणावधारयितुमशक्यत्वादवक्तव्यस्तदर्थोऽपीत्याह–**तयोश्चेति,** एवञ्च पदं पदार्थः, वाक्यं वाक्यार्थश्चावक्तव्य एवेति भावः। अत्र वाद्यन्तरोक्तदोषनिराकरणायाह–**एवञ्च कृत्वेति,** सम्यग्विचार्य वस्त्ववक्तव्यमिति निश्चितत्वादेवेत्यर्थः। अत्र वाक्यपदीये कां० ३ पृ० ३८२, ४८८ कारिकेत्थं दृश्यते 'सामान्यार्थस्तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते। उपात्तस्य कृतस्त्यागः (कुतस्त्यागः) निवृत्तः (निवृत्तेः) क्वावतिष्ठताम्॥' इति। दिक्शब्दप्रयोजनमाह–**दिक्प्रदर्शनमात्रेणेति,** अत्र शब्दार्थस्य दिशामात्रमेव सूचितम्, न विस्तरेण शब्दार्थ उक्तः, तेन बौद्धविशेषः शब्दादुच्चरितादाकारवती बुद्धिरुत्पद्यते, तस्मादर्थप्रत्यासत्त्या बुद्धिजनकः शब्दः, 'विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनय' इत्यङ्गीकारात्, घटादिशब्दादुच्चरितादर्थाकारत्वग्रहस्य प्रत्ययस्य सदैवोपजननात्, एतावतैव शब्दोऽर्थं ब्रवीतीत्युच्यते, न त्वर्थं साक्षाच्छब्द आहेति भावः। लक्षणकारोक्तं शब्दनयलक्षणमाह–**नामस्थापनेति।** इदमपि लक्षणं भावशब्देनावक्तव्यत्वरूपं पर्यवणं यदाह तदैव युज्यत इति दर्शयति–**तदप्येवमिति।** नयोऽयं किं द्रव्यार्थे पर्यायार्थे वाऽन्तर्भवतीत्यत्राह–**शब्दनयदेशत्वादिति।** व्याकरोति–**'तस्स उ'** इति ननु भावशब्दः सामान्यपरः

भावः, पर्यवणञ्च प्रवेशनम्, परिशब्दः समन्तादर्थः, अवशब्दः प्रवेशार्थः, समन्तात् प्रविशत्येकतामन्यतामुभयतामनुभयताञ्च योऽर्थः स पर्यवः, तत्रास्तीत्येवं मतिरस्येति मूलसंज्ञाऽस्य नयस्य, उपनिबन्धनमस्य 'तदुभयस्स आदिट्ठे' (भग० श० १२ उ० १०) इत्यादि ।

(शब्देति) शब्दनयदेशत्वात् पर्यवास्तिक एषः, 'तस्स उ सद्दविकप्पा साहपसाहा सुहुमभेदा' इति वचनाच्छब्दनयेऽन्तर्भूतः, किं कारणं भावयुक्तवाचित्वे पर्यायग्रहणं न सामान्यग्रहणम् भावशब्दस्य सामान्यवाचित्वे इति चेदुच्यते–भुवो भिन्नधात्वर्थवाचित्वात्, भूवादयः सर्वधातवो भ्वार्थाः, भूवादय इतिवदेरौणादिके इञ्प्रत्यये भूवादयः सर्वधातवः, तस्मान्न सत्तैव भूः, भूकृञोः सर्वधात्वर्थवाचित्वात्, पर्यवति भवतीति भावः, पर्यवणञ्च प्रवेशनम्, अव रक्षणकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमनप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादहनभाववृत्तिष्विति पठितत्वात्, भावः पर्यवः प्रवेशः समन्तादवः पर्यव इति परिशब्दः समन्तादर्थोऽवशब्दः प्रवेशार्थः, तद्वस्तुतो दर्शयति–समन्तात् प्रविशत्येकतामन्यतामुभयतामनुभयतां च योऽर्थः सपर्यवः, अस्तीत्येवं मतिरास्तिकः, पर्यवे आस्तिकः पर्यवास्तिक इति मूलसंज्ञाऽस्य नयस्य शब्दस्य, किमेताः स्वमनीषिका उच्यन्ते ? उतास्यास्योपनिबन्धनमार्षमपीति ? अस्तीत्युच्यते, उपनिबन्धनमस्य 'तदुभयस्स आदिट्ठे' इत्यादि, 'इमाणं भंते ! रयणप्पभा पुढवी आता ना आता' इति पृष्टे भगवद्वचनं 'गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया परस्स आदिट्ठे नो आया तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आता सिय णो आता सिय' इति, एवमवक्तव्यत्वमात्मानात्मपर्यवाभ्यामादेशे तत्र ज्ञापकं निबन्धनमुच्यते ।

इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणदृब्धायां समाप्तः ॥

तत्कथमत्र भावयुक्तवाचित्वोक्त्या पर्यायमात्रस्य ग्रहणमित्याशङ्कते–**किं कारणमिति** । भूशब्दनिष्पन्नो भावशब्दः, भूशब्दार्थश्च सर्वे धात्वर्थाः, न तु सत्तारूपोऽर्थः, येन सामान्यवाची स्यादित्याशयेनोत्तरयति–**भुवो भिन्नधात्वर्थवाचित्वादिति** । अत्रायम्भावः, निरंशे वाक्ये पूर्वमेव विशेषविवक्षा, निरवयवेन वाक्येन विशिष्टार्थस्यैव प्रतिपादनात्, तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्त्यर्थमेवांशांशिभावेनापोद्धारपदार्थः परिकल्प्यते, सामान्यात्मा स एव विशेषो भवति विशेषसम्बन्धे सति, तथा च विशेषसम्बन्धेऽपि सामान्यात्मा पदार्थो न स्वरूपात् प्रच्यवते, अपि तु तद्विशेष इति, अत एवावतिष्ठते न तु सत्यतः, सामान्येन स्थिताना यदा विशेषेऽवस्थानमुपपद्यते सामान्यवृत्तीनामुच्चरितानां तथा भूतानामेव तिरोभावादुत्तरकालं कोऽसौ विशेषे च तिष्ठताम् ?, न च सामान्यविशेषयोर्युगपद्विवक्षा सम्भवति, विशेषविवक्षायां हि सर्वस्मान्नियमेन सामान्यादवच्छेदो विज्ञायत इत्युपात्तस्य सामान्यस्य त्यागप्रसङ्गः, स च नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे न युक्तः तिरोभूतश्च निवृत्तोऽनवधार्यमाणात्मा शब्दोऽन्यस्यापि पदस्य सामान्यनिष्ठत्वात् केनचिदप्यप्रतिपादिते विशेषे निर्विषयः क्वावतिष्ठताम् ? तस्माद्विशिष्ट एवार्थो वाक्यादवगन्तव्य इति । कथं सर्वधात्वर्थवाचित्वं भुव इत्यत्राह–**भूवादय इति,** भुवं वदन्तीति भूवादयः, वदेरौणादिके इञ्प्रत्यये भूवादय इति सिद्ध्यति, तदर्थः सर्वधातवः, तथा च सर्वधात्वर्थत्वं भुवः, न सत्तैव, भूकृञोः सर्वधात्वर्थवाचित्वात् तस्माद्भावः पर्यायवचनः अनेकाभिधानवदिति भावः । भवति पर्यवतीति भाव इति व्युत्पत्त्यापि पर्यवार्थत्वं दर्शयति–**पर्यवतीति** । पर्यवतीत्यस्य प्रविशतीत्यर्थे प्रमाणतयाऽवधात्वर्थमाह–**अव रक्षणेति** । तथा च भावशब्दार्थमाह–**भावः पर्यव इति** । ननु पर्यवति–समन्तात् प्रविशतीत्यर्थे किं प्रविशतीति कर्मापेक्षायां वस्त्वर्थं दर्शयति–**समन्तादिति** । एतस्य शब्दनयस्य पर्यवास्तिकत्वं कथमित्यत्राह–**अस्तीत्येवमिति,** यतोऽस्य शब्दनयस्यैकत्वानेकत्वादिषु समन्तात् प्रवेशे मतिरस्ति तत एवायं नयः पर्यवास्तिक इति मूलसंज्ञां लभत इति भावः । आर्षं निबन्धनमस्य नयस्य दर्शयति **उपनिबन्धनमस्येति,** इयं रत्नप्रभा पृथिवी किमात्मा उत नो आत्मेति प्रश्नस्य प्रतिवचनं भगवतः गौतम ! आत्मन आदिष्टे इयमात्मा, परस्यादिष्टे नो आत्मा, उभयस्यादिष्टे अवक्तव्यम्, कथंचिदात्मा कथञ्चिन्नो आत्मेति, उभयापेक्षयाऽवक्तव्यत्वादेशादिदं वचनं ज्ञापकमस्येति भावः ।

इत्याचार्यविजयलब्धिसूरिकृते द्वादशारनयचक्रस्य विषमपदविवेचने नवमो नियमभङ्गारः ॥

दशमो नियमविधिनयारः

———:०:———

विध्यादिसकलभङ्गात्मकसम्यग्दर्शनाधिकारे वर्त्तमाने विकलनयस्वरूपज्ञानमूलत्वात् सम्यग्दर्शनस्य विध्युभयविकल्पचतुष्टयात्मकौ मार्गौ व्याख्याय नियमविकल्पचतुष्टयात्मके तृतीये मार्गे वर्त्तमाने तत्र नियमभङ्गं प्रथममुक्त्वाऽभिजल्पशब्दार्थमाभिमुख्येन दिक्प्रत्यासत्त्या, न साक्षात्, वस्तुतः सामान्यविशेषयोः कल्पितयोरेकत्वान्यत्वाद्यनेकदुरुपधारावस्थत्वादवक्तव्यतेत्यनन्तरनियमनयोऽभ्य[1]र्धात्, अत्राप्यपरितुष्यन् नियमविधिभङ्गारस्त्वाह—

नैवंविधो नियमो युज्यते, स्ववचनविरोधादिदोषात्, अनेकावस्थापत्तावनियतत्वाच्च, इदं हि त्वदीयं वचनं लोकाभाणक एव संवृत्तम्, तद्यथा—इदं तत् तदेवोद्यते तदेवापोह्यते त्वया ततश्चासत्तत्, स्वयं विहितनिवर्त्तित्वात्, सर्वोक्तानृतपक्षवत् ।

(**नैवंविध इति**) नैवंविधो नियमो युज्यते स्ववचनविरोधादिदोषात्, अनेका[2]वस्थापत्तावनियतत्वाच्च, इदं हि त्वदीयं वचनं लोकाभाणक एव संवृ[3]त्तम्, तद्यथा—इदं तत् तदेवोद्यते तदेवापोह्यते त्वया,—तदेव व[4]दस्यपवदसि चेत्यर्थः, ततः किं? ततश्चासत्तत्—अशोभनं नास्ति चेत्यर्थः, कस्मात्? स्वयं विहितनिवर्त्तित्वात्—आत्मना विहितमेव निवर्त्तयितुं शीलमस्येति स्वयं विहितनिवर्त्ति त्वद्वचनम्, तद्भावात् स्वयं विहितनिवर्त्तित्वात्, किमिव? सर्वोक्तानृतपक्षवत्—यथा सर्वमुक्तमनृतमिति वदतो यदेवोदितं सर्वमुक्तमनृतमिति विधिना तदेवानृतत्वेन व्याप्तत्वात् प्रतिषिध्यमानमपोह्यते तथेदमपि त्वदीयं सर्वमवक्तव्यमिति ।

अथ नियमविधिभङ्गमारिप्सुरवसरसङ्गतिलब्धतृतीयमार्गनिरूपणघटकनियमभङ्गवक्तव्यत्वमुपनिबध्नन् नियमविधिनिरूपणकारणं पूर्वनयेऽपरितोष एवेति दर्शयति—**विध्यादीति** । द्वादशभङ्गविषयसम्यग्ज्ञानं प्राधान्येन निरूपणीयम्, तच्चावयवज्ञानमन्तरेण न समुदायात्मकसकलभङ्गज्ञानमिति प्रत्येकमवयवे निरूपणीये विधिविकल्पचतुष्टयं विधिनियमोभयविकल्पचतुष्टयञ्च निरूप्यावसरप्राप्ते नियमविकल्पचतुष्टयात्मके तृतीये मार्गे प्राधान्यादादौ नियमभङ्गं व्युत्पाद्याभिजल्पस्य शब्दार्थत्वमपि दिङ्मात्रेणोपपादितम्, वस्तुतः सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादिरूपतोऽवधारयितुमशक्यत्वेनावाच्यत्वादिति, तदेवमवक्तव्यत्वमेव वस्तुनः स्वरूपमिति निरूपितेऽयं नियमविधिनयस्तत्र परितोषाभावात्तन्मतं निराकर्त्तुमाह—**नैवंविध इति** । सामान्यविशेषयोरवक्तव्यत्वे निश्चितनियताधिकभावेन यतस्ववृत्तित्वमित्येवंविधो नियमो न युज्यते स्ववचनविरोधादिदोषप्रसङ्गात्, तथैकावस्थाया वस्तुनोऽभावादनेकावस्थापत्तौ नियतताविरहात्, न हि सामान्यविशेषैकान्यत्वाद्यनेकात्मकं वस्तु नियतस्वरूपं भवति, अनियतस्वरूपत्वे त्वसदेव स्यात्, खपुष्पवदित्याशयेन व्याकरोति- **नैवंविधो नियम इति** । स्ववचनविरोधमुद्भावयति- **इदं हीति,** इदं वस्तु तदेव—एकत्वादिरूपमेवेति प्रथममभिधाय पुनस्तदेवैकत्वं निराक्रियते त्वयेत्यर्थः । एतेन किं भवेदित्यत्राह—**ततश्चेति,** अभ्युपगम्य निराकरणाद्वचनमसदेव भवेदिति भावः । कथमित्यत्राह—**स्वयमिति,** वचनेन विहितस्यैव वस्तुनो निराकरणशीलत्वाद्वचनस्येत्यर्थः । दृष्टान्तमाह—**सर्वोक्तेति,** निजनिखिलवचनानामसत्यार्थताप्रकाशनाय सर्वमहमनृतं ब्रवीमीत्युक्ते तद्वाक्यं निखिलवचनासत्यत्वं विदधत् सत् स्वेतरवचनानीव तद्वाक्यमप्यसत्यमिति प्राप्तमसत्यत्वमपोह्यत इति विहितनिवर्त्ति वचनं तत्तथा सर्वमवक्तव्यमिति वचनमपि निखिलस्यावक्तव्यतां विदधत् सत्तदितरेषामिव तस्य वाक्यस्याप्यवक्तव्यत्वादवक्तव्यत्वस्यैव प्रतिषेधि

---

१ सि. क्ष. छा. डे. नियमनयोऽभिधात् । २ छा. अनेकधाऽवस्था० । ३ सि. क्ष. छा. डे. संवृत्तः । ४ सि. क्ष. छा. डे. तदेववश्यऽयवदमिवेत्यर्थः ।

एतस्य प्रतिपादनार्थमेकत्वादि प्रतिषिध्य व्यवस्थाप्य चापोद्यते, तद्यथा प्रागेव तावत् सामान्यविशेषयोरेकत्वे प्रतिषिद्धेऽन्यत्वमुपस्थितं विधाय दृष्टान्तेऽग्नेरिन्धनपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना पुनः प्रतिषिद्धः, सोऽपि चाप्रत्ययः यथोक्तमग्नेरिन्धनमित्यादि यावदसदापद्येतेत्यादि, तदेतत् पुनस्तयोः स्वयमेवापोदितम्, ननु ज्वाला देश इति निरूपणादन्यत्वं स्फुटीभूतमपि तद्वा कुतोऽनिन्धनमित्यनिन्धनप्रत्याख्यानेन ज्वालारूपमिन्धनसहितमेवेति ब्रुवता ।

(एतस्येति) एतस्य प्रतिपादनार्थमेकत्वादि प्रतिषिध्य व्यवस्थाप्य च परस्परतः पुनश्चापोद्यते, तद्यथा–प्रागेव तावत् सामान्यविशेषयोरेकत्वे प्रतिषिद्धेऽन्यत्वमुपस्थितमर्थात्तद्बलेन प्रतिषेधात्, तदन्यत्वं विधाय पुनः प्रतिषिद्धम्, कथं प्रतिषिद्धमिति चेदुच्यते तद्यथा–दृष्टान्ते यदुक्तमग्नेरिन्धनपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना च प्रतिषिद्धम्, सोऽपि च प्रतिषेधोऽप्रत्ययः, तं प्रतिषेधग्रन्थं दर्शय[ति अ] प्रत्ययत्वेन–यथोक्तमग्नेरिन्धनमित्यादि यावद[1]सदापद्येतेत्यादि, आदिग्रहणात् सयुक्तिकं सर्वग्रन्थं सन्दिशति, तदेतत् पुनस्तयोः स्वयमेवापोदितं–निराकृतम्, कथमिति चेदुच्यते–ननु ज्वाला देशे–यत्तदिन्धनपृथग्भूतं रूपमग्नेः पृच्छयते तज्ज्वालाऽऽकाशदेशे गृहाणेति निरूपणा[2]दन्यत्वं स्फुटीभूतमपि पुनस्तद्वा कुतोऽनिन्धनमित्यनिन्धनप्रत्याख्यानेन ज्वालारूपमिन्धनसहितमेवेति ब्रुवता, तथा चेदमुक्तं भवत्यदीप्यमानं प्रा[3]गनिन्धनमकाष्ठञ्च सद्दा[4]रुकाष्ठादि पश्चाद्दीप्तिस्वभावमिन्धनं काष्ठं भवतीति, य[5]स्य संस्पर्शादिध्यते दीप्यते च दा[6]रुकाष्ठादि तस्याग्नेः रूपमिति ।

भवतीति भावः । दृष्टान्तं घटयति–**यथा सर्वमिति,** वचनेनानेनोदितमात्रस्यानृतत्वव्याप्यत्वं प्रतीयत इत्यन्यवचसामुदितत्वादनृतत्ववदस्यापि वचनस्योदितत्वादनृतत्वं सिद्ध्यतीति वचनेनानेन विहितमनृतत्वमपोद्यते, वाक्यस्यास्यानृतत्वादिति भावः । विहितनिवर्त्तितं तदीयोक्तिनिदर्शनपूर्वकं व्यवस्थापयति–**एतस्य प्रतिपादनार्थमिति,** अवक्तव्यत्वस्य व्यवस्थापनार्थमित्यर्थः । व्याकरोति–**एतस्येति,** अवक्तव्यत्वं प्रतिपादयितुमेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वेषु परस्परमेकतमप्रतिषेधायान्यतमं व्यवस्थाप्य पुनस्तस्याप्यपवादः कृत इति भावः । सदृष्टान्तं परस्परतो व्यवस्थानप्रतिषेधौ दर्शयति–**तद्यथेति,** एकत्वान्यत्वयोः परस्परप्रतिषेधव्याप्यत्वादेकत्वप्रतिषेधेऽन्यत्वमवश्यमुपस्थितं भवतीति भावः । इतरथा कं पक्षमवलम्ब्य प्रतिषेधः एकत्वस्य भवेदत आह–**तद्बलेनेति,** अन्यत्वस्य बलेनैकत्वस्य निराकरणादित्यर्थः । एकत्वनिराकरणायान्यत्वं विधाय पुनस्तदेवान्यत्वमग्नेरिन्धनपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिग्रन्थेन प्रतिषिध्यत इत्याह–**तदन्यत्वं विधायेति ।** अयं प्रतिषेधोऽपि न ते ग्राह्यस्तस्याप्यग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतरूपस्याख्यानाशक्यत्वेन प्रतिषेधादिति दर्शयति–**सोऽपि चेति ।** पुनश्चाग्नेरिन्धनात् पृथग्भूतं रूपमाकाशदेशे ज्वालाख्यमस्तीति निरूपणेनान्यत्वं स्फुटमपि तत्रापि सेन्धनत्वं ब्रुवता निराकृतमित्याह–**तदेतत् पुनरिति,** अग्नीन्धनयोरन्यत्वं पुनरित्यर्थः । पूर्वग्रन्थं सूचयति–**ननु ज्वाला देश इति,** आकाशदेशे या ज्वाला तदग्नेरिन्धनपृथग्भूतं रूपमित्यर्थः, एतेनेन्धनादन्यत्वमग्नेः स्फुटीकृतमिति भावः । तद्वा कुतोऽनिन्धनमिति ग्रन्थेन तदप्यन्यत्वं निराकृतमित्याह–**पुनस्तद्वेति,** आकाशदेशे ज्वालारूपमित्यर्थः । एवञ्चाग्नेर्दारुकाष्ठादीन्धनमेव रूपमित्युक्तं भवतीति दर्शयति–**तथा चेदमुक्तं भवतीति,** दारुकाष्ठादिकं यत्संसर्गात् प्रागदीप्यमानमनिन्धनमकाष्ठञ्चासीत् पश्चात्तत्संसर्गात् दीप्यमानमिन्धनं काष्ठञ्च भवति तदेव दारुका-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. यावत्सन्नाप० । २ सि. क्ष. छा. डे. निरूपणानाम्यन्त्वस्फु० । ३ सि. क्ष. डे. छा. °प्रागनिबन्धन० । ४ सि. क्ष. छा. डे. सद्दारुदकादि । ५ सि. क्ष. छा. डे. तच्च सं० । ६ सि. क्ष. छा. डे. दारुदकादि ।

एतच्चान्यत्वमेव समर्थयत्यतोऽप्रत्ययम् ।

(एतच्चेति) एतच्च–अन्यत्वप्रतिषेधार्थं वचनमन्यत्वमेव समर्थयत्यतोऽप्रत्ययम्, यद्यन्यत्वं समर्थितमेव परिगृह्येत स्या[]त्सप्रत्ययम्, न तु तत् परिगृहीतम्, तस्मादन्यत्वप्रतिषेधोऽप्रत्ययः, तत्समर्थनादेव दृष्टान्तवर्णने[ऽ]न्यत्व[१]प्रतिषेधोऽप्रत्ययः ।

किञ्चान्यत्—

उपसंहारेऽपि यदुक्तं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादि, एतदपि त्वयैवापोदितम्, ननु भवद्विशेषा एव समुदिता एकमित्युच्यन्ते भ्रान्तैः, एकैक एव विशेषः प्रणिधानवद्भिरवगम्यते, रूपरसादिघटैकत्वविशेषवत् । पृथगेकत्वविलक्षणं प्रतिपादयितुं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना पृथगेकत्वमन्यत्वं विशेषाणां स्वरूपेणावधारयितव्यमिति वचनादेवान्यत्वं समर्थितमतोऽन्यत्वप्रतिषेधोऽतिस्फुट एव स्ववचनविरोधो दार्ष्टान्तिकोपसंहारेऽपीति ।

उपसंहारेऽपीत्यादि, भावविशेषयोरेकत्वं प्रतिषिध्यान्यत्वं व्यवस्थाप्य तत्प्रतिषेधे दार्ष्टान्तिकोपसंहारे यदुक्तं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादि-तमेव ग्रन्थं तदुक्तं दर्शयति, एतदपि त्वयैवापोदितं–अन्यत्वप्रतिषेधवचनम्, कथमिति तद्दर्शयति–ननु भवद्विशेषा[२] इत्यादि, ननु विशेषा एव भवन्ति[न]सामान्यं नाम किञ्चिदस्ति, ते च विशेषा एव भवन्तः समुदिता एकमित्युच्यन्ते, नैकं किञ्चिदनेकात्मकं वस्तु, किं तर्हि? एकैक एव–एको विशेषोऽन्योऽन्यो भवतीति परमार्थः, प्रणिधानवद्भिरभ्रान्तैरवगम्यते, भ्रान्तास्तु विशेषा एव भवन्तः समुदिता ए[३]कमित्युपासते, किमिव ? रूपरसादिघटैकत्वविशेषवत्, यथा रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या इत्या[४]दीतरेतरभूते[षु] विशेषगुणः अन्योन्यो भवतीति समुदायकृतादेकत्वात् भ्रान्तिहेतुकात्[?]

छादि तस्याग्ने रूपमित्युक्तम्भवतीति भावः । इदञ्च वचनमप्रत्ययमेवेत्याह–**एतच्चेति** । अग्निसंसर्गाद्दारुकाष्ठादिकमिध्यते दीप्यते तस्मादग्नेस्तद्रूपमित्यन्यत्वप्रतिषेधार्थं वचनमग्निदार्वादीनामन्यत्वमेव समर्थयति, प्राग्दार्वादि नेन्धनं–न दीप्तिस्वभावम्, पश्चादन्यस्याग्नेः सम्बन्धात्तद्दीप्तिस्वभावमिन्धनं जातमिति स्पष्टाग्निदार्वोरन्यताप्रतीतिरित्याशयेन व्याकरोति–**यद्यन्यत्वमिति,** तत्समर्थनादेव–अन्यत्वसमर्थनादेव । दार्ष्टान्तिके विशेषस्य भावादन्यत्वे विशेषस्वरूपताया भावस्यासम्भवेनान्यच्चरूपं विशेषस्य वाच्यमित्यादि यदुक्तं तदपि त्वयैवापोदितमित्याख्याति–**उपसंहारेऽपीति** । भावविशेषयोरेकत्वे प्रतिषिद्धेऽन्यत्वमर्थतः प्राप्यते, अन्यत्वाभिप्रायेणैवैकत्वस्य प्रतिषेधात्, एवमन्यत्वं विधाय पुनस्तदपि प्रतिषिध्यते दार्ष्टान्तिकोपसंहार इत्याह **भावविशेषयोरिति** । पूर्वोदितमेवान्यत्वप्रतिषेधग्रन्थमुपदर्शयति–**यदुक्तमिति** । पुनरप्यन्यत्वप्रतिषेधवचनमपीदं त्वयैवापोदितमिति प्रतिषेधग्रन्थमाह–**ननु भवद्विशेषा इत्यादीति,** विशेषा एव भवन्ति ते चैकैकाः, न त्वनेकात्मकमेकं वस्तु वर्त्तते, किन्त्वेकैकाः विशेषा एव समुदिता अनेकेऽपि एकमित्युच्यन्ते न तु सामान्यं नामैकं किञ्चिदस्ति, तत्र समुदितेषु विशेषेष्वेकत्वमतिर्भ्रान्तानाम्, अन्योऽन्यो विशेष इति तु मतिः प्रणिधानवतामभ्रान्तानामिति भावः । भ्रान्त्या समुदितेषु विशेषेष्वेकत्वमतिरित्यत्र दृष्टान्तमाह–**रूपरसादीति,** रूपरसगन्धस्पर्शादय एव विशेषाः परस्परं भिन्नाः, तेषु समुदायस्यैकत्वात् भ्रान्त्या एकघटबुद्धिरुत्पद्यत इति भावः । **इतरेतरेति,** इतरेतरभूतेषु–पृथक् पृथग्भूतेषु, यतो विशेषगुणोऽन्योऽन्यो भवतीति, अस्मादेव हेतोः भ्रान्तिहेतुभूतसमुदाय-

---

१ सि. क्ष. छा डे °न्यत्र प्र० । २ सि. क्ष. छा. डे. °शेषेत्यादि । ३ क्ष. छा. एशक एकमि० । ४ सर्वासु प्रतिषु 'इत्यादीतरेतराभूते विशेषगुणअन्योन्यो न भवतीति समुदायकृतादेकत्वाद्भ्रान्तिहेतुत्वात् पृथगेकत्वविलक्षणं'इत्येवं पाठ उपलभ्यते, अत्र कश्चिदंशस्त्रुटित इति प्रतिभाति ।

पृथगेकत्वविलक्षणं-विविक्तं विशेषविषयं प्रतिपादयितुं-विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना पृथगेकत्वमन्यत्वं विशेषाणां स्वरूपेणावधारयितव्यमिति वचनादेवान्यत्वं समर्थितम्, अतोऽन्यत्वप्रतिषेधेऽतिस्फुट एव स्ववचनविरोधो दार्ष्टान्तिकोपसंहारेऽपीति ।

ब्रूयास्त्वम्—

ननूभयतोऽपि प्रतिषेधाददोष, इति, अत्रेदमसि त्वं प्रष्टव्यः–किंविषया तर्ह्यवक्तव्यता? तत्र न तावद्भावस्य विशेषस्योभयस्य वा, भावस्यैकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रविभागेनाप्रविभागेन वा स्युः, अप्रविभागतस्तावदेकत्वं नास्ति, द्वितीयरहितस्योपाख्यानाशक्यत्वेन त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात्, प्रविभागतोऽपि नास्ति सहासहभवनस्य द्विष्ठत्वादित्यादिना निषिद्धत्वादेव, तथा विशेषस्योभयस्य च सिद्धे चैकत्वेतद्बलेनान्यत्वं व्यावर्त्त्येत, तत्तु नास्ति ।

(**नन्विति**) ननूभयतोऽपि प्रतिषेधाददोषः–एकत्वं प्रतिषिध्य पुनरन्यत्वमपि प्रतिषिद्धमेव, तथोभयत्वमनुभयत्वञ्च प्रतिषिध्यावक्तव्यतैव समर्थितेति, अत्रेदमसि त्वं प्रष्टव्यः–किंविषया तर्ह्यवक्तव्यता यद्युभयप्रतिषेध एव कतमद्वस्तु यदवक्तव्यम्, किं तद्भावो विशेष उभयं वेति निर्धार्यम्, वस्तुत्वे सति विकल्पत्रयानतिवृत्तेः, तत्र न तावद्भावस्य न विशेषस्य नोभयस्य वा, नकारानुवर्त्तनात्, भावस्यैकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वानि प्रविभागेनाप्रविभागेन वा स्युः, अप्रविभागेनैकत्वं यथा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, प्रविभागेन सति द्वितीये तेन सहासम्पर्कादेकं स्यात्, यथा–'न सिंहवृन्दं भुवि भूतपूर्वमाशीविषाणामपि नास्ति वृन्दम् । एकाकिनस्ते विचरन्ति धीरास्तेजस्विनां[1] नास्ति सहायकृत्यम् ॥' (   ) इत्येक-

---

कृतैकत्वात् तेष्वेको घट इति बुद्धिरुदेतीति भावः प्रतिभाति । अन्यत्वं व्यवस्थाप्य प्रतिषिद्धमिति यदुक्तं तद्दर्शयति-**पृथगेकत्वविलक्षणमिति,** भिन्नं यदेकत्वं-सामान्यं ततो विलक्षणमित्यर्थः, भावाद्विशेषस्यान्यत्वे सामान्यात् विलक्षणं रूपं विशेषस्य प्रतिपादयितुमिति भावः । **विशेषस्य भावपृथग्भूतमिति,** एकात्मकाद्भावात् पृथग्भूतं रूपं–स्वत एवैवैकत्वं, न तु भावैकत्वाद्विशेषाणामेकैकत्वम्, भावतोऽन्यत्वञ्च स्वरूपत एव वक्तव्यमिति वचनादन्यत्वं समर्थितमिति भावः । **अतोऽन्यत्वेति,** अस्माद्ग्रन्थान्ननु भवद्विशेषा इत्यस्मादन्यत्वप्रतिषेधे सति स्ववचनविरोधोऽत्यन्तं स्फुट एव दार्ष्टान्तिकेऽपीति भावः । एकत्वस्यान्यत्वस्य च प्रतिषेधात्तथोभयत्वस्यानुभयत्वस्य च निराकरणादवक्तव्यत्वं समर्थितमतो न स्ववचनविरोध इत्याह-**ननूभयतोऽपीति** । व्याचष्टे-**एकत्वं प्रतिषिध्येति** । एकत्वादीनां प्रतिषेधेऽवक्तव्यत्वं कस्येति प्रष्टव्योऽसीत्याह-**अत्रेदमसीति** । प्रश्नं व्याचष्टे-**यद्युभयेति** । एकत्वान्यत्वयोः प्रतिषेधेऽवक्तव्यत्वाश्रयं वस्तु किमित्यर्थः । तच्च भावो वा स्यात् विशेषो वोभयं वा, वस्तुनः सामान्यविशेषरूपतया विकल्पत्रयस्यैव सम्भवादित्याह-**किं तद् भाव इति** । त्रयमप्यवक्तव्यत्वस्य विषयो न सम्भवतीत्याह-**तत्र न तावदिति** । भावशब्देन समभिव्याहृतस्य नञः विशेषेणोभयेन च सम्बन्धात् त्रयस्यापि निषेध इत्याशयेनाह-**नकारेति** । तत्र यदि भावो विषयस्तर्हि किं निरपेक्षैकत्वान्यत्वादि मन्यते, उत सापेक्षैकत्वादि चेति विकल्पयति-**भावस्यैकत्वेति** । यदि भावनिरपेक्षैकत्वं तदा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादिवत् स्यात्, यदि च सापेक्षैकत्वं तर्हि एकत्वमसहायः ससहायश्च द्वित्वादीति सहायविरहतद्योगरूपतयैकत्वादेः सति सहाये प्रसिद्धे तेन सहासम्बन्धादसहायरूपैकत्वं भवेदित्युभयं पक्षं दर्शयति-**अप्रविभागेनेति** । असहायरूपैकत्वं सहाये सतीत्यत्र निदर्शनमाह-**न सिंहवृन्दमिति,** किमर्थं सिंहोऽटव्यामेकाकी चरति ?

---

१ सि. क्ष. डे. °स्विनामस्ति ।

शब्दस्यासहायार्थत्वात्, अप्रविभागतस्तावदेकत्वं भावस्य विशेषस्योभयस्य वा नास्ति, द्वितीयरहितस्यो[1]पाख्यानाशक्यत्वेन त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात्, प्रविभागतोऽपि नास्ति, सहासहभवनस्य द्विष्ठत्वादित्यादिना निषिद्धत्वादेव, तथा विशेषस्योभयस्य चैकत्वं नास्तीत्युक्तम्, सिद्धे चैकत्वे तद्बलेनान्यत्वं व्यावर्त्त्येत–सम्भाव्यते चैकत्वं परिगृह्य तद्द्वारेण–तदुपायेनान्यत्वस्य व्यावर्त्तनम्, तत्तु नास्त्येकत्वं तदभावादन्यत्वप्रतिषेधाभावः ।

स्यान्मतमन्यत्वं सिद्धं तद्बलेनैकत्वोभयत्वादि प्रतिषिध्यत इति तच्च—

न चान्यत्वं सिद्धम्, त्वयैव तस्यापि निषिद्धत्वात्, यद्बलेनोभयत्वं व्यावर्त्येतैकत्वं वा तथानुभयत्वमपि नास्ति, एकत्वान्यत्वयोर्लक्षणभेदनियमादित्युक्तम्, यद्बलेनैकत्वान्यत्वोभयत्वानि व्यावर्त्येरन्, यस्य वाच्यतामवाच्यतां वा गृहीत्वाऽवाच्यं वाच्यं वा व्यावर्त्तेत, व्यवस्थापूर्वत्वादितरव्यावर्त्तनस्य ।

(न चेति) नान्यत्वं सिद्धं–तथैव[ा] प्रविभागतो वान्यत्वं नास्ति घटपटयोरिव जीवशरीरयोरिव वा संभाव्यमानं, त्वयैव तस्यापि निषिद्धत्वात्, यद्बलेन–अन्यत्वद्वारेणोभयत्वं व्यावर्त्त्येतैकत्वं वा, तथानुभयत्वमपि नास्ति, एकत्वान्यत्वयोर्लक्षणभेदनियमादित्युक्तं यद्बलेनैकत्वान्यत्वोभयत्वानि व्यावर्त्त्येरन्, यस्य वाच्यतां गृहीत्वेति, इदं[2] वाच्यमेकत्वमन्यत्वमुभयत्वं वा दृष्टम्, इदन्तु तद्वन्न भवति, अवाच्यम्, तथेदं[न]वाच्यमनुभयं तद्वत्तानि न वाच्यानीत्यवाच्यबलाद् वाच्यं[3] वा व्यावर्त्त्येत, व्यवस्थापूर्वत्वादितरव्यावर्त्तनस्य ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थाधिगमाच्च, कथम्? एकशब्दो ह्यन्यनिरपेक्षसंख्यार्थः, तस्मा-

---

किमर्थं वाऽऽशीविष एककश्चरति? न तु वृन्दरूपतया तेषां सञ्चरणं जगति कदापि दृष्टम् तत्रोत्तरं–ते धीरा यतोऽत एवैकाकिनश्चरन्ति तेजस्विनां हि सहायेन न किमपि प्रयोजनमस्तीति तदर्थः, अत्र वृन्दस्य सद्भावेऽपि तेन सह संपर्काभावोऽसहायपरेणैकशब्देन सूचित इति भावः । तदेवं प्रविभागाप्रविभागतो द्वैविध्यं प्रदर्श्याथाप्रविभागेन भावादेरेकत्वेऽभ्युपगते स्वरूपाभावेनोपाख्यातुमशक्यत्वस्य त्वयैव प्राक् प्रतिषिद्धत्वेनासत्त्वापत्तिः स्यादित्याह–**अप्रविभागतस्तावदिति । प्रविभागतोऽपीति,** भावस्य विशेषेण सहैकत्वरूपं प्रविभागत एकत्वं तच्च निषिद्धमेकत्वे इदं सह इदञ्च न सहेति विशेषासम्भवादिति भावः । एवमेव च विशेषस्योभयस्य चैकत्वप्रतिषेधः सिद्ध इत्याह–**तथा विशेषस्येति,** एवमेकत्वासिद्धत्वादन्यत्वं कथं व्यावर्त्तयितुं शक्यते, सिद्धैकत्वपरिग्रहादेवान्यत्वव्यावर्त्तनसम्भवात्, नास्ति चेदेकत्वं तदाऽन्यत्वप्रतिषेधोऽपि न सम्भवत्येवेति भावः । अथाऽन्यत्वं सिद्धवत्कृत्य तद्द्वारेणैकत्वोभयत्वादिकं निषिध्यत इत्यत्राह–**न चान्यत्वमिति ।** घटपटयोरिव प्रविभागतो जीवशरीरयोरिवाप्रविभागतो वा नान्यत्वं सिद्धमेकत्वेनानुपष्टब्धत्वात्, एकत्वं हि अन्वयः, अन्यत्वञ्च विशेषः, न ह्यन्वयरहितो विशेषो निःस्वरूपोऽस्ति, उपाख्यातुमशक्यत्वादित्यादिनाऽन्यत्वस्य त्वयैव प्रतिषिद्धत्वान्न तद्द्वारेणैकत्वोभयत्वादिव्यावृत्तिसम्भव इत्याशयेन व्याकरोति–**नान्यत्वं सिद्धमिति ।** एवमनुभयत्वमप्यसिद्धम्, एकत्वस्यासहायत्वलक्षणत्वात्, अन्यत्वस्य च ससहायलक्षणत्वादिति भिन्नभिन्नलक्षणात् तयोर्व्यवस्थितत्वादित्याह–**तथाऽनुभयत्वमपीति ।** एवञ्च यथेन व्यावर्त्त्येत तयोरुभयोर्व्यवस्थितयोरेव व्यावृत्तिः सम्भवति, यथा–इदं एकत्वमन्यत्वमुभयत्वं वा वाच्यं दृष्टम्, इदन्त्वनुभयत्वं वाच्यं न भवतीति वाच्यताव्यावृत्त्याऽवाच्यत्वं स्यात्, एवमनुभयत्वमवाच्यं दृष्टम्, इदन्त्वेकत्वमन्यत्वमुभयत्वं वा नावाच्यमित्यवाच्यताव्यावृत्त्या वाच्यत्वं स्यादित्याह–**यस्य वाच्यतामिति ।** हेत्वन्तरमाह–**अन्वयेति ।** सर्वत्रार्थनिश्चयोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां भवति–यथाऽयं घट एवेत्यन्वयान्न

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °रहितस्वरूपा० । २ सि. क्ष. छा. डे. एदं । ३ सि. क्ष. छा. डे. °बलादवाच्यं वाच्याववर्तेतरव्यवस्थापूर्वस्यादिता० ।

देक इत्युक्ते नान्योऽस्तीत्युक्तं भवति, स चार्थो न घटते, न स निरपेक्षः, एकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वविकल्पानामन्योऽन्यापेक्षत्वात्, अथासहायवचन एकशब्दः, तथा सति सहगते-द्व्याद्यर्थेनाव्यतिरेकादेकत्वं नास्ति किन्त्वन्यत्वमेव सिद्ध्येदिति पुनरन्यत्वमेवार्थः ।

(**अन्वयेति**) अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थाधिगमाच्च, कथमिति, तत्कथं भाव्यत इति पृच्छति, उच्यते—एकशब्दो ह्यन्यनिरपेक्ष संख्यार्थोऽप्रविभागैकशब्दार्थत्वात्, हिशब्दो यस्मादर्थः, यस्मादेकशब्दः संख्यावाचित्वेऽन्यनिरपेक्षां संख्यां संख्ये[ये]न प्राधान्येनाह संख्यान्तरव्यावर्त्तनार्थम्, एकोऽयं न द्वित्र्यादयोऽर्था इति लोके, तस्मादेक इत्युक्ते नान्योऽस्तीत्युक्तं भवति, स चार्थो न घटते न स निरपेक्षः यस्मादेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वविकल्पानामन्योऽन्यापेक्षत्वात् प्रागुक्तविधिना, अथासहायवचन एकशब्दः—अथ मा भूदेष दोषोऽन्यनिरपेक्षसंख्यार्थत्वकृत इत्यसहायवाची विकल्प्येतैकशब्दः, तस्मादस्त्येकत्वं तदस्तित्वादन्यत्वाद्यप्यस्तीत्यवक्तव्यविषयसद्भावसिद्धिरिति, अत्र ब्रूमः तथा[स]तीत्यादि, सहैतीति सहायः सहायनं सहगतिः द्वयोर्बहूनां वा भवतीति सहगतेद्व्याद्यर्थेन [अ]व्यतिरेकादेकत्वं नास्तीति तदवस्थमवक्तव्याविषयत्वम्, किन्त्वन्यत्वमेव च सिद्ध्येदिति पुनरन्यत्वमेवार्थः, एवमेकशब्दोऽर्थापत्त्याऽन्यत्ववाचीत्युक्तम्, अथान्य एकः सोऽपि ततोऽन्य एक इत्येकशब्दोऽन्यार्थवाची ।

ततोऽन्यार्थे तु साक्षादन्यत्वमेव विशेषविषयं ततोऽन्यत्वनिषेधेऽतिस्फुट एव स्ववचनविरोध इत्युक्तम्, तथा चानन्यत्वमपि सिद्ध्यति प्रतिपक्षाक्षेपात्, यथा व्याख्यातमेकत्वान्यत्वयोः परस्परप्रत्यपेक्षत्वं तथोभयानुभयत्वयोश्च, एवं तावदेकत्वसिद्धप्रतिपक्षबलात् सिद्धं

पटादिरिति व्यतिरेकाद्घटस्वरूपावधारणं भवति तथैकशब्देनाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थाध्यवसाय इत्याशयेन तन्निरूपयति—**कथमितीति,** एकशब्दोऽन्यनिरपेक्षसंख्यावचनः, अन्यनिरपेक्षसंख्याया अप्रविभागैकशब्दार्थत्वात्, यथा एको घट इत्यादौ यदा संख्यावाच्येकशब्दो न त्वसहायवचनस्तदाऽन्यनिरपेक्षामेकत्वगुणरूपां संख्यां संख्यावद्द्रव्यप्राधान्येनाभिधत्ते, एकत्वसंख्यावानेवायं घट इति, यतोऽत्रैकत्वं विशेषणं विशेषणत्वञ्च व्यावर्त्तकत्वरूपमत एवापरसंख्याव्यावृत्तिरपि ततो भवति, एक एवायं घटो न द्व्यादिरिति, एवमेव हि लोकेऽनुभूयते, एवञ्चैक इत्युक्त एक एव, नान्योऽस्तीति निरपेक्षैकत्वमुक्तं भवति, एवञ्चेदृशार्थो विकल्पविषयैकत्वनानात्वोभयत्वादौ न घटते तद्विकल्पानां परस्परापेक्षत्वादिति भावः । एनमेव भावं स्फुटीकरोति—**एकशब्दो हीति ।** एवं गुणभूतैकत्वविशिष्टवाचकत्वमेकशब्दस्योपदर्श्य तन्नात्र घटत इत्याह—**स चार्थ इति । न स इति,** एकत्वान्यत्वादिविकल्पविषय एकत्वं न निरपेक्षमित्यर्थः । तद्विकल्पानां परस्परसाकांक्षत्वादित्याह—**यस्मादेकत्वेति ।** न निरपेक्षैकत्ववचन एकशब्दः, किन्त्वसहायवचनः, तस्मान्न प्रोक्तदोषसम्भावनाऽत्रास्ति, तस्मादेकत्वान्यत्वयोः सद्भावादवक्तव्यत्वविषयसिद्धिरित्याशङ्कते—**अथासहायवचन इति ।** व्याकरोति—**अथ मा भूदिति ।** एवमप्येकत्वं नास्तीति समाधत्ते—**तथा सतीत्यादीति,** सहायो नाम सहगमनम्, तच्च द्वयोर्बहूनां वा पदार्थानां भवति, ते च पदार्था एकत्वेनाव्यतिरिक्ताः, ससहायेष्वप्येकत्वप्रत्ययदर्शनात्, तथा च सहायविरहरूपासहायात्मकैकत्वं नास्तीति नावक्तव्यविषयसद्भावसिद्धिः, एकत्वाभावादेव चान्यत्वमेव सिद्ध्येत्, तथा च य एक इत्युच्यते सोऽन्य एवेत्येकशब्दस्यान्यत्वमेवार्थोऽर्थतः सम्पद्यत इति भावः । द्वयोर्बहूनां वा मध्ये योऽन्यः स एकः, यतोऽन्यः सोऽप्येक इति, योऽन्यो न भवति, अथ चैको भवतीदृशस्य कस्याप्यर्थस्याभावादन्य एवार्थादेकशब्दवाच्य इति दर्शयति—**अथान्य इति ।** भवत्वेकशब्दोऽन्यार्थः को दोष इत्यत्राह—**ततोऽन्यार्थे त्विति ।** पृथगेकत्वविलक्षणं विशेषविषयं प्रतिपादयितुं विशेषस्य भावपृथग्भूतं रूपमाख्येयमित्यादिना पृथगेकत्वमन्यत्वं विशेषाणां

सद् व्यावर्त्यते नान्यथेत्यवक्तव्यनिर्विषयता, एवमन्यत्वोभयत्वादावपीत्येकत्वादिप्रतिषेधाः किं कथमवक्तव्यम्? ते तु निषेध्यानामतथात्वे निर्मूला अवक्तव्यत्वमेव व्यावर्त्तयन्तीति।

(**तत इति**) ततोऽन्यार्थे तु साक्षादन्यत्वमेव विशेषविषयं ततोऽन्यत्वनिषेधेऽतिस्फुट एव स्ववचनविरोध इत्युक्तम्, किञ्चान्यत्--तथा चानन्यत्वमपि--यथा चैकशब्दोऽस्मदुक्तन्यायेनान्यत्वे वर्त्तते तेन प्रकारेण तथाऽनन्यत्वमपि सिद्ध्यति, अनन्यत्वेन विनाऽन्यत्वस्याभावात्, तत आह--प्रतिपक्षाक्षेपादिति गतार्थम्, यथा व्याख्यातमेकत्वान्यत्वयोः परस्परप्रे[2]त्य[पे]क्षत्वं तथोभयानुभयत्वयोश्चेति, एवं तावदेकत्वसिद्धप्रतिपक्षबलात् सिद्धं सद्व्यावर्त्त्यते नान्यथेत्यवक्तव्यनिर्विषयता नान्यथेत्युक्तम्, अनेन शेषमुक्तं भवतीत्यतिदिशति-एवमन्यत्वोभयत्वादावपीति, आदिग्रहणादनुभयत्वे चायं न्यायोऽवतार्यः, न तावद्भावस्य विशेषस्योभयस्य वा कथञ्चिदपि प्रविभागतोऽप्रविभागतो वाऽन्यत्वमस्त्युभयत्वमस्तीत्युपक्रम्यान्यत्वासिद्धावेकत्वाभावमुभयत्वाभावमुभयत्वासिद्धौ चैकत्वान्यत्वाभावं वाऽऽपा[1]दयित्वा भावयित[व्य]मिति, तदुपसंहरति--इत्येकत्वादिप्रतिषेधाः किं कथमित्यादि यावत् व्यावर्त्तयन्तीति, एवमुक्तविधिनैकत्वादिप्रतिषेधाः किं--के ते प्रतिषेधाः न भवन्तीत्यर्थः, तत्प्रतिषेधाभावात् कथमवक्तव्यमिति, निरुपपत्तिकं निर्विषयञ्चेत्यर्थः, ते तु--एकत्वादिप्रतिषेधा निषेध्यानामतथात्वे निषेध्यत्वाभावे निर्[3]मूलत्वादवक्तव्य[त्व]मेव व्यावर्त्तयन्तीति।

अत्राह--

न पराभिप्रायगतैकत्वाद्येकान्तव्यावर्त्तनार्थत्वान्निर्मूलाः प्रतिषेधाः, न च निर्विषयम-

---

स्वरूपेणावधारयितव्यमिति वचनात् प्रागन्यत्वं विशेषाणां समर्थितम्, अत्र त्वेकशब्देन साक्षादेवान्यत्वं समर्थितं ततश्चान्यत्वप्रतिषेधे स्ववचनविरोधोऽतिस्फुट इत्यादर्शयति--**साक्षादन्यत्वमेवेति**। यथा चासहायलक्षणैकत्वाभावात् सर्वत्रान्यत्वस्य सद्भावादन्यवाच्येकशब्दः, तथा भेदात्मकान्यत्वस्याभेदपूर्वकत्वादनन्यत्वमपि सर्वत्रास्ति, अन्यत्वं हि सापेक्षं कुतोऽन्यत्वमिति, अनन्यस्माद्ध्यन्यत्वमतोऽन्यत्वं स्वप्रतिपक्षमनन्यत्वं तेन विना तदभावादाक्षिपति तस्मादनन्यत्वमपि सिद्ध्यत्यन्यत्ववदिति तत्प्रतिषेधे स्ववचनविरोध एवेत्याशयेनाह--**तथा चान्यत्वमपीति**। तदेवमेकत्वान्यत्वयोः परस्परापेक्षत्वात् सर्वत्रोभयसिद्धिः तथोभयत्वमनुभयत्वमपि परस्परापेक्षमित्याह--**यथा व्याख्यातमिति**। एवं स्वप्रतिपक्षाक्षेपकत्वादेकत्वादीनां प्रतिपक्षसिद्धौ सत्यां त्वया तद्व्यावर्त्यत इति स्ववचनविरोधात् कोऽवक्तव्यत्वस्य विषयः स्यात्, असिद्धस्य तु न व्यावृत्तिः सम्भवतीत्याह--**एवं तावदेकत्वेति**। एवमेवान्यत्वसिद्धप्रतिपक्षबलादुभयत्वसिद्धप्रतिपक्षबलादनुभयत्वसिद्धप्रतिपक्षबलाच्च सिद्धं सद्व्यावर्त्यत इत्यवक्तव्यनिर्विषयतेत्युक्तम्भवतीत्याह--**अनेनेति**। एवमेवानुभयत्वेऽपि विचारणा कार्येत्याह--**अनुभयत्वे चेति**। अवतारणदिशमादर्शयति--**न तावद्भावस्येति,** भावादेः प्रविभागतोऽप्रविभागतो वा नान्यत्वादिकमस्ति, सहासहभवनस्य द्विष्ठत्वादित्यादिनाऽन्यत्वस्य निषिद्धत्वात्, प्रविभागतोऽन्यत्वाभावात्, अप्रविभागतोऽप्यन्यत्वस्य सापेक्षतयाऽपेक्ष्यमाणस्यैकत्वादेरभावेनान्यत्वस्याप्यसिद्धेः सिद्धे ह्यन्यत्वे एकत्वादिकं तद्बलेन व्यावर्त्तयितुं शक्यम्, तत्तु नास्त्यन्यत्वमिति नैकत्वादिप्रतिषेधः, एवमेवोभयत्वासिद्ध्या एकत्वान्यत्वयोः प्रतिषेधाभाव ऊह्यः, तथैकत्वान्यत्वादीनां परस्परसापेक्षत्वेनान्यत्वादेरेकत्वाद्यविनाभावितयैकत्वादेरपि सिद्धावेकत्वादिनिषेधे स्ववचनविरोधोऽतिस्फुट एवेत्यादिभावना यथायोगं कार्येति भावः। इत्थमेकत्वादिप्रतिषेधासम्भवादवक्तव्यत्वं निर्विषयमेवेत्याह--**इत्येकत्वादिप्रतिषेधा इति**। ते एकत्वादिप्रतिषेधाः प्रतिषेधप्रतियोग्येकत्वादीनां प्रतिषेध्यानां प्रतिषेध्यत्वाभावादवक्तव्यत्वमेव निर्मूलत्वाद्व्यावर्त्तयन्ति, सति ह्येकत्वादौ तत्प्रतिषेधसम्भवेनावक्तव्यत्वं समूलं स्यात्, न चैवमिति दर्शयति--**ते त्विति**। नन्वेकत्वादिप्रतिषेधा निर्मूला न भवन्ति, परैर्हि एकान्तेनैकत्वाद्यभ्युपगम्यते तद्व्यावर्तनाय तत्प्रतिषेधाः, अत एव चावक्तव्यत्वं निर्विषयं न भवति, प्रतिषेधानामेकान्तैकत्वादिव्यावर्त्तकतया सद्भावादित्याशङ्कते--**न पराभिप्रायेति**। व्याचष्टे--

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °पादयिताभावयितमिति। २ सि. क्ष. डे. केन। ३ सि. क्ष. छा. डे. निर्मूलादिर्मूलत्वा°।

वक्तव्यत्वम्, एकत्वादिप्रतिषेधतथार्थत्वात्, अथ त एकत्वादयो विद्यमाना अविद्यमाना वा कथं परेण प्रतिपन्नाः? यदि तावद्विद्यमानाः सन्तः प्रतिषिध्यन्ते ततस्तत्रावक्तव्यत्वनिर्विषयतोक्ता, अथाविद्यमानाः, अत्यन्तमभूतत्वात् कथं प्रतिपत्तुं शक्यन्ते? अप्रतिपन्नत्वादेव प्रतिषेधानुपपत्तिः।

(**नेति**) न पराभिप्रायगतैकत्वाद्येकान्तव्यावर्त्तनार्थत्वान्निर्मूलाः प्रतिषेधाः, न च निर्विषयमवक्तव्य[त्व]म्, एकत्वादिप्रतिषेधतथार्थत्वात्, तेऽपि पराभिप्रायगतानामेकत्वादीनां प्रतिषेध्यानामेकान्तानां व्यावर्त्तनार्थाः, तस्माददोष इत्यत्रोच्यते—अथ त एकत्वादय इत्या[दि]यावत् कथं परेण प्रतिपन्नाः? इति, यदि तावदेकत्वादयः परेण यथा विद्यन्ते तथैव प्रतिपन्नाः सन्तः प्रतिषिध्यन्ते ततस्तत्रावक्तव्यत्वनिर्विषयतोक्ता, अथाविद्यमानाः, अत्यन्तमभूतत्वात् खपुष्पवदसन्तस्ते कथं प्रतिपत्तुं शक्यन्तेऽतोऽप्रतिपन्नत्वादेव न प्रतिषेध्या इति प्रतिषेधानुपपत्तिः।

ननु वादपरमेश्वरवादवत् प्रतिषेध उपपद्यत इत्येतच्चायुक्तम्, तद्वैधर्म्यात्, न ह्येषां भवता एकान्तभवनं व्यावर्त्त्याऽनेकान्तभवनं प्रतिपाद्यते, तत्र ह्यनेकान्तरूपेण वक्तव्या एव सन्त एकान्तरूपेणावक्तव्या इत्युच्यन्ते, सप्रतिपक्षत्वाद्भावानाम्, तथा ह्याह 'सप्रतिपक्षाण्येतानि यतस्तस्मान्न तानि वाच्यानि। एकान्तेन हि वदतो मिथ्यावादः प्रसज्येत॥' (   ) इति।

(**नन्विति**) स्यान्मतं स्याद्वादेऽपि सामान्यविशेषयोः किमेकत्वं नानात्वमुभयत्वमनुभयत्वमवक्तव्यत्वमिति पृष्टे प्रतिषेधाः क्रियन्ते नैकत्वं न नानात्वं नोभयत्वं नानुभयत्वं नावक्तव्यत्वं किं तर्हि? स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वं स्यादुभयत्वं स्यादनुभयत्वं स्यादवक्तव्यत्वमित्यादि एतच्चायुक्तम्, तद्वैधर्म्यादिति-तद्दर्शयति—न ह्येषां भवतेत्यादि, स्याद्वादो हि वादानामीष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात्, तस्मिंश्चैकत्वादयो भवन्त एवैकान्तग्राहनिषेधेन निगृह्यन्ते, अनुगृह्यन्ते वा अनेकान्तप्रतिपादनात्, न तद्वदवक्तव्यत्ववादिना भवता

तेऽपीति। समाधत्ते-**अथ त इति,** परेण एकत्वादयो यथा विद्यन्ते तथैव स्वीकृतानां तेषां त्वया प्रतिषिध्यमानत्वेऽवक्तव्यत्वं निर्विषयमेव भवेत्, यथार्थतया विद्यमानानां प्रतिषेधासम्भवात्, सिद्धस्य प्रतिषेधायोगादिति भावः। यद्यविद्यमाना एकत्वादयस्तर्हि कस्यापि तत्प्रतिपत्तिर्न भवेदत्यन्तमभूतत्वात्, न ह्यत्यन्तमभूतं खपुष्पादि केनापि प्रतिपद्यत इति प्रतिषेध्याभावादेवानुपपन्नः प्रतिषेध इत्याह-**अथाविद्यमाना इति।** अथ स्याद्वादे यथैकत्वादिप्रतिषेधाः क्रियन्ते तथाऽत्रापि प्रतिषेधा उपपद्यन्त एवेत्याशङ्कते-**नन्विति।** व्याचष्टे पूर्वपक्षं-**स्यान्मतमिति।** प्रतिषेध्यान् दर्शयति-**नैकत्वमिति,** एकत्वादयः प्रतिषिध्यन्त इति भावः। स्याद्वादे किं व्यवस्थाप्यत इत्यत्राह-**स्यादेकत्वमिति,** कथञ्चिदेकत्वमित्यर्थः। एवमेवास्माभिरेकत्वादिकं प्रतिषिध्यावक्तव्यत्वं व्यवस्थाप्यत इति भावः। न स्याद्वाददृष्टान्तोऽत्र युज्यते, दार्ष्टान्तिकस्य दृष्टान्ताद्वैधर्म्यादित्याह-**तद्वैधर्म्यादिति।** वैधर्म्यमेवाविष्करोति-**न ह्येषामिति,** स्याद्वादो हि वादप्रतिपाद्यपदार्थानां केनचित्प्रकारेण निग्रहस्य केनचिच्च प्रकारेणानुग्रहस्य विधाने क्षमोऽत एव च वादानां स परम ईश्वर उच्यते, न ह्यत्रैकत्वादयः सर्वथा निषिध्यन्ते किन्तु वाद्यभिमतधर्मतिरस्कारद्वारेण ते निगृह्यमाणा धर्मान्तरव्यवस्थापनद्वारेणानुगृह्यन्ते, यथा हि वादिभिरेकत्वादीनामेकान्तभवनमभ्युपगतं

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °प्रायेगतै०। २ सि. क्ष. छा. डे. ते च निर्वि०।

एकत्वादीनामेकान्तभवनं व्यावर्त्यानेकान्तभवनं प्रतिपाद्यते, तस्मादसत्प्रतिषेधादसमञ्जसोऽयं दृष्टान्तो वादपरमेश्वरवादवदिति, तत्र ह्यनेकान्तरूपेण स्यादैक्यं स्यान्नानात्वमित्यादिवक्तव्या एव सन्त एकान्तरूपेणावक्तव्या इत्युच्यन्ते सप्रतिपक्षत्वाद्भावानाम्, तथा ह्याह-सप्रतिपक्षाण्येतानि यतस्तस्मान्न तानि वाच्यानि। एकान्तेन हि वदतो मिथ्यावादः प्रसज्येत' ॥ (   ) इति।

अत्र साधनमाह नियमविधिनयः—

अवक्तव्यशब्दस्य तु प्रतिपक्षः सम्भाव्यते नञ्युक्तत्वात्, अब्राह्मणवत्, अपि च त्वयाप्यभिजल्पशब्दार्थवादिना दिक्प्रत्यासत्त्याऽवक्तव्योऽर्थ इत्यभ्युपगतम्, त्वन्मत्या स चावक्तव्य एवावक्तव्य इति नञा प्रतिषिध्यते, स च प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतिं गमयेत्, अनब्राह्मणवदिति।

(**अवक्तव्यशब्दस्येति**) अवक्तव्यशब्दस्य तु प्रतिपक्षः सम्भाव्यते नञ्युक्तत्वात्, अब्राह्मणवत्, सम्भाव्यमानप्रतिपक्ष एवावक्तव्यशब्दः तदर्थो वेति पक्ष[:] नञ्युक्तत्वादिति शब्देऽर्थे च हेतुर्योज्यः, तथा दृष्टान्तोऽप्यब्राह्मणवदिति, ब्राह्मणो न भवति, अन्यो वा ब्राह्मणादित्यब्राह्मणः, सत्येव ब्राह्मणे प्रतिपक्षे क्षत्रियादिर्भवति, तथा प्रतिपक्षे वस्तुनि वक्तव्ये सत्यवक्तव्यशब्दोऽर्थो वा भवितुमर्हतीति, अपि च त्वयापीत्यादि, न केवलं सम्भावनयाऽस्मदीयया[वक्तव्यत्वम]वक्तव्यत्वञ्च वस्तुनः, किन्तर्हि ? त्वयाप्यभिजल्प-

---

तत्तिरस्कारद्वारेणैकत्वादयो निगृह्यमाणा अनेकान्तभवनव्यवस्थापनद्वारेणानुगृह्यन्ते, अवक्तव्यवादिना त्वया तु तथा न प्रतिपाद्यतेऽतो वैधर्म्यम्, त्वया हि यथा न विद्यन्ते एकत्वादयस्तथाविधानामेव प्रतिषेधादसत्प्रतिषेधस्तव, तस्मान्न स्याद्वाददृष्टान्तोऽत्र युज्यत इति भावः। स्याद्वादे कथञ्चिदवक्तव्यत्वस्यैव प्रतिपादनमित्याह-**तत्र ह्यनेकान्तरूपेणेति,** न तु सर्वथाऽवक्तव्यत्वम्, भावानां स्वप्रतिपक्षधर्मयुक्तत्वादिति भावः। अत्रार्थे प्राचां संवादमाह-**तथा ह्याहेति,** यस्माद्वस्तूनि सप्रतिपक्षाणि तस्मादेकान्तेन तानि न वाच्यानि, यदि तान्येकान्तेनोच्यन्ते तर्हि स वादो मिथ्यावाद एव स्यादिति भावः। भावानां सप्रतिपक्षधर्मयुक्तत्वात्तद्वाचकशब्दोऽपि सप्रतिपक्ष इति मत्वा शब्दस्य विद्यमानप्रतिपक्षत्वं नियमविधिनयोऽनुमानतो व्यवस्थापयति-**अवक्तव्यशब्दस्य त्विति**। व्याचष्टे-**अवक्तव्येति**। हेतुमाह-**नञ्युक्तत्वादिति,** नञ्पदसमभिव्याहृतपदत्वादित्यर्थः। दृष्टान्तमाह-**अब्राह्मणवदिति**। शब्देऽर्थे च प्रतिपक्षतासाधनाय समीकृत्य पक्षमाह-**सम्भाव्यमानेति,** यस्य शब्दस्य तदर्थस्य च प्रतिपक्षः सम्भाव्यमानस्तथाविधोऽवक्तव्यशब्दस्तदर्थश्च नञ्घटितत्वमवक्तव्यशब्दस्य नञर्थघटितत्वमवक्तव्यशब्दार्थस्य एवञ्च नञ्युक्तत्वं शब्दपक्षकहेतुः, नञर्थयुक्तत्वं तदर्थपक्षकहेतुरिति भावः। दृष्टान्तं स्फुटयति-**ब्राह्मणो न भवतीति,** पूर्वपदनञर्थोऽत्र निवृत्तिरूपः प्रधानं तस्यासतः क्रियायोगाभावान्निषेधस्य प्रसज्यपूर्वकत्वादुत्तरपदार्थसदृश एव ब्राह्मण्येनावसितः क्षत्रियादिरवगम्यते, ब्राह्मणादन्योऽब्राह्मण इत्यत्रान्यपदार्थः प्रधानम्, स च क्षत्रियादिः, कस्माच्चिद्भ्रान्तिकारणात् क्षत्रिये ब्राह्मणशब्दः प्रयुज्यते, स मिथ्याध्यवसायः, तं गुणप्रयोगादुपजाता सम्यग्बुद्धिस्ततो निवारयति, नायं ब्राह्मणो मिथ्यात्वेवमध्यवसितः, तत्सदृशोऽब्राह्मणोऽयं क्षत्रियादिरिति निर्णयो जायते, नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिरिति न्यायात्, एवञ्चाब्राह्मणप्रतिपक्षभूतब्राह्मणसद्भाव एवायं क्षत्रियादिरब्राह्मणो भवति तथैवावक्तव्यशब्दस्तदर्थो वा स्वप्रतिपक्षस्य वक्तव्यशब्दस्य तदर्थस्य च सद्भाव एव भवितुमर्हति नान्यथेति भावः। अवक्तव्यत्वे आवयोर्मतिसंवादः, मयेव त्वयाऽप्यवक्तव्यत्वाभ्युपगमात्, यतस्त्वया शब्दार्थोऽभिजल्प इति स्वीकृतः, अत्राभिजल्पः शब्दार्थः प्रागेवोक्त इति दिक्प्रत्यासत्त्योक्तत्वादित्याह-**न केवलमिति,** वस्तु वक्तव्यमवक्तव्यञ्चेति न केवलमस्मदीयसम्भावनया, किन्तु त्वयाप्यभ्युपगतमेवेति भावः।

शब्दार्थवादिना दिक्प्रत्यासत्त्याऽवक्तव्योऽर्थ इत्यभ्युपगतम्, अत्र[1] चावयोर्मतिसंवादः, स चावक्तव्य एव त्वन्मत्या योऽभिजल्पेनोच्यतेऽर्थः सोऽवक्तव्य इति वक्तव्य एव नञा प्रतिषिध्यते, तस्मादर्थादापन्नो द्विनञ्प्रयोगोऽयमवक्तव्य इत्यवक्तव्यः, स च द्विनञ्प्रयोगः प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतं गमयति, अनब्राह्मणवदिति, अथवा कश्चिल्लोके ब्रूयादवक्तव्यो न भवत्यब्राह्मणो न भवतीति प्रयोगवत् सोऽनवक्तव्यो द्विनञ्प्रयोगात् प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात् प्रकृतिं गमयेदिति, एतेन स्ववचनाभ्युपगमविरोधावुद्भाव्य स्वयं वक्तव्यत्वे साधनमाहेति पिण्डार्थः ।

संवृत्यैव वाग्व्यवहार इति चेत्, अपरमार्थस्तर्ह्यवक्तव्यः, संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वात्, मण्डूकजटाभारकृतकेशालङ्कारवन्ध्यापुत्रखपुष्पदामकृतमुण्डमालाख्यानवत्, धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् प्रतिपादनप्रमाणाभावेनाविदितं भवत्यवक्तव्यं वस्तु ।

(**संवृत्यैवेति**) संवृत्यैव वाग्व्यवहार इति चेत्—स्यान्मतं न शब्दः कश्चिदर्थं ब्रूते, यथोक्तं—'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामत्यन्तसम्बन्धो नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥ येन येन विकल्पेन यद्यद्वस्तु विकल्प्यते । परिकल्पित एवासौ स[2] भावो न हि विद्यते ॥' (   ) इत्यादि, तत्र कः शब्दार्थः ? का वा चिन्ता ? मयोक्तं सत्यं न त्वयोक्तमिति, तस्मात् संवृतिसत्यं व्यवहारगोचरत्वाददोषं सर्वमिति, अत्र ब्रूमः, अपरमार्थस्तर्ह्यवक्तव्यः, कस्मात्? संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वात्, यस्त्वया

तत्कथमित्यत्र प्रथममवक्तव्यत्वे मतिसंवादं दर्शयति-**त्वयापीति** । वक्तव्यत्वमप्यभ्युपगतमिति दर्शयितुमाह—**स चावक्तव्य एवेति,** अभिजल्पोऽवक्तव्य एव, तथाऽभिजल्पेनोच्यते योऽर्थो घटपटादिः सोऽपि त्वद्रीत्याऽवक्तव्यस्तथा चाभिजल्पेनाव्यक्तव्येनावक्तव्योऽर्थो घटादिरुक्तः, अवक्तव्योऽयमवक्तव्यः, तस्य च अवक्तव्यो न वक्तव्य इत्यर्थः स्यात्, तथा च नञ्द्वयप्रयोगोऽयमापन्नः, द्विःप्रयुक्तो नञ् प्रकृतमर्थं गमयति प्रतिषेधप्रतिषेधार्थत्वात्, यथाऽनब्राह्मण इति, अत्र ह्यब्राह्मणप्रतिषेधाद्ब्राह्मण एव गम्यते तथाऽवक्तव्यप्रतिषेधाद्वक्तव्यता प्राप्नोतीति भावः । तदेवमर्थतो वक्तव्यत्वं प्रसाध्य यथा लोकेऽब्राह्मणो न भवतीति नञ्द्वयेन प्रकृतार्थगतिर्भवति तथैवावक्तव्यो न भवतीत्यनवक्तव्यशब्दगम्यतया प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगमनाद्वक्तव्यत्वसिद्धिरित्याह—**अथवा कश्चिददिति,** अवक्तव्यो न भवतीति प्रयोगः प्रकृतिगमकः प्रतिषेधप्रतिषेधत्वात्, अब्राह्मणो न भवतीति प्रयोगवदिति साधनम्, इत्थमेकत्वादिप्रतिषेधेऽवक्तव्यवादिनः स्ववचनाभ्युपगमविरोधौ भवत इति निरूप्य नियमविधिनयः स्वयं वक्तव्यत्वे साधनं प्रदर्शितमित्याह—**एतेनेति,** नैवंविधो नियमो युज्यत इत्यादिग्रन्थादारभ्यैतत्पर्यन्तग्रन्थेनेत्यर्थः । ननु शब्दस्यार्थेन न कश्चित्संबंधोऽस्त्यतो न स कश्चिदर्थं ब्रूते, ततश्च केवलं विकल्प एवोदेति, शब्दो हि निरूपितार्थविषयो बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते सा च बुद्धिर्यथातत्त्वं वस्तु न स्पृशति, वस्तुन एकदेशस्यैव संस्पर्शात्, अत एव सा विकल्पात्मिका व्यावृत्तिविषयत्वात्, एवञ्च विकल्पादुत्पद्यमानः शब्दः कारणानुरूपत्वाच्च कार्याणामकृत्स्नार्थविषयविज्ञानमेव जनयति, तस्माद्वाग्व्यवहारो विकल्पादेवानादिवासनापरिकल्पितादित्याशङ्कते—**संवृत्यैवेति** । व्याकरोति—**स्यान्मतमिति** । अत्रार्थे कारिके दर्शयति—**विकल्पेति** । कृत्स्नार्थपरिग्रहासामर्थ्यं शब्दानामाह—**येन येनेति** । तत्तद्विकल्पैर्विकल्प्यमानं तत्तद्वस्तु परिकल्पितमेव, सदृशापरापरक्षणसन्तानलक्षणजात्याद्येकदेशसम्बन्धादनादिवासनासम्भूतात्, यत्तु विकल्प्यते न स भाव इति भावः । एवञ्च सर्वव्यवहाराणां संवृत्यैव भवनात् शब्दात् कल्पितार्थविषयविज्ञानोदयाच्च शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावात् कः शब्दार्थः स्यात्, नास्त्येव; एवञ्च मदुक्तशब्दार्थ एव सत्यो न तु त्वदुक्त इत्यादिचिन्ताया अप्यवसर एव नास्तीत्याशयेनाह—**तत्र क इति** । उपसंहरति—**तस्मादिति** । तदेवं व्यवहारविषयस्य सर्वस्य संवृतिसत्यत्वेऽवक्तव्यत्वमपि संवृतिसत्य एव स्यान्न तु परमार्थः स्यात्, पदसमुदायानां संवृतिसत्यत्वेन तदर्थस्यापि तथात्वादित्युत्तरयति—**अपरमार्थस्तर्हीति** । हेतुमाह—**संवृतिसत्येति,** संवृत्यैव सत्यभूतो यः पदसमुदायस्तदर्थश्च तद्भावादित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—

१ सि. क्ष. छा. डे. अत्र वाधयोर्मतिसंवादः । २ सि. क्ष. छा. डे. °स्वभावो ।

पदसंघातोऽभ्यधायि वाक्यमिति शब्दस्तदर्थश्च स संवृतिमात्रार्थत्वादपरमार्थः, दृष्टान्तो मण्डूकजटेत्यादि, मण्डूकजटाभारेण कृतः केशालङ्कारो नटकेशभारको यस्य-मण्डूकजटाभारकृतकेशालङ्कारवन्ध्यापुत्रः, तस्य खपुष्पदाम्ना मुण्डमाला कृता, तस्या आख्यानं सुरभिः पञ्चवर्णः स्वाकारगगनकुसुममपीत्यादिवर्णनं संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वान्न परमार्थस्तथेदं सर्वमपीति नास्त्यवक्तव्यता, किञ्चान्यत्—धर्मधर्मीत्यादि, अविदितमित्थं भवत्यवक्तव्यं वस्तु, प्रतिपादनप्रमाणाभावात्, प्रतिपादनप्रमाणाभावो धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् तद्भावोऽवक्तव्यत्वात्, धर्मधर्मिणौ हि विभागेन व्यवस्थितौ पुनः समुदितौ पक्षः स्यात्, यथा-साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, अनित्यः शब्द इति, तस्य धर्मिणः कृतकत्वादिरन्यो धर्मो व्यवस्थित एव हेतुः स्यात्, तौ च[साध्य]साधनधर्मौ सहितौ धर्म्यन्तरे प्रदर्श्येते यत्र-यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति स दृष्टान्त इतीदं धर्मधर्मिविभागव्यवस्थानात्मकं साधनं नोप[पद्यते]निरस्तधर्मधर्मिविभागव्यवस्थत्वात्, धर्मधर्मिनिरसनञ्चावक्तव्यत्वात्, भावविशेषैकत्वान्यत्वादिनिरसनद्वारेण वस्तुनस्तस्य च निर्विषयत्वस्यानन्तरोक्तत्वात्, तस्मान्निरस्तधर्मधर्मिसङ्ग्रहात्मकत्वात् पक्षाद्यसाधनम्, खरं खरविषाणं स्फुटितपृष्ठत्वादाकाशस्फोटवदिति पक्षादिवत्, तस्मात् पक्षाद्यसाधनत्वात् [न]सम्भावनीयमवक्तव्य[त्व]म्, स्वत्परिकल्पितस्य वस्तुनो नान्यथेत्युद्घटकोऽयम् ।

अभ्युपेत्याप्यवक्तव्यतां दोषं ब्रूमः—

इदमसि त्वं प्रष्टव्यः, अथ यस्य य एते देशास्तेषां यो विशेषोऽवयवस्तस्मात्तत् किमव्यतिरिक्तं? व्यतिरिक्तं वा? अवक्तव्यस्य विशेषावयवत्वनियमात् प्रश्नोत्थानम्, सामान्यविशेषैकत्वाद्याशङ्कासम्भववत्, यदि सामान्यमेवं विशेष एवोभयमेवाऽन्यद्वा वस्तु, तत्र यदि

मण्डूकजटेत्यादीति, मण्डूकस्य जटाभारोऽसत्यः, एवं तत्कृतः केशालङ्कारो यस्य स वन्ध्यापुत्रस्तस्य खपुष्पदाम तेन मुडण्मालाकरणं मुण्डमालायाः सुरभ्यादिवर्णनञ्च सर्वं पदसमूहस्तदर्थश्च संवृतिसत्यपदसमुदायार्थत्वान्न परमार्थस्तद्वदिदं सर्वं वाक्यशब्दतदर्थरूपमिति न स्यादवक्तव्यत्वं परमार्थ इति भावः । अवक्तव्यत्वाद्यभ्युपगमादेव धर्मधर्मिसाधनादीनां व्यवस्था न सम्भवति तदसम्भवे चावक्तव्यत्वसम्भावनापि न स्यादेवेत्याह—**धर्मधर्मीत्यादीति,** धर्मधर्मिणोः पार्थक्येन व्यवस्थाभावादेव समुदितस्याप्यव्यवस्थानात् पक्षहेतुदृष्टान्तानुपपत्त्या साधनाभावेन कथमवक्तव्यत्वं सम्भाव्यत इति भावः । अमुमेव भावमाविष्करोति—**अविदितमिति,** तवाऽवक्तव्यत्वमप्रमेयं भवति प्रमाणेन हि प्रमेयसिद्धिः, अवक्तव्यत्वप्रतिपत्तिजनकप्रमाणाभावादेव च तत् प्रमेयं न भवतीति भावः । तथाविधप्रमाणाभावः कथमित्यत्राह—**धर्मधर्मीति,** तव मते धर्मधर्मिणोर्विभागेन यतो व्यवस्था नास्ति तस्मादित्यर्थः । सोऽपि कथमित्यत्राह—**तद्भावोऽवक्तव्यत्वादिति,** यतः सर्वमवक्तव्यमत एव धर्मत्वेन धर्मित्वेनाप्यवक्तव्यमेवेति भावः । अत एव पक्षाद्यभावं तत्स्वरूपप्रदर्शनद्वारेण प्रकाशयति—**धर्मधर्मिणौ हीति,** विशिष्टमतौ विशेषणज्ञानस्य निमित्ततया प्रथममयं साध्यधर्मोऽयं च धर्मीति व्यवसायस्ततोऽयं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति पक्षपरिज्ञानं स्यादनित्यः शब्द इति, न त्वनित्यत्वस्य शब्दस्य चापरिज्ञाने, ततश्च धर्मिभिन्नत्वे, सति धर्मिवृत्तितया धर्मविशेषस्य हेतोः परिज्ञानं स्यात्, ततश्च साध्यधर्मसामानाधिकरण्येन साधनधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रदर्शनं स्यात्, यत्र यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वं यथा घट इत्यादि, एवं विज्ञाते धर्मधर्मिणोर्विभागेन व्यवसितत्वात् साधनं सम्पद्येतेति तत्स्वरूपोपदर्शनं प्रकाशितम् । ईदृशं साधनं तव मतेन न सम्भवतीत्याह—**इतीदमिति,** त्वया तु सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादिव्यावर्त्तनद्वारेणाशेषस्यावक्तव्यत्वस्योक्तत्वात्, मया च तस्य निर्विषयत्वेन व्यवस्थापनान्निरस्तधर्मधर्मिविभागव्यवस्थानं साधनं सम्पन्नमतो यथा खरविषाणं खरं, स्फुटितपृष्ठत्वात् आकाशस्फोटवदित्येवंरूपं पक्षादिसाधनमसाधनं तथा तवावक्तव्यत्वसाधनायोपादीयमानसाधनमपीति नास्ति सम्भावनाऽवक्तव्यत्वस्येति निर्गलितार्थः । अथावक्तव्यत्वमभ्युपगम्यापि विचार्यते—**इदमसि त्वमिति ।** सामान्य-

सामान्यकृतमेकत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपं वस्तु व्यावर्त्तयत् तत् सामान्यकृतैकत्वविशेषं व्यावर्त्तयेत् न सामान्यमेवेति, यदि वोभयकृतमन्यत्वं न सामान्यं न विशेषश्च वेति तदेकत्वान्यत्वयोरपि विशेषेणाव्यतिरिक्ततायां सत्यामवक्तव्यार्थः संवदेन्नान्यथा, तेषां स्वातंत्र्येऽवक्तव्यत्वनिवृत्तेः ।

इदमसि त्वं प्रष्टव्यः, अथ यस्येत्यादि, अवक्तव्यात्मकस्य देशिनो य एते देशाः—सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादयो यैस्तदवक्तव्यमिष्यते, तेषां यो विशेषावयव[ः त]स्मात् किं तदव्यतिरिक्तमित्यादि, अयं हि नियमविधिनयो विशेषवादी तमेव स्वाभिप्रेतं विशेषं गृहीत्वा चोदयति, स्यान्मतं सामान्यविशेषैकत्वादिनिराकरणेनैवावक्तव्यं जात्यन्तरं वस्तु नियमितं निश्चितनियताधिकभावेन, तत्र कुतस्तद्व्यतिरिक्तत्वादिप्रश्नोत्थानमित्यत्रोच्यते—अवक्तव्यस्य विशेषा अवयवास्तथानियमादेव[1] तस्य वस्तुनो व्यवस्थानात् तत् किं तैरव्यतिरिक्तं व्यतिरिक्तं वेत्यादिप्रश्नोत्थानम्, तदवयवत्वाच्च तस्य सामान्यविशेषैकत्वाद्याशङ्कासंभववदिति तदुपपत्तिं प्रदर्श्य यत्परमतमाशङ्कते—तद्यथा—यदि सामान्येत्यादि, सामान्यमेव सांख्यादीनामेकं वस्तु, विशेष एव बौद्धस्य, उभयं वैशेषिकस्य, परमतेऽन्यत्, तत्रावक्तव्यवादे यदि तत्सामान्यकृतमेकत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य [2]विशेषस्वरूपं व्यावर्त्तयत् सामान्यकृतैकत्वविशेषं व्यावर्त्तयेन्न सामान्यमेवेत्यविशेषापादनेन, यदि वोभयकृतमन्यत्वं न सामान्यञ्च विशेषश्च वेति, ततस्तदेकत्वान्यत्वयोरपि विशेषेणाव्यतिरिक्ततायां सत्यामवक्तव्यार्थः संवदेन्नान्यथा, तेषामेकत्वादिविशेषाणां स्वातंत्र्ये सत्यवक्तव्यत्वनिवृत्तेः ।

विशेषैकत्वान्यत्वादिविषयकमवक्तव्यत्वं त्वयोच्यते तत्रावक्तव्यत्वस्य विषयभूता य एकत्वादयस्तेषामवयवः सामान्यं विशेषश्च, अत्र तु विशेष एवोपात्तः, नियमविधिनयस्य विशेषवादित्वात्, तदवयवादवक्तव्यत्वं किमतिरिक्तमुतानतिरिक्तमिति पृच्छति—**अवक्तव्यात्मकस्येति** । सामान्यपरित्यागेन विशेषस्यावयवत्वोक्तौ कारणमाह—**अयं हीति** । नन्ववक्तव्यं वस्तु जात्यन्तरमेवेति प्रागुक्तमेव सामान्यविशेषयोरेकत्वेऽन्यत्वे उभयत्वेऽनुभयत्वेऽन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वे च निश्चितनियताधिकभावेनायतस्वनृत्तित्वात् अवक्तव्यत्व एव निश्चितनियताधिकभावेन यतस्ववृत्तित्वादिति, तस्मात् सामान्यविशेषाभ्यामवक्तव्यवस्तुनो व्यतिरिक्तत्वाव्यतिरिक्तत्वशङ्काया अवसर एव नास्तीत्याशङ्कते—**स्यान्मतमिति** । समाधत्ते—**अवक्तव्यस्येति,** अवक्तव्यस्य सामान्यं विशेषश्चावयव एव तत्रैव निश्चितनियताधिकभावेनावक्तव्यत्वस्य व्यवस्थानात्, एकत्वादिभिर्ह्यवक्तव्यत्वेन सामान्यं वा विशेषो वा व्यवस्थाप्यते, तस्मादवक्तव्यं विशेषावयवः सामान्यावयवो वेति भावः । एकत्वान्यत्वादिविषयसंदेहस्य सामान्यं विशेषश्च यथाऽवयवौ तद्वदिति दृष्टान्तं वक्ति—**तदवयवत्वाच्चेति** । अवक्तव्यवादस्तदा संवदतीति, परमतमेव तावद्दर्शयति—**तद्यथेति** । प्रावादुकानाममीप्सितं वस्तु निर्दिशति—**सामान्यमेवेति,** आदिना पुरुषकालस्वभावादिवादिपरिग्रहः । एको विशेष इत्यत्र विशेषे एकत्वं सामान्यापेक्षया, व्यक्त्या विशेषाणां बहुत्वात्, यदप्येकत्वं विशेषस्य धर्मत्वाद्विशेष', अतस्तदेकत्वं सामान्यकृतं विशेषीभूतञ्च, तदेकत्वं विषयीकृत्यावक्तव्यत्वं विशेषस्वरूपमाधारभूतं व्यावर्त्तयद्यदि सामान्यकृतमेकत्वं व्यावर्त्तयति यथा नैको विशेषः, एकत्वे हि विशेषो निर्विशेषं सामान्यमेव भवेत्, तस्मान्न सामान्यमेवेति, यदि सामान्यविशेषोभयकृतमन्यत्वं विशेषीभूतमाक्रम्य विशेषस्वरूपं व्यावर्त्तयदुभयकृतमन्यत्वं व्यावर्त्तयति न सामान्यं विशेषश्च वेति, तथा ते एकत्वान्यत्वे यदि विशेषादव्यतिरिक्ते तदैवावक्तव्यार्थः संवदेत्, एकत्वेनासौ विशेषोऽवक्तव्य इति, यदि त्वेकत्वान्यत्वे विशेषाद्व्यतिरिक्ते तर्हि ते स्वतंत्रे, न विशेषपारतंत्र्यं तयोरिति विशेषेण तयोरसम्बन्धात्ताभ्यां विशेषोऽवक्तव्यो न स्यादित्यवक्तव्यत्वमेव निवर्त्तेतेति परमतं समीकृत्य दर्शयति—**तत्रावक्तव्यवाद इति** । एकत्वान्यत्वादिविशेषाणां वस्त्वधीनत्वे सत्येव निश्चितनियताधिकभावेन नियम्यमानोऽवक्तव्यार्थो घटते न

---

१ °सि° स्वादयदतथा नियमादेवास्ति तस्य । क्ष °स्वादयदत्तवानियमो तस्य । छा० ×× विशेषा·····स्वावयवत्वाच्च तस्य । २ सि. क्ष. विशेषः स्वरूपवस्तुन्यावर्त्तयत् ।

विशेषाणां हि वस्तुपरतन्त्रत्वे सत्यवक्तव्यार्थो नियम्यमानः संवदतीत्यत आह—

अवक्तव्यत्वस्य नियमत्वादस्य च नियमस्य तथा तथाऽऽत्मान्तरनिवृत्तावात्मान्तरत्वापत्तेर्विशेष्यमाणस्य विशेषत्वमेव, यदि पुनर्विशेषव्यतिरिक्तं स्यात् ततो व्यतिरेकादन्यत्वाक्षान्तेः ।

(अवक्तव्यत्वस्येति) [अ]वक्तव्यत्वस्य नियमत्वात्, तस्य च नियमस्य तथा तथा-तेन तेन प्रकारेण सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वोभयत्वादीनामात्मान्तरनिवृत्तावात्मान्तरत्वापत्तेर्विशेष्यमाणस्य नियमत्वादवक्तव्यत्वस्य विशेषत्वम्, तस्मादव्यतिरिक्तं विशेषादवक्तव्यवस्तु, यदि पुनर्विशेषव्यतिरिक्तं स्यात्ततो व्यतिरेकादन्यत्वं विशेषाणां वस्तुनः परस्परतश्चैकत्वादीनां स्यात्, तच्चान्यत्वं न विषहते वस्तु, एकान्तापत्तेरवक्तव्यत्वलोपात्, इष्टं चावक्तव्यं त्वयेत्यत आह-ततो व्यतिरेकादन्यत्वाक्षान्तेरिति, इत्थं विशेषाव्यतिरेकोपपत्तिरवक्तव्यवस्तुनेति । तथा भावोपक्रान्तविशेषकृतैकत्वोभयकृतान्यत्वभावाव्यतिरिक्ततायामवक्तव्यार्थसंवादादवक्तव्यत्वस्य नियमत्वात्तथातथाविशेषादव्यतिरिक्तम्, ततो व्यतिरेकादन्यत्वाक्षान्तेरिति पठित्वा भाववादिपक्षेऽप्युपपत्तिरव्यतिरेकस्य तथैव योज्या, तथा सामान्यविशेषाभ्यामाक्रान्तेः भावविशेषकृतैकत्वान्यत्वभावविशेषाव्यतिरिक्ततायामित्याद्येवंग्रन्थो यावदेकत्वान्यत्वाक्षान्तेरित्युभयवादिपक्षेऽप्युपपत्तिरव्यतिरेकस्य तथैव योज्येति ।

एवमवक्तव्यवादिमतसंवादाद्विशेषाव्यतिरिक्तं वस्तु, ततः किम् ?—

यद्येवं विशेषाव्यतिरिक्तं ततस्तत्तु विशेषमात्रमेव, यथा भिन्नोऽप्येको विशेषो रूपादिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेत्यभ्युपगम्यते त्वयापि, यस्य भावेन सहैकत्वान्यत्वादि-

---

तु स्वातंत्र्ये, तेषामेकान्तेन वस्तुनोऽन्यत्वापत्तेरित्याह–**अवक्तव्यत्वस्येति** । नियमत्वं विशेष्यमाणत्वं व्यावर्त्तकत्वमिति यावत्, कस्य व्यावर्त्तकत्वमिति चेत्, आत्मान्तरनिवृत्तावात्मान्तरत्वापत्तेः, विशेष्यमाणत्वादेवावक्तव्यत्वमपि विशेष एवेत्याशयेन व्याकरोति–**अवक्तव्यत्वस्य नियमत्वादिति** । सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादय· स्वरूपाण्यव्यतिरिक्तत्वपक्षे स्युः, तत्रोपपत्तिभिरेकत्वाद्यात्मान्तराणां निवृत्तावन्यत्वाद्यात्मान्तरत्वमापद्यते, अन्योऽन्यप्रतिपक्षत्वात्, अवाच्यत्वस्य ततो विशिष्यमाणत्वान्नियमरूपस्य तस्य विशेषत्वम्, विशेषाव्यतिरिक्तञ्चावक्तव्यं वस्तु भवतीत्याह–**सामान्यविशेषेति** । व्यतिरिक्तत्वे त्वविशेषः स्यात्, विशेषा अवक्तव्यवस्तुनो भिन्ना भवेयुः, तथा परस्परं चैकत्वान्यत्वादीनाम्, तव मतेन चान्यत्वं वस्तु न सहते, स्वातंत्र्येण तेषां वस्तुपरतंत्रत्वाभावादेकान्तेन वस्तुनः परस्परतश्चान्यत्वादवक्तव्यत्वस्यैव निवृत्तिप्रसङ्ग इत्याह–**यदि पुनरिति** । तदेवं विशेषवादिपक्षे विशेषादव्यतिरिक्तमवक्तव्यं वस्त्विति प्रतिपादितमित्याह–**इत्थमिति** । सामान्यवादिपक्षेऽपि यदि तदवक्तव्यं विशेषकृतमेकत्वं सामान्यीभूतमाक्रम्य सामान्यस्वरूपं व्यावर्त्तयत् विशेषकृतैकत्वं व्यावर्त्तयेत्, न विशेष एव निःसामान्यस्य निरुपाख्यत्वादिति, यदि वोभयकृतमन्यत्वं न सामान्यं च न विशेषश्च वेति, ततस्तदेकत्वान्यत्वयोरपि भावाव्यतिरिक्ततायां सत्यामवक्तव्यार्थः संवदेत्, अन्यथाऽवक्तव्यत्वनिवृत्तेः, अवक्तव्यत्वस्य नियमत्वात्तथा तथा विशेषादव्यतिरिक्तम्, ततो व्यतिरेकादन्यत्वाक्षान्तेरित्येवमुभयवादिपक्षेऽप्यव्यतिरेकस्योपपत्तिर्भाव्येत्याह–**तथा भावोपक्रान्तेति** । उभयवादिमताश्रयेणाह–**तथा सामान्यविशेषाभ्यामिति** । इत्थमवक्तव्यवादिमतसंवादाद्वस्तु विशेषाव्यतिरिक्तमिति परमतमाशंक्य तन्निराकरणायाह–**यद्येवमिति** । विशेषतो वस्तु

---

१ छा. यावदेकत्वात्पक्षान्ते० ।

विचार्यते, यस्माच्च तैर्भावोऽवक्तव्य इत्युच्यते, एष विशेषोऽप्येक एव, अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यथा पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, स च विशेषो भावो वस्तु, अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वात्मवत्, यथा विशेषाव्यतिरिक्तं विशेषस्वात्मवस्तु विशेष एव, भवतीति भाव इति सत्तार्थत्वात्तस्य, ततश्च विशेषमात्रमेव, स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

(**यद्येवमिति**) यद्येवं विशेषाव्यतिरिक्तं तत एतदायातं तत्तु विशेषमात्रमेव, एवं नियमविधि[1]नयमनोरथपूरणम्, तद्भावयति–यथा भिन्नोऽपीत्यादि, यथा परस्परविविक्तासाधारणरूपत्वाद्विशेषाणां भिन्नोऽप्येको विशेषो रूपादिस्वरूपात्–रूपाद्यात्मनोऽव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्तवर्णनम्, वक्ष्यमाणत्वादभ्युपगम्यत इति, त्वयाऽपीष्टमित्यनुमानयति, स्यान्मतं तत् कथं मयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रदर्शनार्थमाह–यस्य भावेनेत्यादि, योऽसौ त्वया किं भावेन सह विशेषस्यैकत्वमन्यत्वमित्यादिविचारेऽभ्युपगतः, यस्माच्च विशेषाद्भाव एकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्य इत्युच्यते, ए[2]ष विशेषोऽप्येवैकः, कस्मात्? अव्यतिरेको ह्येकलक्षणम्, यद्धि न कुतश्चिद्व्यतिरिच्यते तदेकमित्युच्यते यथा 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादि, स च विशेषो[3] भाव[ो]वस्तु, अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, उक्तविधिना सिद्धो हेतुः, तत्स्वात्मवदिति, विशेषाव्यतिरिक्तं विशेष[स्वात्मवस्तु]विशेषः ए[4]क इति यथा तथाऽवक्तव्याख्यमिति सम्बन्धः, मा भूत प्रागुक्तसामान्यपर्यायभावशब्दबुद्धिरित्य[सं]मोहार्थं भावो वस्त्विति वस्तुपर्यायत्वं दर्शयन्नाह–भवतीति भाव इति सत्तार्थत्वात् तस्य, ततश्च विशेषमात्रमेवेति, सामान्यशङ्कानिरासो वस्तुपर्यायश्चेत्युपनयार्थः, मात्रग्रहणात् सिद्धे स्फुटीकरणार्थमिष्टतोऽवधारणार्थश्चैवकारग्रहणम्, स्थितमिदमेक एव विशेषस्तदवक्तव्यसामान्यमिति ।

यद्यव्यतिरिक्तं तदा तदवक्तव्यं विशेषमात्रमेवेति नियमस्यावक्तव्यस्य विशेष इति विधानं नियमविधिनयस्य मनोरथमनेन परिपूर्णमिति प्रतिपादयति-**तत एतदायातमिति** । तत्कथमित्यत्राह-**यथा भिन्नोऽपीत्यादीति,** विशेषाः परस्परं भिन्ना असाधारणाश्च, तेष्वेको विशेषो यथा रूपादिस्वरूपादभिन्नत्वाद्विशेष एवेति दृष्टान्तः, तद्विशेषमात्रमेव, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, यद् यस्मादव्यतिरिक्तं तदेको विशेष इति साधनमिति भावः । ननु त्वयाऽप्यभ्युपगम्यत इति यदुक्तं तत्कथं मयाऽभ्युपगतमित्यत्राह-**योऽसाविति** । विशेषस्य भावेन सहैकत्वान्यत्वादिविचारो विशेषाच्च भाव एकत्वादिभिरवक्तव्य इत्यभ्युपगम्यते त्वया, अयमपि विशेष एवैकः, अव्यतिरेकस्वरूपत्वादेकत्वस्य, यथा पुरुषकालस्वभावादिः, पुरुषादि च न कुतश्चित् व्यतिरिक्तः, इदं सर्वं पुरुष एवेत्युक्तेः, अत एव स एकः, एवमवक्तव्यमपि विशेषाव्यतिरिक्तत्वाद्विशेष एवैकः, स चावक्तव्यरूपो विशेषो भावो वस्तु च, अवक्तव्यस्य विशेषाव्यतिरिक्तत्वोक्तत्वादिति भावः । प्रयोगे दृष्टान्तमाह-**तत्स्वात्मवदिति,** विशेषस्वात्मा विशेषाव्यतिरिक्तो विशेष एवैक एवमवक्तव्यमपीति भावः । विशेषो भावो वस्त्वित्यत्र भावशब्दो न सामान्यपर्यायः किन्तु वस्तुपर्याय इति दर्शयितुं वस्त्वित्युक्तं तत्कथं वस्तुपर्याय इत्यत्राह-**मा भूदिति,** भावपदस्य सदर्थत्वाद्वस्तुपर्यायत्वेन विशेषमात्रमेव, अत एव सामान्यशङ्कानिरासः, वस्तुपर्यायश्च भावशब्दः सामान्यस्यैतन्मतेनावस्तुत्वादिति भावः । मात्रग्रहणादेव सामान्यशंकानिरासस्तस्यैव च वस्तुत्वमिति सिद्धेरेवकारः स्पष्टार्थः, इष्टतोऽवधारणार्थश्च तथा चावक्तव्यं वस्तु एक एव विशेष इति सिद्ध्यतीति भावः । यदवक्तव्यं वस्तु त्वयाभ्युपगम्यते स एक एव विशेष इति प्रोक्तविधानेन सिद्धौ स एकत्वादिभिरवक्तव्यः कथं भवेत्, येन

---

१ छा. सि. क्षा. डे. °विधिनियमनो० । २ सि. क्ष. छा. डे. एषो विशेषेपि एवैकः । ३ सि. क्ष. छा. डे. विशेषभावो वस्तु । ४ सि. क्ष. छा. डे. विशेष एव विशेषः ।

तस्मिंश्च स्थिते तदेकत्वात् कुतोऽवचनीयता तस्य न हि विशेषोऽवचनीयो विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् स्वात्मवत्, एवं निर्धारितो विशेषो वाच्य एव तथा च निर्धारितार्थावक्तव्यवचनादुष्णत्वेन निर्धारितस्याग्नेः शीतोऽग्निरिति वचनव्यवहारवदबुद्धिपूर्वकयादृच्छिकवचनव्यवहारप्रसङ्गः, अतथा चेदिच्छस्येवं तर्हि विशेषो वचनीयः, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, अवक्तव्यसामान्यवत् ।

(**तस्मिंश्चेति**) तस्मिंश्च स्थिते तदेकत्वात् कुतोऽवचनीयता ? द्वितीयाभावात् केन सहैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यता तस्य–विशेषमात्रस्य भावस्येति, तद्भावना–न हि विशेष इत्यादिनाऽवचनीयो विशेषो विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् सामान्यवदित्युक्तोपसंहारार्थं साधनं गतार्थम्, एवं निर्धारितो विशेषो निर्धारितत्वाद्वाच्य एव स्यात्, अनिर्धारितो ह्यवाच्यः स्यात्, तथा चेत्यादि, एवं निर्धारितमपि विशेषं स्वपक्षरागादवाच्यमेव मन्यसे तथा च निर्धारितेत्यादि यावत् प्रसङ्गः, अयमबुद्धिपूर्वको यदृच्छया क्रियते व्यवहारस्त्वया, निर्धारितार्थावक्तव्यवचनात्, उष्णत्वेन[1] निर्धारितस्याग्नेः शीतोऽग्निरिति वचनव्यवहारवत्, तस्माद्विशेष एवेति निर्धारितोऽवक्तव्यसामान्यार्थो विशेष एवेति वक्तव्यः, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वात्मवत् अतथेत्यादि, स्वपक्षरागेणैव विशेषाव्यतिरिक्तत्वेऽप्यवचनीयमेव वा वचनीयसामान्यमिच्छस्ये[वं]तर्हि विशेषो विशेष इत्यवचनीयो विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवक्तव्यसामान्यवत् ।

स्यान्मतं सिद्धमेव विशेषावाच्यत्वमित्येतच्च न—

त्वया विशेषस्यैकत्वादि वाच्यत्वेनाभ्युपगम्य प्रतिषेधेनावक्तव्यप्रतिपादनस्य कृतत्वात्, तस्याप्यवाच्यत्वे वस्तुनश्चावाच्यत्वे तयोः परस्परमवचनीयत्वादुभयतोऽप्यवचनीययोर्द्वयोरपि वचनीयत्वं स्यात् ।

सहैकत्वादिभिरवक्तव्यत्वं वक्तव्यं स्यात् तस्याभावात्, एकमेव हि विशेषाख्यं वस्तु, नान्यत् किञ्चिदस्तीत्याशयेनाह–**तस्मिंश्च स्थित इति ।** व्याचष्टे–**द्वितीयाभावादिति ।** उक्तमेवानुमानेन साधयति–**न हीति,** विशेषो नावचनीयः, विशेषाव्यतिरिक्तत्वात्, स्वात्मवत्, यथा विशेषस्वात्मा विशेषाव्यतिरिक्तत्वात् नावचनीयः, किन्तु विशेषस्वात्मेत्युच्यते तथा विशेषोऽपि । एवमवक्तव्यशब्दसामान्यस्य विशेष एवैक इत्यर्थे निर्धारिते स वाच्य एव स्यात्, अनिर्धारितं ह्यवाच्यं भवति न निर्धारितमित्याह–**एवं निर्धारित इति । एवं निर्धारितमपीति,** इत्थमुपपत्तिभिस्तावकीनाभिरेव वक्तव्यतया निर्णीतमपि विशेषमवाच्यमेवेति यन्मन्यसे तत्र केवलं स्वपक्षराग एव कारणं नान्यत् किमपि प्रमाणम्, ततश्चायमवचनीयताव्यवहारस्तवाबुद्धिपूर्वको यादृच्छिक एव यथोष्णत्वेन निर्णीतस्याग्नेः शीतत्वेन व्यवहार इति भावः । एतदेवाह–**अयमबुद्धिपूर्वक इति ।** हेतुमाह–**निर्धारितेति,** निर्धारितस्यार्थस्य स्वपक्षरागादवक्तव्य इति वचनादित्यर्थः । निदर्शनमाह–**उष्णत्वेनेति ।** फलितार्थं निगमयति–**तस्माद्विशेष एवेतीति ।** इत्थं विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवचनीयसामान्यस्य विशेष एवेति वक्तव्यत्वे सिद्धेऽपि तद्वचनीयसामान्यमवचनीयमेवेति चेदिच्छसि तदाऽवचनीयसामान्यस्येव विशेषस्यापि विशेष इत्यवचनीयत्वं स्याद्विशेषाद्व्यतिरिक्तत्वादिति विपक्षे दण्डमाह–**स्वपक्षरागेणैवेति ।** नायं विपक्षे दण्डोऽनिष्टः, अस्माभिर्विशेषस्यावचनीयत्वाभ्युपगमादिति चेदत्राह–**त्वया विशेषस्येति ।** अवक्तव्यत्वप्रतिपादनार्थं त्वया प्रथमं विशेषस्यैकत्वादिरूपतामभ्युपेत्य ततस्तत्प्रतिषेधः क्रियते अन्यत्वप्रतिषेधे ह्येकत्व-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. उष्णत्वेनानि० ।

(**त्वयेति**) त्वया विशेषस्यैकत्वादिवाच्यत्वेनाभ्युपगम्य प्रतिषेधेनावक्तव्यत्वप्रतिपादनस्य कृतत्वात्, तस्यापि विशेषस्यावाच्यत्वे वस्तुनश्चावक्तव्यसामान्यस्यावाच्यत्वेऽवक्तव्यसामान्येन विशेषो न वाच्यो विशेषेण सामान्यमवाच्यम्, तयोश्चावचनीययोः परस्परमवचनीयत्वम्, ततः किं? ततश्चोभयतोऽप्यवचनीयमवचनीयं सदवचनीयं सामान्यमिति द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेर्वचनीयं प्रसक्तम्, तथा विशेषोऽपीति वचनीयत्वमेव स्यात्, द्वयोरपीति, एवं तावत् विशेषाव्यतिरिक्तत्वादवक्तव्यं वक्तव्यमेवमित्युक्तम्।

अथ विशेषव्यतिरिक्तं वस्त्विष्यतेऽवक्तव्यत्वादेव, नन्वेवं तस्य भावत्वे वक्तव्यतैव, अभावत्वेऽप्यसदिति वक्तव्यतैव, तथा त्वदुक्तवदप्यवस्तुता, अभूतावक्तव्यत्वात्, खपुष्पवत्, भावपक्षेऽप्यभूतावक्तव्यत्वात् प्रधानादिवत्तदवस्तु, यथा च तद्विशेषव्यतिरिक्तमिष्यते तथा विशेषोऽपि वस्तुनो व्यतिरिक्तः, एवञ्च तदेवासत्त्वमनयोः, त्वदिष्टं वस्त्वसत्, अविशेषत्वात्, खपुष्पवत्, विशेषोऽप्यसत्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वात्, खपुष्पवत्, तथा च सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादिविकल्पप्रपञ्चनमाकाशरोमन्थनवत् परिक्लेशमात्रफलम्, अयथार्थत्वात्।

अथ विशेषव्यतिरिक्तमित्यादि, अथ मा भूवन्नमी दोषा इति वस्तुनो विशेषाद् व्यतिरिक्तमिष्यत इति, अत्रापि पूर्वं प्रश्नोत्थाने चोद्योपक्रमे विशेषव्यतिरिक्तकारणमाह—[अ]वक्तव्यत्वादिति—यस्मात् सामान्यविशेषैकत्वादिविशेषैर्वक्तव्यैरवक्तव्योऽर्थो भिन्नलक्षणस्तस्मादवक्तव्यत्वादेव स्वलक्षणाद्भिन्नं[2] व्यतिरिक्तं विशेषाद्वस्त्वित्युपपत्तिः, इयमेव भावैकत्वोभयान्यत्वयोः[3] पूर्ववद्व्यतिरिक्तत्वे योज्योपपत्तिः, अस्मिन्नपि पक्षे नन्वेवं तस्य विशेषव्यतिरिक्तत्वात् द्वयी गतिः, [भावो वा] अत्यन्ताभावो वा नान्यास्ति,

---

मेकत्वप्रतिषेधे चान्यत्वमभ्युपगतं भवति, अन्यथा प्रतिषेधासम्भवादित्याशयेन व्याकरोति—**त्वयेति**। ननु तदानीमपि विशेषस्यावचनीयत्वमेवाभ्युपगम्यत इति चेदाह—**तस्यापि विशेषस्येति,** प्रतिषेधप्राक्कालीनस्य विशेषस्यापीत्यर्थः, सोऽपि विशेषो यद्यवाच्यस्तर्हि वस्त्वप्यवक्तव्यसामान्यमवाच्यमिति सामान्यविशेषयोरुभयोरप्यवाच्यत्वात्, यदवचनीयं सामान्यं तद्विशेषेणावाच्यत्वादवचनीयम्, अवचनीयो विशेषोऽपि सामान्येनावाच्यत्वादवचनीयमित्यवचनीययोर्द्वयोरप्यवचनीयत्वोक्त्या द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेर्वचनीयत्वमेव प्रसज्यत इति भावः। परस्परमवचनीयत्वमाह—**अवक्तव्यसामान्येनेति**। उभयतोऽप्यवचनीयत्वे को दोष इत्यत्र सामान्याश्रयेण दोषमाह—**अवचनीयं सदिति**। विशेषाश्रयेणाप्याह—**तथा विशेषोऽपीति,** अवचनीयो विशेषोऽवचनीय इति वचनीय एव प्रसक्त इत्यर्थः। इत्थमवक्तव्यं वस्तु विशेषादव्यतिरिक्तत्वाद्वक्तव्यमेवेति सम्प्रति द्वितीयं विकल्पमवक्तव्य वस्तु विशेषाद्व्यतिरिक्तमित्येवंविधमुत्थापयति—**अथ विशेषेति**। व्याचष्टे—**अथ मा भूवन्निति**। ननु सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिनिराकरणेनावक्तव्यं जात्यन्तरं वस्तु नियमितमिति व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तत्वादिप्रश्नोत्थानं कुत इत्यत्राह—**अत्रापीति,** सामान्यविशेषैकत्वादिविशेषैर्वक्तव्यरूपैरवक्तव्यत्वादेव वस्तु स्वलक्षणात्मकात् विशेषाद् व्यतिरिक्तमिति पूर्ववद्भावयितव्यमिति भावः। इत्थमेव भावकृतैकत्वोभयकृतान्यत्वयोरपि व्यतिरिक्ततायामुपपत्तिः कार्येत्याह—**इयमेवेति**। एवं वस्तुनोऽवक्तव्यत्वे विकल्पदोषमाह—**अस्मिन्नपि पक्ष इति**। सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविशेषैः वस्तु यदि भिन्नं तर्हि तद्भावो वा स्यादभावो वा, सतो भावविशेषरूपत्वात् विशेषभिन्नसद्रूपत्वे भावः स्यात्तद्वस्तु, यदि न भावस्तर्ह्यभावः स्यादन्या गतिर्नास्तीत्याह—**द्वयी गतिरिति**।

---

१ छा. क्ष. एवं तावदविशेषाव्यतिरिक्तत्वाद्व्यतिरिक्तत्वमिष्यतेति अत्रापि०। २ सि. क्ष. छा. डे. °न्भिन्नाव्यति०। ३ सि. क्ष. छा. डे. भावयिकत्वो०।

भावत्वे वक्तव्यतैव, अभावत्वेऽप्यसदिति वक्तव्यतैवेत्यवक्तव्यत्वनिवृत्तिः, एवमस्मन्न्यायेन दोषः, किञ्चान्यत्—तथा त्वदुक्तवदप्यवस्तुता—तेन प्रकारेण तथा—विशेषव्यतिरिक्तत्वन्यायेन त्वदुक्तेनैव तदवक्तव्याख्यं वस्त्ववस्तु कस्मात्? अभूतावक्तव्यत्वात् भावैकत्वा[दि]विशेषद्वारेण ह्यवक्तव्यत्वमुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तत्वे तस्याभूतावक्तव्यत्वम्, अभूतावक्तव्यत्वाच्च खपुष्पवदवस्त्विति, भावपक्षेऽपि भवत्येव भवतीति भावस्य वक्तव्यत्वादभूतावक्तव्यत्वम्, तस्मात्त्वन्मतेनैव भावपक्षेऽप्यभूतावक्तव्यत्वात् प्रधानादिवत्तदवस्त्विति, किञ्चान्यत्—यथा चेत्यादि, यथा च तदवक्तव्याख्यं वस्तु विशेषव्यतिरिक्तमिष्यते तथा विशेषोऽप्यवक्तव्याख्याद्वस्तुनो व्यतिरिक्तो व्यतिरेकस्य द्विष्ठत्वात्, एवञ्च सति तदेवासत्त्वमनयोः वस्तुविशेषयोः प्राप्तम्, त्वदिष्टं वस्त्वसत्, अविशेषत्वात्—विशेषव्यतिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, विशेषोऽप्यसत्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वात्, खपुष्पवत्, नो चेत् खपुष्पं स्यात्, विशेषव्यतिरिक्तत्वात् वस्तुवत् खपुष्पं सत् वस्तुव्यतिरिक्तत्वाद्वा विशेषवत्, तथा चेत्यादि, एवं तस्य वस्तुनोऽसत्त्वे सामान्यविशेषयोः किमेकत्वमन्यत्वमवक्तव्यमित्यादिविकल्पप्रपञ्चनमाकाशरोमन्थनवत् परिक्लेशमात्रफलम्, अयथार्थत्वादित्याकाशकुसुमसौरभासौरभादिविचारायथार्थत्वादिवदयथार्थत्वमस्य विचारस्योक्तविधिना सिद्धमित्येवं व्यतिरेकपक्षेऽप्यवक्तव्यत्वाभावः।

अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्वित्येष मे पक्षः, तथापि द्विर्विशेषांशवृत्तेः विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षता, विशेष एवावक्तव्यत्वेन विशेष्यत्वाद्गौरदन्तुरत्वद्वयविशेषणविशेष्यदेवदत्तवत् प्रधानः, अवक्तव्यस्य चोपसर्जनता स्यादिति प्रधानोपसर्जनपक्षताऽप्रतर्कितोपस्थिताऽनिष्टा च सेति।

(**अथेति**) अथावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं[2]—स्यान्मतं सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्य-

गतिद्वयेऽपि वस्तु भावरूपेणासद्रूपेण वा वक्तव्यमेव स्यादित्युत्तरयति—**भावत्व इति**। वक्तव्यत्वमस्मन्मतेनोक्तं त्वन्मतेन वस्तुनोऽवस्तुत्वमेवेत्याह—**तथा त्वदुक्तवदपीति,** वस्तुनोऽवक्तव्यत्वं सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविशेषैर्वक्तव्यैर्भिन्नलक्षणत्वाद्विशेषव्यतिरिक्तत्वादुच्यते त्वया, तथा च तदवस्तु भवेदिति भावः। हेतुमाह—**अभूतावक्तव्यत्वादिति,** तद्वस्तु विशेषव्यतिरिक्तत्वान्न भवनस्वरूपं सामान्यविशेषौ हि भवनस्वरूपौ तस्मादभूतावक्तव्यं तत् तथा च खपुष्पवदभूतावक्तव्यत्वादसद्भवेदिति भावः। नापि त्वदीयं वस्तु भावस्वरूपं, तथात्वे भवतीति वक्तव्यत्वापत्तेः, तस्माद्भावत्वेऽपि प्रधानादिवदवस्तु, अभूतावक्तव्यत्वादित्याह—**भावपक्षेऽपीति**। तद्वस्तुनो विशेषव्यतिरिक्तत्वे च व्यतिरेकस्य द्विनिष्ठत्वात् विशेषोऽपि तद्वस्तुव्यतिरिक्तः पटस्य घटव्यतिरिक्तत्वे घटस्यापि यथा पटव्यतिरिक्तत्वम्, तथा च वस्तुविशेषयोरसत्त्वं स्याद्विशेषव्यतिरिक्तत्वात्, वस्तुव्यतिरिक्तत्वाच्चेत्याह—**यथा चेत्यादीति**। इदमेव प्रयोगतो दर्शयति—**त्वदिष्टं वस्त्विति,** अवक्तव्याख्यं वस्त्वित्यर्थः। हेतुं व्याचष्टे—**विशेषेति**। वस्तुविशेषयोर्विशेषवस्तुव्यतिरिक्तत्वेऽपि यदि सत्त्वमिष्यते तर्हि खपुष्पमपि सत् स्याद्विशेषाद्वस्तुनश्च व्यतिरिक्तत्वादित्याह—**नो चेदिति**। उक्तापत्तिभीत्या तयोरसत्त्वमिष्यते चेत् तदा सामान्यविशेषयोरभावेन किं तयोरेकत्वमन्यत्वमुभयत्वमित्यादिविकल्पप्रपञ्च आयासमात्रमेव, असद्धर्मिकविचारत्वेनायथार्थत्वात्, आकाशकुसुमासत्त्वेन तत्सौरभासौरभविचारस्यायथार्थत्वमिवेत्याह—**एवं तस्य वस्तुन इति**। एवञ्च विशेषव्यतिरिक्तत्वपक्षेऽपि तद्वस्तु नावक्तव्यमित्युपसंहरति—**एवं व्यतिरेकपक्षेऽपीति**। ननु सामान्यविशेषयोर्यथैकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्यत्वं तथाऽवक्तव्यविशेषयोरपि व्यतिरिक्तत्वेनाव्यतिरिक्तत्वेन चावक्तव्यत्वमेव, एवञ्चावक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकं वस्त्वित्याशङ्कते—**अथावक्तव्येति**। व्याचष्टे—**स्यान्मतमिति**।

---

१ सि. क्ष. छा. डे. वस्त्ववस्तु तस्य कस्मात्०। २ सि. क्ष. डे. व्यतिरेकाव्यतिरेकाव्यतिरेकं।

त्ववद्व्यतिरेकाव्यतिरेकौ यस्मिंस्तद्वस्त्ववक्तव्यविशेषव्यतिरेकाव्यतिरेकमित्येष मे पक्ष इत्यत्रोच्यते—[1]द्विर्विशेषांशवृत्तेर्विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षता—विशेषस्य—भावविशेषैकत्वादेर्भावविशेषैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यधर्मांशवृत्तिलाभवद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तत्वविशेषावक्तव्यत्वधर्मांशवृत्तिलाभाद्विशेष एवावक्तव्यत्वेन विशेष्यत्वाद्गौरदन्तुरत्वद्वयविशेषणविशेष्यदेवदत्तवत् प्रधानोऽवक्तव्यस्य चोपसर्जनता च स्यात्, ततश्च विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनपक्षतेयं अप्रतर्कितोपस्थिताऽनिष्टा च सेति ।

किञ्चान्यत्—

तस्या अपि च रूपं निरूप्यम्, किमेकत्वमन्यत्वमुभयत्वमनुभयत्वं वेति प्रतिषेध्यविपक्षरूपस्याश्रयितव्यत्वात्, तत्र तस्य किं द्विर्विशेषांशवृत्तिराश्रीयते? अथ नाश्रीयते? अथाश्रीयते निषिध्यमानप्रतिपक्षरूपता ततः पर्यायेण सांख्यादिवादगतानन्यत्वादिदोषप्रसङ्गः, तत्र त्वयैवोक्तदोषास्तवाऽऽपतन्ति ।

(**तस्या इति**) तस्या अपि च रूपं निरूप्यम्, कथं निरूप्यमिति चेदुच्यते—[2]किमेकत्वमित्यादि, द्वाभ्यां न्यायाभ्यामन्यतरेणावश्यम्भाव्यत्वान्निरूप्यम्, तद्यथा—एकत्वे निषेध्येऽन्यत्वमापतति, अन्यत्वे निषेध्ये चैकत्वम्, [3]तयोर्निषेधेऽनुभयत्वम्, अनुभयत्वनिषेधे चोभयत्वम्, तस्मात् प्रतिषेध्यविपक्षरूपमाश्रयितव्यम्, तच्च तस्य विशेषप्रधानावक्तव्योपसर्जनस्य द्विर्विशेषां[श]वृत्तिराश्रीयते त्वया, अथ नाश्रीयते किमिति पृच्छामो गतिद्वयानतिवृत्तेरिति, किमिति च त्वयैव निरूपयितुम्, द्विधाऽपि च दोषः तत्र तावदथाऽऽश्रीयते निषिध्यमानप्रतिपक्षरूपता ततः[4] पर्यायेण सांख्यादिवादगतानन्यत्वादिदोषोपादानम्—

अवक्तव्यत्वं द्विधा विशेषांश एव वर्त्तत इति विशेषप्रधानावक्तव्यत्वोपसर्जनता प्रसज्यत इति समाधत्ते-**द्विर्विशेषांशवृत्तेरिति,** द्विः द्विवारं विशेषरूपेंऽशे वृत्तिरवक्तव्यत्वस्येत्यर्थः । तत्कथमित्यत्राह—**विशेषस्येति,** भावविशेषैकत्वान्यत्वादिरूपविशेषस्य, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तत्वविशेषस्य चावक्तव्यत्वोक्त्या विशेषः प्रधानमवक्तव्यत्वमुपसर्जनम्, भावविशेषैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यत्वरूपे धर्मे व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तत्वविशेषावक्तव्यत्वरूपे धर्मे चांशरूपेण—घटकतया विशेषस्य वृत्तेरित्यर्थः स्यादिति भाति । **विशेष एवेति ।** एतन्नयमतेन विशेषस्यैवावक्तव्यत्वस्य प्राधान्येन निरूप्यमाणत्वात्, विशेषोऽवक्तव्य इत्यवक्तव्यत्वेन विशेष्यमाणो विशेष एव प्रधानः, यथा गौरत्वदन्तुरत्वविशेषणद्वयेन विशेष्यमाणो देवदत्तः प्रधानः, अवक्तव्यत्वञ्च विशेषणत्वादुपसर्जनं भवेदिति भावः । एवञ्च विशेषप्रधानावक्तव्यत्वोपसर्जनतापक्षोऽनिष्टस्तेऽविचारलब्ध इत्याह—**ततश्चेति** । ननु परस्पराभावरूपैकत्वान्यत्वादियुगलन्यायेन प्रधानोपसर्जनताया अप्येकत्वेनान्यत्वेन वाऽवश्यम्भावनियमात्तस्या एकत्वादिस्वरूपमपि निरूप्यमित्याह—**तस्या अपि चेति** । निरूपणविषयमाह—**किमेकत्वमित्यादीति** । परस्परपरिहारस्थितिकत्वमेकत्वादीनाह—**एकत्वे निषेध्य इति ।** यदि नैकत्वं तर्ह्यन्यत्वं प्राप्यते, यदि नान्यत्वं तर्ह्येकत्वम्, यदि नैकत्वान्यत्वे तर्ह्यनुभयत्वम्, यदि नानुभयत्वं तर्ह्युभयत्वमन्यतरेणावश्यम्भावनियमात् प्राप्यत इति भावः । एषु धर्मेषु निषिध्यमानस्य यः प्रतिपक्षस्तद्रूपत्वमवश्यमाश्रयणीयमित्याह—**तस्मादिति,** अन्यतरेणावश्यम्भाव्यत्वादित्यर्थः । **तच्चेति,** प्रतिषेध्यविपक्षरूपमित्यर्थः प्रतिषेध्यविपक्षरूपमेव द्विर्विशेषांशवृत्तिः, द्विविधो यो विशेषः एकत्वान्यत्वादिरूपः, तदंशे एकत्वेऽन्यत्वे वा वृत्तिरिति, सा च वृत्तिः विशेषप्रधानावक्तव्यत्वोपसर्जनतायाः किमाश्रीयते उत नेति पृच्छति पृच्छायां कारणमाह—**गतिद्वयेति,** एकत्वं वा स्यादन्यत्वं वा नान्या गतिरस्तीति भावः । प्रश्नोऽपि त्वयैव निरूपयितुमित्याह—**किमिति चेति** । तत्र दोषं दर्शयति—**अथाश्रीयत इति** । निषिध्यमानो य एकत्वादिस्तत्प्रतिपक्षोऽन्य-

---

१ छा. तथापिद्विविशेषांचवृत्तेः, क्ष. डे. द्विविशेषांशावृत्तेः । २ सि. क्ष. छा. डे. °किमेतत्स्वेत्यादि । ३ सि. क्ष. छा. डे. °निषेध्येनैकत्वं । ४ सि. क्ष. छा. डे. °द्विर्विशेषां वृत्तेराश्रीयत्वेत्वया ।

यदा विशेषान्यत्वं निषिध्यते तदा सांख्यमतमेकत्वमुपात्तं स्यात् यदि चैकत्वं निषिद्ध्यते तदा वैशेषिकाभिमतान्यत्वोपादानता, आदिग्रहणात् पुरुषकालादिकारणवादोपादानम्, कार्यमात्रसमुदायवादोपादानञ्च, तत्र ये दोषास्त्वयैवावक्तव्यवादिनाऽभिहितास्त एवाशेषास्तवापतन्ति, सर्वथाऽप्यवचनीयमिति वचनात् तद्वारेणाशेषदोषप्रसञ्जनात् ।

अथ मा भूवन्नमी दोषा इति नाश्रीयते प्रतिषेध्यप्रतिपक्षरूपं ततः—

प्रतिपक्षरूपानाश्रयणे सर्वविकल्पानां निवर्त्तनाद्वस्त्वत्यन्तमसदिति कुत आयाताऽवक्तव्यता? अनवधारणपरिग्रहेत्वेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमिति वादपरमेश्वरशरणं प्रपन्नोऽसि तथापि तेऽभ्युपगमविरोधाद्विजिगीषुतां निरुणद्धि ।

(**प्रतिपक्षेति**) प्रतिपक्षरूपा[ना]श्रयणे सर्वविकल्पानामित्यादि यावत् कुत आयाताऽवक्तव्यता? प्रतिषेध्यप्रतिपक्षरूपमनाश्रित्य प्रतिषिद्धेऽन्यतमविकल्पे निवर्त्त्यै[3]तावताऽकृतार्थस्सन् विकल्पान्तरमपि निवर्त्तयेत्, अनेनैव क्रमेणैकैकं निवर्त्त्य सर्वविकल्पेषु विशेषैकत्वादिषु निवर्त्तितेष्वत्यन्तमसत् स्यात्, न सद्वस्तु, ततश्च कुत इयमवक्तव्यताऽऽयाता? विकल्पान्तरप्रतिषेधेन हि विकल्पान्तराभ्युपगमे तदेकान्तनिराकरणद्वारेणावक्तव्यत्व[4]स्य गमनं स्यात्, न हि सर्वविकल्पातीतस्य खपुष्पादेरवक्तव्यता स्यात्, स्यान्मतमनवधारितैकत्वादिविशेषं सर्वाकारमेकमप्यन्यदप्यवक्तव्यमपीत्यादि परिगृह्यते तद्वस्त्विति चेदेवं तर्हि—अनवधारणपरिग्रहेत्वित्यादि, सर्वेषां विकल्पानामेकत्वादीनामवधारणमन्तरेणा[5]नुमत्य परिग्रहादेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमिति वस्त्वभ्युपगम्यम्, स्यादेकं स्यान्नाना स्यादुभयं स्यादनुभयं, स्यादवक्तव्यमिति तदपि स्याद्वादपरमेश्वरं शरणं प्रपन्नो-

त्वादिस्तद्रूपताऽथाऽऽश्रीयते तर्हि निषिध्यमानेऽन्यत्वे एकत्वपक्षाश्रयणात् सांख्यवादगतदोषप्रसङ्गः, एकत्वप्रतिषेधे च वैशेषिकाभिमतान्यत्वप्राप्तिरिति भावः । सांख्यादिवादेत्यत्रादिग्रहणेन पुरुषकालादिवादा ग्राह्या इत्याह—**आदिग्रहणादिति** । एकत्वान्यत्ववादेषु त्वया प्रदर्शिता अशेषा दोषा निषिद्ध्यमानप्रतिपक्षरूताश्रयणात्तवाप्यापतन्तीत्याह—**तत्र ये दोषा इति** । अथ सांख्यवैशेषिकादिवादगतदोषप्रसक्तिर्मा भूदिति निषेध्यप्रतिपक्षरूपता न स्वीक्रियते तर्ह्येकत्वान्यत्वादिनिखिलविकल्पपरित्यागेन वस्तु अत्यन्तमसत् स्यात्, तदन्यतमविकल्पव्याप्यत्वाद्वस्तुनः, तथा च कस्यावक्तव्यतेत्याह **प्रतिपक्षरूपानाश्रयण इति** । प्रतिषेध्यो य एकत्वादिस्तत्प्रतिपक्षस्यान्यत्वादेरनाश्रयेणैकत्वादेः प्रतिषेधे सर्वविकल्पानां निवर्त्तनं स्यात्, एकत्वे प्रतिषिद्धेऽपि तावताऽपरितोषादन्यत्वादीनपि निवर्त्तयेत्, तदेवं क्रमेण सर्वेषु विकल्पेषु निवर्त्तितेषु न किमप्यवशिष्यत इत्यत्यन्तमसदेव स्यात्तथा च कस्यावक्तव्यता स्यादिति व्याचष्टे—**प्रतिषेध्यप्रतिपक्षेति** । अवक्तव्यत्वं हि तदा सम्भवेद्यदैकत्वादि विकल्पान्तरं निवर्त्तयित्वा तत्प्रतिपक्षस्यान्यत्वादिविकल्पान्तरस्याभ्युपगमे सति तदेकान्तस्य निराकरणेन वस्तुनोऽवक्तव्यत्वं सम्भवेत्, न तु सर्वविकल्पप्रतिषेधे, तथा सति गगनकुसुमादेरेवावक्तव्यता स्यादिति प्राह—**विकल्पान्तरेति** । नन्वेकत्वान्यत्वादिनिखिलाकारमपि वस्तु एकान्तेनैकमिति न वाच्यमेकान्तेनान्यदित्यपि न वाच्यमित्येवमेकान्तनिराकरणेन तद्वस्त्ववाच्यमित्युच्यत इत्याशङ्कते—**स्यान्मतमिति** । तथा सति वादपरमेश्वरमतमाश्रितोऽसि, वस्तुन एकस्यैकत्वान्यत्वादिसर्वविकल्पात्मकत्वाभ्युपगमेन वस्तुनोऽनन्तपर्यायैकद्रव्यात्मकत्वादिति समाधत्ते—**अनवधारणेति** । कथं वस्त्वभ्युपगतमित्यत्राह—**स्यादेकमिति** । एवमभ्युपगमेन वादपरमेश्वरशरणगमनान्नावशिष्यते किञ्चिद्वक्तव्यं तथापि तेऽभ्युपगमविरोधः, विजिगीषुताभङ्गश्चेति भावः । अभ्युपगमविरोधः

१ सि. क्ष. छा. डे. °स्याच्चनैक° । २ सि. क्ष. छा. डे. तदास्त एव । ३ सी. क्ष. छा. डे. निवर्त्त्यैतावति कृ° । ४ सि. क्ष. छा. डे. °त्वस्यागमनं । ५ सि. क्ष. छा. डे. °नुमतापरि° ।

ऽसीति न किञ्चिद्वक्तव्यः संवृत्तः, तथापि वादपरमेश्वरशरणगमनं तेऽभ्युपगमविरोधान्मनस्विनो विजिगीषुतां निरुणद्धि तेनापि सह विरुद्धत्वात् पूर्वमिति ।

अथैकान्तवादगतदोषविदूरीकरणार्थमसदेव तद्वस्त्विति वदेत्तदपि न शोभनं विशेषद्वारा निषेधानुपपत्तेः, ततोऽप्ययुक्तमवक्तव्यत्वम्, विशेषधर्मासत्त्वे विशेष्यत्वाभावात्, खपुष्पवत् ।

अथैकान्तेत्यादि, अथ मतं निषेध्यप्रतिपक्षैकान्ताभ्युपगमे त एव मदुक्ता दोषाः, स्याद्वादाभ्युपगमेऽभ्युपगमविरोधः, तद्भावादेकान्तवादगतदोषविदूरीकरणार्थं पर्यायेण प्रतिषिद्धप्रतिपक्षसद्भावमनभ्युपगम्य [अ]सदेव तद्वस्त्विति वदेत्–उच्येत त्वया, एतदप्यशोभनम्, विशेषद्वार[ा]निषेधानुपपत्तेः, ततोऽप्ययुक्तमित्यादि, यद्यत्यन्तासदेव तद्वस्त्विस्य खपुष्पवदत्यन्तासत्त्वाद्भावविशेषैकत्वान्यत्वमवक्तव्यमित्ययुक्तम्–विशेषधर्मासत्त्वे विशेष्यत्वाभावात् खपुष्पवत्, एवं प्रत्येकमेकत्वान्यत्वाभ्यां भावविशेषयोरवक्तव्यमयुक्तम्, असत्त्वे उभयत्वेनाप्ययुक्तम्, सदाश्रयत्वाच्चोभयलक्षणस्य, एकत्वान्यत्वयोः सत्त्वात्तद्द्वारेण चानुभयत्वस्यात्यन्तासत्त्वस्याप्यवक्त[व्य]ता सिद्ध्यतीत्यभिप्रायस्य त्वयैव कृतत्वात् ।

अथोच्येत प्रतिपादनार्थं विशेषैकत्वान्यत्वाद्यसदेव कल्प्यते, ग्रामादिपथोपदेशे दिगादिप्रदर्शनवत्, अत्र त्रिलक्षणोपपत्तेस्तत्र तयोश्च स्वरूपेणावक्तव्यतैवेति, एवं तर्हि ननु प्रतिपादनमित्यप्यवचनीयमेव, अत्यन्तासत्त्वात् खपुष्पवत् प्रतिपादनमिति चोच्यते त्वया लोकदृष्टप्रतिपादनवैधर्म्येण, विशेषवचनस्य च विशेषाविशेषाद्येकत्वाद्यवक्तव्यत्वात्, प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरपि चैकत्वान्यत्वाद्यवक्तव्यत्वात् तदवचनीयत्वे च तत्सत्त्वमवश्यम्भावि, वक्तव्यवत् ।

कथमित्यत्राह–**तेनापि सहेति,** स्याद्वादेनापि सहेत्यर्थः । ननु प्रतिषेध्यप्रतिपक्षरूपानाश्रयणे स्याद्वादानभ्युपगमे च सर्वविकल्पनिवर्त्तनादत्यन्तमसद्वस्तु[१] भवेदिति प्रोक्तदोषं यद्यभ्युपगम्यते, एकान्तवादाभ्युपगमप्रसञ्जितापत्तिपरिहारार्थं तदापि दोषं वक्तुमाह–**अथैकान्तवादेति । अथ मतमिति,** निषिध्यमानप्रतिपक्षरूपतैकान्ताभ्युपगमे पर्यायेण सांख्यवैशेषिकादिवादगतैकत्वान्यत्वादिदोषाः प्रागुक्ताः सम्भवन्ति, तदनेकान्ताभ्युपगमे तु स्याद्वादाभ्युपगमप्रसङ्गेनाभ्युपगमविरोधः, तस्मादेकान्तैकत्वाद्यभ्युपगमप्रसक्तदोषप्रतिक्षेपार्थमसदेव वस्त्विष्यत इति भावः । मतमिदं निराकरोति–**विशेषद्वारेति,** सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वादिविशेषद्वारेण वक्तव्यत्वनिषेधो नोपपद्यते, वस्तुनोऽत्यन्तासत्त्वात्, खपुष्पवत्, ततश्च नास्ति धर्मी, यस्य सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविशेषद्वारेणावक्तव्यत्वं धर्मैः स्यात्, एकत्वान्यत्वादिविशेषाणामसत्त्वेन धर्माभावाद्वा नास्ति धर्मी योऽवक्तव्यो भवेत्, तस्मादेकत्वेनान्यत्वेन सामान्यविशेषयोरवक्तव्यत्वमयुक्तमिति भावः । तदेवाह–**यद्यत्यन्तासदेवेति ।** प्रत्येकमेकत्वस्यान्यत्वस्य चासत्त्वेनैकविशिष्टापरत्वरूपोभयत्वमप्यसदिति तेनापि वस्त्ववक्तव्यमित्ययुक्तमित्याह-**असत्त्व इति,** एकत्वान्यत्वयोरसत्त्व इत्यर्थः । एकत्वान्यत्वयोः सत्त्वादेवानुभयत्वस्याभावात् तेनाप्यवक्तव्यमित्ययुक्तम्, त्वयापि सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्तिभ्यां लक्षणाभ्यां व्यवस्थितत्वादेकत्वान्यत्वयोरनुभयत्वं नास्तीत्यनुभयताप्यवक्तव्यैवेति वदताऽनुभयत्वस्यासत्त्वप्रतिपादनादित्याशयेनाह–**एकत्वान्यत्वयोरिति ।** यद्यप्यवाच्यं वस्तु, तद्व्यतिरिक्तस्य सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिधर्माणामसत्त्वं तथापि सत्यभूतावाच्यवस्तुप्रतिपादनार्थं त एकत्वादिधर्माः प्रकल्पिता इत्याशङ्कते–**अथोच्येतेति ।** धर्मशून्यस्य सर्वथैवाव्यवहार्यस्याबुधान् प्रति प्रतिबोधनाय सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिधर्मेष्वसत्स्वपि वस्तुत्वाभिमानेन ततो रेखागवयप्रदर्शनेन सत्यगवयप्रतिपत्तिवत्, ईडरनगरमार्गोपदेशार्थमवाचीदिगादिप्रदर्शनवच्चित्रभक्तये बिन्दुविन्यसनवच्च तत्त्वभूतं वस्तु समीक्ष्यत इति व्याकरोति–

---

१ सि. क्ष. छा. डे. सद्वस्तु । २ सि. क्ष. छा. डे. ततोऽप्यमुक्तेत्यादि ।

(अथोच्येतेति) अथोच्येत प्रतिपादनार्थम्, '[1]उपायः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालना। अतत्त्वे वर्त्मनि [2]स्थित्वा ततस्तत्त्वं समीयते (   ) इति विशेषैकत्वान्यत्वाद्यसदेव प्रतिपादनार्थं कल्प्यते, गतिरियं प्रतिपादनस्य, ग्रामादिपथोपदेशे दिगादिप्रदर्शनवत्, चित्रभक्तिविन्यसनवदिति, [3]अत्र त्री-लक्षणोपपत्तेः—प्रतिषेध्यप्रतिपक्ष[4]सत्त्वे ह्येकत्वान्यत्वयोः सत्त्वमितरेतरनिषेधार्थापत्तिविहितमुभयलक्षणं तत्त्वमापद्येत, अनिष्टञ्चैतत्, तस्मात्तत्र—अवाच्यवस्तुनि तयोश्च—एकत्वान्यत्वयोः स्वरूपेणावक्तव्यतैवेति, अत्र ब्रूमः—एवं तर्हि ननु प्रतिपादनमित्यप्यवचनीयमेव—यत्तदेकत्वादिप्रतिपादनमसत्कल्पितमुपायत्वाभिमतं तत्प्रतिपादनमित्यवचनीयमत्यन्तासत्त्वात् खपुष्पवत्, प्रतिपादनमिति चोच्यते त्वया, प्रतिपादनं हि लोके विशेषवचनं दृष्टं यो गौरः स देवदत्त इति तद्वैधर्म्येण, तच्चासत्त्वाद्विशेषवचनं प्रतिपा[5]दनमुक्तम्, किञ्चान्यत्—विशेषवचनस्य विशेषाविशेषाद्येकत्वाद्यवक्तव्यत्वात्—वचनमपि किं विशेषोऽविशेष एकोऽन्य उभयमनुभयमवक्तव्यमित्येवमादिविकल्पेष्ववक्तव्यमतो विशेषवचनस्याप्यवचनीयत्वात् प्रतिपादनं प्रतिपादनमित्यवचनीयम्, किञ्चान्यत्—प्रतिपाद्यो यश्शब्दः यश्च प्रतिपादकस्तयोरप्येकत्वान्यत्वोभयत्वाद्यवक्तव्यम्, तस्मादपि प्रतिपादनमित्यवचनीयम्, तदवचनीयत्वे च तत्सत्त्वमवश्यम्भावि, वक्तव्यवदिति।

अथोच्येत न प्रतिपाद्यात् प्रतिपादकभेदोऽस्ति, किन्तु सर्वस्य विशेषणसविशेष्यस्यास्य वाक्यसंघातस्यैकस्यैवोक्तप्रकारेणावक्तव्यार्थप्रतिपादनवचनाददोष इत्यत्र ब्रूमः, ननु यद्यवचनी-

---

प्रतिपादनार्थमिति। अत्रार्थे प्रमाणभूतां कारिकामादर्शयति—**उपाय इति**। एकत्वान्यत्वोभयत्वानां त्रयाणां लक्षणोपपत्त्या सत्त्वं भवेत्, निषेध्यप्रतिपक्षरूपताया आश्रयणे ह्येकस्य प्रतिषेधेऽपरस्यापरस्य प्रतिषेधे चैकस्य सत्त्वादितरेतरनिषेधेनार्थापत्त्योभयरूपं तत्त्वमापद्येतेत्याह—**अत्र त्रीति**। अनिष्टञ्च तथाविधं तत्त्वमतोऽवाच्ये वस्तुन्येकत्वान्यत्वयोः स्वरूपतोऽसत्त्वमेव, प्रतिपादनार्थमेव केवलं कल्प्येते इत्याह—**अनिष्टञ्चैतदिति**। एकत्वादिप्रतिपादनमुपायभूतमप्यसदेव, तदप्यवचनीयमेव खपुष्पवदत्यन्तासत्त्वादित्युत्तरयति—**एवं तर्हीति**। अवाच्यवस्तुपरिज्ञानायोपायभूतमप्येकत्वान्यत्वादिप्रतिपादनमवचनीयमेव, खपुष्पवदत्यन्तासत्त्वादित्याह—**यत्तदेकत्वादीति**। लोके हि प्रतिपादनं विशेषाभिधानरूपं दृश्यते, कीदृशो देवदत्त इति देवदत्तस्वरूपजिज्ञासायां यो गौरः स देवदत्त इति गौरत्वलक्षणविशेषवचनेन देवदत्तस्वरूपं निर्धार्यते, त्वया तु तद्वैधर्म्येण प्रतिपादनमुच्यते, यत एकत्वादिप्रतिपादनमसद्विषयमभ्युपगम्यत इत्याह—**प्रतिपादनमितीति**, तद्वैधर्म्येण—लोकदृष्टप्रतिपादनवैधर्म्येण, प्रतिपादनमुच्यते त्वयेति योजनीयम्, तच्च—वैधर्म्यञ्च। ननु विशेषवचनमपि किं विशेषरूपं सामान्यरूपं वा, एकमन्यदुभयमनुभयं वेत्यादिविकल्पोत्थानेन तैरवक्तव्यमेव, तस्मात् प्रतिपादनं प्रतिपादनमित्यवचनीयमित्याह—**विशेषवचनस्येति**। व्याचष्टे—**वचनमपीति**। प्रकारान्तरेणाप्यवचनीयत्वमाह—**प्रतिपाद्य इति**, विशेषवचनरूपं प्रतिपादनं सामान्यं प्रतिपाद्यम्, तस्य च यः प्रतिपादको विशेषरूपस्तयोः किमेकत्वमन्यत्वं वेत्यादिविकल्पैरवचनीयत्वादपि प्रतिपादनमित्यवक्तव्यमिति भावः। ननु प्रतिपाद्यं विशेषवचनमवाच्यम्, प्रतिपादकोऽप्यवाच्यः, तयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः परस्परमवचनीयत्वादवचनीयस्यावचनीयत्वेन द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेः प्रतिपाद्यं वचनीयमेव स्यात्, तथा प्रतिपादकोऽपि, तस्मात् प्रतिपाद्यस्य विशेषवचनस्य सत्त्वमवश्यं स्यात्, यथाऽवक्तव्यं वक्तव्यमेवेति प्रागुक्तं तद्वदित्याशयेनाह—**तदवचनीयत्वे चेति**, प्रतिपादनस्यावचनीयत्वे च प्रतिपादनस्य सत्त्वमवश्यम्भावि, प्रोक्तहेतोरिति भावः। ननु प्रतिपाद्यस्यावक्तव्यसामान्यस्य प्रतिपादकस्य विशेषरूपस्य च नास्ति भेदः, येनाखण्डवाक्यतदर्थयोर्व्युत्पत्तावुपायः स्यात्, किन्तु निरंशस्य वाक्यस्यैवैकस्य संघातात्मकस्यावक्तव्यार्थवाचकत्वमित्याशङ्कते—**अथोच्येतेति**। व्याकरोति—

---

१ सि. क्ष. छा. डे. प्रतिपादनात्रमुपायः। २ सि. क्ष. छा. डे. स्थितत्वात्। ३ सि. क्ष छा. डे. °दितिरत्नत्रय°।
४ सि. क्ष. छा. डे. °क्षासत्त्वे। ५ सि. क्ष. छा. डे. °दनं युक्तम्।

यमित्येतदप्यवचनीयमेव, वस्तुत्वात्तदर्थवदिति, अत्रेदानीं परमनिश्चये त्वदीये तत्तावत् प्रत्यक्षमुच्यमानं किं कथञ्चिदवचनीयं? सर्वथा वा? उभयथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः, एकत्वेनान्यत्वेनोभयत्वेनानुभयत्वेनान्यतरप्रधानोपसर्जनतया तथातथावचनीयत्वात्।

अथोच्येतेत्यादि, न[1] प्रतिपादकभेदोऽस्ति अवक्तव्यस्य, नापि [2]केचिद्विशेषाः प्रतिपादकाः, प्रतिपाद्यात् सामान्याद्भिद्यन्ते, किन्तु सर्वस्य विशेषणसविशेष्यस्यास्य वाक्यसंघातस्यैकस्यैवोक्तप्रकारेणावक्तव्यार्थप्रतिपादनवचनाददोष इत्यत्र ब्रूमः, ननु यद्यवचनीयमित्यादि, गतप्रत्यागतेन विरोधापादनं गतार्थम्, अथोच्येत त्वयाऽवचनीयमित्येतदपि वचनमवचनीयमेव, अहो पुनरहमवचनीयवादी यत्किञ्चिद् वचनीयमपि प्रतिपद्येय! किन्तु सहार्थेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकभेदरहितं समस्तवृत्तिवचनमेतदपि नोच्यत एव वस्तुत्वात्तदर्थवत्, इत्यत्रे[3]दानीं परमनिश्चये तदीये तत्तावत् प्रत्यक्षमुच्यमानं—श्रूयमाणं वचनीयं तस्यावचनीयत्वे द्वयी गतिः—तत् किं कथञ्चिदवचनीयं? सर्वथा वेति? पर्यनुयुज्य दूषणं—सर्वथा वेत्यादि, उभयथा च सर्वथा, यदि केनचित्प्रकारेण यदि सर्वथेत्यर्थः, तत्र यदि केनचित्प्रकारेणावचनीयं यथा सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविकल्पानामन्यतमेन त्वयैवोक्त्वोक्त्वा तस्यावक्तव्यत्वप्रतिपादनस्य कृतत्वात्, एकत्वेनान्यत्वेनोभयत्वे[नानुभयत्वे] नान्यतरोपसर्जनप्रधानतया तथा तथा वचनीयत्वात्, प्रत्यक्षश्रूयमाणत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, स्वयमुक्तेः स्ववचनविरोधः, स्वयमभ्युपगमादभ्युपगमविरोधः, भिन्नव्यवस्थानलक्षणत्वादिनाऽनुमानेन तथा तथा चोक्तप्रकारेणानुमानादनुमानविरोधः, लोके शास्त्रेषु च वाच्यवाचकभेदप्रसिद्धेर्लोकागमविरोधौ, एवं तावत् केनचित्प्रकारेणावक्तव्यत्वे एते स्ववचनादिविरोधाः, सर्वथाप्यवक्तव्ये तथैव प्रत्यक्षादिविरोधाः।

इत्येवंविधमवस्तु, सर्वथाऽप्यरूपत्वात् खपुष्पवत्, सर्वेण वा विरोधात्, खपुष्पवदेव, प्रत्यक्षरूपादिवत्, ज्ञानसुखादिरूपादिवत्, तस्मान्नावक्तव्यं वस्तु।

न प्रतिपादकेति, अवक्तव्यस्य प्रतिपाद्यस्य यत्प्रतिपादक वाक्यं न तस्य क्रियाकारकादिपदभेदोऽस्ति, अखण्डत्वेन निरंशत्वात्, नापि ये प्रतिपादकाः केचिद्विशेषा वाक्यरूपास्ते प्रतिपाद्यादवक्तव्यादर्थात् सामान्याद् भिद्यन्ते, किन्तु क्रियाकारकादिनिखिलविशेषणपदसंघातलक्षणस्यैकस्य वाक्यस्यावक्तव्यार्थकत्वमिति भावः। समाधत्ते–**ननु यद्यवचनीयमित्यादीति,** यद्यवचनीयमित्येतद्वचनं किं वचनीयमवचनीयं वेति विकल्पे पूर्ववदेव गतानां दोषाणां प्रत्यागतत्वात् स्ववचनादिविरोधाः स्युरिति भावः। त एवाह–**अथोच्येत त्वयेति,** अहं ह्यवचनीयवादी, किञ्चिदपि वचनादि वस्तु वचनीयमिति नाभ्युपैमि, किन्त्वर्थः प्रतिपाद्यो वचनं प्रतिपादकमित्येवं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभेदरहितं विशिष्टसंसर्गवृत्तिवचनम्, तयोश्चार्थवचनयोरेकत्वान्यत्वोभयत्वाद्यनेकात्मकार्थत्वस्यावचनीयत्वेन परिग्रहादनेकार्थे स्थितं वचनमेकरूपेणावधारयितुमशक्यत्वादवचनीयमुच्यते वस्तुत्वात् तदर्थवदिति मदीयः परमो निश्चय इति भावः। यद्येवं ते परमनिश्चयस्तर्हि प्रत्यक्षतः श्रूयमाणं यद्वचनं तस्यावचनीयत्वे किं कथञ्चिदवचनीयम्? सर्वथा वा तदिति वक्तव्यमिति पृच्छति–**इत्यत्रेदानीमिति।** उभयथा दोषमादर्शयति–**उभयथा चेति,** सर्वेण प्रकारेणेत्यर्थः, गतिद्वयस्यैव सम्भवेन स एव सर्वे प्रकार इत्याशयेनार्थमाह–**यदीति।** केनचित्प्रकारेणावचनीयत्वे प्रत्यक्षादिविरोधानाह–**तत्र यदि केनचिदिति।** तानेव प्रकारानाह–**यथा सामान्येति।** तत्र दोषमाह–**एकत्वेनेति,** एकत्वादिना वचनीयताया एव दर्शनात्, प्रत्यक्षादिविरोधाः, श्रूयते हि प्रत्यक्षतो घटादिरित्येकं वस्तु, घट इत्याद्येकं पदम्, घटः पटादन्यः, घटपदं पटपदादन्यदित्येवमिति भावः। उच्यतेऽपि स्वयं त्वया तथेति स्वचनविरोध इत्याह–**स्वयमुक्तेरिति,** सामान्यमेकं विशेषा अनेके इत्येवं स्वयमभिधानादित्यर्थः। अभ्युपगमादिदोषानाह–**स्वयमिति।** सर्वथाप्यवक्तव्यत्वे एवमेव प्रत्यक्षादिविरोधा इत्याह–**सर्वथापीति।**

---

१ छा. न प्रतिपाद्यप्रतिपादक०। २ सि. क्ष. छा. डे. केनचिद्वि०। ३ सि. क्ष. छा डे. °इत्यत्रेदानीं रित्यातां परम्०।

इत्येवंविधमवस्तु, इतिशब्दो हेतूपसंहारार्थः, एतस्मात् कारणादवक्तव्याख्यं यदेवंविधं विकल्पितं त्वया वस्त्विति तदवस्तु, कस्मात्? सर्वथाऽप्यरूपत्वात्—सर्वैः प्रकारैः सर्वथा, यदि सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविकल्पैर्वाच्यमवाच्यम्, अथ तैरव्यतिरेकव्यतिरेकादिविकल्पैर्वाच्यमवाच्यमत्यन्तम्, तदेव वा सामान्यविशेषशब्दप्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पैर्वा वक्तव्यमवक्तव्यञ्चेत्याद्युक्तविधिना सर्वथा विचार्यमाणस्य रूपं नावतिष्ठते, तस्मात् सर्वथाऽप्यरूपं खपुष्पवदवस्तु तत्, किञ्चान्यत्—सर्वेण वा विरोधात्[1], अवस्त्विति वर्त्तते, उक्तविधिनैव सर्वेण स्ववचनादिना प्रमाणेनानेन विरुध्यत एव, अतोऽप्यवस्तु खपुष्पवदेवेति साधर्म्यदृष्टान्तः, इतरः प्रत्यक्षरूपादिवदिति वैधर्म्यदृष्टान्त इत्यर्थः, यस्य रूपमस्ति तत्सर्वेण न केनचिद्विरुध्यते, यथा प्रत्यक्षं स्वसंवेद्यं सर्वत्रादिनं प्रति, ज्ञानसुखादिरूपादिवदिति विज्ञानमात्रशून्यवादिनं मुक्त्वाऽन्यान् प्रति, तस्मात् नावक्तव्यं वस्त्वित्युपसंहारः ।

नापि निर्विचारवक्तव्यमेकान्तवादप्रसङ्गात् तत्र चोक्तदोषत्वात्, विशेषोऽपि रथादिवन्न भवति वस्तु, समुदायत्वात्, न भावोऽपि, त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात् कुतस्तदेकत्वाद्यवक्तव्यता? ।

(**नापीति**) नापि निर्विचारवक्तव्यम्, एकान्तवादप्रसङ्गात्, तत्र चोक्तदोषत्वात्, न द्रव्यं न कारणं न सामान्यमिति पूर्वोद्गाहितविकल्पप्रतिषेधेनानेकत्वं[2] तेषामेव यथा त्वयैव[अ]वक्तव्यवादिना निषिद्धम्, स्यान्मतं विशेषस्तर्हि घटादिरस्तु वस्तु, तदपि[3] रथादिवदिति न भवति वस्तु, सत्यपि विशेषत्वे समु-

प्रतिज्ञार्थमाह—**इतिशब्द इति**। हेतुमाह—**सर्वथेति**। कैः प्रकारै रूपमित्यत्राह—**यदीति** । सामान्यविशेषैकत्वान्यत्वादिविकल्पैः व्यतिरिक्तत्वाव्यतिरिक्तत्वादिविकल्पैः सामान्यविशेषशब्दप्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पैर्यद्वक्तव्यं वस्त्वभिमतं तदवाच्यमिति प्रोक्तविधिना निरूपयितुमशक्यत्वात् सर्वथाऽनिरूप्यं तत्, कस्याप्येकत्वादिरूपस्यावस्थानाभावात्, खपुष्पवत्तस्मादवस्तु तदिति भावः। हेत्वन्तरमाह—**सर्वेण वा विरोधादिति,** एवंविधमवस्तु, सर्वेण विरोधात्, साधर्म्यदृष्टान्तः खपुष्पवत्, वैधर्म्यदृष्टान्तः प्रत्यक्षरूपादिवत्, ज्ञानसुखादिरूपादिवद्वेति प्रयोगः, एकत्वादिप्रतिषेधस्यान्यत्वाद्यभ्युपगमाविनाभावित्वेन पुनस्तत्प्रतिषेधात् सामान्यविशेषयोरेकत्वादिकं वाच्यत्वेनाभ्युपगम्य प्रतिषेधाच्च स्ववचनाभ्युपगमादिविरोधः, शब्दार्थयोः संवृतिमात्रार्थत्वेनापरमार्थत्वादवक्तव्याख्यवस्तुनोऽविदितत्वाद्धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् पक्षसाध्याद्यसाधनत्वात् सर्वेण स्ववचनादिप्रमाणेन विरोधान्नास्त्यवक्तव्यं वस्तु, खपुष्पवदेवेति भावः। वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—**प्रत्यक्षरूपादिवदिति । ज्ञानसुखादीति,** विज्ञानमात्रवादिमते विज्ञानस्य सत्त्वेऽपि सुखादिरूपाद्यभावाच्छून्यवादिमते सर्वस्याप्यभावात् तान् मुक्त्वाऽन्यान् प्रति दृष्टान्तोऽयमिति भावः । नन्वेकत्वान्यत्वादिविकल्पैरवचनीयं वस्त्विति न ब्रूमो येन सर्वथाप्यरूप्यत्वं सर्वथा विरोधो वा भवेत्, किन्तु निर्विचारवक्तव्यं वस्त्विति ब्रूम इत्याशङ्कते—**नापीति** । तथा सति एकान्तेन निर्विचारवक्तव्यत्वं वस्तुनः प्राप्तमित्येकान्तवादप्रसङ्ग इत्युत्तरयति—**एकान्तेति** । तथाविधस्य वस्तुनो भावात्मकत्वे विशेषात्मकत्वे वा त्वयैव दोषस्योक्तत्वादित्याह—**तत्र चेति** । भवनविशेषाभ्यां कारणकार्यत्वाभ्यामेकत्वान्यत्वाभ्यां प्रधानोपसर्जनत्वाभ्यामित्यादिविकल्पैर्विकल्प्यमानमवक्तव्यं वस्तु भवतीत्यादिना वस्तुन एकान्तस्वरूपतायाः प्रतिषेधनात्, तच्च वस्तु न द्रव्यं न कारणं न सामान्यमित्येवं त्वयैव प्राक् प्रतिषिद्धत्वादनेकत्वं प्राप्यत इति भावः । भवतु तर्हि विशेषो घटादिरित्याशङ्क्य सोऽपि न सम्भवतीत्याह—**स्यान्मतमिति** । विशेषोऽपि न वस्तु, समुदायत्वाद्रथादिवदित्याह—**तदपीति** । ननु विशेषस्य वस्तुत्वनिषेधे तत्प्रतिपक्षस्य भावस्य वस्तुत्वं स्यादित्यत्राह—**न भाव इति** । यद्यपि

१ सि. क्ष. छा. डे. वानविरो० । २ सि. क्ष. छा. डे. °षेधोनानैकत्वं । ३ सि. क्ष. छा. डे. तदत्पि ।

दायत्वाद्रथादिवत्, न भावः सामान्याख्यो विशेषप्रतिपक्षोऽपि[1]—तत्प्रतिषेधा[द्]र्थापत्त्य[ा]प्रसक्तोऽपि त्वयैव प्रतिषिद्धत्वात् कुत एतदेकत्वाद्यवक्तव्यता ?—भावविशेषयोरेवासिद्धौ कुतः पुनस्तद्गतैकत्वान्यत्वादिधर्मद्वारानुगम्य[ा]वक्तव्यत्वमिति ।

किं तर्हि वस्त्विति चेदुच्यते—रूपादय एव समुदायिनः, न समुदायो नाम कश्चित्, त एव हि भवन्ति, यत्तत्तैर्भूयते स भावो भवनं भूतिः, ते हि तस्या भवनक्रियायाः कर्त्तारः, योऽन्यैः परिकल्प्यते समुदायः कारणं द्रव्यमित्यादिः स न भावः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात्, खपुष्पवत्, को हि सः पृथिव्यादिविनाभूतः, एवं कः पृथिव्याकाशादिरण्वादिविनाभूतः, केऽणवो रूपादिभ्यो विना, अभिवचनमात्रमेवैते, आत्मा च न नामान्यः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात् खपुष्पवत् ।

(किमिति) किं तर्हि वस्त्विति चेदुच्यते—रूपादय एव समुदायिनः—समुदायोऽसन्नपि परमार्थतो तेषां संवृतिसन्नस्तीति समुदायिनः, त एव हि भवन्ति, न समुदायो नाम कश्चिदित्यवधारयति, यत्तत्तैर्भूयते स भावो भवनं भूतिः, भावसाधनो भावशब्दः, ते हि तस्या भवनक्रियायाः कर्त्तारः, शब्दार्थसंव्यवहारेण योऽन्यैः परिकल्प्यते समुदाय[ः]कारणं द्रव्यमित्यादिः स न भावः—सामान्याख्यः कश्चिदस्ति, कस्मात् ? अरूपादित्वात्, समस्ता रूपादयो हेतुत्वेनोच्यन्ते रूपाद्यन्यतमानात्मकत्वादित्यर्थः, किमिव ? खपुष्पवत्, एवं साधनेन भावस्य सामान्यस्य[ा]भावं प्रदर्श्य वस्तुनो दर्शयति—को हि सः पृथि[2]व्यादिविनेत्यादि पृथिव्युदकाग्निपवनाकाशात्मकालदिगादिः समुदायमात्ररूपादिपृथग्भूतः—कोऽसौ भावः, तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः, एवं पृ[3]थिव्याकाशादि[रण्वादि]विनेत्यादि यावत् केऽणवो रूपादिभ्यो विनेति गतार्थः, अभिवचनमात्रमेवैते—

विशेषप्रतिषेधेऽर्थापत्त्या तत्प्रतिपक्षं सामान्यं प्राप्नोति तथापि तस्यापि त्वयैव विशेषशून्यस्य सामान्यस्य निषिद्धत्वात् सामान्यविशेषयोरेवासिद्धौ कस्यैकत्वान्यत्वादिभिरवक्तव्यता, धर्म्यसिद्धेर्धर्माणामप्यभावादिति भावः । स्वमतेन वस्तुनिर्णयं विधत्ते—**किन्तर्हीति** । संवृतिसत्समुदायावयवभूताः समुदायिनो रूपादय एव परमार्थसद्वस्तुभूता इत्याह—**रूपादय एवेति,** येषां रूपादीनां समुदायः परमार्थतोऽसन्नपि संवृतिसन्नस्तीति समुदायिनो रूपादय एव वस्त्वित्युक्तमिति भावः । एवशब्दव्यावर्त्यमाह—**त एव हीति,** रूपादय एव भवनक्रियाकर्त्तारः परमार्थतः, न समुदायो नाम कश्चित् परमार्थभूतोऽस्तीति भावः । भावशब्दो भावसाधनो भवनक्रियार्थ इत्याह—**यत्तत्तैर्भूयत इति,** रूपादिभिर्भूयतेऽतो रूपादिर्भावः, भवनक्रियाकर्त्ता चेति भावः । परस्पराभिप्रायमेलनामयत्वाच्छब्दार्थव्यवहारस्य यथातत्त्वमप्रवर्त्तमानस्यानादिवासनापरिकल्पितस्य तेन प्रकल्पितः समुदायः कारणं द्रव्यमित्यादिः, परमार्थरूपो भावो न भवति, रूपाद्यनात्मकत्वादित्याह—**शब्दार्थेति** । हेतुमाह द्रव्यादेरवस्तुत्वे—**अरूपादित्वादिति,** रूपादिपदेन रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा विवक्षिताः, रूपादिर्न भवतीत्यरूपादिः, तद्भावस्तस्मात्, रूपाद्यनात्मकत्वादित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—**खपुष्पवदिति,** तथा च परपरिकल्पितः समुदायादिर्नभावो रूपाद्यनात्मकत्वात्, खपुष्पवदिति सामान्यस्याभावः साधितः । शब्दार्थव्यवहारार्थमन्वयविज्ञानोन्नीयमानसद्भावः समुदायो द्रव्यादिर्वा नावयवपृथिव्यादिव्यतिरेकेणान्यः कश्चिदस्ति, न हि तद्विज्ञानं नः समुदायं द्रव्यादिं वाऽवयवपृथिव्यादिव्यतिरेकेण दर्शयतीत्याशयेनाह—**को हि स इति** । एवं पृथिव्यादयोऽपि मृत्पाषाणादिविनाभूता न सन्ति, मृदादयोऽप्यणुसमुदायरूपा एव न ततो भिन्नाः, अणवोऽपि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दात्मका एव न ततो व्यतिरिक्ता इत्याह—**एवं पृथिव्याकाशादिरिति,** पृथिवीपदेन पृथिव्युदकाग्निपवनाः, आकाशादि·

१ सि. क्ष. छा. डे. °पि तत्प्रतिपक्षोऽपि सत्प्रतिषे° । २ सि. क्ष. डे. °व्यापृथिव्यादविने° । छा. °व्यापृथिव्यादेविते° । ३ सि. क्ष. छा. डे. पृथिव्याकाशादिनाविने° ।

आभिमुख्यार्थं वचनं रूपाद्यधिगमार्थमित्यर्थः, रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा रूपादयः, रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा वा, तद्व्यतिरिक्तमन्यत् पृथिव्यादि तदभिवचनमात्रम्, अत आह–आत्मा च न नामान्यः कश्चिदस्ति, अरूपादित्वात्, खपुष्पवत्।

रूपादिसमुदायमात्रप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाह—

यथा चक्रेषाण्यक्षादिहस्त्याद्यङ्गसमूहे रथसेनासंज्ञा, समुदायो विभज्यमानोऽङ्गेषु तान्यपि स्वांशेषु, प्रत्येकमेवं परमाणुपर्यन्तं विभज्य सुष्ठु निभाल्यमानोऽपि न रथादिरङ्गव्यतिरिक्तो दृश्यते, किन्तु तत्समुदाय एवाऽऽभासते तथा, यदि सोऽङ्गेषु रूपाद्यात्मव्यतिरिक्तेनात्मना स्यात्तत उपलब्धिधर्मा तत्प्रतिबन्धिनामभावे रूपादिवदुपलभ्येत, वस्तुत्वान्न तूपलभ्यते, तस्मादसन्, रूपादिव्यतिरिक्तोऽस्ति चेत्समुदायोऽनात्मको नासौ ततः खपुष्पवद्भवेत्, अरूपत्वात् अरूपाद्यात्मकत्वाद्रूपादिभ्य इव वा खपुष्पादेरपि भवेत्।

यथा चं[1]क्रेषाण्यक्षेत्यादि, चक्राद्यङ्गसमूहे रथसंज्ञा हस्त्याद्यङ्गसमूहे सेनासंज्ञा यथा समुदायो विभज्यमानोऽङ्गेषु[विष्ठ]ति, तान्यप्यङ्गानि विभज्यमानानि आत्मांशेषु परतो वा परत इति यावत्परमाणु, सो विभज्य रूपादिष्वेव तिष्ठति, प्रत्येकं-एकैकमङ्गं परमाणुपर्यन्तं विभज्य सुष्ठु निभाल्यमानोऽपि रथो न दृश्यते तथा सेना वनं पुरुषोऽन्यो वाऽसौ न दृश्यतेऽङ्गव्यतिरिक्तः, किन्तु तत्समुदाय आभासते–रूपादय एव प्रत्यवभासन्ते समुदितास्तथेति, यदि सोऽङ्गेष्वित्यादि,[स तदात्मा नात्मकः]सोत्मा वाऽनात्मा वा स्यात्, यदि रथोऽन्यो वा रूपाद्यात्मव्यतिरिक्तेनात्मना ततः स उपलब्धिधर्मा सन्नग्रहणनिमित्तानामतिदूरसन्निकर्षाभिभवाद्युपलब्धिप्रतिबन्धिनामभावे रूपादिवदुपलभ्येत वस्तुत्वा[3]न्न तूपलभ्यते, तस्मा[4]दसन् रथादिः समुदायः, ततोऽन्यत्वे

पदेनाकाशकालदिगात्मानो ग्राह्याः। रूपादिरेव वस्तु सन् घटः पटः पृथिवी जलं तेजः पवनः काल इत्यादिसंज्ञामधिरोहति, रूपादिपरिज्ञापनायैव पृथिव्युदकादिवचनं नास्ति च पृथिव्यादिः कश्चिद्भावो रूपादिविनाभूत इत्याशयेनाह–**अभिवचनमात्रमेवैत इति**। क्षणिकवादिमताभिप्रायेणाह–**रूपवेदनेति**। एवमेवात्मापि रूपादिव्यतिरिक्तो नास्तीत्याह–**आत्मा चेति**, विज्ञानस्कन्ध एवात्मेति भावः, रूपादिपदेन रूपवेदनादयो विवक्षिता इति सूचयति आत्मा चेति ग्रन्थः। पृथिव्यादिप्रत्यया रूपादिसमुदायविषयाः रूपादिसमुदायविशेष एव पृथिव्यादिसंज्ञामधिरोहतीत्यत्र निदर्शनमाह–**यथा चक्रेति**। रथो नाम-न कश्चिच्चक्राक्षेषाद्यवयवसमुदायापेक्षया व्यतिरिक्तो दृश्यते न वा सेनाहस्त्यश्वरथपादातसमुदायापेक्षया व्यतिरिक्ता, नापि वनं निम्बाम्रपनसाश्वत्थादिसमुदायापेक्षया व्यतिरिक्तम्, किन्तु तत्तत्समुदायानामेव रथ इति सेनेति वनमिति संज्ञा क्रियते, तथा च यथा रथादयः समुदायविशेषाः पृथक् पृथक् क्रियमाणाश्चक्राद्यवयवेष्वेवावतिष्ठन्ते नास्ति कश्चिद्रथादिः, तथा चक्रादयोऽपि समुदायरूपत्वाद्विभज्यमानाः स्वावयवेष्वरादिष्वेवावतिष्ठन्ते, अरादयोऽपि स्वावयवेषु, तेऽपि तदवयवेषु, इत्थं यावत्परमाणु विभज्यमानं वस्तु, स्वावयवेष्वेवावतिष्ठते, न तु ततः पृथक् कश्चिदस्ति, परमाणवोऽपि रूपरसादिसमुदायमात्रमेव, न हि सुष्ठु निरीक्ष्यमाणमपि अङ्गव्यतिरिक्तं रथादिवस्तु समुपलभ्यते, किन्त्वङ्गानां समुदाय एव रथादित्वेनाभासन्त इत्याशयेन व्याकरोति–**चक्राद्यङ्गेति**। एवं तर्हि किं दृश्यत इत्यत्राह–**किन्त्विति**। नन्वस्ति समुदायो रूपादिस्वरूपानात्मकस्तद्व्यतिरिक्तः सात्मकः इति चेत्तर्हि स उपलब्धिलक्षणप्राप्तः उपलब्धिप्रतिबन्धकरहितः रूपादिवदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीत्याशयेनाह–**यदि सोऽङ्गेष्वित्यादीति**, तदात्मानात्मकः–रूपाद्यात्मानात्मकः सस्वरूपो निःस्वरूपो वा स्यात्, सस्वरूपत्वे उपलभ्येत, उपलब्धिधर्मत्वात् महदुद्भूतरूपानेकद्रव्यत्वादिति भावः। ननूपलब्धिधर्मत्वेऽपि अतिदूरातिसामीप्येन्द्रियघातमनोऽनवस्थानसौक्ष्म्याभिभवाद्युपलब्धिप्रतिबन्धकस्य सम्भवात्कथमुपलभ्येतेत्यत्राह–**अग्रहणनिमित्तानामिति**। ननु रूपादिव्यतिरिक्तो रूपाद्यनात्मा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. चक्रेस्वात्वेषाक्षेत्यादि। २ सि. क्ष. छा. डे. सात्मासात्मक आत्मावात्साद्यदि। ३ सि. क्ष. छा. डे. °न्नरूप०। ४ सि. क्ष. छा. डे. °दसत्त्वथादिः।

त्वनिष्टापादनम्, रूपादिव्यतिरिक्तोऽस्ति चेत्समुदायोऽतदात्मकोऽनुपलभ्यमानोऽपि[?] खपुष्पवद्भवेदरूपत्वात्। [ततो न] [अ]रूपाद्यात्मकत्वात् रूपादिभ्य इव, न ह्यतदात्मकस्य समुदायस्योत्पत्तौ रूपादयो हेतुभावं प्रतिपद्यन्ते व्योमकुसुमस्य, तत्र घटादिसमुदायस्य रूपादयो हेतवो भवन्ति खपुष्पादयो नेति रूपादय एव घटादिसमुदायस्य हेतवो न व्योमकुसुमादीत्यत्र को विशेषहेतुः।

अथानर्थान्तरतायां रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं रथादौ कथम्? अत्र प्रयोगः स्वतो व्यतिरिक्तसहकारिसम्बन्धिनो रूपादयः, स्वासम्भविकार्यदर्शनाच्चक्षुरादिवदिति, क्व तर्हि तद्दृष्टं? तेष्वेव, नन्वविवादसिद्धं शिबिकावाहकेभ्यश्चतुर्भ्यो व्यतिरिक्तात् सहायादृतेऽपि शिबिकावहनं दृष्टं कार्यम्, अतोऽनैकान्तिकं तत्, तथा प्रत्येकवस्तुवृत्तिमनतिक्रामन्त एव स्वां वृत्तिमवतिष्ठन्ते रूपादयः तेषामेव वस्तुत्वात्, अन्यथाऽर्थस्य परिकल्पनामात्रत्वम्, अनवस्थितैकस्वतंत्रत्वात्, अलातचक्रवत्।

अथानर्थान्तरतायामित्यादि, यावत् कथम्? स्यान्मतं यद्यनर्थान्तरं रूपादिभ्यो रथादिसमुदायः, रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं तत्रासम्भवद्रथादौ दृष्टं लोके तत्कथम्? प्रतिनियतकारणसाध्यत्वात् कार्याणाम्, तन्तुपटादिवत्, अत्र प्रयोगः स्वतो व्यतिरिक्तसहकारिसम्बन्धिनो रूपादयः, स्वासम्भविकार्यदर्शनात् चक्षुरादिवत्, यथा कृष्णतारादिचक्षुर्व्यतिरिक्तमिन्द्रियमुपलब्धिकारणं सहकारि चक्षुषा सम्बद्धमनुमीयते, चक्षुष्यसम्भवद्रूपज्ञानं कार्यं दृष्ट्वा, तथा रूपाद्यसम्भविभारवहनादिकार्यदर्शनाद्रथादिसमुदायान्यत्वमनुमेयमित्यत्रोच्यते–क्व तर्हि तद् दृष्टं तद्भारवहनादिकार्यं? तेष्वेव–रूपादिषु दृष्टम्, अतः

घटादिसमुदायोऽनात्मकत्वादनुपलभ्यमानोऽप्यस्तीत्यत्राह–**रूपादिव्यतिरिक्त इति,** यद्यनात्मकत्वादनुपलभ्यमानोऽपि भवेत् स तर्हि खपुष्पमपि भवेत्, अरूपत्वात्, निःस्वरूपत्वात्, रूपाद्यनात्मकत्वाद्वेति भावः। न हि घटादिसमुदायः खपुष्पवद्भवति, अत एव स रूपाद्यात्मको रूपादिभ्यो भवति, गगनकुसुमादिस्तु न रूपाद्यात्मकसमुदायोऽत एव न रूपादिभ्यो भवति, एवं नाभ्युपगम्यते चेद्घटादिसमुदायस्यैव रूपादयो हेतवो न गगनकुसुमादेरिति विशेषो न स्यात्, अरूपाद्यात्मकत्वाविशेषादित्याशयेनाह–**अरूपाद्यात्मकत्वादिति,** अरूपाद्यात्मकत्वाद्घटादिसमुदायस्य रूपादिभ्यो भवनवत् खपुष्पादेरपि **स** भवेदित्यर्थः। तदेव वैपरीत्येन समर्थयति–**न हीति,** रूपाद्यनात्मकसमुदायस्य न रूपादयो हेतव इति भावः। समुदायस्य रूपाद्यनात्मकत्वे रूपादिरेव तस्य हेतुरिति न स्यादित्याह–**तत्र घटादिसमुदायस्येति।** ननु रथादयो यदि रूपाद्यात्मकत्वाद्रूपाद्यव्यतिरिक्तास्तर्हि रूपादिष्वदृष्टं भारवहनादिकार्यं रथादौ न स्यात्, भवति तु, तस्मान्न स रूपाद्यात्मक इत्याशङ्कते–**अथानर्थान्तरतायामिति।** व्याचष्टे–**स्यान्मतमिति,** भारवहनादिकार्यं रूपादावदृष्टं तत्रासम्भवद्रथादौ च दृष्टं तदनर्थान्तरतायां कथं भवेदिति भावः। नहि कारणनैयत्यं विना कार्यस्य सम्भवः भारवहना देरकारणाद्रूपादेस्तत्कथं स्यात्, प्रतिनियतकारणसाध्यत्वात् कार्याणाम्, यथा तन्तवः पटस्य प्रतिनियतं कारणं तदभावे स न भवेदेवेत्याशयेन हेतुमाह–**प्रतिनियतेति।** उक्तमेवार्थं प्रयोगेण साधयति–**अत्र प्रयोग इति,** स्वस्मिन्नसम्भविनः कार्यस्य स्वतो भिन्नसहकारिसमवहितात् स्वस्माद्भवनं दृश्यते, यथोपलब्धिलक्षणं कार्यं कृष्णतारादिचक्षुष्यसम्भवत्तद्व्यतिरिक्तेन्द्रियसम्बन्धाद्भवति तथा रूपाद्यसम्भवि कार्यं दृश्यमानं तद्व्यतिरिक्तरथादिसमुदायसहकृताद्भवतीति रथादिरूपः समुदायः रूपादिभ्योऽर्थान्तरमेवेति मानार्थः। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसमन्वयमाह–**यथा कृष्णतारादीति।** स्वासम्भविकार्यदर्शनरूपहेतोर्विशेषणासिद्धिमाह–**क्व तर्हि तद्दृष्टमिति,** भारवहनादिकार्यं कस्मिन् दृश्यते? यदि रूपादिषु दृष्टमित्युच्यते तर्हि तद्भारवहनादिकार्यं स्वासम्भवि–रूपाद्यसम्भवि कथम्? अतः स्वासम्भवित्व-

[?] अत्र काश्चन पंक्तयो भ्रष्टा इति भाति, सर्वासु प्रतिष्वत्र पाठस्यैतस्ततो भवनात्।

स्वासम्भवित्वविशेषणासिद्धिः, सिद्धत्वमभ्युपेत्याप्यनैकान्तिकं कार्यदर्शनं तद्दर्शयति–नन्वविवादेत्यादि[1], आवयोरविवादेन शिबिकावाहकेभ्यश्चतुर्भ्यो व्यतिरिक्तात् सहायादृतेऽपि शिबिकावहनं दृष्टं कार्यमतोऽनैकान्तिकं तत्, तथा प्रत्येकवस्त्वित्यादि यावदलातचक्रवदिति, भारवहनक्रियायाः समुदायिष्वेव सम्भवं समुदाये च [अ]सम्भवं दर्शयितुं[2] समुदायप्रतिषेधार्थं न्यायमाह–तेन प्रकारेण तथा रूपादिवस्तुनः प्रत्येकं वृत्तिः, तामनतिक्रामन्त एव स्वां वृत्तिमवतिष्ठन्ते रूपादयः, स्ववृत्त्यत्यागव्यवस्थयैव भारवहनादिक्रियामारभन्ते, तेषामेव वस्तुत्वात्, अन्यथा–वस्तुनो विपर्यये, निर्विवरं देशभेदेन स्थितानां रूपादीनामेव वस्तुत्वात् ततोऽन्यथा–समुदायाख्यस्यार्थस्य परिकल्पनामात्रत्वादनवस्थितैकस्वतत्त्ववत्त्वात्[3], अलातचक्रवत्, यथाऽलातस्य भ्राम्यतः चक्रवदाभानं[4] भ्रान्तपरिकल्पनामात्रं निर्विवरत्वात् तथा रूपादीनां निर्विवराणां परमाण्वादिवदाभानं भ्रान्तपरिकल्पनामात्रम् किमङ्ग ! पुनः सविवरसविवरतरसविवरतमघटपटादिनगरादिपृथिव्यादी[ना]म्, ससमुदायानाम्, न ह्येषां समुदायानामेकं स्वतत्त्वमवस्थितम्, रूपादिवत् परस्परविविक्तमस्त्यतोऽलातचक्रवद् भ्रान्तं रूपादि परतत्त्वव्यपदेशभाक्त्वात्, तस्मादसतः समुदायस्य[न] भा[र]व[ह]नादिका क्रियेति ।

आह—

ननु घटादावनवस्थितैकस्वतत्त्ववत्त्वस्य सत्त्वमिति चेन्न समुदायत्वाद् घटस्य शकटादिवदेव साध्यत्वात्, रूपरूपादिस्थितैकरूपत्वेऽपि सत्त्वमिति चेन्न, रूपसामान्यसमुदायसाध्यत्वात् ।

रूपविशेषणासिद्ध्याऽसिद्धो हेतुस्तवेति भावः । हेतोः सिद्धत्वमभ्युपेत्यापि हेतोरनैकान्तिकत्वमाह–**सिद्धत्वमभ्युपेत्यापीति,** प्रत्येकं रूपादावदर्शनात् सिद्धत्वमिति भावः । अनैकान्तिकत्वं घटयति–**नन्वविवादेत्यादीति,** चत्वारः शिबिकावाहकाः वहन्ति शिबिकाम्, प्रत्येकन्तु शिबिकावाहकेषु वहनमदृष्टमपि तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य कस्यापि सहायमनपेक्षमाणास्त एव चत्वारो वहन्ति तस्मात् स्वासम्भविकार्यदर्शनं तत्रास्ति नास्ति च साध्यं स्वतो व्यतिरिक्तसहकारिसम्बन्धित्वमित्यनैकान्तिकमिति भावः । ननु भारवहनक्रियाऽपि शिबिकावाहकसमुदाये एव भवति प्रत्येकं शिबिकावाहकैस्तस्या असम्भवादित्यत्राह–**तथा प्रत्येकवस्त्वित्यादीति** । अस्य मूलस्य भावमाह–**भारवहनेति** । रूपादयः स्वकीयप्रत्येकवृत्त्यपरित्यागेनैव व्यवस्थितास्तत्तत्क्रियाः कुर्वन्ति, तथाविधस्यैव वस्तुत्वात्, यदि समुदाय एव तत्क्रिया भवेयुस्तर्हि रूपादयः स्ववृत्तिपरित्यागेन क्रियामारभन्त इति स्यात्तथा सत्यवस्तुत्वप्रसङ्गः, स्ववृत्तिपरित्यागादेव, तस्मान्नास्ति कश्चित्समुदाय इति भावः । एवञ्च निर्विवरं देशभेदेन स्थिता रूपादय एव वस्तुभूता घटादिसंज्ञां लभन्ते, ततोऽन्यप्रकारः समुदाय कल्पित एवेत्याह–**अन्यथेति** । कल्पितत्वे हेतुमाह–**अनवस्थितैकस्वतत्त्ववत्त्वादिति,** प्रत्येकं रूपादीनां यत्स्वतत्त्वं तत्रानवस्थितत्वादित्यर्थः । निर्विवरतया तथातथाऽवस्थानादेव घटपटादिरूपतोऽवभासनं भवति कल्पनया, यथा भ्राम्यतोऽलातस्य निर्विवरतयाऽवस्थानादेव चक्रवदवभासनं भवति तच्च परिकल्पनामात्रं तथैव रूपादयः सविवरनिर्विवरतारतम्यात् परमाणुद्व्यणुकादिघटपटादिपृथिव्यादिविलक्षणसमुदायरूपेणाभासन्ते, ते च समुदायाः प्रतिनियतैकस्वतत्त्वे न व्यवस्थिताः, रूपादिवत्, किन्तु परस्परविभिन्नस्वतत्त्वादलातचक्रवत् भ्रान्ता एव, रूपादिभ्यो व्यतिरिक्ततत्त्वव्यपदेशभाक्त्वात्, तस्मान्नास्ति कश्चित् समुदायः, यस्य भारवहनादिक्रिया भवेत्, किन्तु समुदायिशिबिकावाहकानामेवेति निरूपयति–**यथाऽलातस्येति** । दार्ष्टान्तिके परमाणोरेव कल्पनामात्रत्वे किं पुनर्वक्तव्यं तन्निर्मितत्वेनाभिमतानां घटपटादीनामित्याशयेनाह–**किमङ्ग पुनरिति** । एषां समुदायानां कल्पनामात्रत्वेन वस्तुतोऽसत्त्वान्न समुदायस्य भारवहनादिका क्रियेत्याह–**तस्मादिति** । समुदायस्यासत्त्वसाधकानवस्थितैकस्वतत्त्ववत्त्वहेतोर्व्यभिचारमाशङ्कते–**ननु घटादाविति** । असत्त्वशून्ये घटादौ

---

१ छा. °त्यादि आवयोरविवादेत्यादि आवयोरविवादेन । २ छा. वर्त्तहितुं । ३ सि. क्ष. छा. डे. °स्वतंत्रत्वात् । ४ सि. क्ष. छा. डे. °चक्रवदासांतारूपादि° ।

ननु घटादाविति, यावत् सत्त्वमित्यनैकान्तिकोद्भावनम्, अ[न]वस्थितैकस्वरूपघटादिसद्भावादित्यत्रोच्यते, न, समुदायत्वात्-नानैकान्तिकत्वमस्य हेतोः समुदायत्वाद्घटस्य शकटादिवदेव साध्यत्वात् घटशब्दस्यानैकान्तिकाभासतेत्यर्थः, रूपरूपादिस्थितैकरूपत्वेऽपि सत्त्वमिति चेत्-शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यसत्त्वमनवस्थितैकरूपञ्च दृष्टं तस्मादनैकान्तिकत्वमिति चेत्, न, रूपसामान्यसमुदायसाध्यत्वात्, शुक्लादिविविक्तरूपव्यतिरिक्तसामान्यरूपस्य समुदायाख्यस्य सत्त्वासिद्धेरवस्तुत्वाद्विपक्षासिद्धेर्नानैकान्तिकता ।

अधुना वस्तुतत्त्वं निरूपयति—

प्रत्येकं वृत्ता रूपादिव्यक्तिर्भेदरूपैव, सा चानवस्थितैकरूपेत्येतन्मात्रसत्यमेव वस्तु, तस्य त्वभिवचनमात्रं घट इति परिकल्पनामात्रार्थत्वाच्छब्दस्य, संसारानुबन्धवत्, परमार्थतस्तु पश्चात् पूर्वञ्च भावाद्यथा रथस्यात्मा नास्ति तथा संयुक्तावस्थायामपि, यथोच्येत किञ्चित् कार्यं बुद्धिपूर्वकं पुरुषेण क्रियते, स्वत एव च कारणात् कार्यमुत्पद्यत इत्येतन्मृषा तैर्यथोच्यते-सत् कार्यं यथा रूपादिभिराकाशादीनां भूतानामुत्पत्तिरिति वाचोयुक्तिमात्रेण प्रक्रियावशाद्भिन्नत्वादिति ।

(**प्रत्येकमिति**) प्रत्येकं वृत्ता रूपादिव्यक्तिर्भेदरूपैव, न सामान्यम्, से[ा]चावस्थितैकरूपा-परस्परविविक्तैकरूपेत्येतन्मात्रसत्यमेव वस्तु, तस्य तु वस्तुनोऽभिवचनमात्रं-आभिमुख्येन प्रतिपत्तिनिमित्तं समुदायवचनं घट इति पटो रथ इत्यादि वा, उच्यमान एव स रथः शब्दविकल्पितो वस्तुविपरीतः संवृति-

---

हेतोः सत्त्वाद्व्यभिचार इत्याह-**अनैकान्तिकोद्भावनमिति** । घटादेः समुदायरूपतया रथादिवत्तस्यापि पक्षान्तर्गतत्वेन व्यभिचारनिरूपकाधिकरणत्वाभावादनैकान्तिकत्वोद्भावनमाभासरूपमेवेत्याह-**समुदायत्वादिति** । ननु शुक्लनीलादिरूपेषु रूपसामान्यस्य सत्त्वेन, रूपसमुदायत्वात् अनवस्थितैकरूपत्वाच्चानैकान्तिकतेत्याशङ्कते-**रूपरूपादीति,** रूपं हि शुक्लनीलपीतादिरूपसमुदायात्मकं तच्च सदित्यभ्युपगम्यते शुक्लनीलादिस्वरूपत्वादेवानवस्थितैकस्वरूपमतोऽनैकान्तिकमिति भावः । रूपसामान्यसमुदायरूपत्वं साध्यम्, तच्च रूपात्मके शुक्लनीलादिसमुदाये नास्ति रूपविशेषसमुदायरूपत्वात्तस्य, पृथक् पृथग्भूतशुक्लादिरूपव्यतिरिक्तरूपसामान्यस्वरूपसमुदायस्य शुक्लादिसमुदायेऽसत्त्वात् तादृशसमुदायस्यावस्तुत्वाद्विपक्षासिद्धेर्नानैकान्तिकत्वमित्युत्तरयति-**रूपसामान्येति** । तद्व्याचष्टे-**शुक्लादीति** । समुदायस्यावस्तुत्वे वस्तुत्वं कस्येत्यत्राह-**प्रत्येकमिति** । प्रत्येकात्मना वर्त्तमाना रूपादिव्यक्तिर्विशेषरूपैव न सामान्यात्मिका, घटादिगतरूपादिव्यक्त्यपेक्षया पटादिगतरूपादिव्यक्तेर्भिन्नत्वात्, सा च रूपादिव्यक्तिरेकरूपतयाऽवस्थितैव, न हि साऽनेकत्र वर्त्तते, तथाविधरूपादिव्यक्तिपरिज्ञापनार्थमेव घटः पटो मठः पृथिवीत्यादिसमुदायात्मना वचनं क्रियते न तु घटादयः परमार्थसन्तः केचन सन्ति, केवलं शब्देन विकल्पज्ञानविषयाः संवृतिसन्तः परिकल्पितास्ते, अत एवासन्त इत्याशयेन व्याचष्टे-**प्रत्येकं वृत्ता इति,** एकस्मिन्नेकस्मिन् वृत्ताः, एकैकात्मना वर्त्तमाना रूपादिव्यक्तिविशेष एव न सामान्यमनेकत्र वृत्त्यभावादनेकात्मकत्वाभावाद्वेति भावः । **परस्परेति** । एतस्या रूपव्यक्तेरियं रूपव्यक्तिर्विविक्ता भिन्ना, अत एवम्भूता व्यक्तिरेव परमार्थतः सत्यभूतं वस्त्वित्यर्थः । सैव घटपटादिशब्दैः समुदायात्मना संवृतिसद्रूपतयोच्यत इत्याह-**तस्य त्विति,** रूपव्यक्तिरूपस्य वस्तुभूतस्य त्वित्यर्थः । न तु समुदायः कश्चित्, परमार्थभूतोऽस्ति किन्तु तद्विपरीतः शब्दप्रकल्पितः संवृतिसन्, तेनैव च व्यवहार इत्याह-**उच्यमान एवेति** । शब्दस्य परिकल्पनामात्रार्थत्वे दृष्टान्तमाह-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. स्वत्व० । सि. × × । २ सि. क्ष. छा. डे. सत्वावस्थितै० ।

सन् शब्दार्थमात्रमेव, परिकल्पमात्रार्थत्वात् शब्दस्य, किमिव ? संसारानुबन्धवत्–यथा संसारस्यानुबन्धहेतुर्माता मे पिता मे भ्राता भार्या पुत्र इत्यादिरनुपकारिष्वप्युपकारिबुद्ध्या व्यवहारोऽतत्त्वः प्रेमवासनावशाद्भवति तथा समुदायोऽतत्त्वव्यवहारवासनया त्वसन् क्रियते, नात्र कश्चित् परमार्थः, कस्तर्हि परमार्थः ? परमार्थतस्तु पश्चात् पूर्वञ्च भावादङ्गेषु प्राक् चक्राक्षादिसंयोगात् यथा रथस्यात्मा नास्ति, चक्रादिविसंयोगीकृतेषु च पश्चान्नास्ति तथा संयुक्तावस्थायामप्यङ्गेषु स्वात्मरहितत्वान्नास्ति रथ इति, यथोच्ये[ते]त्यादि, अनेनैव न्यायेन किञ्चित्कार्यं घटपटादि बुद्धिपूर्वकं पुरुषेण क्रियते, स्वत एव च कारणात् कार्यमु[त्पद्यत इ]त्येतन्मृषेत्येतदुक्तं भवति, ततः पुनः कार्यमुत्पद्यते कारणादिति यथाऽन्ये मन्यन्ते तथाऽनुयुज्यत इति प्रदर्शनार्थमाह–तैर्यथोच्यते सत् कार्यम्, तद्यथा–रूपादिभिरित्यादि, शब्दादितन्मात्राण्यत्र रूपादिग्रहणेन गृहीतानि, वाचोयुक्तिमात्रेण प्रक्रियावशाद्भिन्नत्वादि[ति] यथाऽऽकाशादीनां भूतानां शब्दाद्येकोत्तरोत्कर्षेण सन्निवेशात्, प्रक्रिया प्रागरान्तरे व्याख्यातत्वान्न पुनर्व्याख्यायते ।

साधनम्—

यदेतत् सन्नाम ततोऽन्यदेव तु कार्यम्, तदतुल्यविकल्पत्वात्, रूपादिखपुष्पवत्, कथमतुल्यविकल्पः ? इह शब्दादीनां कारणानामाकाशादीनां कार्याणामुभयेषां सत्त्वं कार्याणामाकाशादीनामेव सत्त्वमिति द्वौ भङ्गावुपयोज्यौ, इतरयोरभ्युपगतप्रतिपक्षत्वाद्वादाभावात्,

---

संसारानुबन्धवदिति । घटयति–**यथेति,** स्वरूपत आत्मनां न परस्परं कश्चन परमार्थभूतः सम्बन्धोऽस्ति, अत एव ते परस्परमनुपकारिणः, किन्त्वनादिप्रेमवासनावशादयं मे पिता भ्राता भार्या मातेत्यादिरूपेणोपकारित्वबुद्ध्या संसारभ्रमणानुकूलोऽतत्त्वभूतो व्यवहारः प्रवर्त्तते यथा तथैवातत्त्वभूतः समुदायोऽनादिवासनावशाद्व्यवहारविषयो भवति, नात्र व्यवहारे कश्चन परमार्थो विद्यत इति भावः । तर्हि परमार्थभूतं वस्तु कीदृगिति शङ्कते–**कस्तर्हीति** । यदि व्यवहारविषयीभूतो वासनाकल्पितत्वादसन् तर्हि परमार्थभूतं वस्तु किमिति भावः । वस्तुतस्तु रथ इति न कश्चिदस्ति पूर्वं पश्चाच्चाङ्गेष्वभावात्, न हि रथस्य कश्चिदात्मा चक्राक्षाद्यवयवसंयोगदशायामस्ति, चक्राक्षादिसंयोगात् प्राक् चक्राक्षादिवियोगाच्च पश्चात् यथा न रथस्य कश्चनात्मा दृश्यते, यश्च पूर्वं पश्चाच्च नास्ति स वर्त्तमानदशायामपि नास्ति, रूपादि च पूर्वं पश्चादपि विद्यते तस्माद्वर्त्तमानदशायामपि तदेवास्ति तस्माद्रूपादय एव परमार्थः रूपादिसमुदायरूपो घटपटरथादिः काल्पनिकोऽवस्तुभूत इत्याशयेनाह–**परमार्थतस्त्विति** । अनेनैव न्यायेन कैश्चिदुच्यते घटपटादिरूपं किञ्चित् कार्यं पुरुषेण बुद्धिपूर्वकमेव क्रियते, स्वत एव तु कारणात्, कार्यमुत्पद्यत इत्येतत्तु मृषेति तद्दर्शयति–**यथोच्येतेत्यादीति** । कार्यं स्वत एव कारणादुत्पद्यत इति यैर्मन्यते तन्मतं दर्शयति–**तैर्यथोच्यत इति** । कार्यं सदुत्पद्यते, सदेव कार्यं नासत्, यथा रूपादिभिराकाशादीनां भूतानामुत्पत्तिरिति निरूपयति–**सत् कार्यमिति** । रूपादिपदविवक्षितमाह–**शब्दादीति,** शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेतेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते; तद्यथा–शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणं शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणात् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणात् रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणात् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवीत्येकोत्तरोत्कर्षेण भूतविशेषाणामुत्पत्तिः, तेऽप्याकाशादिभूतविशेषाः संनिवेशविशेषा एवेति सांख्यप्रक्रियेति भावः । तदेतन्मतं निराकरोति–**वाचोयुक्तिमात्रेणेति,** मतमिदं प्रौढवादमात्रेण प्रक्रियाभेदेनैवास्मन्मताद्भिन्नम्, न तु विशेषः कश्चिदस्ति, सन्निवेशविशेषस्य कार्यस्य समुदायात्मनः कारणादवयवादर्थान्तरताया अनिष्टत्वाद्रूपादेरेव तत्त्वात् समुदायस्य चातत्त्वादिति भावः। सांख्यस्येयं प्रक्रिया प्रागुदितारान्तरे व्याख्याताऽतोऽत्र न व्याख्यायत इत्याह–**प्रक्रियेति** । वाचोयुक्तिमात्रेण

---

१ सि. × × ।

तद्यदि तावदुभयसत्त्वं सत्त्वाविशेषात् कार्यकारणयोरविशेषः, सति चाविशेषे यथा स्वरूपतत्त्वा एव शब्दादय उत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा तथाऽऽकाशादयोऽप्युत्पद्येरन् सत्त्वाविशेषात्, रूपादिवत्, शब्दस्पर्शाद्येकोत्तरपरतत्त्वोत्पत्तिर्मा भूत्, इष्यते चासौ, तस्मात्तदतुल्यविकल्पता सिद्धा ततस्ततोऽन्यस्वभावं कार्यम् ।

(**यदेतदिति**) यदेतत् सन्नाम ततोऽन्यदेव तु कार्यम्, सद्व्यतिरिक्तस्वभावं—सत् स्वभावं न भवतीत्यर्थः, [तदतुल्यविकल्पत्वात्] किमिव ? रूपादिखपुष्पवत्—यथा रूपादयः सन्तः खपुष्पमसत्, ततस्तैस्तुल्यविकल्पं न भवति तथा कारणैः सद्भिः रूपादिभिः कार्यमाकाशादि तुल्यविकल्पं न भवति, तस्मात् खपुष्पवत् सतस्ततोऽन्यस्वभावमिति, एतस्य साधनस्यासिद्धपक्षधर्मशङ्कानिराकरणार्थं व्याख्यापयितुंकामः स्वयमेव पृच्छति परोक्त्या व्याख्यापयितुम्—कथमतुल्यविकल्प इति, चतुर्षु भङ्गेषु द्वौ भङ्गावुपयोज्याविति तदेवोपन्यस्यति—इह शब्दादीनामित्यादि, इह शब्दादयः कारणानि वियदादयः कार्याणि तेषामुभयेषामपि सत्त्वमित्येको विकल्पः, द्वितीयः कार्याण्याकाशादीन्येव सन्तीति, न कारणसत्त्वकार्यासत्त्वविकल्पो नोभयासत्त्वविकल्पो वा, कस्मात् ? उक्ताभ्यामितरयोरभ्युपगतस्य सत्कार्यवादस्य प्रतिपक्षत्वादसपक्षत्वमेवातो वादाभावादेतौ द्वावेवोपयोज्यौ, तत्रापि तद्यदि तावदुभयसत्त्वं प्रथमविकल्प इष्टः सत्त्वाविशेषात् कारणानां शब्दादीनां कार्याणाञ्चाकाशादीनामविशेषः, सति चाविशेषे यथा स्वरूपतत्त्वा एव—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतत्त्वा एव शब्दादय उत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा तथाऽऽकाशादयोऽपि तत्स्वभावा एवोत्पद्येरन् नाधिकस्वभावाः, कस्मात् ? सत्त्वाविशेषात्, रूपादिवत्, शब्दस्पर्शाद्येकोत्तरपरतत्त्वोत्पत्तिर्मा भूत्, इष्यते चासौ, तस्मात्तदतुल्यविकल्पता सिद्धा, ततस्ततोऽन्यस्वभावं कार्यमाकाशाद्यसदित्यर्थः ।

प्रक्रियावशाद्भिन्नत्वं साधयति—**यदेतदिति** । कार्यस्यासत्त्वं साधयति—**यदेतत् सन्नामेति,** यदेतत्कार्यमुच्यते घटपटादि तत् सद्व्यतिरिक्तस्वभावं भवति सत्स्वभावं न भवति यथा रूपादयः सद्रूपाः सत्स्वभावा. गगनकुसुमादयस्तु असद्रूपाः असत्स्वभावाः, तस्मात् सतो रूपादेरतुल्यमाकाशकुसुमादि, तथैव सद्रूपैः कारणैः कार्यमाकाशादि न तुल्यमतः खपुष्पवत् सतोऽन्यस्वभावमिति भावः । तदतुल्यविकल्पत्वं न पक्षधर्मं कार्ये तदसिद्धेरित्याशङ्कां निवारयितुं परोक्त्यैव सत् ख्यापयितुं पृच्छतीत्याह—**एतस्य साधनस्येति** । तदतुल्यविकल्पत्वसाधनस्येत्यर्थः । कारणकार्ययोः सत्त्वं कारणस्यैव सत्त्वं कार्यस्यैव सत्त्वं कार्यकारणयोरुभयोरसत्त्वमिति चतुर्विधेषु भङ्गेषु अभिमतानभिमतविकल्पविवेकमादर्शयति—**चतुर्ष्विति** । अनिष्टभङ्गावाह—**नेति,** कारणं सत् कार्यमसत्, कारणमसत्, कार्यमसदिति भङ्गौ नेष्टावित्यर्थः । कारणमाह—**उक्ताभ्यामिति,** कार्यकारणयोरसत्त्वं, कार्यस्यैव सत्त्वमित्युक्ताभ्यामन्ययोर्विकल्पयोरभ्युपगतसत्कार्यवादप्रतिपक्षत्वादसपक्षत्वमतो न तत्र वादः, उक्तविकल्पयोरेव विवादात् तावेवोपयुक्ताविति भावः । उक्तभङ्गयोरुभयसत्त्वभङ्गमाश्रित्य विचारयति—**तद्यदि तावदिति** । तत्र कारणकार्ययोरुभयोर्यदि सत्त्वमिष्टं तर्हि सत्त्वाविशेषाणां शब्दादीनामाकाशादीनाञ्च विशेषो न स्यात्, इष्यते च विशेषः, कारणावस्थायां शब्दादय आविर्भूता आकाशादयोऽनाविर्भूताः, शब्दादयो निर्गुणा आकाशादय एकद्वित्र्यादिगुणा इत्यादि, अविशेषे तु शब्दादयो यथा स्वरूपतत्त्वा एवोत्पद्यन्तेऽभिव्यज्यन्ते वा तथाऽकाशादयोऽपि तथा स्वभावा एवोत्पद्येरन, अभिव्यज्येरन् वा, न त्वेकद्वित्र्यादिगुणस्वभावेन, सत्त्वाविशेषात्, इष्यते च विशेषः, तस्माच्छब्दादित आकाशादेरतुल्यविकल्पता सिद्धेति भावः.। अविशेषाभ्युपगमे दोषमाह—**सति चाविशेष इति** । एवञ्च कारणाच्छब्दादेः कार्यस्याकाशादेरतुल्यत्वादतत्स्वभावत्वेनासत्त्वं सिद्धमित्याह—**ततस्तत इति** । नन्वविशेषे सत्यपि रूपादिप्रादुर्भाववदा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. व्याख्यानमासुकामः । २ सि. क्ष. छा. डे. °त्वान्मतपक्षत्व० । ३ सि. क्ष. छा डे. तत्स्वतत्त्वा एवोभ्यदोरतो० ।

एतत्प्रसङ्गभयात्—

अथ वैषम्यरहितविविक्तस्वरूपरूपादिप्रादुर्भाववन्न भूम्यादिप्रादुर्भावः, तच्च कार्यं सदेवेति निश्चितं ततः कार्यमेव सदस्तु, रूपाद्यसत् स्यात् सद्विलक्षणत्वात् खपुष्पवत्, स्वरूपतत्त्वेन भूतत्वाद्रूपादेः पररूपतत्त्वाविर्भाविनः सतः कार्याद्विलक्षणत्वात्, अथेदमपि सत् स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकञ्चेष्यते ततस्तद्वैलक्षण्यात् कार्यमसत् प्राप्नोति, अस्वतत्त्वाविर्भावात्मकत्वात्, अलातचक्रवत्, अथ मा भूद्दोष इति सदेव कार्यमिष्यते ततः स्वत एव प्रादुर्भवेत्, सत्त्वाद् रूपादिवदिति तुल्याविर्भावस्ते प्राप्तः ।

(**अथेति**) अथ न भूम्यादीति, एकोत्तररूपादिपररूपोत्कर्षापकर्षवैषम्यरहितविविक्तस्वरूपरूपादिप्रादुर्भाववद्भूम्यादिप्रादुर्भावो वैलक्षण्यादतुल्यविकल्पतेतीष्यते तच्च कार्यं सदेवेति निश्चितं ततः कार्यमेव सदस्तु, न रूपादि, स्वपररूप[1]प्रादुर्भाववैलक्षण्यादनयोरसतः सद्विलक्षणत्वाद्रूपाद्यसत् स्यात् सद्विलक्षणत्वात् खपुष्पवत्, सद्विलक्षणत्वं हेतोर्दर्शयति—स्वरूपतत्त्वेन भूतत्वात् रूपादेः पररूपतत्त्वाविर्भाविनः सतः कार्याद्विलक्षणत्वादिति, अथेदमपीत्यादि—रूपादिस्वतत्त्वप्रादुर्भाववैलक्षण्येऽपि रूपादि सत् स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकञ्चेष्यते ततस्तद्वैलक्षण्यात् कार्यमसत्प्राप्नोति, अस्व[2]तत्त्वाविर्भावात्मकत्वात्—एकोत्तररूपादिपररूपतत्त्वोत्पत्तिरस्वतत्त्वाविर्भावः, तच्च सद्वैलक्षण्यं, कस्येवेत्यत आह—अलातचक्रवदिति—यथोल्मुकं भ्राम्यमाणं कणमात्रस्वतत्त्वत्यागेन चक्राभासमुत्पद्यमान[म]सदेवं कार्यमपीति, अथ मा भूद् दोष इति सदेव कार्यमिष्यते, ततः सत्त्वे स्वत एव प्रादुर्भवेत् कार्यम्, यथारूपं सद्रसरूपमनादाय प्रादुर्भवति

काशादिप्रादुर्भावो नेष्यते कार्यमपि च सदेव निश्चितमिति असत्प्रसङ्गदोषभयादुच्यत इत्याशङ्कते-**अथ नेति । अथ वैषम्येति,** रूपादेः प्रादुर्भावो यथा न तथा भूम्यादिप्रादुर्भावः, रूपादिर्हि एकोत्तररूपादिवैषम्यरहितः, पररूपोत्कर्षापकर्षरहितश्च विविक्तस्वरूपश्चापि, भूम्यादयस्तु एकोत्तररूपादिवैषम्यवन्तः, पृथ्वी पञ्चगुणा, आपश्चतुर्गुणाः, त्रिगुणं तेजः, द्विगुणो वायुः, एकगुण आकाश इत्यभ्युपगमात्, तन्मात्रेषु परेषु यौ रूपादेरुत्कर्षापकर्षौ तद्रूपवैषम्यवन्तो भूम्यादयः, पृथिव्या अनुष्णाशीतस्पर्शः कृष्णं रूपं साधारणो रसः गन्धश्च, अपां शीतः स्पर्शः शुक्लभास्वरं रूपं मधुरो रसः, तेजस उष्णः स्पर्शः शुक्लभास्वरं रूपम्, वायोश्चाशीतः स्पर्शः, शब्दमात्रगुणमाकाशमित्येवं रूपादेरुत्कर्षापकर्षौ, एतौ च तदवयवानुप्रवेशाद्भवत इत्यवयवरूपादिना रूपादिमन्तो भूम्यादयः, अत एव रूपादयो न भूम्यादिस्वतत्त्वा इति भूम्यादिप्रादुर्भावो रूपादिप्रादुर्भावविलक्षणः, तस्मात् रूपादितुल्यता न भूम्यादेः, एवमपि खपुष्पवदसत्त्वं कार्यस्य नाभ्युपगच्छामः, किन्तु सत्त्वमेवेति निश्चितमिति भावः । तथा सति कारणं रूपादि सच्च स्यात्, सद्विलक्षणत्वात्, खपुष्पवदिति दूषयति-**ततः कार्यमेवेति,** यद्येवमनयोर्वैलक्षण्यं कार्यञ्च सदिष्यते तर्हि कार्यमेव सत् स्यान्न तु कारणमिति भावः । कीदृशं वैलक्षण्यमनयोरित्यत्राह-**स्वपरेति,** रूपादिप्रादुर्भावः स्वरूपप्रादुर्भावः भूम्यादिप्रादुर्भावः पररूपप्रादुर्भाव इति वैलक्षण्यमिति भावः । एवं वैलक्षण्ये सत्स्वरूपतायामपि वैलक्षण्यं स्यात्, कार्यञ्च सदिष्यते, तस्मात् सत्त्वविलक्षणमसत्त्वं रूपादीनां स्यादित्याह-**असत इति ।** कथं सद्विलक्षणत्वमित्यत्राह-**स्वरूपतत्त्वेनेति ।** यदि च रूपादेः स्वरूपतत्त्वेनाविर्भूतत्वलक्षणवैलक्षण्ये सत्यपि रूपादि सदेव स्वतत्त्वप्रादुर्भावात्मकञ्चेतीष्यते तर्हि तद्विलक्षणं कार्यं कथं सत् स्यादित्याह—**अथेदमपीत्यादीति ।** हेतुमाह—**अस्वतत्त्वेति,** पररूपतत्त्वेन कार्यस्य भूम्यादेराविर्भावः—अस्वतत्त्वाविर्भावः, तदात्मकत्वात् तेषां, अस्वतत्त्वविर्भावश्च सद्विलक्षण इति भावः । निदर्शनमाह—**अलातचक्रवदितीति ।** घटयति—**यथोल्मुकमिति ।** कार्य-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °रूपाप्रादु° । २ सि. क्ष. छा. डे. अथतत्त्वा° ।

रसोऽपि रूपरूपं तथा स्पर्शशब्दगन्धाः पररूपम्, किन्तु स्वेनैव रूपेणाविर्भवन्ति तथाऽऽकाशादिकार्यमपि स्वरूपेणैवाविर्भवेत्, पररूपेण त्वेकाद्युत्तरकार्याण्याविर्भवन्तीत्यनिष्टस्तुल्याविर्भावस्ते प्राप्तः, सत्त्वाद्रूपादिवदित्येवं प्रादुर्भाववैलक्षण्यादतुल्यविकल्पत्वमापादितं सद्भ्यो रूपादिभ्यः कार्यस्य ।

तदनिच्छतः प्रादुर्भावाविशेषप्रसङ्गपर्यवसानं चक्रकं तत्रैव प्रसङ्गे स्थितं सत्त्वाद्रूपादिवदित्युत्थाप्य सत्त्वाद्रूपादिवदित्येवं विपर्ययेण गमनीयम्, तस्मात् सतोऽन्यस्वभावमेव कार्यम्, एवन्तु रूपादिप्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात् पृथिव्यादयो न प्रत्यक्षाः, अनाविर्भाव्यत्वात् खपुष्पवत्, रूपाद्येव तु यत्किञ्चित् प्रत्यक्षं स्वत एवाविर्भवितृत्वात्, इतरवदिति प्रत्यक्षत्वाद्यविरोधात्तदेव भवतीति ।

(**तदनिच्छत इति**) तदनिच्छतः प्रादुर्भावाविशेषप्रसङ्गपर्यवसानं चक्रकं तत्रैव प्रसङ्गे स्थितं सत्त्वाद्रूपादिवदित्युत्थाप्य सत्त्वाद्रूपादिवदित्येवं-पुनरिदानीं भूम्यादिप्रादुर्भावतुल्यरूपादिप्रादुर्भावकार्यासत्त्वं यावत् स्थितं तथैव भूम्यादिकार्यासत्त्वं सद्वैलक्षण्यादस्वरूपोत्पत्तेरुत्थाप्य तत्पर्यवसानमेव चक्रकं तद्विपर्ययेण यावद्भूम्यादिवदिति गमनीयम्, तस्मादतुल्यविकल्पत्वात् सतोऽन्यस्वभावमेव कार्यमिति उपसंहारार्थः, किञ्चान्यत्–एवन्त्वित्यादि, रूपादिषु विषयेषु चक्षुरादीनां प्रतिनियतं ग्रहणम्, चक्षुषा रूपमेव जिह्वया रसमेवेत्यादिग्रहणं व्यक्तिराविर्भावः स न स्यात्, चक्षुराद्यविषयत्वात्, रूपादय एव हि प्रत्यर्थं नियताश्चक्षुरादीनां विषयाः, पृथिव्यादयस्तु न प्रतिविविक्तरूपादिस्वतत्त्वा इत्यनाविर्भाव्याः, तस्मादनाविर्भाव्यत्वात् न प्रत्यक्षव्यक्तयः पृथिव्यादयः, प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात् खपुष्पवत्, आदिग्रहणादनुमानाद्यविषयता-

---

स्यैतदसत्त्वदोषपरिहाराय सत्त्वमेव यद्यभ्युपगम्यते तर्हि स्वत एव तस्य प्रादुर्भावो भवेत्, न तु पररूपाद्यपेक्षया प्रादुर्भावः, रूपादेरिवेत्याशयेनाह–**अथ मा भूदिति** । दृष्टान्तं घटयति–**यथा रूपमिति,** रूपं रसादिस्वरूपमनादृत्य रसादिरपि रूपस्वरूपमनादृत्य स्वेनैव रूपेणाविर्भवति तथाऽऽकाशादिकार्यमपि परभूतं शब्दादिस्वरूपमनादाय स्वेनैव रूपेण भवेत्, न चैवम्, एकोत्तररूपादिपररूपेणाविर्भावस्येष्टत्वादिति भावः । अनेन ग्रन्थेन कार्यस्य रूपादिभ्योऽतुल्यविकल्पत्वं प्रादुर्भाववैलक्षण्यादापादितमित्याह–**सत्त्वाद्रूपादिवदितीति** । एवं प्रादुर्भावाविशेषप्रसङ्ग आपादित इति भावः । स्वत एव प्रादुर्भावानभ्युपगमे तूक्तचक्रकमेव पुनः पुनः प्राप्नोतीत्यतिदिशति–**तदनिच्छत इति** । उक्तचक्रकमेव विपर्ययेणात्र भाव्यमिति दिशा दर्शयति–**पुनरिदानीमिति,** एवञ्च कार्यस्य रूपादिभ्योऽतुल्यविकल्पत्वात् सतोऽन्यत्वमेवेति सिद्धमिति चक्रकसारार्थः । दोषान्तरमाह–**एवन्त्वित्यादीति,** पृथिव्यादीना रूपाद्यनात्मकत्वे प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वादप्रत्यक्षत्वमेव, चक्षुरादयो हि प्रतिनियतविषयग्राहकाः, चक्षू रूपमेव गृह्णाति, जिह्वा रसमेव, घ्राणं गन्धमेव, त्वक् स्पर्शमेव, श्रोत्रं शब्दमेवेति प्रतिनियतविषयग्राहकाणीन्द्रियाणि, रूपादीनामेव च चक्षुरादिना ग्रहणात् पृथिव्यादीनां प्रतिविविक्तरूपादिस्वतत्त्वानात्मकानां ग्रहणं व्यक्तिराविर्भावो न स्यात्, ततश्चानाविर्भाव्यत्वान्न प्रत्यक्षाः पृथिव्यादयः, अनुमानाद्यविषया अपि, प्रत्यक्षगृहीतप्रतिबन्धासम्बन्धित्वादिति भावः । इदमेव समर्थयति–**रूपादिष्विति,** रूपादीनां मध्ये चक्षुरादयः प्रतिनियतमेव गृह्णन्ति आविर्भावयन्ति, रूपादयः प्रतिनियतचक्षुरादिविषयाः, पृथिव्यादयस्तु न प्रतिविविक्तरूपादिस्वतत्त्वाः, अतश्चक्षुरादिना न ग्राह्या आविर्भाव्या वा, अनाविर्भाव्यत्वाच्च ते न चक्षुरादिना प्रत्यक्षाः, प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वात्, खपुष्पवदिति भावः । एवं प्रत्यक्षाविषयत्वेऽनुमानाविषयत्वात् प्रमाणाविषयतया रूपादिसमुदायविशेषस्य पृथिव्यादेरवस्तुत्वमेवेत्याह–**आदिग्रहणादिति,** प्रतिनियतचक्षुराद्यविषयत्वादित्यत्रादिपदेनेत्यर्थः । पृथिव्यादीनामप्रत्यक्षत्वे

---

१ छा. त्वेकाद्युत्कार्याणाविर्भवतीतीष्टः ।

पीति रूपादिसमुदायस्यावस्तुतेत्थमुक्ता, रूपाद्येव त्वित्यादि, यत्किञ्चिदिति सामान्यवचनात् विशिष्य पक्षीक्रियते–रूपमेव प्रत्यक्षं स्वत एवाविर्भवितृत्वात्, इतरवदिति सामान्यवचनाद्रसवदिति विशिष्य दृष्टान्तः, एवञ्च शेषाणामपि रसादीनां विशिष्य प्रत्यक्षत्वमितरदृष्टान्तसाध्यत्वादविरुद्धम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानत्वाद्यविरोधः, नस्मात् प्रत्यक्षत्वाद्यविरोधात्तदेव भवति–रूपाद्येव वस्त्विवति सिद्धम् ।

अथैवंदोषवदित्युभयसत्त्वपक्षं त्यक्त्वा कार्यासत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कार्यसत्त्वपक्षमेवाश्रयेः, ततः कार्यमेव सदित्यवधार्यमाणः पक्षः स्यात्, तत्र कार्यमेव सदिति कार्यसमीपे एवकारः क्रियते 'यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणात्' कार्यस्य सत्त्वेन नियमात् कार्य एव सत्त्वं नियतं नान्यत् सदिति नियम्यते ततश्च रूपादि न सदिति ते प्रसक्तम्, तस्यासत्त्वे कार्यस्यासतः सत्त्वे विपरीता संज्ञा क्रियते सतोऽसदित्यसतश्च सदित्यग्निमङ्गलनामवत्, कार्यसत्त्वमिति च नाममात्रमेव ।

(अथैवमिति) अथैवंदोषवदित्युभयसत्त्वपक्षमुक्तदोषभयात्त्यक्त्वाऽन्यतरं सत् कारणं रूपादि, कार्यं वाऽऽकाशादीतीष्यमाणे कार्यासद्वादिनो मे प्रातिपक्ष्येण कार्यासत्त्वाभ्युपगमे वादावसानं मा भूदिति कार्यासत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कारणसत्त्वपक्षं त्यक्त्वा कार्यसत्त्वपक्षमेकमेवाऽऽश्रयेस्त्वं ततः कार्यमेव सदित्यवधार्यमाणः पक्षः स्यात् तन्मतं, यः पुनर्वादी कार्यमेव सन्न कारणमिति प्रतिपद्यते, यस्य सिद्धान्ते रूपादयो न स्युराकाशादय एव स्युरिति, अत्रोच्यते, तस्यैवोभयसद्वादिनः सांख्यस्य कारणे कार्यसत्त्वसिद्धान्ताद्भवेदयं पक्षः, कारणाविनाभावित्वात् कार्यस्य कार्याभ्युपगमेऽभ्युपगतमेव कारणम्, किन्तु न नियम्यते कारणमसदे[व सदेव]वेति, यदि स्यादस्तु को वारयति कार्यन्तु सत्त्वेन नियम्यते, तत्रापि च द्वयी गतिः–

प्रत्यक्षता कस्येत्यत्राह–**रूपाद्येव त्विति** । रूपाद्येव तु यत्किञ्चित् प्रत्यक्षम्, स्वत एवाविर्भवितृत्वादितरवदिति मूलेन यत्किञ्चिदितरवदिति सामान्येनोक्तं विशिष्य दर्शयति–**यत्किञ्चिदितीति**, न च रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः प्रत्यक्षा इति वाच्यम्, प्रतिबन्धबोधकदृष्टान्ताभावात्, किन्तु यत्किञ्चित् प्रत्यक्षमिति वाच्यम्, यदा यत्किञ्चित् पदेन रूपं विवक्षितं तदेतरवदित्यनेन रसादिवदिति निर्देश्यम्, यदा तु रसो विवक्षितस्तदा रूपादिवदिति निर्देश्यमेवं गन्धादावपि भाव्यम्, हेतुश्च स्वत एवाविर्भवितृत्वात्, न तु पृथिव्यादेरिव पररूपाद्यपेक्षयाऽविर्भवितृत्वादिति भावः। एवञ्च रूपादीनां प्रत्यक्षत्वविरोधः सिद्धोऽत एवानुमानाद्यविरोधोऽपि सिद्ध्यति प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादेस्तस्माद्रूपाद्येव भवति वस्तु, न पृथिव्यादि, प्रमाणाविषयत्वादिति सिद्धमित्याह–**एवञ्चेति** । एवं कार्यकारणयोरुभयोः सत्त्वपक्षे प्रोक्तदोषप्रसङ्गभयात्तत्पक्षं परित्यज्य कार्यमेव सदिति पक्षो यदि परिगृह्यते तत्र दोषोदीरणाय तमेव पक्षमुत्थापयति–**अथैवमिति** । उभयसत्त्वमेवंदोषवदिति तत्पक्षे परित्यक्तेऽन्यतरसत्त्वपक्षः प्राप्नोति कारणमेव सत्, कार्यमेव वा सदिति, तत्र कार्यासत्त्वपक्षः कारणमेव सदित्येवंरूपो न त्वया परिग्रहीतुं शक्यः, तत्पक्षस्य मदिष्टत्वेन त्वयापि तस्मिन् परिगृहीते वादाभावात्, तद्वादावसानं मा भूदिति तत्पक्षं परित्यज्य तत्प्रतिपक्षभूतः कार्यमेव सदिति पक्षः कारणसत्त्वव्यावर्त्तको यदि परिगृह्यते तदापि दोषं वक्तुं पक्षं ग्राहयति–**अथैवंदोषवदितीति** । तदभिमतपक्षप्रदर्शनपूर्वकं तत्पक्षभावार्थमाह–**ततः कार्यमेव सदितीति** । कस्यायं पक्षः, यदि सांख्यस्य, तत्कथमित्यत्राह–**तस्यैवेति**, अयं पक्षः सांख्यस्यैव कारणे कार्यसत्त्वाभ्युपगन्तुर्भवेदिति भावः । तर्हि कार्यस्यैव सत्त्वनियमः कथमित्यत्राह–**कारणाविनाभावित्वादिति**, कारणं विना कार्यं न भवति, येन च कार्यमभ्युपगम्यते तेन चावश्यं कारणमभ्युपगमनीयमेव, तस्मात् कारणं न सत् कार्यं सदिति न कस्यापि सम्मतम्ः, किन्तु कारणमसदेवेति न नियम्यते कार्यमेव च सदिति तु नियम्यते, कारणं सद्वाऽसद्वेत्यत्र नाग्रहो यदि स्यात् कारणमस्तु नाम इति भावः । **अत्र पक्षे विचारार्थं विकल्पयति–तत्रापि चेति**, कार्यं सत्त्वेन नियम्यत इति पक्षे चेत्यर्थः, कार्यमेव सत्, सदेव कार्यमिति

कार्यमेव सत् सदेव कार्यमिति वा, तत्र कार्यमेव सदिति कार्यसमीप एवकारः क्रियते, यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति कार्यं सदेवेत्यवधार्यमाणे कार्यस्य सत्त्वेन नियमात्–सत्त्वस्य कार्येण[अ]नियमात् कारणेऽपि सत्त्वमिति पूर्वविचारितोभयसत्त्वपक्ष एवाऽऽपततीत्यवधारणवैफल्यं स्यात्, तच्चानिष्टम्, तस्मादेवकारप्रयत्नसाफल्यात् कार्यशब्दार्थादन्यत्र सच्छब्दार्थे न तत्प्रतियोगिनि नियमः कार्यं सदेवेति, तद्दर्शयति–सत्त्वं कार्य एव नियतं नान्यत्सदिति, ततः किं[१]? ततश्च रूपादि न सदिति ते प्रसक्तम्, तस्य–रूपादेः [२]प्रत्यक्षमुपलभ्यमानस्यासत्त्वे कार्यस्यासतः प्रत्यक्षाद्यनुपलभ्यमानस्य सत्त्वे विपरीता स्वमनीषिकया संज्ञा क्रियते सतोऽसदित्यसतश्च सदिति, सञ्ज्ञयाऽग्निमङ्गलनामवत्, पश्चिमापश्चिमत्ववत् । यदपि च कार्यसत्त्वं खरविषाणादीनां सदिति नामेति नामवन्नाममात्रमेव, नार्थं प्रति ।

किञ्च—

कार्यासत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च स्ववचनादिविरोधाः, कारणे कार्यसत्त्वन्याये तु स एवोभयसत्त्ववादः, तत्र चोक्ता दोषाः ।

(कार्येति) कार्यासत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च–अभ्युपगतस्यैकान्तेन सत्कार्यमित्यस्य च त्यागः, न हि कार्यमसदपि केनचित्प्रकारेणेष्यते त्वयेत्यभ्युपगमविरोधवत् स्ववचनादिविरोधाः, यदि कार्यं [असत्] कथं सत्क्रियते इति हि [स]त्कार्यमथ सत् कथं कार्यमिति स्ववचनविरोधः, लोके कार्यासत्त्वं मत्वा तत्सिद्ध्य[र्थं]प्रयत्नदर्शनात्, रूढेर्लोकविरोधः, कुम्भकारादिचेतन[ाऽऽ]दानादनुमानविरोधः, तथा दर्शनात् प्रत्यक्ष-

गतिद्वयं भवेदत्र पक्ष इति भावः । कार्यमेव सदिति गतिं निराकरोति–**तत्र कार्यमेवेति,** यत एवकारः श्रूयते ततोऽन्यत्रावधारणमिति न्यायेन कार्यसमीपे श्रूयमाण एवकारः सत्त्वेन नियमयति कार्यम्, सत्त्वव्याप्यं कार्यमिति, न तु कार्यत्वव्याप्यं सत्त्वमिति सत्त्वस्य कार्यत्वेन न नियमः क्रियते, तथा च सत्त्वस्य कार्यादन्यत्र प्राप्तेरवारणात् कारणेऽपि सत्त्वमापतितमिति कार्यकारणोभयसत्त्वपक्ष एव पुनः प्राप्यते, तथा च कार्यमेव सदित्यवधारणस्य निष्फलता समायातेति भावः । एवकारप्रयत्नं सफलयितुं प्रकारान्तरेण नियमं दर्शयति–**तस्मादेवकारेति,** कार्यशब्देन समभिव्याहृत एवकारः कार्यादन्यत्र–कार्यप्रतियोगिनि कारणे सच्छब्दार्थं नियमयति–व्यावर्त्तयति । तद्भावार्थमाह–**सत्त्वं कार्य एव नियतमिति,** सत्त्वं कार्यं न व्यभिचरतीत्यर्थः, तेन च कार्यादन्यस्मात् सत्त्वं व्यावर्त्तितं भवति नान्यत् सदिति, एवञ्च कार्यादन्यत् कारणं रूपादि तेऽसदिति प्राप्तमिति भावः । तत्र दोषमाह–**ततश्चेति,** तथासति कारणस्य रूपादेरसत्त्वं प्रसज्यते, प्रत्यक्षत उपलभ्यमानस्य तस्य रूपादेरसत्त्वे प्रत्यक्षानुपलभ्यस्यासतः कार्यस्य सत्त्वे स्वमनीषिकयैव सतोऽसदित्यसतश्च सदिति विपरीता संज्ञा अग्नेर्मङ्गलनामवत् क्रियते पश्चिमस्यापश्चिमसंज्ञावदिति भावः । **यदपि चेति,** कार्यसत्त्वमिति नाम खरविषाणादेः सदिति नामवदेव, नार्थे कश्चन विशेष इति भावः । यदा चासतः कार्यस्य सदिति संज्ञा क्रियते तदा कार्यमेकान्तेन सदिति तवाभ्युपगमस्त्यक्तः स्यात्तथा च स्ववचनादिविरोधाः स्युरित्याह–**कार्यासत्त्वेति ।** व्याचष्टे–**अभ्युपगतस्येति,** त्वया केनचिदपि प्रकारेण कार्यमसदपीति नेष्यते तत्त्यागादभ्युपगमविरोधः, तथैव स्ववचनादिविरोधाश्चेति भावः । स्ववचनादिविरोधानेवाह–**यदि कार्यमिति,** यदि कार्यमसत्, तर्हि तत् कथं सद्रूपेण क्रियते, असतः सद्रूपताकरणासम्भवात्, अन्यथाऽसतः खरविषाणादेः सद्रूपतया करणं स्यात्, तस्मात् कार्यं सदेषितव्यम्, अथ सत्तत् तर्हि कथं कार्यम्, कार्यसच्छब्दयोर्विरोधात्, कार्यशब्दः प्रागभूतस्यार्थस्य भावकत्वमाह, सच्छब्दस्तु क्रियान्तरहेतुत्वमाह तदेवं परस्परविरोधात् स्ववचनविरोधः । उत्पत्तेः प्राक् कार्यमसदिति मत्वैव लोके तत्सिद्ध्यर्थं प्रयत्नदर्शनादीदृशादेव रूढेर्लोकविरोध इत्याह–**लोक इति । कुम्भकारादीति,** कुम्भकारप्रभृतिचेतनैरादानात्–ग्रहणादित्यर्थः, व्यापारारम्भात् प्राक् कर्त्तारस्तस्मात् फलाकाङ्क्षिणः कार्यविशेषनियतसामर्थ्यं साधनव्यापारं विदधते, तच्चेत् व्यापारात् प्रागपि कार्यं सत

१ सि. क्ष. डे. छा. ततः किंमततः । २ सि. क्ष. छा. डे. संप्रत्यक्षरूप० । ३ सि. क्ष. डे. छा. संज्ञीत्याग्नि० ।

विरोध इति, किञ्चान्यत् कारणकार्यसत्त्वन्याये तु स एवोभयसत्त्ववादोऽवश्यम्भावी, तत्र चोक्तदोषाः—अतुल्यविकल्पत्वात् सतोऽन्यदेव तु कार्यमित्याद्युपक्रम्य चक्रकद्वये त एव चावस्थिता इति, एवं तावत्कार्यमेव सदित्यवधारणे दोषः ।

अथ सदेव कार्यमित्येवकारात् सदनवधृतेः पूर्वदोष एवेति ।

(अथेति) अथ मा भूवन्नमी दोषा इति सदेव कार्यमित्यवधार्यते, यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति, सत्त्वेन कार्यं नियतं सत्त्वन्त्वनियतम्, कारणस्यापि सत्त्वाभ्युपगमात्, सदनवधृतेः पूर्वदोष एव—उभयसत्त्ववाददोष एवेति ।

यथा च पृथिव्याद्येवमात्मापि संवृत्या तत्समुदाये प्रज्ञाप्यते तत्सन्ताने वा, 'राशिवत् सार्थवत्,' ननु शुद्धपदप्रयोगादेव नासन्नात्मेति रूपादिवदेवाऽन्य इति चेन्न, शब्दान्तरवाच्यत्वादेवानन्यत्वात्, यथाऽनन्या नररथाश्वद्वीपवती शब्दान्तरवाच्या सेनेति, नरादिपृथक्प्रवृत्तेस्तत्र स्यादसत्त्वम्, आत्मनस्तु नाभूद्रूपापृथग्भावात्तदात्मत्वाच्च, तत्रोच्यते, अनन्यत्र प्रवृत्तेरपि समुदायस्यानर्थान्तरत्वात्, यथा च शिखरादिभ्यः शिखरिणो नार्थान्तरत्वम् ।

(यथा चेति) यथा च पृथिव्याद्येवमात्मापि—यथा पृथिवीघटादीनि रूपादिभ्योऽन्यानि न सन्ति तथा रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञानसंस्कारेभ्यः स्कन्धेभ्योऽन्य आत्मा नास्ति, किं तर्हि ? संवृत्त्या तत्समुदाये प्रज्ञाप्यते तत्संताने वा, यथा राशिवत् सार्थवदित्यादिदृष्टान्ताः समुदायासत्त्वप्रतिपादनार्थाः रूपादिमात्रवस्तुत्वप्रतिपादनाः, दृष्टान्तबाहुल्यं चेतसि भावनोत्पादनार्थं दृढीकरणार्थञ्च तदर्थस्य, अत्राह—ननु शुद्धपद-

स्यात् तदर्थपरिस्पन्दो व्यर्थः स्यात्, तथापि प्रयत्नसाफल्ये पश्चादपि प्रयत्नः स्यात्, पश्चाद्व्यापाराभाववद्वा प्रागपि व्यापारो न स्यात्तेनानुमीयतेऽसत् कार्यमिति, इदानीं तस्य सत्त्वाभ्युपगमे तेनानुमानेन विरोध इति भावः । आदौ कार्यं न दृश्यते पश्चात्तु दृश्यत इति प्रत्यक्षविरोधः सत्त्वाभ्युपगम इत्याह **तथा दर्शनादिति** । उक्तरीत्या कारणे कार्यसत्त्वन्यायाभ्युपगमे तु कारणकार्योभयसत्त्वपक्ष आपतितः, तत्र च चक्रकद्वयेनोक्ता दोषा इत्याह—**कारणे कार्यसत्त्वेति** । तदेवं कार्यमेव सदिति पक्षे दोषा उक्ता इत्युपसंहरति—**एवं तावदिति** । अथ कार्यमेव सदिति पक्षे कार्यमवश्यं सदिति सत्त्वेन कार्यमवध्रियते कार्येण सत्त्वन्तु नावध्रियते कारणस्यापि सत्त्वादित्यभ्युपगमे त एवोभयसत्त्वपक्षदोषा अवस्थिता इत्याह—**अथ सदेवेति** । व्याचष्टे—**अथ मा भूवन्निति,** तदेवं कार्यस्य सत्त्वपक्षे भङ्गद्वयेन विचारिते दोषाणां प्रसङ्गात् कार्यस्यासत्त्वमेव सिद्ध्यतीति भावः । यथा च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धस्वरूपतत्त्वा एव पृथिव्यादयः, शब्दादीनामेवेयं पृथिवीमा आप इदं तेजोऽयं वायुरयमाकाश इति समुदायवचनमभिवचनमात्रमेवमात्माऽपीत्याह—**यथा चेति** । ननु यदस्ति तत्सर्वप्रमाणेभ्य उपलभ्यते यथा रूपादि, अयमात्मा तु न तावत्प्रत्यक्षादित उपलभ्यते शब्दस्पर्शाद्यनात्मकत्वात्, न मानसेन त्रिगुणादिरहितस्य तदविषयत्वात्, प्रत्यक्षाभावे इतरप्रमाणाप्रवृत्तेस्तस्मान्न पञ्चस्कन्धातिरिक्त आत्माऽस्ति, किन्तु पृथिव्यादिघटादिवत् संवृत्त्या समुदाये सन्ताने वा परिकल्प्यत इति व्याचष्टे—**यथा पृथिवीघटादीनीति** । पञ्चस्कन्धानाह—**रूपवेदनेति** । क आत्मेत्यत्राह—**संवृत्येति,** रूपादिसमुदाये रूपादिसन्ताने वा संवृत्या पृथिव्यादि आत्मादि च प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः । निदर्शनान्याह—**यथा राशिवदिति,** व्रीह्यादिसमुदाये व्रीहिराशेः प्रज्ञप्तिवदिति भावः । भावमाह—**समुदायासत्त्वेति** । अनेकदृष्टान्तप्रदर्शनफलमाह—**दृष्टान्तेति** । नन्वात्मेति शुद्धपदप्रयोगात् नासन् आत्मा, किन्तु रूपादि‹दन्य एव, शुद्धपदत्वं नामावयववाचकशब्दादन्यशब्देन वाच्यत्वमित्याशङ्कते—**ननु शुद्धपदेति** । शब्दान्तरवाच्यत्वमनन्यत्वमेव साधयतीत्याह—**शब्दान्तरेति,** पञ्च-

१ सि. क्ष. छा. डे. कारणं कार्यसत्त्वन्यायोऽस्तु । २ सि. क्ष. डे. छा. °मात्स्वापि ।

प्रयोगादेव नासन्नात्मेति शुद्धपदेन–शब्दान्तरेणोच्यमानत्वाद्रूपादिवदेव तेभ्योऽन्ये इत्येतच्च न, शब्दान्तरवाच्यत्वादेवानन्यत्वात्, तद्यथा[ऽन]न्या[नर]रथाश्वद्विपवतीत्यादि, शब्दान्तरवाच्यत्वानैकान्तिकोद्भावनार्थं तद्वैधर्म्यापादनार्थमाह पुनरपि–नरादिपृथक्प्रवृत्तेस्तत्र स्यादसत्त्वं–तत्रात्मनि नराश्वादीनां पृथक् समूहात् प्रवृत्तिदर्शनात् तत्समूहादन्यत्रादर्शनात् सेनायाः स्यादसत्त्वम्, आत्मनस्तु नाभून्नाम, रूपापृथग्भावात्तदात्मत्वाच्च, तत्रोच्यते–एतदपि नोत्तरम्, अनन्यत्र [प्र]वृत्तेरपि समुदायिभ्यः समुदायस्यानर्थान्तरत्वात्, तद्यथा–यथा च शिखरादिभ्य इत्यादि ।

तत्रापि शिखरादिविभागादेव न स्यादिति चेन्न बुद्धिविभागेऽप्यनन्यत्वात् पानकवत् तद्यथा मरिचक्षोद..................................पानकम्, एवं ससम्प्रयुक्तविज्ञानादिधर्मव्यतिरिक्त आत्मा नास्ति, तद्यथा सुखितो दुःखितो रक्तो द्विष्टोऽवाऽस्मीति संव्यवहारसिद्धिर्विज्ञानादेव तथैव पुरुषकर्मफलसम्बन्धादिसंव्यवहारसिद्धिः पञ्चसु स्कन्धेष्वेव कुतः पुनरात्मग्राहः प्रवर्त्तते? अत्रोच्यते 'औदासीन्याच्च तत्त्वेषु' (   ) पंचस्कन्धतत्त्वविपरीतात्मकल्पनाया विपर्ययज्ञानीभूतत्वात् चित्तस्य सप्तमानान्तर्गताहंमानाकुशलसंस्कारानुशयात्, आत्माऽस्तीत्यहङ्कारः प्रवर्त्तते ततः पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः पुरुष इति ।

(**तत्रापीति**) तत्रापि शिखरादिविभागादेव न स्यादिति चेत्–स्यान्मतं बुद्ध्या विभज्यमानाः शिखरादयः पृथगुपलभ्यन्ते पृथक् च शिखरी, न तद्रूपादिभ्य आत्मेति, तदपि न, बुद्धिविभागेऽप्यनन्यत्वात् पानकवत्, तद्यथा–मरिचक्षोदेत्यादि यावत्पानकमिति दृष्टान्तवर्णनम्, दार्ष्टान्तिकवर्णनन्तु ससम्प्रयुक्तविज्ञानादिधर्मव्यतिरिक्तात्माभावसाधर्म्यात्, तद्यथा सुखितो दुःखित इत्यादि, माधुर्येत्यादिपानकाङ्गद्रव्यगुणविचारोऽर्थान्तरसाधनाय नालमिति दृष्टान्तः, दार्ष्टान्तिकस्तथैव पुरुषेत्यादि, तृष्णाच्छेदादिप्रयोज-

---

स्कन्धेभ्योऽनन्यः आत्मा, शब्दान्तरवाच्यत्वात् सेनादिवदिति, यथा हस्त्यश्वरथपदातिभ्योऽनन्या सेना शब्दान्तरवाच्या च तथा आत्मापीति न तेभ्योऽन्य इति भावः । समुदायात् समुदायिनां पृथक् प्रवृत्तिदर्शनात् समुदायोऽन्य इति शब्दान्तरवाच्यत्वस्य व्यभिचारिता, समुदायादन्यत्र सेनायाः प्रवृत्तेरदर्शनात्स्यादसत्त्वम्, आत्मा तु रूपाद्यात्मक एव रूपादिपृथग्भावाभावान्नासन् स्यादिति वैधर्म्यापादनमित्याशयेन शङ्कते–**शब्दान्तरवाच्यत्वेति । नरादीति,** सेनापेक्षया तदवयवनररथादीनां पृथक् स्वात्मनि प्रवृत्तिदर्शनात्, सेनायाश्च समूहादन्यत्रादर्शनात् सेनाया असत्त्वं स्यान्नाम, आत्मनस्तु न समुदायिभ्यो भेदो रूपादेः पृथग् विभागासम्भवेन रूपाद्यात्मकत्वाच्चेति भावः । समाधत्ते–**अनन्यत्रेति,** पृथक् प्रवृत्त्यभावेऽपि समुदायसमुदायिनोर्न भेदः, यथा शिखरादिभ्यो विभागासम्भवेन पृथक् प्रवृत्त्यभावेऽपि शिखरिणो नान्यतेति भावः । ननु शिखरमिदं सानुरयं कटकोऽयमित्येवं बुद्ध्या विभागसम्भवेन शिखरादेः शिखरिणश्च पृथगुपलम्भो यथाऽस्ति तथा रूपादिभ्य आत्माऽन्य इति शङ्कते–**तत्रापीति ।** व्याकरोति–**स्यान्मतमिति,** बुद्ध्या विभज्यमानयोः शिखरादिशिखरिणोः पृथगुपलम्भोऽस्ति, नैवं रूपादिभ्य आत्मा पृथगुपलभ्यते किन्तु रूपादिरेवाऽऽत्मेति नासत्त्वमिति भावः । बुद्ध्या विभागेऽपि शिखरिशिखराद्योर्नान्यता, येन समुदायादन्यत्रादर्शनाच्छिखरिणोऽसत्त्वं स्यादित्युत्तरयति–**बुद्धिविभागेऽपीति ।** नियमविधिनयेऽस्मिन् रूपादिमात्रमेव परमार्थभूतं वस्तु, तस्य च वस्त्वन्तरेण समुदायेन न सम्बन्धः, एवञ्च सति घटादिरूपो यो वस्त्वन्तररूपः समुदायस्तत्र रूपादिवस्तुसंक्रान्तेरयथार्थत्वं स्यात्, ततश्च वस्तुव्यवस्था न स्यात्, तस्माद्घटादिसमुदायवस्त्वन्तरसंक्रान्तिरभ्युपेया, ततश्च सा वस्त्वन्तरसंक्रान्तिः रूपादेर्वस्त्वन्तरस्य चावस्तु-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °देवमसदात्मेति । २ सि. क्ष. छा. डे. तेभ्योऽन्ये इत्येतच्च न । ३ सि. क्ष. छा. डे. पृथगुच्छिखरीरतद्रूपादिभ्य आत्मनि ।

नसिद्धिर्यथा तदतिरिक्तार्थाभावेऽपि तथा कर्मफलसम्बन्धादिसंव्यवहारप्रयोजनसिद्धिः पञ्चसु रूपादिषु स्कन्धेष्वेव, अतस्तदरिक्तात्मपरिकल्पनावैयर्थ्यमिति कुतः पुनरात्मग्राहः प्रवर्त्तेत इत्यत्रोच्यते-औदासीन्याच्च तत्त्वेष्वित्यादि–तत्त्वविचारं प्रत्यौदासीन्यात् पञ्चस्कन्धतत्त्वविपरीतात्मपरिकल्पन[ा]या विपर्ययज्ञानीभूतत्वात् चित्तस्य मानातिमानादिसप्तमानान्तर्गताहंमानाकुशलसंस्कारानुशयादहंमानाख्याकुशलधर्मनिक्षिप्तवासनापरिपाकादात्माऽस्तीत्यहङ्कारः प्रवर्त्तते, ततः पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः पुरुष इति, एवं वस्तुतोऽस्य नयस्य दर्शनं प्रदर्शितम्।

अधुना कतमनयविकल्पोऽयमित्येतन्निश्चयार्थमाह—

एवञ्च रूपादितत्त्वस्य वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेरयथार्थत्वाद्वस्तुव्यवस्थागतिविनिर्मुक्तेरुभयावस्तुत्वमापादयेत् सेति प्रतिपत्तेः समभिरूढः, एकीभावेनाभिमुख्येनैक एव रूपादिरर्थस्तां तां संज्ञां समभिरूढः, यस्य शतसंख्यस्यापीदमेव लक्षणम्, 'वत्थूओ संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' (आव० नि० ७५७) इति, तत्रायं नियमविधिर्द्वादशधा भिन्नस्य शतभेदसमभिरूढैकदेशस्य गुणसमभिरूढस्य नामभेदः।

एवञ्च रूपादितत्त्वस्येत्यादि, एष नयो रूपादिमात्रमेव वस्तु, तच्च वस्त्वन्तरं समुदायाख्यं न सङ्क्रामतीत्यतो घटादिसमुदायवस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेरयथार्थत्वदोषाद्वस्तुव्यवस्थाया या गतिस्तां विमुञ्चेदतो वस्तुव्यवस्थागतिविनिर्मुक्तेर्घटादिसमुदायवस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिः स्यात्, स[ा]चोभयावस्तुत्वापादनार्थं स्यात्—रूपादयः समुदायश्चावस्तुनी स्याताम्, रूपादयः समुदायरूपापत्तेः स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु, रूपादिसमुदायो रूपादिवत् स्वरूपेण तस्यानवस्थितत्वादवस्त्वित्युभयावस्तुत्वमापादयेत् सा—वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिरिति—इत्थं प्रतिपत्तेः समभिरूढः—एवं मत्वैकीभावेनाभिमुख्येनैक एव रूपादिरर्थ एवेति या या संज्ञा तां तां समभिरूढः, यस्य शतसंख्यस्यापीदमेव लक्षणं—एक्केक्को य सतविहो० इति शतसंख्यं सप्रभेदमेवम्भूतं व्याप्नोतीत्येतल्लक्षणं तत्साक्षीभूतं तत्संवादिनिर्युक्तिलक्षणमाह—'वत्थूओ संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' (आ.नि. ७५७) इति, तत्रायमित्यादि, तत्रैतल्लक्षणं 'वत्थूतो संकमणं होति अवत्थू णये समभिरूढे' इति तस्य शतभेदस्य, सप्तनयशतारनयचक्रे समभिरूढे शतधा भिन्ने कतमः समभिरूढोऽयमिति मृग्यमाणे गुणसमभिरूढो नामायं पर्यायसमभिरूढादन्यः, तत्प्रदेश[ा]एव वक्ष्यमाणः[ा] अयञ्च नियमविधिरस्यैव, गुणसमभिरूढस्य पुनरिमे

त्वमापादयतीत्याशयं वर्णयति-**एष नय इति।** रूपादेरवस्तुत्वं निरूपयति-**रूपादय इति,** वस्त्वन्तरसंक्रान्तेरभ्युपमे रूपादि समुदायरूपमापद्यते, अतः स्वस्वरूपेऽनवस्थितमित्यवस्तु भवेत्, समुदायोऽपि रूपादिवदेव स्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु भवेदित्युभयावस्तुत्वं वस्त्वन्तरसंक्रान्तिरापादयतीति प्रतिपद्यते समभिरूढनय इति भावः। समभिरूढशब्दार्थमाह-**एवं मत्वेति,** समित्येकीभावे, अभीत्याभिमुख्ये, एकीभावेनाभिमुख्येनैको रूपादिरर्थ एव तां तां घटपटादिसंज्ञामधिरोहतीति समभिरूढ इति भावः। शतभेदः समभिरूढस्तत्र सर्वत्रेदं लक्षणमनुस्यूतमित्याह-**यस्य शतसंख्यस्येति।** शतसंख्यसमभिरूढत्वे मानमाह-**एक्केक्को इति।** समभिरूढलक्षणमागमोक्तं दर्शयति-**वत्थूओ इति,** लक्षणमिदं शतभेदस्य समभिरूढस्येत्यर्थः। सप्तनयशतारनामा नयचक्रग्रन्थः, तस्मिन् शतधा भिन्ने समभिरूढेऽयं समभिरूढः कतम इति मृग्यमाणे यः पर्यायसमभिरूढादन्यः गुणसमभिरूढस्तस्य विध्यादिद्वादशप्रदेशा वक्ष्यमाणाः, तत्रान्तर्गतो नियमविधिरयमित्याह-**सप्तनयशतारेति।** गुणसमुदायप्रदेशानाह-**गुणसमभिरूढस्येति।** भावार्थमाह-**द्वादशधेति,** समभिरूढः द्रव्यपर्याययोर्मध्ये पर्यायाश्रितः, अत एव सः पर्याय-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °दनायस्तत्समुदायपश्चादवस्तुनि। २ सि. क्ष. छा. डे. वत्थूणं। ३ छा. मृग्यमाणो। ४ छा. विधिविधिः २ नियमनियमः १२ इति।

भेदाः—विधिः १, विधिविधिः २ विध्युभयम् ३ विधिनियमः ४ उभयम् ५ उभयविधिः ६ उभयोभयम् ७ उभयनियमः ८ नियमः ९ नियमविधिः १० नियमोभयम् ११ नियमनियमः १२ इति द्वादशधा भिन्नस्य शतभेदसमभिरूढैकदेशस्यायं नियमविधिर्नामभेद इति ।

किञ्चान्यत्—यथा चायं वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिं नेच्छति रूपादीनां तथा—

अस्य नयस्य चोत्पत्तिविगतिस्थितिभिरपि नैव सम्बध्यते रूपादि, उत्पत्तिविगत्योस्तावत् प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकत्वादुभयमभूतं रूपादि च भूतम्, तयोर्वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तेर्ननूभयं व्याहन्यते भूतश्चेत् कथमभूतम्? अभूतश्चेत् कथं भूतं रूपादिवस्तु? इति ।

(अस्य चेति) अस्य चोत्पत्ति[वि]गतिस्थितिभिरपि नैव सम्बध्यते—नयस्योत्पादादित्रयसङ्क्रान्तेरप्यभावात्, यद्युत्पत्त्यादि वस्त्वन्तरसंक्रान्तिः स्यात् कुतोऽस्य समभिरूढता स्यादिति, कथमिति दर्शयति—उत्पत्तिविगत्योस्तावत् प्रागभावप्रध्वंसा[भावा]त्मकत्वात्—उत्पत्तिः प्रागभावो विनाशः प्रध्वंसाभावः, तदुभयमभूतं रूपादि च भूतम्, तयोर्भूताभूतयोर्वस्त्वन्तरसंक्रान्तेस्तूभयं व्याहन्यते भूतश्चेत् कथमभूतम्? अभूतश्चेत्कथं भूतं रूपादिवस्तु? इति ।

उत्पत्तिविनाशानाश्रिता स्थितिर्भूतत्वान्न व्याहन्यते रूपादिने[ति] चेदुच्यते सत्यम्—

भूता स्थितिरपि च भवनात्मिका सर्वत्र सङ्क्रामति वस्त्वन्तरमिति न वस्तुतैव, अथ तथा तथा भाव एव भवतीति तस्यैवैकस्याभिव्याप्तिर्न वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिरिति तन्न, प्रतिवस्तु तथाभवनस्य भूतत्वात्, परस्परव्यावृत्तात्मना सर्वस्य वस्तुनः प्रतिनियतत्वात्, न च भवनेनापि व्याप्तिरस्त्येवमिति स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षरूपादिमात्ररूपतायां सर्वसिद्धिरिति ।

(भूतेति) भूता स्थितिरपि च भवनात्मिका भवत्येव भवतीत्यतो भवनव्युत्पत्तेः सर्वप्रकारैः सर्वं भवति घटोऽपि रूपमपि रसोऽपीत्यादिः, भवनं सर्वत्र सङ्क्रामति वस्त्वन्तरमिति न वस्तुतैव स्थितेरपीति, अथ तथा तथेत्यादि, अथ मन्यसे तेन तेन प्रकारेण घटरूपरसादिभाव एव भवतीति तस्यैवैकस्याभिव्या-

---

समभिरूढ उच्यते, पर्याया द्विविधाः क्रमभाविनः सहभाविन इति, सहभाविनो गुणाः, अतः क्रमभाविपर्यायसमभिरूढादन्यो गुणसमभिरूढः, स च विध्यादिरूपेण द्वादशधा भिन्नः, तत्र नियमविधिरयमन्तर्गत इति भावः । नयस्यास्याभिमतान्तरमाह—**यथा चायमिति** । वस्त्वन्तरसंक्रान्तेरनभ्युपगमवद्रूपादेरुत्पत्तिस्थितिविगमैरपि न सम्बन्ध इत्याह—**अस्य नयस्य चेति** । व्याकरोति—**अस्य चेति,** अस्य नयस्य मते रूपादिवस्तु उत्पत्तिविगमस्थितिभिर्न सम्बध्यते, अयं नयो घटपटादिवस्त्वन्तरैः सह यथा सङ्क्रान्तिं सम्बन्धं नेच्छति रूपादेस्तथोत्पादादित्रिभिः सङ्क्रान्तिमपि नेच्छतीति भावः । यदि सङ्क्रमणमिच्छेत्तदा को दोष इत्यत्राह—**यद्युत्पत्त्यादीति,** यद्युत्पत्त्यादिभिस्त्रिभिर्वस्त्वन्तरैः सङ्क्रान्तिमभिलषेत्तर्हि नयस्यास्य समभिरूढत्वं व्याहतं स्यात्, वस्त्वन्तरसङ्क्रान्त्या स्वस्वरूपे रूपादेरनवस्थितत्वेनावस्तुत्वापत्तेः, एवञ्च कोऽर्थ एकीभावेनाभिमुख्येन तां तां संज्ञामधिरोहेदिति भावः । उत्पादादिसङ्क्रमणेऽवस्तुत्वं रूपादीनां दर्शयति—**उत्पत्तिविगत्योस्तावदिति,** उत्पत्तिः प्रागभावात्मकः, विगतिः प्रध्वंसाभावात्मकः, उभयोरनयोरभावरूपत्वेन भवनात्मकत्वाभावादभूतत्वं रूपादि च भवनात्मकत्वाद्भूतमिति, तदुभयरूपाद्योः परस्परसङ्क्रान्तेरभ्युपगमे भूताभूतत्वे व्याहन्येते भूतश्चेत् कथमभूतमभूतश्चेत् कथं भूतमिति तस्मान्नोत्पादादिवस्त्वन्तरसङ्क्रान्तिर्युज्यत इति भावः । ननु रूपादि स्थित्यात्मकं भवतु स्थितेरपि भूतत्वेन रूपादिना सहाविरोधादित्यत्राह—**भूता स्थितिरपि चेति** । रूपादि स्थितिं न सङ्क्रामति, स्थितेर्भवनात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः सर्वैः प्रकारैर्भवनात् स्थितिरपि न वस्तुभूता, रूपमपि हि भवति रसोऽपि भवति घटोऽपि भवतीत्येवं भवनस्य सर्वत्र वस्त्वन्तरेषु सङ्क्रमणात् तस्य स्वस्वरूपेऽवस्थितिर्नास्तीत्यवस्तुभूता भवनात्मिका स्थितिरिति व्याकरोति—**भूतेति** । ननु भाव एव सर्वो घटरूपरसादिः, न तु भावो घटरूपरसादिवस्त्वन्तरं सङ्क्रामति, तस्माच्च-

प्तिर्न वस्त्वन्तरसंक्रान्तिरिति तन्न, कस्मात् ? प्रतिवस्तु तथाभवनस्य भूतत्वात्—रूपस्य रसाद्यात्मना रसस्य रूपाद्यात्मना गन्धस्यापि शेषात्मना—परस्परव्यावृत्तात्मना सर्वस्य वस्तु[नः]प्रतिनियतत्वात्, न च भवनेनापि व्याप्तिरस्त्येवमिति भवनं—भावः संक्रामत्यभावं भावाभाव इति महती संक्रान्तिः, तस्या एव हेतुतोऽवस्तुता, तस्मात् स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षा रूपादयः, तन्मात्ररूपं—तन्मात्रतत्त्वञ्चेदं तद्भावस्तन्मात्ररूपता, तस्याञ्च स्थित्युत्पत्तिविगतिनिरपेक्षरूपादितन्मात्ररूपतायां सर्वसिद्धिः—सर्वं सिद्ध्यति नात्र कश्चिद्दोषः, अन्यस्य शतभेदसमभिरूढमध्यपतितस्य मूढसमभिरूढस्य दर्शनेन तूत्पादव्ययथोग एव रूपादीनामिति सोऽप्यस्ति कश्चिदामूढः किं तेन ? इत्ययं तन्नेच्छत्यामूढत्वात् तस्य, एवं चायं गुणसमभिरूढनियमविधिरुक्तः, अत्राप्यवक्तव्यलक्षणस्याप्यनन्तरस्य नियमस्य विधेः ।

तद्भावनार्थमाह—

एवं हि नियमो भवति यदि वस्तु, एष नयोऽनन्तरातीतनयप्रतिक्षेपेण पूर्वतरातीतविचारप्रसिद्धोत्सर्गविधिवृत्तात्मीयानाञ्चापवादेन नियमः क्रियते विधीयत इत्थंतयेति, पर्यव इति परिगमनं तच्चानेकता गुणः परितो गमनात् स एवास्तीति मतिरस्येति पर्यवास्तिकः ।

एवं हि नियमो भवतीत्यादि, कथं ? यदि वस्तु, तेन प्रकारेणाविद्यमानत्वात् सामान्यादयः समुदायश्च त्याज्याः किन्तु विशेषा एव रूपादयो देशभिन्नाः प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरत्वात् परिग्राह्या इत्युक्तं ततोऽधिकतरमसत्, तस्यासतो विक्षेपेण विधिरुच्यते यदि वस्तु ततोऽस्यैवं नियमो युज्यत इति, एष नियमस्य विधिरनन्तरातीतनयप्रतिक्षेपेण पूर्वतरातीतविचारप्रसिद्धपुरुषादिवादोत्सर्गविधिवृत्तानां तदनन्तरातीतानाञ्च विध्युभयादिवृत्तानामात्मीयानामपवादेन नियमः क्रियते विधीयत इत्थंतया वा विचारप्रसिद्धोत्सर्गविधिवृत्तात्मीयापवादनियमक्रि[य]येति व्याख्या[तो]नयः, शब्दार्थस्तु पर्यव इति परिगमनं तच्चानेकता गुणः,

वस्तुता स्थितेरित्याशङ्कते—**अथ मन्यस इति** । घटरूपरसादि प्रत्येकं वस्तु परस्परव्यावृत्तस्वरूपेण भूतमिति न तस्यैकरूपेण भवनेन व्याप्तिरस्तीत्याशयेन समाधत्ते—**प्रतिवस्त्विति** । तथा भवनमेव दर्शयति—**रूपस्येति,** भवनस्य सङ्क्रमणे भावोऽभावं सङ्क्रामतीति भावाभावरूपं वस्तु स्यात्, न चैवम्, तस्मात् सङ्क्रान्तिस्वीकारेऽवस्तु भवेत्, अभावे भावस्य सङ्क्रमणेऽभावरूपत्वाद्वस्तु नेति स्थित्युत्पत्तिविनाशैरपि न सम्बध्यत इति भावः । तस्माद्विश्वमिदं स्थित्युत्पत्तिविनाशरहितरूपादिमात्रतत्त्वम्, तेनैव सर्वव्यवहारसिद्धिरिति दर्शयति—**तस्मादिति** । उत्पत्तिविनाशवद्रूपादिविषयोऽपि शतभेदेषु समभिरूढेषु कश्चित् समभिरूढोऽप्यस्ति, स नितरामामूढः-अतिविचित्रः स्यान्नाम स तथा, किं तेन, अयन्तु गुणसमभिरूढ उत्पादव्ययथोगं नेच्छतीति गुणसमभिरूढनियमविधिरिति निरूपयति—**अन्यस्येति** । ननु सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वाद्यनुपपत्त्याऽवचनीयं वस्त्विति पूर्वनयोक्तनियमस्येत्थंतया विधानान्नियमविधिरयं नय इति भावयति—**एवं हीति** । केन प्रकारेण नियमो भवति, तद्व्याकरोति—**कथमिति,** वस्तु सामान्यादिरूपेण समुदायरूपेण वा नास्ति यतोऽतः सामान्यादयस्त्याज्याः किन्तु विशेषा एव रूपादयो प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ग्राह्याः, तेऽपि देशभेदेन भिन्ना इत्याह—**यदि वस्त्विति** । तर्हि केन प्रकारेण वस्तु विद्यमानमित्यत्राह—**किन्तु विशेषा एवेति,** यदा चैकदेशस्थं रूपादि चक्षुरादिना गृह्यते तदा नापरदेशस्थम्, तस्मात्तद्देशगतं रूपादि भिन्नम्, यद्येकं भवेत् सकलदेशगतमेकदैव गृह्येतातो देशभेदेन भिन्ना रूपादिविशेषाः परिग्राह्याः, तदितरेषां घटपटादीनामसत्त्वम्, सामान्यसमुदायादिरूपाणां स्वस्वरूपेणासत्त्वादिति तत्प्रतिक्षेपेण वस्तु विधीयते, यदि वस्तु स्यात्तदैवं स्यादिति नियमो युज्यत इति नियमविधिरिति भावः । नियमविधिकार्यमाह—**एष नियमस्य विधिरिति,** अव्यवहितपूर्वनयः स्ववचनादिविरोधान्नैवं नियमो युज्यत इत्यादिना प्रतिक्षिप्यते, तथा सति विधिविधिनयविध्युभयादिनयप्रसिद्धोत्सर्गापवादभूतवस्तूनां वक्तव्यत्वं प्राप्तं तदप्यपोद्यते, ततश्च यदि स्यात्तदा रूपादय एव देशभिन्ना यथार्थाः स्वस्वरूपापरित्यागात्, न सामान्यादयः समुदायो वा यथार्थ इति नियमो विधीयत इत्ययं निय-

१ सि. क्ष. छा. डे. प्रत्युपहतत्वात् न स्वभवनेनापि व्याप्तिरस्त्येवमिति । २ सि. क्ष. छा. डे. रूढसमभिरूढस्य ।

गण गुण संख्याने, रूपादयः परस्परविशिष्टा गुणाः, सम्यक् ख्यानात्, स च गुणः पर्यायः परितो गमनात् पर्यवो वा-पूर्ववत् स एवास्तीत्यादिव्याख्या गतार्था ।

पृथक् स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम्, तेषामेवार्थो वाक्यार्थः, उपनिबन्धनमस्य 'गोयम! चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा-वण्णवंते रसवंते गंधवंते फासवंते (भ० श० २० उ० ५) वर्णवन्त इत्यादिनिर्देशे मत्प्रत्ययः संसर्गे, परस्परसंसृष्टा एव वर्णादय इति ।

(पृथगिति) पृथक् पदानि वाक्यार्थः स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि, देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामित्यत्र देवदत्तादिपदान्येव वाक्यम्, तेषामेवार्थो वाक्यार्थः, उक्तरूपात् समुदायासत्त्वात्, अस्य नयस्योपनिबन्धनमार्षमुच्यते यतोऽस्य निर्गमः, तद्यथा-'कइविहे णं भंते भावपरमाणू पण्णत्ते' इति प्रश्ने व्याकरणं 'गोयमं! चउविहे (पण्णत्ते) तं जहा-वण्णवंते रसवंते गंधवंते फासवंते' (भ. श. २० उ० ५) इति वर्णवंत इत्यादि, भावे वर्णादावेव पृष्टे [कुतः] तद्वन्तोऽनेकेऽर्था व्याकृता इति चेदुच्यते न केचित्, किन्तु त एव वर्णादयः परस्परवन्तः रसगन्धस्पर्शा वर्णवन्तः वर्ण[वर्जाः], तद्वत् रसवर्जा रसवन्तो गन्धवर्जा गन्धवन्तः, स्पर्शवर्जाः स्पर्शवन्त इति मतुपा निर्दिष्टाः, यस्मान्मतुबिह संसर्गे, परस्परसंसृष्टा एव वर्णादय इति, 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायिने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥' तद्यथा-भूम्नि यवमान् गोमान्, निन्दायां ककुदावर्त्ती व्यादापहासी, प्रशंसायां-रूपवान् शीलवान्, नित्ययोगे-क्षीरिणो वृक्षाः कण्टकिनो वृक्षाः, अतिशायिने क्रोधी मानी (महाभा. अ. ५ पा. २ सू. ९४) संसर्गे-दण्डी छत्री, अस्तित्वमात्रे-यवमताभिः प्रेक्षतीति, तत्रायं वर्णवन्त इत्यादिनिर्देशे मत्प्रत्ययः संसर्गे अस्मिन्नयदर्शने, स्याद्वाददर्शने तु द्रव्यपरमाणवपेक्षो वा यथा 'दव्वं पज्जवविउतं दव्वविउताय पज्जवा णत्थि। उप्पायठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं॥' (सम्मति. गाथा० १२) इति परमार्थो जिनमते, किं तु प्रत्येकनयव्याख्यानात् भावमात्रं त्वनेन गृहीतमिति ।

दशमो भङ्गो नियमविधिनयः समाप्तः ॥

मस्य विधिरिति भावः । अयं हि नयः पर्यवास्तिकः, अतः पर्यवास्तिकशब्दार्थमाह-**शब्दार्थस्त्विति**, परीत्युपसर्गः समन्तादर्थे, अवधातुर्गत्यर्थे, परितोऽवनं-समन्ताद्गमनं पर्यवः, स एवास्तीति यस्य नयस्य मतिरसौ पर्यवास्तिकः, समन्ताद्गमनञ्चानेकतारूपो गुणः, तस्यैव समन्ताद्गमनतया सम्यक् प्रख्यानात्, एकतारूपो गुणो न समन्ताद्गमनतया ख्यातः देशभेदेन भेदात्, सर्वप्रभेदनिर्भेदत्वेन समन्ताद्गमनासम्भवाच्च, तस्माद्रूपादय एवानेके परस्परविशिष्टा गुणाः सम्यक् प्रख्यानात् परितो गमनाच्च पर्यव उच्यत इति भावः। अथात्र वाक्यार्थं दर्शयति-**पृथगिति**। समुदायस्यासत्त्वात् स्वस्वार्थवन्ति पदान्येव वाक्यं न तु पदसंघातादि रूपम्, देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामित्यादौ देवदत्तादिपदान्येवार्थवन्ति वाक्यमुच्यत इत्याह-**पृथक् पदानीति**। तदर्थ एव वाक्यार्थ इत्याह-**तेषामेवेति** देवदत्तादिपदानामेवेत्यर्थः। पदसमूहस्य पदसंघातादेर्वा वाक्यत्वाभावे हेतुमाह-**उक्तरूपादिति,** समूहादिप्रकारेणाविद्यमानत्वात् समुदायादीनामसत्त्वादिति भावः । अस्य नयस्याधारभूतमागममाह-**अस्य नयस्येति**। भगवन्! भावपरमाणवः कतिविधाः प्रज्ञप्ता इति प्रश्नस्योत्तरं भगवानाह गौतम! चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-वर्णवन्तो रसवन्तो गन्धवन्तः स्पर्शवन्त इति, इदमागमवचनमाश्रित्यायं नयः प्रवृत्त इति भावः। ननु भावरूपाणां परमाणूनां प्रश्ने किमिति तद्वतामनेकेषामर्थानां व्याकरणं कृतमित्याशङ्कते-**वर्णवन्त इत्यादीति**। समाधत्ते-**न केचिदिति,** न केचित्तद्वन्तोऽनेकेऽर्था व्याकृताः किन्तु परस्परसंसर्गवन्तो वर्णादय एव वर्णादिमन्त उक्ताः, यथा रसगन्धस्पर्शाः वर्णसंसर्गात् वर्णवन्त उच्यन्ते, तद्वत् वर्णगन्धस्पर्शा रससंसर्गात् रसवन्तः वर्णरसस्पर्शाः गन्धसंसर्गात् गन्धवन्तः, वर्णरसगन्धाः स्पर्शसंसर्गात् स्पर्शवन्त इति मतुप्प्रत्ययान्तेनोक्ता इति भावः। मतुप्प्रत्ययार्थमाह-**यस्मादिति,** अत्र हि मतुप् संसर्गेऽर्थे प्रयुक्तं वर्णादीनामन्योन्यसंसृष्टताप्रदर्शनार्थम्, तेन वर्णाद्यन्यतमासंसृष्टो रसादिर्नास्तीति दर्शितं भवतीति भावः। संसर्गे मतुबित्यत्र महाभाष्यकृतां सम्मतिमाह-**भूमनिन्देति**।

इति विजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रशास्त्रस्य दशमो नियमविधिनयारः समाप्तः॥

१ सि. क्ष. छा डे. वर्णाद्विवेव । २ सि. क्ष. छा. डे. तद्वंतोऽन्येकोऽर्था व्याकृत इति ।

एकादशो नियमोभयनयः

नयचक्रसम्यग्दर्शनाधिकारे प्रत्येकनयस्वरूपपरिज्ञानपूर्वकत्वान्नयचक्रज्ञानस्यानन्तरनयदर्शने चापरितोषादुत्तरोत्थानमिति स एव सम्बन्धः, पूर्वस्य दूषणं स्वमतप्रक्रिया च सहोच्यते नियमोभयेऽस्मिन्नित्यत आह—

इदमशक्यं यद्यत्तद्रूपादिभवनमेव भाव इति स्वमतं व्यवस्थाप्य वस्तुसंक्रान्तिप्रतिषेधेनोत्पत्त्यभाव इति वचनं श्रोतुमपि, अवश्यं हि तैः केनापि प्रकारेण भवितव्यं, अत एव, तत्र च तयोरत्यन्तभवनस्य व्यावर्त्तितत्वाद्भावरूपेण भवनाभावात् परिशेषादुत्पादविनाशेनैवैषां भवनमव्यावृत्तम्, तद्व्यावर्त्तने ह्यभावता तेषां स्यात्, खपुष्पवत्, उत्पादविनाशरूपं भवनं त्वयापि ननु तैर्यथानुभूयते स एव भाव इत्युक्तम्।

इदमशक्यमित्यादि, इदं श्रोतुमप्यशक्यं कुतो वक्तुम्? स्ववचनादिविरोधात्, कतमदशक्यं? यद्यत्तदित्यादि, यद्-यस्मादित्यर्थः, यत्तदिति वचनमभिसम्बध्यते, रूपादिभवनमेव भाव इति स्वमतं व्यवस्थाप्य वस्तुसङ्क्रान्तिप्रतिषेधेनोत्पत्त्यभाव इति, कथं पुनरेतदशक्यमत आह—अवश्यं हीत्यादि, तैरवश्यं हि रूपादिभिः केनापि प्रकारेण भवितव्यं भावरूपेणाभावरूपेण वा, अत एव-त्वद्वचनात्, हिशब्दस्य वचनहेत्वर्थत्वात्, तदवधारयितुमाह—तत्र चेत्यादि, तयोश्च भावाभावयोरत्यन्तभवनेन यद्भवनं तद्व्यावर्त्तितं द्रव्यार्थिकमतमेषु पर्यवास्तिकनयेषु, अतो भवनव्यावर्त्तनात् भावरूपेण भवनाभावात् परिशेषा-

---

अधिक्रियतेऽस्मिन् शास्त्रे सम्यग्दर्शनम्, तच्च द्वादशनयानामिति प्रत्येकनयज्ञानमन्तरेण तदभावात् प्रत्येकनयपरिज्ञानस्यावश्यकत्वे तत्परिज्ञानं तत्स्वरूपव्यावर्णनेनेति सम्प्रति पूर्वनयस्वरूपे तोषाभावेन नियमोभयनयस्योत्थानं भवति, तत्रापि तद्दूषणमन्तरेणास्योत्थानासम्भवेन तद्दूषणस्य वक्तव्यत्वे तत् एतन्नयप्रक्रिया च पौर्वापर्येणानिरूप्य सहैव प्रदर्श्यत इति पूर्वेण सङ्गतिमादर्शयति-**नयचक्रेति,** इदमपि नयमतमशोभनम्, द्रव्यभवनव्यावृत्तौ प्रतिज्ञातायां कोऽत्र भेदभावो नाम, समुदायिसंवृतिसमुदायिनामुत्पादविनाशव्यतिरिक्तस्वरूपाभावादभावत्वापत्तेः क्षणे क्षणेऽत्यन्तभिन्नरूपाद्यसाधारणानिर्देश्यपरमार्थत्वाद्वस्तुन इति नियमो विधीयते नियम्यते चेति नियमोभयमतम्। ननु त्वयोच्यते रूपादिनिखिलवस्तूनां रसादिपरस्परव्यावृत्तात्मना प्रतिनियतत्वात् उत्पत्तिस्थितिविगत्यादिभिः प्रागभावादिरूपैर्वस्त्वन्तरैर्न संक्रम इति तदयौक्तिकमित्याह-**इदमशक्यमिति।** यद्वचनं श्रोतुमेवाशक्यं विरोधात्तद्वक्तुं कथं शक्यमित्याह-**इदमिति,** अधुनैव प्रदर्श्यमानं वचनमित्यर्थः। किं तद्वचनमित्यत्राह-**यद्यत्तदित्यादीति।** रूपादिमात्रमेव भावः, तच्च रूपादि घटपटादिसमुदायात्मकं वस्त्वन्तरं न सङ्क्रामति, यदि सङ्क्रामेत् तर्हि रूपादीनां समुदायरूपापत्त्या स्वस्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तुता स्यात्, समुदायोऽपि रूपादिवत् स्वस्वरूपेऽनवस्थितत्वादवस्तु स्यात्, तथा-रूपादेर्भूतत्वात् प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकयोरुत्पत्तिविनाशयोरभूतत्वात् वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तौ च भूतश्चेत्कथमभूतमभूतश्चेत् कथं भूतमिति व्याहतिर्भवेत्तस्मादुत्पत्त्यादीनामभाव इति त्वदीयोऽभिप्रायो निर्युक्तिक इत्याह-**रूपादिभवनमेवेति।** वस्तुना हि केनापि प्रकारेण भवितव्यमन्यथा खपुष्पवदभाव एव स्याद्वस्तुनः, तत्रात्यन्तभावरूपेण भवनस्य द्रव्यार्थिकमतस्थैषु पूर्वोदितपर्यवास्तिकनयेषु व्यावर्त्तितत्वात्तेन रूपेण भवनाभावे उत्पादविनाशरूपेण भवनमेषां दुर्निवारम्, रूपादिभवनमात्रवस्तुत्वोक्तेरित्याशयेन समाधत्ते-**तैरवश्यं हीति,** केनापि प्रकारेण भावरूपेणाभावरूपेण वा। तत्रात्यन्तभावरूपता त्वया प्रतिषिद्धेत्याह-**तयोश्चेति।** भावरूपेण भवनप्रतिषेधाच्छिद्यमाणाभावरूपेणैव भवनं प्राप्तम्, अभावश्चोत्पत्तिविनाशौ तद्रूपेण रूपादीनां भवनं न व्यावृत्तमित्याह-**अत इति।** कुतस्तत्रैव सम्प्रत्ययो न तु तद्व्यावृत्तिरित्यत्राह-**यस्मादिति,** भावरूपभवनव्यावृत्तिवदभावरूपेण

दुत्पादविनाशेनैवैषां रूपादीनां भवनमव्यावृत्तम्, किं कारणं ? यस्मात्तद्व्यावर्त्तनेऽभावता तेषां-रूपादीना-मुत्पादविनाशरूपेणापि भवने व्यावर्त्तिते खपुष्पवदभावता स्यात्, तद्धि केनचिद्रूपेणाभवनात् अत्यन्तासत् तथा मा भूदित्युत्पादविनाशरूपं भवनं त्वयापीति, तदर्श्यते—ननु तैर्यथानुभूयते स एव भाव इति भवतैवोक्तं जन्मभङ्गभवनाभ्युपगमात् ।

इतर आह—

ननु तैर्भूयतेऽनुत्पादादित्वेनैवेति, न तर्हि तैर्भूयते, अकालत्वेऽकालत्वात्, त्वदुक्तिवदुत्पादाद्यनभ्युपगमादकालत्वम्, उत्पादविनाशावेव हि वस्तूनां भवनबीजम्, रूपादय इव तन्त्वादिभवनबीजम्, तदभावे तदभावात् तद्भावे तद्भावात्, इतरथा ह्यनुत्पादविनाशत्वादपर्यायत्वान्निर्मूलत्वान्न स्यात्, वन्ध्यापुत्रवत् ।

(**नन्विति**) ननु तैर्भूयतेऽनुत्पा[दा]दित्वेनैवेति मयोक्तत्वादयुक्तमित्यत्रोच्यते न तर्हि तैर्भूयते, अकालत्वेऽकालत्वात् नास्य कालोऽस्तीत्यकालः, अकालत्वे सत्यकालत्वात्, कालस्याकालत्वात् कालवत् सत्त्वाशङ्का स्यात् मा भूदित्यकालत्वे सत्यकालत्वादिति विशिष्यते, त्वदुक्तिवदुत्पादाद्यनभ्युपगमादकालत्वम्, आदिग्रहणाद्विनाशानभ्युपगमात्, कस्मात् ? उत्पादेत्यादि, यस्मादुत्पादविनाशावेव वस्तूनां-रूपादीनां भवनस्य बीजम्, हिशब्दो हेत्वर्थे, उत्पादविनाशधर्म वस्तु भवनं तद्बीजत्वात्, किमिव ? रूपादय इव तन्त्वादिभवनबीजं तदभावे तदभावात् तद्भावे तद्भावात्, रूपादिसमुदायो हि तन्तुपटादयः तदभावे न सन्ति, तद्बीजत्वात्, तद्भाव एव च भवन्ति, एवं वस्त्वपि उत्पादविनाशबीजत्वात् तदात्मभवनकमिति, एवमनभ्युपगमे दोषः—इतरथा हीत्यादि यावत् वन्ध्यापुत्रवदिति, भावे च साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तौ, अनुत्पाद-

---

भवनस्यापि व्यावर्त्तने खपुष्पस्येव रूपादीनामभावतैव स्यात्, केनचिदपि रूपेणाभवनात्, तन्मा भूदिति तेषामुत्पादादिरूपतो भवनमभ्युपेयमित्याह—**तेषामिति**। अनुभवमेव शरणीकुर्वता त्वयापि ननु तैर्यथाऽनुभूयते तथैव भाव इत्युक्त्वाऽङ्गीकृतत्वाद्रूपादय उत्पादविनाशरूपेण भवन्तीत्याह-**उत्पादविनाशरूपमिति,** उत्पादविनाशरूपेण रूपादीनामनुभवनात्तद्रूपेण भवनं त्वयाप्यभ्युपेतमेवेति भावः। शङ्कते-**ननु तैरिति।** रूपादयः स्वत एव भावाः न त्वपरेण केनापि रूपेण ते भावाः, तैर्हि भूयतेऽनुत्पादादिरूपेणैवेत्येव ममाभिप्राय इति शङ्कते-**ननु तैर्भूयत इति।** उत्पत्तिस्थितिविगतिरूपेण तेषामभवनेऽनुत्पादादिरूपेण भवनाभ्युपगमे भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपाणामुत्पादादीनामभावे कालसम्बन्धाभावाद्रूपादिभिर्न भूयत एवेति समाधत्ते-**न तर्हि तैरिति । अकालत्वे सत्यकालत्वादिति,** कालभिन्नत्वे सति कालसम्बन्धित्वाभावादित्यर्थः । काले कालान्तरासम्बन्धिनि व्यभिचारवारणाय कालभिन्नत्वे सतीत्युक्तम्, एतदेवाह-**कालस्येति।** रूपादौ हेतुसद्भावं दर्शयति-**त्वदुक्तिवदिति,** उत्पादो भविष्यत्ता विगमो भूतता, रूपादीनां तदनभ्युपगमात् कालासम्बन्धित्वमिति भावः। रूपादीनामकालत्वे सत्यकालत्वाद्वन्ध्यासुतादिवदभवनात्मकत्वं प्रसज्यते, यत उत्पादविनाशौ वस्तूनां भवने बीजम्, यथा रूपादिसमुदायात्मकतन्त्वादेर्भवनस्य रूपादयो बीजम्, रूपाद्यभावे हि तन्त्वादिभवनाभावः रूपादिभाव एव तन्त्वादि भवति, तस्माद्रूपादयस्तन्त्वादिबीजम्, एवमेत्र रूपादिभवनस्योत्पादविनाशौ बीजम्, तस्मादुत्पादाद्यात्मकं रूपादिभवनमित्युपपादयति-**यस्मादिति** । साधर्म्यदृष्टान्तमाह-**रूपादय इति।** वैधर्म्यदृष्टान्तमाह-**इतरथा हीत्यादीति,** रूपादेरुत्पादविनाशात्मकत्वानभ्युपगमे तस्य पर्यायराहित्यान्निर्मूलत्वापत्तिः, तथा सति वन्ध्यापुत्रवत्तन्न स्यात्, न हि पर्या

विनाशत्वादपर्यायम्, अपर्यायत्वान्निर्मूलम्, निर्मूलत्वान्न स्यादिति क्रमेण हेतुहेतुमद्भावेन गतार्थम्, प्रत्येकं वैते हेतवः, तस्मादुत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमेतेनेति ।

अपि च नानित्यसामान्यमात्रेण वस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना सन्तुष्यामः, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्, यो हि भाव उत्पन्नः स 'नंष्टा चेन्नाशविघ्नः कः ?' ( ) यदि हि उत्पत्तिविनाशस्वभावो भावः तर्हि तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नः येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालम्, स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनुभवेत्, अनन्तरासत्त्वे सति तत्स्वभावत्वात्, विनाशक्षणवत्, 'न चेन्नैव विनंक्ष्यति', एवमनिच्छतः स नैव नश्येत्·· ···पूर्ववत् ।

अपि चेत्यादि, नानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामः कालान्तरावस्थायिनां पृथिव्युदकरूपादीनामुत्पादविनाशदर्शनानुमितेनानित्यसामान्यमात्रेण सन्तुष्यामोऽनित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसम्बन्धिना, कालान्तरावस्थानस्याप्यनित्यप्रतिपक्षत्वात्, किं तर्हि ? प्रतिपक्षविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तुनः, [इति] तानि रूपादीनि क्षणिकानीत्यवधार्यताम्–क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः परमनिरुद्धः कालाख्यः स एवास्यास्ति, न द्वितीयादिसमयान्तरावस्थायीनीति निश्चीयताम्, न्यायोऽप्यत्र-यो हि भाव उत्पन्नः स नंष्टा चेन्नाशविघ्नः, [कः] तद्व्याख्या–यदि हीत्यादि, उत्पत्तिविनाशावनन्तरभाविनौ, स उत्पन्नस्वभावो विनाशस्वभावश्चेत्तस्य विनाशधर्मणः सतः को विनाशप्रतिबन्धी विघ्नो येनावतिष्ठेत तद्विशिष्टमपि कालं, स उत्पन्नमात्र एव विनाशमनु-

---

यरहितं वस्त्वस्तीति भावः । असत्त्वे निर्मूलत्वं निर्मूलत्वेऽपर्यायत्वं तत्र चानुत्पादविनाशित्वं हेतुरित्याह–**क्रमेणेति** । साक्षादेव वैतेषामसत्त्वे हेतुत्वमित्याह–**प्रत्येकं वेति** । एवञ्च यदि रूपादि वस्तु तर्हि तेनोत्पादविनाशात्मना भवितव्यमित्युपसंहरति–**तस्मादिति**। ननूत्पादविनाशात्मना वस्तुना भवितव्यमिति केवलमनित्यत्वं क्षणिकद्वित्र्यादिक्षणवर्त्तिभावसाधारणं प्रतिपाद्य न विरमामः, किन्तु क्षणमात्रस्थाय्यनित्यत्वं वस्तुन इति निरूपयाम इत्याशयेनाह–**अपि चेति** । ननु घटादिपृथिव्यादय इदानीमुत्पन्ना अपि बहुतरकालं यावत् स्थित्वा पश्चाद्विनश्यन्तो दृष्टाः, तस्मात् क्षणिकाक्षणिकसाधारणमनित्यत्वं रूपादीनामित्यनुमिनुमः, इदञ्चानित्यत्वं अनित्यप्रतिपक्षनित्यसम्बन्धि, क्षणमात्रस्थाय्यनित्यं द्वित्र्यादिक्षणावस्थायि च तत्प्रतिपक्षं नित्यं, क्षणावस्थानस्य कालान्तरावस्थानमेव हि प्रतिपक्षः, एवञ्चेदशेनानित्यवस्तुप्रतिपक्षनित्यसंस्पर्शसंबंधिनाऽनित्यत्वसामान्यमात्रेण नास्माकं परितोष इत्याह–**नानित्यसामान्येति** । स्वसम्मतमनित्यत्वमाह–**प्रतिपक्षेति,** कालान्तरावस्थानविनिर्मुक्तमेवानित्यत्वं वस्तूनां सम्मतमिति भावः । इदमेव निरूपयति–**तानि रूपादीनीति** । अतिसूक्ष्मो यस्य विभागो न कर्त्तुं शक्यते विभागपरम्परा यत्र विश्रान्ता, एवंभूतः कालः क्षणः, स एव यस्य वस्तुनोऽस्ति सोऽर्थः क्षणिक उच्यते, न हि किञ्चिदपि वस्तुनः कालो द्वित्र्यादिसमयोऽस्ति, मानाभावादित्याह–**क्षणोऽस्यास्तीतीति** । द्वित्र्यादिसमयान्तरानवस्थाने न्याय उच्यते-**यो हि भाव इति,** अत्र 'नंष्टा चेन्नाशविघ्नः कः, न चेन्नैव विनंक्ष्यति' इति च कारिकपादौ संभाव्येते । उत्पद्यमानानां वस्तूनां विनाशस्वभावनैयत्येनोत्पत्तिक्षणानन्तरं विनाशोऽवश्यम्भावी, न हि तदानीं तद्विनाशप्रतिबन्धकः कश्चन विद्यते, न चोत्पत्तिक्षण एव विनाशप्रसङ्गः, उत्पत्त्यनन्तरभाविविनाशस्वभावत्वात्, तथाच तत्प्रतिरोधकस्याभावेन न द्वित्र्यादिक्षणावस्थानं वस्तुनः, किन्तूत्पन्नमात्र एव विनाशमनुभवति, द्वित्र्यादिक्षणासत्त्वे सति विनाशस्वभावत्वात्, यथा विनाशक्षणे वस्तु अनन्तरासत्त्वे सति विनाशस्वभावत्वात् विनाशमनुभवति, यदि विनाशस्वभावत्वे सत्यपि विनाशं नानुभवेत् तदा न कदापि तस्य विनाशः स्यात्तस्मात् क्षणिकं रूपादीति भावः। तदेवाह–**उत्पत्तिविनाशाविति** । व्यभिचारशङ्कानिरासकं तर्कमाह–**न चेन्नैवेति** । विनाशस्वभावत्वेऽपि विनाशाननुभवने उत्पत्तिक्षण इव न कदापि नाशमनुभवेदिति व्याख्यानं

भवेत्, अनन्तरासत्त्वे सति तत्स्वभावत्वात्, विनाशक्षणवत्, न चेन्नैव विनंक्ष्यति, अस्य भाष्यं यावत् पूर्ववदिति, अनिष्टापादनसाधनमेवमनिच्छत इति गतार्थम् ।

कालान्तरावस्थाय्यनित्यवाद्याह—

अस्ति विघ्नः, कोऽसौ ? विनाशहेत्वसान्निध्यम्, कः कस्य विनाशहेतुः ? यत्सन्निधानासन्निधानाभ्यां विनाशाविनाशौ, यथा घटस्य मुशलाद्यभिघातोऽग्निसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाञ्च विनाशहेतुरित्यत्रोच्यते 'साध्यं विनाशहेतुत्वं' ( ) अन्यतरासिद्धेः कथं निर्धार्यते हेतुरेवेति, विशेषहेतुर्वाच्य इति, अस्ति विशेषहेतुः, तस्मिन् सति 'पश्चादग्रहणं यत' इति अत्रोच्यते—इदमज्ञापकम् 'स्वयं विनाशे तुल्यत्वात् तथानुत्पत्तितोऽग्रहः' कथं कृत्वा ? यथासंख्यनिर्देशा हि पार्थिवघटरूपादयः रूपादय एव घटाकारेणोत्पद्यमाना घट इत्याख्यां लभन्ते, समुदायविशेषात्, ते पुनः स्वयमेव विनष्टाः, उत्पत्तेरेव विनाशकारणत्वात्, तत्राभिघातप्रत्ययवशादन्ये रूपादयो न पुनस्तथोत्पन्नाः, तस्मात् तदानीं घटत्वेन रूपाद्यग्रहणम्, तेन न घटो विनाशितः, तथा पार्थिवा अपि रूपादयः आपश्च ।

(**अस्तीति**) अस्ति विघ्नः, कोऽसौ ? विनाशहेत्वसान्निध्यम्, तेनैव व्याख्यापयितुकामः पृच्छति—कः कस्य विनाशहेतुः ? यत्सन्निधानासन्निधानाभ्यां विनाशाविनाशाविति स ब्रूयात् यथा घटस्येत्यादि, अत्र मुशलाद्यभिघातो विनाशहेतुरस्ति,[अग्नि]संयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाञ्च विनाशहेतुः, तत्सान्निध्ये विनाशोऽसान्निध्येऽवस्थानमिति, अत्रोच्यते—साध्यं विनाशहेतुत्वम्, कथं साध्यमिति, त्वया साध्यते अस्मदाद्यभिघातेन घटस्य विनाशोऽग्निसंयोगात् पार्थिवरूपादीनामपाञ्चेति, मया स्वयमेवेतीति, तत्रावयोः कतरस्य वचस्तथ्यम् ? तस्मादन्यतरासिद्धत्वादहेतुः, कथं निर्धार्यते हेतुरेवेति, विशेषहेतुर्वाच्यः, इतर आह—अस्ति विशेषहेतुः तस्मिन् सति पश्चादग्रहणात्, तदसान्निध्ये ग्रहणात् तत्सन्निधावग्रहणाद्धटादि-

दर्शयति—**अस्य भाष्यमिति** । नन्वस्तु विनाशस्वभावत्वं वस्तुनः, कालान्तरावस्थायित्वञ्च, न हि विनाशस्वभावत्वे तदैव विनाशेनापि भाव्यमित्यस्ति नियमः, उत्पादक्षण एव विनाशप्रसङ्गात् क्षणविलम्बे निबन्धनाभावाच्च, नापि विनाशक्षणे पूर्ववदुत्पत्तिस्वभावत्वेऽपि तस्यैवोत्पत्तिरस्ति; किन्तु यथोत्पत्तिहेतुसमवधाने भवत्युत्पत्तिस्तथा विनाशहेतुसमवधाने विनाशो भवति, द्वितीयक्षणे च विनाशहेत्वसन्निधानमेव तदानीं तद्विनाशे प्रतिबन्धक इत्याशयेन कालान्तरावस्थाय्यनित्यवादी विघ्नं प्रदर्शयतीत्याह—**अस्ति विघ्न इति** । ततो विनाशहेतुसन्निधाने विनाशस्तदसन्निधाने न विनाशोऽत एव विनाशहेत्वसन्निधानं विनाशे विघ्न इत्याह—**कोऽसाविति** । स्वस्य मते विनाशहेतूनामेवासिद्धत्वात्तेनैव प्रतिबन्धकं व्याख्यापयितुं विनाशहेतुं पृच्छति—**कः कस्येति** । अन्वयव्यतिरेकयोरितरत्र कार्यकारणभावनियामकत्वस्य सिद्धत्वादत्रापि यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां विनाशाविनाशौ तावेव तस्य कारणमित्याह—**यत्सन्निधानेति** । विनाशकारणं घटादेर्दर्शयति—**यथा घटस्येत्यादीति,** घटविनाशे मुद्गरादिसंयोगस्य पार्थिवरूपादिविनाशेऽग्निसंयोगस्य समवधानासमवधानाभ्यां हेतुत्वं सिद्धमिति भावः । ननु विनाशहेतुत्वं साध्यम्, घटपार्थिवरूपादीनां विनाशस्य मुशलाद्यभिघातादिजन्यत्वस्य तव सिद्धत्वेऽप्यस्माकं प्रत्यसिद्धत्वेनान्यतरासिद्धत्वाद्धेतोः, मया हि विनाशः स्वत एवेत्यभ्युपगम्यत इति समाधत्ते—**साध्यमिति** । अत्र साध्यं विनाशहेतुत्वं पश्चादग्रहणं यतः । स्वयं विनाशे तुल्यत्वात् तथाऽनुत्पत्तितोऽग्रहः ॥ इति कारिका संभाव्यते, त्वया साध्यं तेन विनाशो भवतीति मया तु स्वत एवेति, तथा च स्वपक्षनिर्णयाय विशेषहेतुर्वाच्यः अन्यथा निर्धारणं न स्यादिति भावः । अन्वयव्यतिरेकात्मकं प्रत्यक्षमेव हेतुरित्याशङ्कते—**अस्ति विशेषहेतुरिति** । मुशलाद्यभिघाते

१ सर्वासु 'साध्यंतेना०' ।

विनाशे स स हेतुरिति निश्चीयते, अत्रोच्यते–इदमज्ञापकम्–यस्मात् स्वयं विनाशेऽप्यस्मत्पक्षे तुल्यमेव सति[न]ग्रहणं तेषाम्, कस्मात्? यस्मात्तथाऽनुत्पत्तितोऽग्रहः, अभिघातादिसान्निध्यात् प्राक् तथोत्पत्तेर्ग्रहणम्, पश्चादग्रहणं तत्सान्निध्ये तथानुत्पत्तेः, कथं कृत्वा ?–का भावना–? अत आह–यथासंख्यनिर्देशा हि पार्थिवघटरूपादयः-पृथिव्यां पञ्चवर्णषड्रसद्विगन्धाष्टस्पर्शाः शेषेषूदकतेजोवायुषु हीनतरा इति या या संख्या यथासंख्यं-यथासम्भवमित्यर्थः, रूपादय एव घटाकारेणोत्पद्यमाना घट इत्याख्यां लभन्ते समुदायविशेषात्, ते पुनः स्वयमेव विनष्टाः, उत्पत्तेरेव विनाशकारणत्वात्, तत्रास्मदाद्यभिघातेन सन्ततिपतितानामन्येषां रूपादीनामुत्पादो निरुध्यते, तस्मादभिघातप्रत्ययवशादन्ये रूपादयो न पुनस्तथोत्पन्नाः, तस्मात् सन्ततिनिरोधात् तदानीमभिघातकाले घटत्वेन रूपाद्यग्रहणं तेनाभिघातेन न घटो विनाशितः, तथा पार्थिवा अपीत्यादि, तेष्वपि रूपादिषु सैव भावना, अत्राग्निसम्बन्धसामर्थ्यमन्येषां तत्सन्ततिरूपादीनामुत्पत्तिसतां निरोधकम्, न पूर्वेषां विनाशकम्, तथाऽपामपि, अग्निसंबंधः तत्सन्ततेर्भूयस्तथोत्पत्तिनिरोधे हेतुः, उत्पन्नानां विनाशः स्वयमेव भवति, अन्त्यानां त्वयाभिमतत्वात्, सन्तत्युत्पादनासामर्थ्यात् सर्वविनाशः, एवमन्यासामपामनुत्पन्नत्वात्, एवं स्वयमेव विनाशो जातानां, नान्येन केनचिद्विनाशितत्वादिति ।

अत्राह—

कथमिदमवगन्तव्यं दृश्यमानेऽभिघातादौ विनाशहेतौ स्वयमेव विनाश इति, एतद-

---

सति घटाद्यग्रहणात्, तदसन्निधाने घटादिग्रहणाद्घटादिविनाशे स हेतुरिति भावः । ननु स्वयं विनाशाभ्युपगमेऽपि मुशलाद्यभिघाते घटाद्यग्रहणमुपपद्यते, मुशलाद्यभिघातेन च शकलादीनामुत्पत्तेर्घटाद्यग्रहणम्, न तु सोऽभिघातो घटविनाशजनकः, तस्मान्नासौ विशेषहेतुरिति समाधत्ते-**इदमज्ञापकमिति,** ग्रहणाग्रहणे नाभिघातादेर्विनाशकारणत्वज्ञापके इत्यर्थः । स्वयं विनाशपक्षेऽपि तयोः सम्भवमाह-**यस्मादिति ।** घटस्याग्रहणे कारणमाह-**यस्मात्तथेति,** अभिघातादिसन्निधाने घटरूपेणानुत्पत्तेर्घटस्याग्रहः, तदसन्निधाने तु तथोत्पत्तेस्तद्ग्रह इति भावः । ग्रहणाग्रहणे एव व्युत्पादयति-**का भावनेति । यथासंख्यनिर्देशा इति,** पृथिवीजलतेज आदौ यावत्संख्याकानि रूपादीनि परैः स्वीक्रियन्ते तावद्रूपाद्यात्मकाः पृथिव्यादय इति भावः । **पञ्चवर्णेति,** शुक्लनीलपीतकृष्णरक्तभेदेन पञ्चवर्णाः, मधुरादिभेदेन षड्विधो रसः, शीतोष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षमृदुकठिनभेदेनाष्टविधः, स्पर्शः, सर्व एवैते पृथिव्यां, जलादौ तु यथासम्भवं द्विन्यादिवर्णरसस्पर्शैकगन्धादय इति भावः । एवञ्च विलक्षणसंस्थानविशिष्टाः समुदिता रूपादय एव घटादिरूपेणोत्पन्ना घटादिव्यपदेशभाजो भवन्ति विनाशस्तु तेषां स्वयमेव, उत्पत्तेरेव विनाशहेतुत्वादुत्पत्त्यनन्तरक्षण एव विनाश इत्याह-**रूपादय एवेति ।** अभिघातादीनां कृत्यमाह-**तत्रेति,** विनाशहेतुत्वेन तवाभिमतानां मुशलाद्यभिघातादीनामसन्निधाने घटादिरूपेण रूपादीनामुत्पादविनाशधारा प्रचलति, यदा तु घटादिव्यपदेशभाजा रूपादिना मुशलाद्यभिघातस्य सन्निधानं भवति तदा घटादिरूपेण न रूपादेरुत्पाद इति घटादिरूपेण तेषामुत्पादविनाशसन्तानो निरुध्यतेऽतस्तदानीं घटादिरूपेण रूपादीनामग्रहणम्, न तु मुसलाद्यभिघातेन घटादेर्विनाशादग्रहणमिति भावः, । एवं पृथिव्यादिरूपेणोत्पन्ना रूपादयोऽपि विनाशकारणत्वेनाभिमतस्याग्निसंयोगादेः सन्निधानात्, पूर्वसन्तानस्य निरोधो भवति न तु तद्विनाश इत्याह-**तथा पार्थिवा इति ।** एवं जलादिरूपेणोत्पन्नानामपि भाव्यमित्याह-**तथाऽपामपीति ।** विनाशः स्वयमेव भवतीत्यत्र निदर्शनं वादिसम्मतं दर्शयति-**अन्त्यानामिति,** यथा भवन्मते क्षणिकानां शब्दानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यानां सन्तानिनामन्तिमः शब्दः स्वयमेव विनश्यति स्वोत्तरवर्त्तिविशेषगुणस्य कस्याप्यभावात्तथा सर्वेऽपि क्षणिकाः पृथिवीघटरूपादयः स्वयमेव विनाश्याः, विनाशकत्वेनाभिमताश्च सन्तत्युत्पत्तिप्रतिरोधका एवेति भावः । निगमयति-**एवमिति ।** नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां विनाशहेतुत्वमभिघातादीनां प्रत्यक्षतो दृष्टम्, तत्कथं विज्ञेयमभिघातादयः सन्तत्युत्पत्तिनिरोधका एव, विनाशस्तु स्वयमेवेतीत्याशङ्कते-**कथमिदमिति ।** अभिघातादौ विनाशहेतुत्वं दृश्यमानमपि विनाशः स्वयमेव घटादीनां न तु हेतुना केनचिदिति कथमवगन्तव्यं मानाभावा-

धुनाऽनुमानेन प्रत्याप्यते—स्वयं विनाशि घटादि, जातत्वात्, प्रदीपशिखावत्, आगमोऽपि 'जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते । पश्चात् विनाशकाभावान्न विनश्येत् कदाचन ॥' (   ) तथा—'जुहुक्किक्तं मिलेडंमि उप्पादे अत्थि कारणं । पट्ठणे कारणं णत्थि अणत्थु.......... ॥ (   ) इति, तस्मात् प्रतिक्षणमुत्पत्तेरेव विनाशित्वं सिद्धं रूपादीनाम्, तत्रैवं रूपादीनामभूततथार्थत्वाद्देशाभेदभवनाभावसमुदायवत् कालाभेदभवनाभावादसत्त्वम्, यथा हि समुदायस्य देशाभेदस्य संवृतिसतः परमार्थतोऽसत्त्वं तथा रूपादेरपि रूपादिपरमार्थतया भवतोऽप्येकस्मिन् क्षणे न क्षणान्तरप्रतीक्षणं कालतो भेदात् रसादिरूपकालाभेदादित्यर्थः, तस्योत्तरकालाप्रतीक्षितत्वात्तदेवेदमित्यशक्यं वक्तुम्, ततोऽत्यन्तमन्यत्वाद्रसादिवत् ।

(**कथमिति**) कथमिदमवगन्तव्यं दृश्यमानेऽभिघातादौ विनाशहेतौ स्वयमेव विनष्टाः घटादयो न तु तेन हेतुना विनाशिता इति, कोशपानेन प्रत्याय्यः स्वयं विनाश इति, एतदधुनाऽनुमानेन प्रत्याप्यते[1]—स्वयं विनाशि घटादि[2], जातत्वात्, प्रदीपशिखावत्, एतदनुमानसाक्षीभूतोऽयमागमस्तदर्थसंवादी-तद्यथा-'जातिरेव हि' इत्यादि, तथा—'जुहुक्किक्तं मिलेडंमि उप्पादे अत्थि कारणं । पट्ठणे कारणं नत्थि अणत्थुं[3]रके कारणात्' (   ) इति, तस्मात् प्रतिक्षणमुत्पत्तेरेव विनाशित्वं सिद्धं रूपादीनाम्, ततः किं ? ततस्तत्रैवं प्रतिक्षणनश्वरतायां सत्यां रूपादीनामभूततथार्थत्वम्, अभूततथार्थत्वात् समुदायवदेवासत्त्वमर्थस्य रूपादेः, तेन प्रकारेण-देशाभेदभवनात्मनाऽभावः-तदभूतमर्थतत्त्वं, प्रतिक्षणनश्वरताया उक्तत्वात्, तथा चाभूतार्थतथात्वादसत्त्वम्, किमिव ? समुदायवत्, तद्व्याख्या-यथा हि समुदायस्येत्यादि, रूपादित्वेन सन्तो रूपादयो देशाभेदेन घटादिसमुदायात्मना न सन्ति, तथाभूतदेशाभेदभवनाभावात् समुदायस्य संवृतिसतः परमार्थतोऽसत्त्वात् तथा रूपादेरपि रूपादिपरमार्थतया भवतोऽप्येकस्मिन् क्षणे रूपादिपरमार्थोऽ-

दिति शङ्कते—**कथमिति** । प्रतिक्षणं भिन्नायाः प्रदीपज्वालाया विनाशो विनाशकारणादर्शनेन स्वयमेव भवति, केवलं तत्रोत्पत्तिरेवापेक्षिता, तस्माद्घटादिरप्युत्पन्नत्वात् स्वयमेव विनाशीत्यनुमानेन तत्प्रत्याय्यत इत्याह—**एतदधुनेति** । जातत्वं घटादेरस्तु स्वयं विनाशित्वं मास्तु इति व्यभिचारशङ्कायां तदर्थसंवाद्यागमं प्रमाणयति—**जातिरेव हीति** उत्पत्तिरेवेत्यर्थः । आर्षमपि मानमाह—**जुहुक्किक्तं इति** । एवञ्च प्रतिक्षणमुत्पत्तेर्विनाशित्वं रूपादीनामिति देशतोऽभेदरूपेण भवनाभावात् समुदायवदभूततथार्थत्वादसत्त्वं रूपादेरित्याह—**ततस्तत्रैवमिति,** अभूततथार्थत्वं—तथा देशतोऽभेदभवनात्मनाऽभूतोऽर्थो रूपादिरित्यर्थः। कुतोऽभूततथार्थत्वमित्यत्राह—**प्रतिक्षणेति,** उत्पत्त्यनन्तरविनाशित्वात् समुदायरूपताप्राप्त्यनवकाशादिति भावः । यथा समुदायो देशतोऽभेदेनाभवनरूपत्वादसन् तथा रूपादिरपीति दृष्टान्तमाह—**समुदायवदिति** । भावार्थमाह—**रूपादित्वेनेति** रूपादयः स्वस्वरूपेण भवन्तोऽपि देशाभेदात्मना न भवन्ति, देशाभेदः घटादिसमुदायरूपः, स च संवृतिसन् न तु परमार्थतः सन्, अतस्तेन रूपेण ते न भवन्ति, रूपादयस्तु परमार्थसन्त एव, उत्पत्तिक्षणे तेषां भावात्, ते च न द्वितीयादिक्षणं स्वसत्त्वार्थमपेक्षन्ते स्वतो विनाशित्वात्, द्वितीयादिक्षणेषु चान्येऽन्ये एव रूपादयः, एवञ्च कालतोऽभेदेन भवनं न रूपादीनामिति देशाभेदेन भवनाभावरूपसमुदायवत् कालाभेदेन भवनाभावान्न सन्ति रूपादय इति भावः । एवञ्च रूपादित्वेन सन्तोऽपि रूपादयो देशाभेदभवनात्मनाऽसन्तः कालाभेदभवनात्मनाप्यसन्तः, प्रतिक्षणं रूपादेरन्यान्यत्वेन द्वितीयादिक्षणान्तरानपेक्षत्वात् तदेवेदं रूपमिति वक्तुमशक्यत्वादित्याह—**तथा-**

१ छा. प्रत्याप्यसे । २ छा. घटादिनातत्वात् ३ छा. अपरकुरके ।

स्येव, स तु क्षणान्तरं न प्रतीक्षते, कालतो भेदात् पूर्वक्षणरूपादुत्तरक्षणरूपमन्यदेव, एवं रसादयोऽपि, अतः कालाभेदभवनाभावात् देशाभेदभवनाभावसमुदायवन्न सन्ति, तस्य स्फुटीकरणार्थमाह-रसादिरूपकाल-भेदादित्यर्थ इति, तस्योत्तरकालाप्रतीक्षितत्वात्तदेवेदमित्यशक्यं वक्तुं रूपम्, ततोऽत्यन्तमन्यत्वात्, रसादिवत्।

तस्यान्यत्वमवीतेन समर्थयितुमाह—

कृत्वा कल्पनया इत्थं स्याद्यदि स्यात् तद्यथारूपं तथारूपं तद्रूपं स्यात् द्वितीयक्षणादिषु न कदाचित्, इदन्तु तदभावपरम्परापतितमसदेव समुदायवत्, यथा समुदायः स्वरूपेणासन्नेव रूपादीनामेवं रूपमपि, पृथक्त्वानवस्थितार्थत्वात्, अतो रूपं, रूपस्वरूपासत् एवं नियमो नियमितोऽसत्त्वेन विशेषो रूपादिः।

कृत्वा कल्पनया इत्थं स्याद्यदि स्यादिति, तद्यथा-यदि तद् यथारूपं-रूपं-रूपं—रसादि-व्यतिरिक्तं रूपात्मकमेव रूपं तत्त्वे[न]तेनैवात्मना रूपेण तथारूपं तद्रूपं यदि स्याद् द्वितीयक्षणादिषु,[न] कदाचित्—न कदाचिदपि भवतीत्यर्थः, यदि स्यात्ततस्तदिति कृत्वा रूपमुच्यते, न तु भवति प्रतिक्षणनश्वरत्वात्, किं तर्हि ? इदन्तु तदभावपरम्परापतितं-यद्रूपं भवति तत्तस्मिन्नेव क्षणे न भवति पुनरपि क्षणान्तरे भवदेव न भवति पुनरपि न भवतीत्येवमभावपरम्परयाऽऽघ्रातत्वादसदेव, समुदायवत्, तदुक्तस्फुटीकरणार्थमुप-संहृत्य साधनमाह—यथा समुदायः स्वरूपेणासन्नेव रूपादीनामिति दृष्टान्तः, एवं रूपमपीति साध्यनिर्देशः, असन्नेवेति वर्त्तनात्, पृथक्त्वानवस्थितार्थत्वादिति हेतुः, प्रतिक्षणवृत्तित्वात् पृथक्त्वानवस्थितार्थत्वम्, अतो रूप[म्,]रूपस्वरूपासदेवं नियमो नियमितोऽसत्त्वेन विशेषो रूपादिः।

अथ किं विशेषस्यासत्त्वेन नियमः ? एष किमभाव एव ? नेत्युच्यते—

अभावार्थस्तु नियमः यत्तत् प्रतिक्षणभवनं तस्य तच्च क्षणे क्षणे वृत्तमत्यन्ताभावविपरीतवृत्ति सत् कथमनर्थतायां स्यात्? किन्तु नास्ति तत्, अत्यन्ताभावत्वात्, खपुष्पवदिति स्यादतः प्रतिक्षणं न भवति न भवतीति विशेषाभ्युपगमात् सोऽभावः सन्नर्थश्च।

रूपादेरपीति। ततोऽत्यन्तमिति, प्रथमक्षणोत्पन्नं रूपादि द्वितीयादिक्षणोत्पन्नरूपादेरत्यन्तं भिन्नं रसादिवदिति भावः। अन्यत्वमेव तावदवीतानुमानेन समर्थयति—**कृत्वा कल्पनयेति**। प्रतिक्षणभाविरूपं रूपात्मकमेवेति कृत्वा द्वितीयादिक्षणादिषु रूपं यदि तद्रूपमेव—प्रथमक्षणभाविरूपमेव स्यात्तदेत्थं स्यात्—तदेवेदमिति वक्तुं शक्यं स्यात्, न तु कदाचित्तथा भवति तस्मादन्यदेव रूपादि, रसादिवदित्याशयेनाह—**यदि तद्यथा रूपमिति**। यथारूपं यदि तद्रूपं स्यात्तदेत्थं स्यादिति दर्शयति—**यदि स्यादिति**। द्वितीयक्षणभाविरूपं प्रथमक्षणभाविरूपं यदि स्याद्रूपात्मकत्वात् तदेदं तद्रूपमेवेति कृत्वा रूपमित्युच्येत, न तु रूपं रूपं तद्रूपं भवति प्रतिक्षणविनाशित्वादिति भावः। प्रतिक्षणविनाशित्वादेव च रूपक्षणस्तदभावक्षणो भवति प्रथमक्षणे भवत एवाभवनात्, एवं द्वितीयादिक्षणेष्वपि, एवञ्चैकस्मिन्नेव क्षणे रूपादेरभावग्रासादसत्त्वं समुदायवत्, रूपादीनां समुदायो हि स्वरूपेणासन्नेव तथा-रूपादिरपीत्याह—**इदन्त्विति**। रूपादिरप्यसन्नेव, पृथक्त्त्वानवस्थितार्थत्वात् समुदायवदित्यनुमानमाह—**यथा समुदाय—इति**। रूपादिरभावात् पृथक् तत्त्वतयाऽनवस्थितोऽर्थः, रूपादौ प्रतिक्षणमभावस्य वर्त्तनात्, स हि न भवति न भवति प्रतिक्षणमित्याह—**प्रतिक्षणवृत्तित्वादिति**। एवञ्च रूपं स्वस्वरूपेणैवासदिति नियमो—विशेषो—रूपादि सत्त्वेन नियमित इत्याह—**अत इति**। ननु-रूपादेर्योऽयमसत्त्वेन नियमः स किमभाव एवेत्यत्राह—**अभावार्थस्त्विति**। रूपादिर्हि खपुष्पादिवन्नात्यन्ताभावरूपः किन्तु तद्वि-

---

१ सि. श. छा. 'कालाभेदादि। २ सि. छा० एवरिकमभावएतनेत्यु०।

(अभावार्थस्त्विति) अभावार्थस्तु-अभावश्चासावर्थश्च, भावश्चेत्यर्थः, कथं ? यत्तत् प्रतिक्षणमभवनं तस्य-रूपादिवस्तुनः, तत्तु भवनमपि क्षणे क्षणे वृत्तं खपुष्पवदत्यन्ताभावविपरीतवृत्ति सत् कथमनर्थतायां-अवस्तुतायां स्यात् ? किं पुनः स्यात् ? इत्थं स्यात् नास्ति-न तत्क्षणे क्षणे-न भवेत्, अत्यन्ताभावत्वात्, खपुष्पवत्, अनिष्टश्चैतत्-प्रतिक्षणं न भवति न भवतीति विशेषाभ्युपगमादित्यतः सोऽभावः सन्नर्थः-वस्तु चेत्यर्थः, खपुष्पवदत्यन्ताभावविपरीतवृत्तित्वात् ।

ननु स भवनव्यपदेशः सत्त्वे घटते, अन्यथा हि कुतोऽस्यात्यन्तभेदस्य भवतीति भवनेनोपाख्या ? अभावो वाऽर्थोऽस्येत्यस्यशब्दनिर्देश्योऽन्योऽर्थः सन्नसता सम्बध्यते, अभावस्याश्रयभूतत्वात्, भाव एव ह्याश्रयो भवितुमर्हति, एकक्षणविज्ञानवद्रूपादिसदसद्विचारस्य, इतरथा निराश्रयौ प्रागभावप्रध्वंसाभावौ न स्याताम्, इष्टौ च तौ न हि भावमनाश्रित्य भवितुमुत्सहेते, असद्विशेषत्वात्, स चाश्रयोऽर्थः पूर्वमसद्रूपः पश्चाच्च सदित्युच्यमानत्वात् तदुपपदनस्त्वात्, अर्थ इति नाभावमन्तरेणोत्सहते, अभाव इति चार्थम् ।

ननु स इत्यादि, तस्य भवनाघ्रातत्वं दर्शयति, प्रतिक्षणमत्यन्तवि[ल]क्षण[त्वा]दे[व] रूपं रूपमेव रूपमेवैकं भवति तथेहापि तद्रूपमेव रूपमेवेत्यादि भवतीति भवनव्यपदेशः सत्त्वे घटते, अन्यथा हि कुतोऽस्यात्यन्तभेदस्य-अत्यन्तान्वयरहितस्य भवतीति भवनेन लक्षणेनालक्ष्यस्योपाख्या ? दूरत एव न युक्ता भाव इत्युपाख्या, अभावो वाऽर्थोऽस्येति बहुव्रीहिसमासो वा, अभावोऽर्थोऽस्येत्यस्यशब्दनिर्देश्योऽन्योऽर्थः

परीतः सद्रूपः, तस्य प्रतिक्षणमभवनरूपत्वेऽपि भवनरूपत्वमप्यस्ति, भवन् हि न भवति प्रतिक्षणम्, तस्मादभावः सन्नर्थोऽपि भावोऽपि, यदि सोऽर्थो न स्यात्, कथमत्यन्ताभावविपरीतवृत्तिः स्यात्, प्रतिक्षणञ्च न भवतीति न स्यात्, अनिष्टश्चैतत्, तस्मात्सोऽभावः सन्नर्थश्चेत्याशयेन व्याचष्टे-**अभावश्चासाविति** । कथमर्थः स इत्यत्राह-**यत्तदिति,** प्रतिक्षणवृत्तित्वादर्थश्चेति भावः । नासौ खपुष्पवदत्यन्ताभाव इत्याह-**खपुष्पवदिति** । अवस्तुतायां किं स्यादित्यत्राह-**किं पुनः स्यादिति,** नास्ति तत् क्षणे क्षणे इति न स्यात् अत्यन्ताभावत्वात् खपुष्पवदिति स्यादवस्तुतायामिति भावः । न भवति न भवतीतिविशेषाभ्युपगमादभावस्सन्नर्थश्चेत्याह-**प्रतिक्षणमिति,** न भवति न भवतीति प्रतिक्षणमभावस्य वैलक्षण्यं प्रदर्शितम्, तच्चान्वयाभावे न घटते, न हि खपुष्पादि प्रतिक्षणं न भवति न भवतीत्युच्यते अत्यन्ताभावरूपत्वात्, तस्मात्तद्विपरीतवृत्तित्वादभावः सन्नर्थश्चेति कर्मधारयसमासपक्षेऽभिप्रायः । इममेवाभिप्रायं समर्थयति-**ननु स इति** । प्रतिक्षणं रूपादेर्विलक्षणत्वादेव क्षणे क्षणे रूपं रूपं रूपमिति भवति सर्वेषां रूपात्मकत्वादेव रूपमेकमेवोच्यते यथा तथैव तेषां रूपादीनां भवति भवतीति भवनव्यपदेशात् तस्य च व्यपदेशस्य सत्त्व एव सम्भवात् रूपादिर्भाव इत्याह-**प्रतिक्षणमिति** । भवनात्मकं तद्यदि न स्यात्तर्ह्यत्यन्तं प्रतिक्षणं भिन्नानामन्वयरहितानां भवति भवतीति निर्विलक्षणो भवनव्यपदेशः कथं स्यात्, एकरूपात्मकत्वाभावे हि प्रतिक्षणं न रूपमेव रूपमेवेति व्यपदेशः कर्त्तुं शक्य इत्याशयेनाह-**अन्यथा हीति,** प्रतिक्षणविलक्षणेषु अन्वयात्मकैकरूपव्यपदेशे सत्यपि सत्त्वानात्मकत्वे हीत्यर्थः, भाव इति व्यपदेश एव न स्यादिति भावः । **अभावो वाऽर्थोऽस्येतीति,** अस्येतीतीदंशब्दवाच्यस्यान्यपदार्थस्यार्थो-भावो-धर्मोऽभाव इति अभावार्थपदार्थोऽन्यपदार्थः इति बहुव्रीहिसमासार्थत्वात्[1] प्रथमं भावात्मकं वस्तु अभावेन सम्बध्यत इति सम्बध्यमानाभावस्याश्रयभूतो भावः सिद्ध्यतीति भावः । इदमेवाह-**अस्य शब्दनिर्देश्य इति** । अन्यपदार्थबोधको बहुव्रीहिरित्याह-

---

१ सि० क्ष० छा. खपुष्पाभावाद्यत्यन्ताभाव० ।

सन्नसता सम्बध्यते, बहिरर्थत्वाद्बहुव्रीहेः, कस्मात्? अभावस्याश्रयभूतत्वात्, भाव एव हि आश्रयो भवितुमर्हति, एकक्षणविज्ञानवद्रूपादिसदसद्विचारस्य, इतरथा निराश्रयौ प्रागभावप्रध्वंसाभावौ न स्याताम्, इष्टौ च तौ, न हि भावमनाश्रित्य प्रागभावप्रध्वंसाभावौ भवितुमुत्सहेते, असद्विशेषत्वादत्यन्ताभाववैलक्षण्यात् स चाश्रयोऽर्थ एतयोः, पूर्वमसद्रूपमुत्पत्त्यवस्थायां सत्, पश्चाच्च[अ] सदित्युच्यमानत्वात्, तदुपपदनञ्त्वात्, अर्थ इति नाभावमन्तरेणोत्सहते, अभाव इति भावोपपदनञ्प्रयोगः, प्रतिषेधवाचित्वात् सिद्धार्थ एव, नासिद्धार्थविषयः ।

ननु रूपादिभावोऽर्थः क्षणिकतायां सत्यामपि नाभावमन्तरेण नोत्सहते भवितुम्? न चाभावः नञुपपदत्वात्, अब्राह्मणवत् भावाद्रूपादेरन्यस्याभाव इति निर्देशो युक्तः। नन्वेवं क्षणिकत्वादसत्त्वे कथमुत्पन्ने पुत्रादौ घटादौ वाऽर्थे भूतमित्याश्वासः, दग्धमृतप्रध्वस्तेषु चानाश्वासः? अविषयत्वात्, नन्वविषय एवायं व्यवहारः, क्षणिकेऽस्यासम्भवात्, उक्तवत्; एवमेव च वैराग्यभावना घटते, तदर्थश्चायमारम्भ इति गुणोपचयः ।

(**नन्विति**) ननु रूपादिभावोऽर्थः क्षणिकतायां सत्यामपि—रूपादिरर्थो भावो नाभावमन्तरेण नोत्सहते—उत्सहत एव भवितुम्, न चाभावो [भावमन्तरेण] भवितुमुत्सहते, नञुपपदत्वादब्राह्मणवत्—यथा ब्राह्मणादन्यस्याब्राह्मण इति निर्देशः, तथा रूपादेर्भावादन्यस्याभाव इति निर्देशो युक्तः, सत्यामेव क्षणिकतायां न भवतीत्यभावान्वितो[1] भाव एव भवतीति भावाद्रूपादेरित्यसत एवार्थत्वमाह—नन्वेवमित्यादि, क्षणिकत्वादसत्त्वे कथमुत्पन्ने पुत्रादौ घटादौ वाऽर्थे भूतमित्याश्वासः—अनेन मया कार्यं कार्यम्? दग्धमृत-

---

बहिरर्थत्वादिति, समासघटकपदार्थव्यतिरिक्तपदार्थप्रतिपादकत्वादित्यर्थः । सोऽन्यपदार्थो भाव इति कथमित्यत्राह-**अभावस्येति** । यथा रूपादिसदसद्विचारस्य क्षणिकं व्यतिरिक्तं भावरूपं विज्ञानमाश्रय इत्याह-**एकक्षणेति** । यद्याश्रयो भावो न स्यात्तर्हि तुच्छत्वादभाव एव न स्यादित्याह-**इतरथेति** । भावस्यानाश्रयत्वे प्रागभावप्रध्वंसाभावावुत्पत्तिविनाशरूपौ न स्याताम्, इष्टौ च ताविति भावः । कथं तदनाश्रयत्वे तौ न स्यातामित्यत्राह-**असद्विशेषत्वादिति,** अनयोरसतः-अत्यन्ताभावात्, विशेषत्वात्-विलक्षणत्वादित्यर्थः । विशेषमेवाह-**स चेति** । एतयोराश्रयभूतोऽर्थ एवेत्यर्थः । सचाश्रयभूतं वस्तु प्रागसद्रूपं सदुत्पत्त्यवस्थायां सद्भवति असत्कार्यवादाभ्युपगमात्, पश्चाच्च असदित्युच्यमानत्वात्, असदिति नञर्थे सतो विशेषणत्वात् सद्भूत्वैवासद्भवतीत्याह-**पूर्वमसद्रूपमिति** । उत्पत्तेः पूर्वमित्यर्थः, एवञ्च प्रागसद्रूपेण पश्चात् सद्रूपेण पुनश्चासद्रूपेणार्थो भवतीति भावः । अर्थोऽपि नाभावमन्तरेण भवतीत्याह-**अर्थ इतीति** । एवञ्चाभावरूपोऽर्थो भावोऽस्येति अभावार्थ इति भावः । सोऽप्यभावो भावप्रतियोगिकभावानुयोगिकाभावबोधक इति सिद्धार्थविषय एव नासिद्धार्थविषय इत्याह-**अभाव इतीति** । न भावोऽभाव इति भावोपपदं नञ्पदं सिद्धमेवार्थं बोधयति तत्रैव भावप्रतिषेधात्, नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरण इति न्यायात्, न त्वसिद्धार्थं बोधयतीति भावः । अथ भावोऽभावमन्तरेण भवितुमुत्सहते, अभावस्तु न भावमन्तरेण भवितुमुत्सहत इत्याह-**ननु रूपादिभाव इति** । व्याचष्टे-**रूपादिरर्थ इति,** उत्पत्त्यवस्थायां सत् पश्चाच्चासदित्युच्यमानत्वादित्युक्तत्वात् किं भावोऽभावमन्तरेण भवितुं न नोत्सहते? किन्तूत्सहत एवेति भावः । अभावस्तु न भावमन्तरेण भवितुमुत्सहते भावोपपदनञ्प्रयोगात् प्रसिद्धाश्रयार्थविषयत्वाच्चेत्याह-**न चाभाव इति** । निदर्शनमाह-**अब्राह्मणवदिति** ब्राह्मणभिन्नः क्षत्रियादिर्ब्राह्मणोपपदनञा बोध्यते तथाऽभाव इति भावाद्रूपादेरन्यस्य भावोपपदनञा बोधः तस्मादभावेनान्वितो

---

१ सि. क्ष० छा० भावानुन्वितो० ।

प्रध्वस्तेषु चानाश्वासः गतं कार्यमित्येष व्यवहारो नापद्येत, अविषयत्वात्, सविषयत्वे वाऽस्य व्यवहारस्य पुत्रादेरक्षणिकत्वे युक्त आश्वासः कालान्तरविनष्टत्वेऽनाश्वासश्चेत्यत्रोच्यते—नन्वविषय एवायं व्यवहारो वस्तुनि क्षणिकेऽस्यासम्भवादुक्तवत्—यथा तथाभूतदेशाभेदभवनाभावात् रूपादिसमुदायाभावः तथा तथाभूतकालाभेदभवनाभावात्तदभावतदभावपरम्परापतितमेव रूपाद्यपीति उक्तन्यायेन रूपाद्यसत्त्वे कुतोऽवतारः आश्वासानाश्वासव्यवहारस्य ? एवमेव च वैराग्यभावना—शरीरस्वजनद्रव्यादिनैर्मल्यात् क्वचिदप्यनाश्वासात् संसारहेतुरागादिप्रातिकूल्येन घटते, तदर्थश्चायमारम्भ इति गुणोपचयः क्षणिकभावे ।

यच्च व्यवहाराविषयत्वमुक्तं तन्न भवति, यस्मात्—

स हि युज्यते संवृत्या, सन्तानविषयत्वात्, उत्पादो विनाशश्च किं सूक्ष्मः महान् वा ? महोत्पादः सूक्ष्मोत्पाद इत्येवम्, महत्ता सन्ताने उत्पादविनाशयोः, सूक्ष्मता तत्प्रवृत्तेः बुभुक्षातृष्णयोरिव न तर्हि सूक्ष्मौ स्त एव, अकारणत्वात् खपुष्पवत्, सन्तानगतावेव स्तः, सकारणत्वात्, चक्रस्थघटस्येव न घटस्येव विनाश इति, अत्रोच्यते परस्परकारणत्वात्, जातिर्विनाशस्य कारणं जातेर्विनाशः, तयोर्युगपद्भावात्, 'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः'।

(**सेति**) स युज्यते संवृत्या व्यवहारस्तु, सन्तानविषयत्वात्, तद्विषयनिर्धारणार्थं उत्पादविनाशौ विकल्पयति—सूक्ष्मोऽनुमेयः, महतोत्पादेन[१] विनाशेन[चोत्पादः]विनाश इति द्वयोः प्रत्येकं द्वैविध्याच्चातुर्विध्यम्, तद्दर्शयति—महोत्पादः[२] सूक्ष्मोत्पाद इति, भङ्गोऽप्येवमित्यतिदेशेन च, तद्विवेकप्रदर्शनम्—महत्ता सन्तान उत्पादविनाशयोः, सूक्ष्मता तत्प्रवृत्तेः,—तयोर्महोत्पादभङ्गयोः प्रवृत्तिदर्शनात्, बुभुक्षातृष्णयोरिव, तत्र सन्तानस्य पुत्रघटादेर्महत्युत्पादे भवत्याश्वासः, विनाशेऽनाश्वासः, इतरयोः-सूक्ष्मोत्पादभङ्गयो-

भाव एव भवतीति भावः। यदि क्षणिकमसत् कालान्तरस्थाय्यप्यसत् तर्हि कथमाश्वासानाश्वासौ, सविषये ह्येतौ युज्येते इत्याशङ्कते—**क्षणिकत्वादिति**। आश्वासानाश्वासौ सविषयत्वे एव भूतत्वधर्माधारतया पुत्रादौ दग्धत्वधर्माधारतया तत्रैव तौ स्याताम्, न तु निर्विषयत्व इत्यत्रेष्टापत्त्या समाधत्ते—**नन्वविषय इति**, क्षणिके वस्तुनि तयोर्व्यवहारो नैवेष्टः तस्यानिर्देश्यत्वात्, उक्तं हि पूर्वं देशाभेदभवनाभावात् समुदायस्येव कालाभेदभवनाभावाद्भवन्नेव न भवतीति क्षणिकस्य रूपादेरभावपरम्पराघ्रातत्वादसत्त्वेन कुतो व्यवहारावतारः स्यादिति भावः। वस्तुनश्चेत्थं व्यवहाराविषयत्वादेव क्वचिदप्यभिमानाभावात् सर्वत्र वैराग्यभावनया संसारानुकूलरागद्वेषादिप्रातिकूल्येन प्रवर्त्तते, एतत्प्रवृत्तिसम्पादनायैवेत्थं निरूपणारम्भोऽस्माकमिति क्षणिकवादेऽयं गुणोपचय इत्याह—**एवमेव चेति**। सर्वथा व्यवहारस्य विषयः कोऽपि नास्तीति न भ्रमितव्यम्, सन्तानविषयोऽसौ, सन्तानश्च संवृत्तिसन्नित्याह—**स हि युज्यत इति**। कथं सन्तानस्य विषयता ? तस्याप्यसत्त्वस्योक्तत्वादित्यत्राह—**तद्विषयनिर्धारणार्थमिति**। स्थूलसूक्ष्मभेदेनोत्पादविनाशौ द्विभेदौ, तत्र महतोत्पादेन सूक्ष्म उत्पादः महता विनाशेन च सूक्ष्मो विनाशोऽनुमेयः, एवञ्च महोत्पादः सूक्ष्मोत्पादो महाविनाशः सूक्ष्मविनाश इति चातुर्विध्यमित्युत्पादविनाशयोः सूक्ष्मत्वमहत्त्वाभ्यां विज्ञेयम्। एतदेव दर्शयति—**महोत्पाद इति**। उत्पादविनाशयोः क्व महत्तेत्यत्राह—**महत्तेति**। घटपटादिलक्षणसन्ताने उत्पादविनाशयोर्महत्त्वम्, सूक्ष्मत्वन्तु सूक्ष्मोत्पादविनाशव्यतिरेकेण महदुत्पादविनाशयोरप्रवृत्तेस्तत्प्रवृत्त्या सूक्ष्मोत्पादविनाशावनुमीयेते यथा बुभुक्षातृष्णयोः प्रवृत्तिदर्शनात् सूक्ष्मयोर्बुभुक्षातृष्णाविति भावः। सन्ताने चाश्वासानाश्वासौ समर्थयति—**तत्रेति**। पुत्रादेरक्षणिकत्वाद्दण्डचक्रादिहेतुभिस्तस्योत्पादात् कालान्तरे विनाशहेतुसान्निध्ये विनाशाच्चानेन मया कार्यं कार्यमित्यादिव्यवहार उपपद्यते, इति भावः। उच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां श्रान्तिविश्रान्ती यथाऽनुमीयेते तथा महोत्पादविनाशाभ्यां सूक्ष्मोत्पादविनाशावनुमीयेते इत्याह—**इतरयोरिति**। ननु

१ छा० क्ष० डे० २ सि. क्ष० का० डे० महतोत्पादः।

रुच्छ्वासनिःश्वासानुमितश्रान्तिविश्रान्त्योरिवानुमेयता, इतर आह–न तर्हि सूक्ष्मौ स्त एवाकारणत्वात् खपुष्पवदुत्पादविनाशाविति, सन्तानगतावेव यौ तौ नाशोत्पादौ स्तः सकारणत्वात् चक्रस्थघटस्येवोत्पादः आहतघटस्येव विनाश इत्यत्रोच्यते सूक्ष्मोत्पादभङ्गयोरकारणत्वमसिद्धम्, परस्परकारणत्वात्, तद्विवृणोति–जातिर्विनाशस्य कारणं जातेर्विनाशः, तयोर्युगपद्भावात्, किमिवेत्यत आह–यतः 'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।' (   ) यथा तुलाया एकोऽन्तो नमत्युन्नमत्यपर एकस्मिन्नेव क्षणे तद्वद्रूपोत्पत्ति-रूपान्तरविनाशाविति ।

एवमेव च सन्तानसिद्धिः, युगपदुत्पादविनाशैः रूपनैरन्तर्यात्, अन्यथाऽनवस्थानेन क्रियाकर्त्तुरभावात् का क्रिया? उक्तञ्च–'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थितानां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते, ॥' (   ) इति, अथ वा नायमर्थो युक्तिसाध्यः प्रत्यक्षत्वात्, अन्यदेव हि रूपादि उत्पद्यमानं दृश्यते, वहतीवोदके, मन्दबुद्धेश्च सन्ताने स्रोतसि तदेवेति मिथ्याप्रत्यय उपजायते ।

(**एवमेव चेति**) एवमेव च सन्तानसिद्धिर्युगपदुत्पादविनाशैः रूपनैरन्तर्यात्–सन्ततमनवरतं भावात्, अन्यथा–उक्तन्यायादन्यथा न कारणं सर्वथा विनाशोत्पादयोरवस्थानेन क्रियाकर्त्तुः–भवितुरभावात्, एतदर्थसंवादिज्ञापनमाह–'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इति श्लोक उत्पत्तेः सकारणत्वात् प्रत्ययजन्मानः संस्काराः क्षणमात्रस्थायिनां द्वितीयक्षणमस्थितानां कुतः क्रिया तेषाम्? का तर्हि क्रिया लोके परिगृहीता क्रियते घट इति? किं कारकं करोति कुटं कुम्भकारः? इत्यादि; अत्रोच्यते–भूतिर्येषां–जन्मैव क्रिया, सैव च कारकं आत्मानमात्मनैव निर्वर्त्तयतीति जन्मैव विनाशकारणमित्युक्तम्, अथ वा नायमर्थो युक्तिसाध्यः प्रत्यक्ष-

---

महोत्पादविनाशयोः सहेतुकत्वात्सम्भवेऽपि सूक्ष्मोत्पादविनाशयोः क्षणमात्रभाविनोः निर्हेतुकत्वादभाव एवेत्याशङ्कते–**न तर्हीति ।** सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरकारणत्वमसिद्धम्, उत्पादं प्रति विनाशस्य विनाशं प्रति चोत्पादस्य कारणत्वोपगमादित्याह–**सूक्ष्मोत्पादेति ।** तावपि सूक्ष्मोत्पादविनाशौ तुलान्तयोर्नमनोन्नमनवद्युगपदेव भवतः न तु पूर्वोत्तरभावेन, युगपदपि भवतोः कारणत्वं नमनोन्नमनयोरिवाविरुद्धमिति भावः । तदेव दर्शयति–**नाशोत्पादाविति ।** ननु नमनोन्नमने नैकस्य युगपत्, किन्तु भिन्नयोरन्तयोः, उत्पादविनाशौ त्वेकस्य, तत्कथं युगपदित्यत्राह–**तद्वद्रूपोत्पत्तीति ।** तथा च नैकस्य युगपदुत्पादविनाशावपितु विनाश एकस्य अपरस्य तदैवोत्पाद इति भावः । कार्यकारणभावेनैकस्य विनाशोऽपरस्योत्पादः प्रतिक्षणं भावीति सन्तानसिद्धिः, पूर्वरूपविनाशक्षणे उत्तररूपोत्पत्तेरावश्यकत्वेन तदुत्पत्तेस्तद्विनाशस्यावश्यकत्वेन रूपधारानैरन्तर्यादित्याह–**एवमेव चेति ।** व्याचष्टे–**एवमिति ।** विनाशोत्पादयोरकारणत्वे सर्वथाऽनवस्थानादुत्पादविनाशक्रियाकर्तुः–तयोरनुभवितुरभावः स्यादित्याह–**अन्यथेति,** परस्परकारणत्वान्नमनोन्नमनवपद्भाव उत्पादविनाशयोरित्युक्तन्यायादन्यथेत्यर्थः । अत्र प्रमाणभूतां कारिकामाह–**क्षणिका इति ।** उत्पत्तिविनाशौ सकारणे तस्मात् सर्वे संस्काराः कारणजन्मत्वात् क्षणमात्रस्थायिनः, न तु केऽपि द्वितीयादिक्षणेऽवतिष्ठन्त इति न तेषां कस्याश्चन क्रियायाः सम्भव इति कारिकापूर्वार्धभावार्थं इत्याह–**उत्पत्तेरिति ।** ननु क्रियाया अभावे लोके घटः-क्रियत इति क्रियायाः करोति घटं कुम्भकार इति क्रियानिर्वर्त्तयितुः कर्त्रादेर्व्यवहारदर्शनात् का सा क्रिया? किं वा तत् कारकमित्यत्रोत्तरार्धेन समाधिमाह–**का तर्हीति, भूतिर्येषामिति,** येषां घटादीनां भूतिर्भवनं सैव क्रिया, तदेव च क्रियाकर्तृ कारकं कर्म च भवति, आत्मनैवात्मानं निर्वर्त्तयत्यात्मेत्येकस्यैव क्रियाकर्मादिरूपत्वादिति भावः । ननु किमनेनानुमानप्रयासेन, क्षणे क्षणे वस्त्वन्यदेवेति

---

१ °कारकं कर्म चोच्यत इत्यपि चतुर्थपादपाठो मिलति ।

त्वात्, अन्यदेव हि रूपाद्युत्पद्यमानं दृश्यते प्रत्यक्षत एव, तद्यथा-वहतीवोदके, यथा स्रोतसि नद्यादीनां वहदुदकमन्यदन्यदेवागच्छति, गतन्तु गतमेव, अथ च मन्दबुद्धेः-भ्रान्तस्य सन्ताने-अनवरते स्रोतसि तदेवेति मिथ्याप्रत्यय उपजायते तथा सर्वरूपादिषु ।

अत्राह—

अथ सन्तानवत् सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरप्यन्तरे वस्तु दृश्येत, सन्तानमपि वा न दृश्येत सूक्ष्मोत्पादविनाशवत्, अत्रोच्यते न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, उक्तं हि बुद्धिमान्द्यादुदकस्रोतोवदवस्थानदर्शनमसतः सन्तानस्य, प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वादेव वा न चोद्यम्, प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरेणाबाध्यत्वात्, तथा हि-'यद्येकस्मिन् क्षणे जातं............॥' ( ) इति, तस्मात् स्थितमेतत्क्षणिकं रूपादि बाह्यं वस्त्विति ।

अथ सन्तानवदित्यादि,-यथा सन्तानोऽवस्थितो दृश्यते स्वोत्पादविनाशयोरन्तरे तथा सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरप्यन्तरे वस्तु-रूपादि दृश्येत, सूक्ष्मोत्पादविनाशौ स्वान्तरेऽप्युपलभ्यमानस्वव्यपदेशहेतुकौ स्याताम्, उत्पादविनाशत्वात्, सन्तानोत्पादविनाशवत्, सन्तानगतौ वोत्पादविनाशौ स्वान्तरानुपलभ्य[स्व]-व्यपदेशहेतुकौ स्यातामुत्पादविनाशत्वात् सूक्ष्मोत्पादविनाशवत्, अत्रोच्यते, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, उक्तं हि बुद्धिमान्द्यादुदकस्रोतोवदवस्थानदर्शनमसतः सन्तानस्य, प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वादेव वा न चोद्यम्, न हि प्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षमतिक्रम्योपपन्नमिति प्रत्यक्षविरुद्धं प्रतिपत्तुं योग्यम्, प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरेणाबाध्यत्वात्, तथा हीत्येतस्यार्थस्य संवाद्युपपत्त्यन्तरवादिज्ञापकमाह-'यद्येकस्मिन् क्षणे जात' ( )मिति श्लोकः, यद्युत्पत्तिरेव विनाशकारणं न स्यात् द्वितीयक्षणाद्यवस्थानवत् सदाऽवस्थानमेव स्यात्, विनाशहेत्वभावादित्युक्तम्, न चैतदेवं भवति, तस्माज्जन्मैव विनाशहेतुरात्मनः, तद्विनाश एव चोत्तरोत्पत्तिकारणमिति स्थितमेतत्क्षणिकं रूपादि बाह्यं वस्त्विति ।

प्रत्यक्षत एव सिद्ध्यतीत्याह-**अथ वेति** । प्रवहदुदकनिदर्शनं दर्शयति-**वहतीवोदक इति,** उदकस्यान्यान्यत्वेऽपि तत्सन्ताने भ्रान्तस्य पुरुषस्य तदेवेदमित्ययथार्थप्रत्यय उपजायते तथैव रूपादावपि विज्ञेयमिति भावः । ननु महदुत्पादविनाशयोरन्तरे हि सन्तानो घटादिवस्तु दृश्यते, एवमेव सूक्ष्मोत्पादविनाशयोरन्तरेऽपि वस्तु दृश्येत, अन्यथा तद्वत् सन्तानोऽपि न दृश्येतेत्याशङ्कते-**अथेति** । व्याचष्टे-**यथा सन्तान इति** । एतदेव प्रयोगेण दर्शयति-**सूक्ष्मोत्पादविनाशाविति । स्वान्तर इति,** उत्पादविनाशयोर्मध्ये उपलभ्यमानमुत्पादविनाशव्यपदेशहेतु च वस्तु ययोस्तावुत्पादविनाशौ स्वान्तरेऽप्युपलभ्यमानस्वव्यपदेशहेतुकौ, उत्पादविनाशौ धर्मी स्वान्तरेऽप्युपलभ्यमानस्वव्यपदेशहेतुकत्वं साध्यधर्मः, उत्पादविनाशत्वादिति स्वरूपहेतुः, सन्तानस्योत्पादविनाशवदिति दृष्टान्तः । अन्यथा विपरीतानुमानमाह-**सन्तानगतौ वेति** । न हि सन्तानस्याप्यवस्थानम्, अवस्थानप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्, क्षणे क्षणे उत्पादविनाशेनान्यान्यत्वस्य दर्शनात्, न हि दृष्टे क्षणिकत्वे युक्त्याऽनुपपन्नत्वात्तत्यागः शक्यः कर्त्तुमित्याशयेन समाधत्ते-**न हि दृष्ट इति** । प्रमाणान्तराबाध्यत्वं प्रत्यक्षस्याह-**न हीति** । क्षणिकत्वानङ्गीकारे दोषमाह-**तथा हीति** । **यद्येकस्मिन्निति** 'यद्येकस्मिन् क्षणे जातं न विनश्येदकारणात् । अवस्थानं सदा तस्य स्याद्द्वितीयक्षणे यथा' ॥ इत्येवं कारिका सम्भाव्यते । भावार्थमाह-**यद्युत्पत्तिरेवेति** । कारिकोदितामापत्तिं सदावस्थानरूपां दूरीकर्तुं जन्मैव विनाशकारणं वाच्यं स एव विनाश उत्तरोत्पत्तेर्हेतुरिति क्षणिकत्वं वस्तूनां रूपादीनां सेत्स्यति सन्तानश्चेत्याह-**न चैतदेवमिति,** रूपादिवस्तु सदावस्थानरूपं न च भवतीत्यर्थः । निगमयति-**तस्माज्जन्मैवेति** । एवञ्च सन्ता-

एताभ्यामेव महोत्पादभङ्गाभ्यां सन्तानजाभ्यां क्षणिकौ सूक्ष्मोत्पादभङ्गावनुमेयौ, तद्यथा–अन्ते क्षयदर्शनादादौ क्षयोऽनुमीयते, प्रदीपशिखावत्, तथा घटादिरपि, तथा बुद्धिरपि क्षणिकेति; अयञ्च नयः प्रतिक्षणमन्यो भवन्नेव न भवतीत्यभ्युपगच्छति, अतो नियमोभयं वाञ्छति, भावनिक्षेपविकल्पमनागमतो भावमुपयोगसद्भूतं बाह्यं रूपादि प्रतिपद्यते, उपयोगैवंभूतस्य नयस्यैकदेशत्वात्, पर्यायमूलनयभेदश्चैषः, परि समन्तादयते इति पर्यायाक्षरार्थत्वात्, स एवार्थोऽस्यास्तीति पर्यायार्थिकः, इन्द्रोऽनिन्द्रश्चेन्द्रः, पुरन्दरादित्वस्य त्वनवकाश एव क्षणिकत्वात्, तद्भावस्यैव तद्भूतत्वादिति ।

(एताभ्यामेवेति) एताभ्यामेव महोत्पादभङ्गाभ्यां सन्तानजाभ्यां क्षणिकौ सूक्ष्मोत्पादभङ्गावनुमेयौ, तद्यथा-अन्ते क्षयदर्शनादादौ क्षयोऽनुमीयते, प्रदीपशिखावत्, यथा प्रदीपशिखोत्पत्तिकालादारभ्य क्षीयमाणान्ते निवातेऽपि सर्वथा क्षीयते, सा च क्षणान्तरावस्थाने सति न क्षीयेत कदाचिदित्युक्तम्, क्षीयते तु सर्वा, तस्मादादित आरभ्योपरतेत्यनुमीयते, प्रत्यक्षैव वा, तथा घटादिरपि जन्मनः प्रभृति क्षीयतेऽन्ते क्षयदर्शनादिति, तथा बुद्धिरपि क्षणिकेत्युक्तं वस्तु नयमतेन, अधुना नय उच्यते-अयञ्चेत्यादि, अयं नयः प्रतिक्षणमन्यो भवन्नेव[न] भवतीत्यभ्युपगच्छति, अतो नियमं विदधाति नियमयति चेति नियमोभयं वाञ्छति, निक्षेपचतुष्टये च भावनिक्षेपविकल्पमनागमतो भावमुपयोगं क्षायोपशमिकभावमौदयिकं पारिणामिकं वा भावमुपयोगसद्भूतं विज्ञानलक्षितं बाह्यं रूपादि प्रतिपद्यते, उपयोगैवम्भूतस्य नयस्यैकदेशत्वात्, आगमत उपयोगैवम्भूताद्विशिष्यते 'वंजण अत्थ तदुभयं एवम्भूतो विसेसेइ' (अनु० १३९) इति सामान्यलक्षणात्, पर्यायमूलनयभेदश्चैषः–[परि]समन्तादयते पर्येयत इति पर्यायाक्षरार्थत्वात्, स

ननिष्ठोत्पादविनाशाभ्यां सूक्ष्मोत्पादविनाशावानुमेयावित्याह–**एताभ्यामेवेति** । अनुमानप्रकारमाह–**तद्यथेति,** घटादेर्हि अन्ते क्षयो दृश्यते स च प्रतिक्षणं क्षयमन्तरेण न सम्भवतीति कृत्वा क्षणे क्षणे विनाशसिद्धिर्घटादेः, यथा प्रदीपस्य शिखा जन्मत आरभ्यैव क्षणे क्षणे विनश्यन्ती पर्यन्ते वाय्वाद्यभावेऽपि सर्वथा विनश्यति तद्वदिति भावः । दृष्टान्तं घटयति–**यथेति** । क्षणक्षयित्वं प्रत्यक्षसिद्धं किमुपपत्त्येत्याशयेनाह–**प्रत्यक्षैव वेति** । एवं सर्वे पदार्थाः क्षणक्षयिण इत्याह–**तथा घटादिरपीति** इदं बाह्यवस्तूपलक्षकम् । **तथा बुद्धिरपीति** । आन्तरं वस्त्वपि क्षणिकमिति भावः । कोऽसौ नय उच्यत इत्यत्राह–**अयं नय इति** । अयं नयो नियमं–विशेषं रूपादिभावत्वेन विधत्तेऽभावत्वेन च नियमयतीति नियमोभयनय उच्यत इति भावः । सप्तविधमूलनयेषु क्वायमन्तर्भवतीत्यत्राह–**निक्षेपचतुष्टये चेति** । नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणनिक्षेपचतुष्टये योऽयं भावनिक्षेपः स आगमतो नोआगमतश्चेति द्विविधः, तत्रायं नोआगमतो भावमभ्युपैति भावः–उपयोगो नोआगमतो भावश्च ज्ञानम् स च क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिको वा, सोऽस्य नयस्य विषयः उपयोगसद्भूतबाह्यवस्त्वभ्युपगमात्, अयं हि विज्ञानेन लक्षितं विषयीभूतं बाह्यं वस्तु क्षणिकमभ्युपैति, विज्ञानविषयताविशिष्टवस्तूनां क्षणिकत्वात्, भावेऽनागमत इति विशेषणादागमतो भावादेर्व्यवच्छेद इत्याह–**आगमत उपयोगेति** । **'वंजण' इति,** यत्क्रियाविशिष्टं शब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्वद्वस्त्वेवम्भूतमुच्यते, नयोऽप्युपचारादेवम्भूतः, व्यञ्जनं शब्दः, अर्थः–तदभिधेयवस्तुरूपः व्यञ्जनञ्चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभयञ्च व्यञ्जनार्थतदुभयम्, तद्विशेषयति नैयत्येन स्थापयति स नय एवम्भूतः, शब्दमर्थेनार्थं शब्देन विशेषयति । अर्थो घटस्तदैव यदा योषिन्मस्तकाद्यारूढो जलाहरणचेष्टावान्, नान्यदा, घटशब्दोऽपि चेष्टां कुर्वत एव वाचको नान्यस्येति व्यवस्थापयतीति भावः । नोआगमत उपयोगैवम्भूतनयोऽयं पर्यायार्थिकनयभेद इत्याह–**पर्यायेति** परि सामस्त्येनायते-गच्छति उत्पादं विनाशञ्चोपयातीति पर्यायः स एवार्थोऽस्यास्त्युपयोगसद्भूत इति पर्यायार्थिकः, उपयोगविषयताविशिष्टोऽर्थ इति भावः । एवंविधार्थे निदर्शनमाह–

एवास्ति उपयोगसद्भूतोऽऽर्थोऽस्येति पर्यायास्तिकः, तदुदाहरणमिन्द्र इत्यादि, इन्द्रोऽनिंद्रश्चेन्द्रः, इदि परमैश्वर्ये, पारमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रोऽन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगकाल एव वोपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तरमनिन्द्रः, तदुपरमात्, पुरन्दरादित्वस्य त्वनवकाश एव, क्षणिकत्वादुपयोगस्य तदर्थस्य च, तथा पूर्दारणकाले तदुपयोगे वा पुरन्दरः, अपुरन्दरोऽन्यदा, कस्मात्? तद्भावस्यैव तद्भूतत्वात्, स एव भाव उपयोगीभूतः पुरन्दराद्यन्यतमपर्यायः तत्क्षण एव च, नान्यदेति भावितार्थम् ।

शब्दार्थः को वेत्यत्रोच्यते—

अत्र च प्रतिक्षणातिक्रमित्वाद्वस्तुनो बुद्धिस्थो योऽर्थः स शब्दार्थः, 'यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः······।··············· कैश्चिदिष्यते ॥' (   ) इति, सन्तानवृत्तिश्च क्रमो वाक्यार्थः, वाक्यं वर्णपदादिशब्दानामानुपूर्व्योच्चारणम्, उपनिबन्धनमस्य तद्यथा–'इमाणं भंते ! (जीवाभि० ३-१-७८) इत्यादि ।

(**अत्र चेति**) अत्र च प्रतिक्षणातिक्रमित्वात् वस्तुनो बुद्धिस्थो योऽर्थः स शब्दार्थः क्षणे क्षणेऽन्यदेव च वस्तु उत्पद्योत्पद्यातिक्रामदपि बुद्धौ तिष्ठति, यस्तु क्षणो बुद्धिस्थः सोऽर्थः शब्दस्य, रूपं रसो गन्ध इत्यादि, एतत्संवाद्यागमान्तरं ज्ञापकमाह, नयवादानां जैनागमप्रभवत्वात् 'यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः' इत्यादिव्याख्यातार्थानुसारित्वान्न व्याख्यायते, कैश्चिदिष्यत इति, अस्यानागमोपयोगैवम्भूतस्य मतमित्यर्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः ? उच्यते–सन्तानवृत्तिश्च क्रमो वाक्यार्थः–विज्ञानसन्ताने रूपादिबाह्यार्थसन्ताने च य उत्पत्तिविनाशक्रमः स वाक्यार्थः, वाक्यं वर्णपदादिशब्दानामानुपूर्व्योच्चारणम्, प्रतिस्वं जन्मनिरोधानुग्रहः क्रमः, मा मंस्थाः स्वमनीषिकयैवोच्यत इति जैनागमोऽप्येवमित्यत आह–उपनिबन्धनं यतोऽस्य निर्गमः, तद्यथा–'इमाणं भंते !' इत्यादिग्रन्थो गतार्थः, अशाश्वत[त्वे]न पर्यायाणां निर्देशात् ।

इति नयचक्रटीकायां एकादशोऽरः नियमोभयभङ्गः सम्पूर्णः ॥

तदुदाहरणमिति, इदि परमैश्वर्ये, इन्दनादिन्द्रः परमैश्वर्यविशिष्टः, यदैवायं परमैश्वर्यमनुभवति तदैवायमिन्द्रः अन्यदा त्वनिन्द्र एव, तदभावेऽपि यदीन्द्रः स्याद्घटादिरपीन्द्रः स्यात्, न चैवम्, एवमिन्द्रस्योपयोगो यदा स एवेन्द्रो वर्तते, इन्द्रोऽहमिति तदैवासाविन्द्रः, इन्द्रानुपयोगकाले त्वनिन्द्र एव, उपयोगस्य विरतत्वादिति भावः । इन्द्रोपयोगकाले च न पुरन्दरादित्वस्य सम्भवः, तदानीमुपयोगस्येन्द्रप्रकाशन एवोपक्षीणशक्तित्वात्, न वाऽन्यदा तस्यैवोपयोगस्य पुरन्दरप्रकाशकत्वम्, क्षणिकत्वात्तस्य, तद्विषयीभूतेन्द्रस्य चेत्याह–**पुरन्दरादित्वस्येति** । एवं पूर्दारणकाल एवासौ पुरन्दरो नान्यदा, तदैव तस्य पूर्दारणोपयोगे सत्त्वात्, तदैव हि सः पूर्दारणविज्ञानेन लक्षितो भवति, नान्यदेति भावः । हेतुमाह–**तद्भावस्यैवेति,** पूर्दारणकाल एवोपयोगः पुरन्दरत्वेन विषयीक्रियत इति सः पुरन्दरो भवति नान्यदेति भावः । अस्य नयमतेन शब्दवाच्यमाह–**अत्र चेति** । बुद्धिप्रतिभास्येवाऽऽकारः शब्दार्थो न वस्त्वर्थः, प्रतिक्षणविनश्वरत्वादित्याह–**अत्र च प्रतिक्षणेति,** बाह्यो ह्यर्थः प्रतिक्षणविनाशित्वादन्यान्यः, तथा बुद्धिरपि, एवञ्च बाह्यधारा विज्ञानधारा च यदा समीपमुपयाति स्वस्वहेतुसामर्थ्यात् तदा बाह्यार्थप्रतिबिम्बो बुद्धौ पतति, स एव बुद्धिस्थ आकारः शब्दार्थः रूपमिति रस इति बुद्धिर्जायते तत्प्रतिबिंबितरूपाद्याकार एव शब्दार्थ इति भावः । तदुपष्टम्भकश्लोकं प्रमाणयति–**यो वार्थ इति** । वाक्यार्थमाह–**सन्तानवृत्तिश्चेति** । वाक्यमाह–**वाक्यमिति** । अस्य नयस्य निर्गमे प्रमाणं जैनागमं दर्शयति–**'इमाणं भंते'** इति, जीवाभिगमसूत्रं पूर्वमेवोपन्यस्तं वर्णादिपर्यायाणां रयणप्रभादिपृथिव्यादीनाञ्च शाश्वताशाश्वतत्वव्यवस्थापकमिति विज्ञेयम् । नयसमाप्तिमाह–**इतीति** ।

इति विजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य एकादशो नियमोभयभङ्गः समाप्तः ॥

द्वादशो नियमनियमनयः

पूर्वनयमतापरितोषकारणमुत्तरनयोत्थानम्, उत्तरोत्तरसूक्ष्मेक्षिकया च पूर्वस्य दोषदर्शनात् स्वमतसौस्थित्याभिमानाच्चारम्भ इत्यत आह—

अन्ते क्षयाद्यद्येवं ततो वस्तुवत् प्रसिद्ध्युपगमः कृतो भवति, इतरथा विनाशोत्पादयोरप्यभावः, प्रतिसन्धानाभावात्, स्थितस्यैव हि भवनमित्यभ्युपगमस्ते, वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात् निष्ठितं तर्हि तत्, अन्तवत्त्वात्, घटादिवस्तुवत्, निष्ठितत्वात् कृतकं ततश्चारब्धमपि, एवं ते पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धनाः, क्रियावत्त्वादन्तवत्, यथाऽन्ते क्रिया-भवनं सा पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबंधना तथा प्रारम्भादिक्रियाः।

(अन्त इति) अन्ते क्षयाद्यद्येवं-यदि त्वयाऽन्ते क्षयदर्शनात् स्वरसेनैव क्षय एवादावप्यनुमीयते, ततः किं ? ततो वस्तुवत् प्रसिद्ध्युपगमः कृतो भवति-वस्तुनीव वस्तुवत्, यथा वस्तुनः प्रसिद्धस्य-लोके-स्थितस्य घटादेः क्षयो भवतीति प्रसिद्धिः, तथा त्वयाऽभ्युपगतमिति प्राप्तम्, विनाशस्योत्पादस्य च प्रसिद्ध-वस्तुविषयत्वात्, इतरथा खरविषाणस्येव स्थित्यभावे विनाशोत्पादयोरप्यभावः, प्रतिसन्धानाभावात्, स्थितस्य-भवत एव हि भवनमिति-इत्थमभ्युपगमस्ते, तस्माद्वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात्–इत्यस्माद्धेतोर्भवत एवोत्पादविनाशप्रतिसन्धानात् व्यवस्थितं वस्तु सिद्धं नियतमुत्पादविनाशव्यपदेशभाग्भवतीत्येतन्नियमं नातिक्रामति, खपुष्पादिवैलक्षण्येनोपहितमतो वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात् निश्चयेन स्थितं निष्ठितं–व्यवस्थितमिति गृहाण त्वद्वचनादेवेत्यत आह–निष्ठितं तर्हि तत्, अन्तवत्त्वात्, घटादिवस्तुवदिति दृष्टान्तः, यथा मृत्पिण्डाद्यवस्थानामन्ते घटोऽस्त्येव, अवस्थित एवान्तवत् तथा मृल्लोष्टाद्य-

---

अस्यापि मतस्यासाधुता, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति शब्दव्युत्पत्तौ ठन्प्रत्ययषष्ठीभ्यां सहभाविभावाभ्युपगमात्, अनिर्वहनीयत्वादभावपरमार्थवस्तुत्वादसिद्ध्यादिभ्यः शून्यत्वमेव वस्तुन इति नियमनियमनयं व्याख्यातुं पूर्वनयमतेऽपरितोषं दर्शयति–**पूर्वनयमतेति,** अपरितोष एवोत्तरनयोत्थाने कारणम्, अपरितोषश्च सूक्ष्मेक्षिकया विचारे क्रियमाणे पूर्वनयमते दोषदर्शनान्निरूप्यमाणस्वमते तदभावाभिमानाच्चैतन्नयारम्भ इति भावः। पूर्वनये दोषमुद्भावयति–**अन्ते क्षयादिति**। अन्ते क्षयदर्शनादादौ स्वत एव क्षयोऽनुमीयते प्रदीपशिखावदिति हि तव मतम्, अत्र हेतुरन्ते क्षयदर्शनम्, तच्च दर्शनं लोके स्थितस्य वस्तुनो विषयम्, स्थितं च वस्तु प्रकर्षेण सिद्धं प्रसिद्धमिति तथाविधदर्शनाभ्युपगमे प्रसिद्धेः–स्थितेरप्यभ्युपगमः कृतो भवति, तथा च विनाश उत्पादश्च प्रसिद्धवस्तुविषयः, वस्तुनः स्थित्यभावे खरविषाणस्येवोत्पादविनाशयोरप्यभावः स्यादित्याह–**यदि त्वयेति**। स्थित्यभावे हि यस्यैवोत्पादस्तस्यैव विनाश इति प्रतिसन्धानं न स्यादित्युत्पादविनाशाभावे हेतुमाह–**प्रतिसन्धानाभावादिति**। भवनव्यपदेशः सत्त्व एव घटतेऽन्यथा कुतोऽस्यात्यन्तभेदस्याअत्यन्तान्वयरहितस्य भवतीति भवनलक्षणेनालक्ष्यस्योपाख्येति स्वीकारात् त्वयापि स्थितस्य भवनमित्यभ्युपगतमित्याह–**स्थितस्येति,** अत एव प्रतिसन्धानं भवतीति भावः। एवञ्च वस्तुनो या व्यवस्था तस्याः सिद्ध्या उपहितो-व्याप्तो यो नियमः–खपुष्पादिवैलक्षण्येन स्थित एवोत्पादविनाशभाग्भवतीति नियमस्तदनतिक्रमाद्वस्तुनो निष्ठितत्वं त्वयाप्यभ्युपगतमेवेत्याह–**तस्माद्वस्त्विति**। वस्तु निष्ठितमन्तवत्त्वात्, घटादिवत्, यदन्तवत्तन्निष्ठितं यथा घटो मृत्पिण्डाद्यवस्थानामन्तेऽवस्थित एवैवं वस्त्वपि, यन्निष्ठितं तत्कृतकं कृतकञ्च यत्तदारब्धमपि घटादिवदेवेति वस्तुन आरम्भक्रियानिष्ठा हेतुहेतुमद्भावेन साधयति–**निष्ठितंत र्हि तदिति**। आरम्भक्रियानिष्ठानामेकहेतुना प्रथमतः

वस्थास्वपि निष्ठितत्वात् कृत[कं] तद् वस्तु, घटादिवस्तुवदेव, ततश्च—कृतकत्वात् आरब्धमपि घटादिवस्तुवदेवेति हेतुहेतुमद्भावेनारम्भक्रियानिष्ठाः साधिता उपसंहृत्यैकत्वेनाह—एवं त इत्यादि-आरम्भक्रियानिष्ठाः पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धनाः, क्रियावत्त्वादन्तवत्-अन्त इवान्तवत्, यथाऽन्ते-निवृत्तिकाले क्रियाभवनं जन्म आत्मलाभः, सा पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धना तथा प्रारम्भादिक्रियाः ।

इतर आह—

कुतः क्रिया क्षणिकत्वात्? उक्तं हि—'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया ॥ भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति, अत्रोच्यते तिष्ठतु तावत् यदन्यत्, क्षणिकशब्दार्थतत्त्वान्वीक्षणादेव क्षणभङ्गवादभङ्गः शक्यते कर्त्तुम् क्षणिकशब्दस्य अस्त्यस्तिमत्सम्बन्धवाचिठन्प्रत्ययान्तस्य स्थितार्थाभावेऽभिधेयाभावप्रसङ्गात्, न हि क्षणिकशब्दः क्षणेन स्वेन तद्वता चार्थेन स्वामिना विनाऽर्थवान्, यथा चैत्रेण स्वामिना दण्डेन स्वेन च विना दण्डिक इति शब्दो नार्थवान् इति तत्समवस्थातृद्रव्यार्थलक्षणार्थो भवितुमर्हति, इतरथा क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति न शब्दार्थो घटते ।

(**कुत इति**) कुतः क्रिया क्षणिकत्वात्—अन्तेऽपि च क्रियात्वं नाभ्युपगम्यते मया, क्षणिकत्वाद्[1]भावत्वात् प्रागुक्तविधिना, किमङ्ग! पुनरारम्भकरणाद्यवस्थासु अवस्थितवस्त्वनभ्युपगमात्, उक्तं हीत्यादिज्ञापकं-'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिश्लोकः प्राग्व्याख्यातार्थं इति न पुनर्व्याख्यायते, अत्रोच्यते—तिष्ठतु तावदित्यादि, यदन्य[त्—]द्रव्यार्थनयदर्शनस्योक्तक्षयोत्पादादिक्रियाऽभ्युपगमादि वस्तुव्यवस्थासिद्धिकरणं वा क्षणभङ्गाभावप्रतिपादनसमर्थम्, तत्तावदास्ताम्, किं तर्हि? क्षणिकशब्दार्थतत्त्वान्वीक्षणादेव क्षणभङ्गवादस्य भङ्गः शक्यते कर्त्तुम्, कस्मात्? क्षणिकशब्दस्य स्वस्वामिलक्षणास्त्यस्तिमत्सम्बन्धवाचिठन्प्रत्ययान्तस्य स्थितार्थाभावेऽभिधेयाभावप्रसङ्गात्, तद्दर्शयति—न हि क्षणिकश[2]ब्द इत्यादि, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः, यथा

विद्यमानवस्तुनिबन्धनत्वं साधयति-**एवं त इत्यादीति। पूर्वेति,** प्राक् निर्वृत्तं यद्वस्तु तदाधारा आरंभक्रियानिष्ठाः, क्रियावत्त्वात्, अन्तवत्, निवृत्तिकाले यथा विनशनक्रिया पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धना तथैवाऽऽरम्भादिक्रिया इति भावः। ननु निवृत्तिकालेऽपि वस्तुनः क्षणिकत्वेन तथाविधकालाभेदभवनाभावादभावपरम्पराघ्रातत्वेनासत्त्वान्नास्ति क्रिया, तस्मादसिद्धो हेतुरित्याशङ्कते—**कुतः क्रियेति**। व्याकरोति—**अन्तेऽपि चेति,** निवृत्तिकालेऽपि नास्ति क्रिया, क्षणिकत्वात्, अभावपरम्पराघ्रातत्वेनासत्त्वाच्च, तस्मात् प्रारम्भणकाले क्रियाकाले च का कथा क्रियाया इति भावः। एतद्विषय एव प्रागुक्तां कारिकां स्मारयति—**क्षणिका इति**। ननु द्रव्यार्थवादिनयदर्शनेन विनाशोत्पादादिक्रियाभ्युपगमो वस्तुव्यवस्थासिद्धिश्च यस्मात् क्षणभङ्गो निवर्त्तते स तावदास्ताम्, क्षणिकशब्दार्थपर्यालोचनयाऽपि क्षणभङ्गवादो न सेत्स्यतीत्याह—**तिष्ठतु तावदित्यादीति**। क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति क्षणिकशब्दव्युत्पत्तिः, 'अत इनिठनौ' इति ठन्प्रत्ययः, 'ठस्येक' इति तस्येकादेशः, अस्येति षष्ठ्या स्वस्वामिभावसम्बन्धः प्रतीयते, यस्य क्षणः स्वं स स्वामी, एवञ्च क्षणिकशब्देन क्षणस्य स्वामी कश्चित् स्थितोऽर्थः प्रतीयते, स्थितार्थभावे तु तच्छब्दस्य न कोऽप्यभिधेयः स्यादित्याह—**क्षणिकशब्दार्थेति**। कथं क्षणवादभङ्ग इत्यत्राह—**क्षणिकशब्दस्येति,** क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकः, षष्ठ्यर्थोऽस्त्यस्तिमत्सम्बन्धः, स च स्वस्वामिभावरूपः, इदंशब्दवाच्योऽस्तिमान् स्वामी, क्षणोऽस्तित्ववान् स्वं, तद्वाचकः क्षणिकशब्दः, स च स्थितार्थाभावे न युज्यत इति भावः। दण्डोऽस्यास्तीति दण्डिक इत्यत्र दण्डः स्वं दण्डिकश्चैत्रादिः स्वामी, तयोरन्यतरेण विना दण्डिक इति न भवति तथा क्षणिक इत्यपि स्वं क्षणः स्वामी क्षणवान् तयोर्विना नार्थवानित्याह—**क्षणोऽस्यास्तीतीति**। तस्य सार्थकत्वं कथमित्यत्राह—

१ सि० अभावत्यादितिनास्ति । २ सि. क्ष. छा० डे °शब्देत्यादि ।

दण्डोऽस्यास्तीति दण्डिकः यथा चैत्रेण दण्डसम्बन्धिना स्वामिना दण्डेन स्वेन च विना दण्डिक इति शब्दो नार्थवान् भवत्येवं क्षणिकशब्दोऽपि क्षणेन स्वेन तद्वता चार्थेन स्वामिना विना नार्थवान्, मा भूत्सोऽनर्थक इति तस्य क्षणस्य स्वस्य दण्डस्येव चैत्रः, ठन्प्रत्ययान्तः स्वामी, तेन सह समवस्थातुं शीलं यस्य स द्रव्यार्थलक्षणोऽर्थो जैनेन्द्रव्युत्पादितोत्पादविनाशपर्यायार्थसहचारिस्थितद्रव्यार्थवद्भवितुमर्हति, इतरथा क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति न शब्दार्थो घटते, असाववस्थातृद्रव्याभिधायित्वे घटते ।

अत्राह—

न, पर्यायविषय एव, तत्स्वामित्वोपपत्तेः द्विविधो हि क्षणः उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च तदनन्तरम्, एवं निरन्तरयोः क्षणयोरुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षण एव तस्यास्तिपर्यायस्य पर्यायः तस्मात् क्षणिकशब्दः क्षणस्य क्षणान्तरापेक्षत्वादर्थवानिति न दोषः, एवमपि न युक्तोऽपदेशः, इतराभावे इतरस्यापि तथाभावात्, यथा दण्डाभावे चैत्रो दण्डिक इति नोच्यते, एवं यदा दण्डो विद्यते चैत्रोऽपि तदाऽस्य तेन तद्वत्ताऽपदेश्यता स्यात्, इह तु यदोत्पत्तिक्षणः न तदा विनाशक्षणः यदा विनाशक्षणो न तदोत्पत्तिक्षण इतीतरकाले इतरस्यात्यन्तमसत्त्वात् प्राच्यापदेशो न युक्तः ।

(**नेति**) न, पर्यायविषय एव, तत्स्वामित्वोपपत्तेः पर्यायान्तरस्य स्वपर्यायान्तरं स्वामीत्यस्त्यस्तिमत्सम्बन्ध उपपद्यते तदर्थवाची तत्प्रत्ययः, तद्व्याचष्टे—द्विविधो हि क्षण इत्यादि, द्वैविध्यं—उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च, तदनन्तरमिति तस्य स्फुटीकरणम्, अनन्तरवचनमन्तरालावस्थानव्युदासार्थम्, नान्तराले किञ्चिदस्तीति, अस्यार्थस्य दर्शनार्थं तस्य ज्ञापकं प्रागुक्तं 'नाशोत्पादौ समं यद्व[न्नामो]न्नामौ तुलान्तयो'रिति, एवं निरन्तरयोः क्षणयोर्योऽयमुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षणः, स चापकर्षकालपर्यन्तकालच्छेदेन बुद्ध्या विभज्यमानो यो विभागं न प्रयच्छति स एव तस्यास्तिपर्यायस्य पर्यायः, तस्मात् क्षणिकशब्दः क्षणस्य

मा भूदिति । दण्डस्य यथा स्वामी चैत्रादिः, तेन सह चैत्रादेः समवस्थानस्वभावत्वमस्त्येवं क्षणस्यापि ठन्प्रत्ययान्तार्थः स्वामीति तेन सह समवस्थानस्वभावेन द्रव्येण तद्वता भवितव्यम्, तथाविधं च जैनशासनप्रतिपादितमुत्पादविनाशपर्यायसहचारिस्थितद्रव्यमेव, तथाऽभ्युपगम एव क्षणिकशब्दार्थो युज्यते नान्यथेति भावः । ननु स्वस्य पर्यायस्य पर्यायान्तरमेव स्वामी, न तु द्रव्यम्, येन द्रव्यार्थाभ्युपगमः स्यात्, तावतैवास्त्यस्तिमत्सम्बन्धस्योपपत्तिरित्याशङ्कते—**नेति** । क्षण उत्पादपर्यायोऽस्य विनाशपर्यायान्तरस्यास्तीति क्षणिक इत्यस्त्यस्तिमत्सम्बन्धे ठन्प्रत्ययस्योपपत्तेः पर्यायविषयमेव क्षणिकपदमित्याह—**न पर्यायविषय एवेति** । इममेव भावार्थं वर्णयति—**द्विविधो हीति**, उत्पत्तिक्षणो विनाशक्षण इति पौर्वापर्येण क्षणस्य द्वैविध्यम्, तदपि पौर्वापर्यमव्यवहितम्, तेन न तयोरन्तरालेऽवस्थातृद्रव्यस्य सम्भवः, तस्मान्नान्तराले किञ्चिदस्तीति भावः । तत्रैव ज्ञापकं प्रागुदितं दर्शयति—**नाशोत्पादाविति**, तुलादण्डस्यान्तयोः नमनोन्नमनवत् समकालमुत्पादविनाशौ विज्ञेयावित्यर्थः । स्वाभिप्रायमाह—**एवं निरन्तरयोरिति** । अव्यवहितयोः क्षणयोः मध्ये योऽयमुत्पत्तिक्षणानन्तरो विनाशक्षणः स कालस्यापकर्षरूपतो बुद्ध्या विभज्यमानस्य पर्यन्तभूतः यस्य विभागो न भवितुमर्हति तथाविधः स एव चास्तिमान् पर्यायः स्वपर्यायस्य, तथा च क्षणिकशब्दस्य क्षणानन्तरक्षण उत्पत्त्यनन्तरविनाश इत्यर्थः, तथा च क्षणस्य क्षणान्तरापेक्षत्वात् क्षणिकशब्दोऽर्थवानिति शङ्कितुरभिप्रायः । क्षणानन्तरक्षणस्य क्षणिक इति व्यपदेशो नोपपद्यते तयोर्युग-

क्षणान्तरापेक्षत्वादर्थवान्, अतो न दोषो न द्रव्यार्थपरिग्रहोऽवस्थितार्थोऽन्वेष्य इति, अत्रोच्यते-एवमपि न युक्तोऽपदेशः क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति पर्यायान्तरापेक्षयापि, कस्मात् ? इतराभावे इतरस्यापि तथाभावात्, यथा दण्डाभावे दण्डिकत्वेन चैत्रस्याप्यभावात् चैत्रो दण्डिक इति नोच्यते, एवमुत्पत्तिक्षणस्य विनाशक्षणस्य वा परस्परमितरकाले इतरस्यात्यन्तमसत्त्वात् विनाशक्षण उत्पत्तिक्षणवान्न भवति, उत्पत्तिक्षणोऽपि विनाशक्षणवान्न भवति, खरविषाणवत्त्वेन चैत्राभाववत्, यदा दण्डो विद्यते चैत्रोऽपि विद्यते तदाऽस्य-चैत्रस्य तेन-दण्डेन तद्वत्ता-दण्डवत्ता दण्डिकत्वाद्यपदेश्यता स्यादिति वैधर्म्येण निदर्शनम्, इह तु यदोत्पत्तिक्षण इत्यादिनोत्पत्तिविनाशक्षणयोरसाधर्म्यं दर्शयति यावत् प्राच्यापदेशो न युक्त इति गतार्थम् ।

यदपि च नाशोत्पादावित्यादिनिदर्शनमुक्तं तदप्यर्थान्तरयोर्युगपत् सतोस्तुलान्तयोर्युज्यते न तु विद्यमानाविद्यमानयोः क्षणयोः यौगपद्यम्, घटखपुष्पयोरिव, अथ स्याता कश्चिद्वयोरपि क्षणयोः उत्तरः पूर्वो वा, तिष्ठतु नाम, तथापि यद्येकस्मिन् क्षणे जात इत्यादित्वयोक्तो दोष एव, एवं तावद्द्वयोः क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणिकशब्दार्थोऽसन् यद्यन्तरालावस्थानव्युदासार्थत्वेऽनन्तरशब्दस्य ।

(**यदपि चेति**) यदपि च 'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयो'रिति हेतुहेतुमत्त्वनिदर्शनमुक्तं तदप्यर्थान्तरभूतयोर्युगपत्सतोस्तुलान्तयोर्युज्यते, न तु विद्यमानाविद्यमानयोः क्षणयोर्यौगपद्यं घटखपुष्पयोरिव, तथा नत्युन्नत्योश्च सत्त्वाद्यौगपद्यं स्यात्, अतोऽसमञ्जसता दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः, स्यान्मतं नाशोत्पत्त्योर्यौगपद्ये सति सामञ्जस्याददोष इत्येतच्चायुक्तम्, नश्यतः सत्त्वे सहावस्थानमुत्पद्यमानेन, असत्त्वे तदवस्थमसमञ्जसत्वम्, तस्मादयुक्त उत्तरेण प्राच्यस्यापदेशः क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति,

---

पदविद्यमानत्वादित्याशयेन समाधत्ते-**एवमपीति,** पर्यायान्तरापेक्षयापि क्षणिक इत्यपदेशो न युक्त इत्यर्थः । कारणमाह-**इतराभाव इति,** एकस्याभावेऽपरस्य तद्वत्त्वेन व्यपदेशाभावादित्यर्थः । दृष्टान्तमाह-**यथेति,** न हि दण्डाभावे चैत्रो दण्डिकत्वेन व्यपदिश्यते, अविद्यमानस्य सम्बन्धाभावादिति भावः । दार्ष्टान्तिकमाह-**एवमुत्पत्तिक्षणस्येति,** उत्पत्तिक्षणे विनाशो नास्ति, अतो विनाशवानुत्पत्तिक्षण इति न व्यपदिश्यते, विनाशक्षणेऽप्युत्पत्तिर्नास्ति तस्मान्न विनाशक्षण उत्पत्तिमानिति व्यपदिश्यते द्वयोरेकतरकालेऽन्यतरस्याभावात्, न हि चैत्रः खपुष्पवत्त्वेन व्यपदिश्यत इति भावः । तर्हि कथं व्यपदेशः स्यादित्यत्राह-**यदा दण्ड इति,** विद्यमानयोरेव स्वस्वामिनोस्तद्वत्त्वेन व्यपदेशः दण्डचैत्रयोः सतोरेव चैत्रो दण्डिकत्वेन व्यपदिश्यते, अयं वैधर्म्यदृष्टान्तो व्यपदेशाभावसाध्यतायामिति भावः । तथाऽत्र नास्तीत्याह-**इह त्विति,** उत्पत्तिविनाशक्षणयोरेकतरकालेऽन्यतरस्याभावान्न विनाशक्षण उत्पत्तिक्षणवत्त्वेन व्यपदिश्यत इति भावः । तुलान्तनमनोन्नमननिदर्शनमपि न युक्तमित्याह-**यदपि चेति** ननूत्पादविनाशयोः परस्परकारणत्वे निदर्शनतयोपन्यस्ते नमनोन्नमने तुलान्तयोरयुक्ते, ते अपि तुलान्ताभ्यां व्यतिरिक्ते युगपद्विद्यमाने च, न तूत्पादविनाशौ व्यतिरिक्तौ युगपद्विद्यमानौ चेति कथं तन्निदर्शनमुत्पादविनाशयोर्युज्यत इत्याह-**यदपि च नाशोत्पादाविति,** तस्मान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यताऽस्ति येन तयोस्तन्निदर्शनं स्यादिति भावः । ननूत्पादविनाशयोरपि नत्युन्नत्योरिव यौगपद्यमस्तीति निदर्शनं समञ्जसमेवेत्याशङ्कते-**स्यान्मतमिति** । उत्पादाश्रयवद्विनाशाश्रयस्य यदि सत्त्वं स्यात्तर्हि उत्पादेन विनाशस्य सहावस्थानं स्यात्, असत्त्वे चायौगपद्यात्तन्निदर्शनमसमञ्जसमेवेति समाधत्ते-**नश्यत इति,** विनाशाश्रयस्येत्यर्थः । एवञ्च प्राच्येनोत्पादेन विनाशस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न सङ्गतिमङ्गतीत्याह-**तस्मादयुक्त इति,** यस्मान्नास्ति सहावस्थानं

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °दण्डिकताद्यापादनपेतास्या० ।

स्यादियमाशङ्का तयोः पूर्वोत्तरक्षणयोरन्यतरस्तिष्ठत्यतो व्यपदेशसिद्धिरिति प्रत्युच्चारणं–अथ स्थाता कश्चिद्द्वयोरपि क्षणयोरिति, यद्युत्तरो यदि पूर्वो यथेच्छसि तथास्तु, तिष्ठतु नाम, तथाऽभ्युपगतेऽपि दोषस्तयोः 'यद्येकस्मिन् क्षणे जात' इत्यादिश्लोकः त्वयोक्तो विनाशकारणाभावादनन्तकालावस्थानमिति दोष एव, एवं तावद् द्वयोः क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणिकशब्दार्थोऽसन्, यद्यन्तरालावस्थानव्युदासार्थत्वेऽनन्तरशब्दस्य व्यपदेश[ा]सिद्धिरिति वर्त्तते ।

अथाऽऽत्मलाभोऽनन्तरविनाशधर्मसम्बन्धी, अनन्तरश्चासौ विनाशश्चेति समासत्वात् तस्यैव विनाशधर्मसम्बन्धिनः सम्बन्ध्यस्तीति क्षणिकशब्दोऽर्थवान्, न हि रूपादिविनाशक्षणव्यतिरिक्तः उत्पादक्षणः, तेनैव स क्षणिकः, अव्यतिरेकेऽपि सम्बन्धवाचिप्रत्ययदर्शनात् यथोत्पादवानङ्कुरः, स चोत्पादादनर्थान्तरमङ्कुरः, उत्पादातिरिक्ताङ्कुरासम्भवात् ।

अथाऽऽत्मलाभ इत्यादि, अथ मा भूदेष दोष इत्युत्पत्त्यनन्तरविनाशक्षण इत्यनन्तरशब्द उत्पत्तिक्षणमेवाह, स एवोत्पत्तिक्षणोऽनन्तरविनाशी समानाधिकरणसमासत्वात् तद्दर्शयति-अनन्तरश्च[ासौ] विनाशश्चेत्यादिना, तस्यैवात्मलाभस्य विनाशधर्मसम्बन्धिनः सम्बन्ध्यस्तीति क्षणिकशब्दोऽर्थवान्, तद्व्याख्या–न हि रूपादिविनाशेत्यादि यावत् क्षणिकः, कास्य सम्बन्धिवाचिप्रत्ययता दृष्टेति चेत् दृश्यते यथोत्पादवानङ्कुर इत्युच्यते, नाङ्कुरव्यतिरिक्त उत्पादो न चोत्पादव्यतिरिक्तो मतुबर्थो[1]ऽयमुत्पादवानङ्कुर इत्युच्यते, दृष्टश्चायं व्यपदेशस्तेनैव तस्य, [तदेव] दर्शयन्नाह–स चोत्पादादनर्थान्तरमङ्कुरः, कस्मात् ? उत्पादातिरिक्ताङ्कुरासम्भवादिति ।

तयोस्तस्माद्विनाशेन प्राच्यस्योत्पादस्य प्राच्येन वोत्तरस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्त इति भावः । ननूत्पत्तिक्षणे विनाशस्य विनाशक्षणे वोत्पादस्यावस्थितिरस्ति, ततश्च व्यपदेशो भवतीति शङ्कते–**स्यादियमाशङ्केति** । तर्हि सदावस्थानं विनाशकारणाभावादिति 'यद्येकस्मिन् क्षणे जातो न विनश्येदकारणात् । अवस्थानं सदा तस्य स्याद्द्वितीयक्षणे यथा' ॥ इत्येवमर्थकारिकया त्वयैवोक्तो दोषो दुरुद्धर इति समाधत्ते–**तथाऽभ्युपगतेऽपीति,** द्वयोरन्यतरावस्थानाभ्युपगमेऽपीत्यर्थः । एवञ्चोत्पत्तिक्षणो विनाशक्षणश्च तदनन्तरमित्यत्रानन्तरशब्दस्यान्तरालेऽवस्थितेर्व्युदासार्थत्वे द्वयोरपि क्षणयोः सम्बन्धाभावात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति शब्दार्थोऽसन्नेव स्यात्, तथा च न तेन शब्देन व्यपदेशः स्यादित्युपसंहरति–**एवं तावदिति** । नन्वनन्तरशब्दो व्यवधानाभावसूचकः, व्यवधानाभावश्चोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणजन्यविनाशे इवोत्पादक्षणभाविनि विनाशेऽप्यस्तीति विनाशवानुत्पादो भवितुमर्हतीति क्षणिकव्यपदेशोऽर्थवानित्याशङ्कते–**अथाऽऽत्मलाभ इति** । उत्पत्त्यनन्तरविनाशक्षण इत्यत्रानन्तरशब्द उत्पत्तिक्षणमेवाह, अन्तरालाभावस्योत्पत्तिक्षणेऽपि सत्त्वात्, अत उत्पत्तिक्षणोऽनन्तरविनाशक्षणवान् भवति, एवञ्चोत्पत्तिरूपोऽनन्तर एव विनाश इति कृत्वा समानाधिकरणत्वादनन्तरश्चासौ विनाशश्चेति समानाधिकरणकर्मधारयसमास उपपद्यत इत्याशयेन व्याकरोति–**अथ मा भूदिति** । आत्मलाभो विनाशधर्मसंबन्धी, अत एव उत्पादस्य विनाशः संबंधीभूतः क्षणः सोऽस्तीति क्षणिक उत्पाद उच्यते इत्याह—**तस्यैवेति** । उत्पादक्षणस्य विनाशधर्मसम्बन्धित्वाद्रूपादिविनाशक्षणव्यतिरिक्तो नोत्पादक्षण इति तयोरेकता, तथापि क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति स्वेनैव स्वस्य व्यपदेशो भवत्येव, अव्यतिरेकेऽपि सम्बन्धिनोः सम्बन्धवाचिमतुप्प्रत्ययान्तदर्शनादित्याशयेन प्रोक्तग्रन्थं विशदयति–**तद्व्याख्येति** । नन्वव्यतिरेके सम्बन्धवाचिमतुप्प्रत्ययान्तत्वं क्व दृष्टमित्याशङ्क्य समाधत्ते– **कास्येति । उत्पादवानङ्कुर इति,** अङ्कुर एवोत्पाद उत्पाद एव चाङ्कुरः, न हि तयोर्भेदोऽस्ति तथापि सम्बन्धवाचिमतुप्प्रत्ययान्तेनोत्पादवानङ्कुर इति व्यपदेशो दृश्यते तथैवात्रापीति भावः । नन्वेवंवदता त्वयैव क्षणिकशब्दार्थो विनाशित इत्याशयेनोत्तरयति–

---

1 सि. क्ष. धा. डे. °मनुपर्बोय

अत्र ब्रूमः—

एवन्ते य उत्पादः स एवार्थः, तेनैव स एव क्षणिकः उत्पादातिरिक्तार्थासम्भवादिति अनिष्टं क्षणिकशब्दार्थसमीकरणव्याख्याप्रवृत्तेन त्वया तस्यैव विनाशितत्वात् न च स यस्य क्षणः न च योऽसौ क्षणः येन सम्बन्धात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते ततोऽन्यः अतः साधनधर्मविकल इत्येतच्च न तुल्यपरिप्रश्नार्थत्वात्, कारणेन कार्यमात्मसात्कृतं कार्येण कारणमिति कतरस्य वचसा विशेषनिर्णयोऽस्त्वावयोः ?

एवं ते य उत्पाद इत्यादि, तन्मतप्रत्युच्चारणं, यावदुत्पादातिरिक्ता[र्था]सम्भवादिति, तच्चानिष्टं तवैव, क्षणिकशब्दार्थसमीकरणव्याख्याप्रवृत्तेन त्वया तस्यैव विनाशितत्वात्, कथमिति तद्दर्शयति—न च स यस्य क्षण इति न च सोऽर्थो यस्तेन क्षणेन तद्वान् क्षणिक उच्यते, स्वामी दण्डेनेव दण्डिकश्चैत्रः, त्वयैवोत्पादक्षणातिरिक्तार्थासम्भवादित्युक्तत्वात्, न च योऽसौ क्षण इति, सोऽपि क्षणो नास्ति, यश्चैत्र-दण्डित्वव्यपदेशकारणदण्डस्थानीयस्वत्वभाक्, येन सम्बन्धात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते ततोऽन्यः अतः साधनधर्मविकल इत्येतच्च न, तुल्यपरिप्रश्नार्थत्वात्, वयं ब्रूमः कारणेन कार्यमात्मसात्कृतं तन्त्वादिना पटादीति, त्वं ब्रूयाः कार्येण पटादिनाऽऽत्मसात्कृतास्तन्त्वादय इति कतरस्य वचसा विशेषनिर्णयोऽस्त्वावयोः।

विशेषमपि चात्र ब्रूमः—

ननूक्तवस्तुवादवत् भवच्च कारणं द्रव्यमेव कार्यमात्मसात्करोति, तस्माद्भवता द्रव्येण

एवं त इति, एवं वदतस्तवेत्यर्थः। पर्यायार्थिको हि क्षणिकवादः तन्मते पर्याया एव तत्त्वं न कश्चित् स्थितपदार्थः, एवञ्चोत्पादव्यतिरिक्तो नार्थः, अतस्तेनैव स तद्वान् भवति क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति, यद्येवं तस्याभ्युपगमस्तर्हि तेनैव क्षणिकशब्दार्थसमीकरणप्रवृत्तेन क्षणिकशब्दार्थौ विनाशित इत्याशयेन व्याचष्टे—**तच्चानिष्टं तवैवेति ।** कथं तेन विनाशित इत्यत्राह—**न च स इति,** न च सोऽस्ति यस्यासौ क्षणः स्यादित्यर्थः। उत्पादव्यतिरिक्तार्थाभावेन यदा क्षणोऽस्ति न तदाऽर्थोऽस्ति यतस्तेन क्षणेन सोऽर्थस्तद्वानिति कृत्वा क्षणिक उच्येतेत्याशयेन व्याचष्टे—**न च सोऽर्थ इति,** यद्वोत्पत्तिक्षणस्यैव विनाशक्षणत्वाद्विनाशेन चोत्पत्तेरात्मसात्कृतत्वादसत्त्वम्, तेन दण्डेन स्वामी चैत्रो यथा दण्डिक उच्यते तथा क्षणिक इति स नोच्येत उत्पादादतिरिक्तस्तु नास्ति कश्चित्, यः क्षणिको भवेत्, त्वयैव उत्पादातिरिक्तार्थाभावादित्युक्तत्वादिति भावः अथवोत्पादाश्रयीभूतस्य द्रव्यस्थानीयस्यार्थस्याभावात् क्षणिकशब्दो नार्थवानिति भावः। क्षणोऽपि नास्ति दण्डस्थानीयः, यस्य सम्बन्धात् स क्षणिकव्यपदेशभाक् स्यादित्याह—**न च योऽसौ क्षण इतीति,** उत्पादातिरिक्ताभावादेव, विनाशेनोत्पादस्यात्मसात्कृतत्वाद्विनाशस्य चासद्रूपत्वादिति भावः। उत्पादवानङ्कुर इत्यत्र तूत्पादातिरिक्तोऽङ्कुरो द्रव्यस्थानीयोऽस्ति न तथाऽत्रेति साधनधर्मविकलस्तव पक्ष इत्याह—**अत इति ।** एवं त्वया क्षणिकशब्दार्थ एव विनाशितस्तथाप्येतन्न सम्यक् परिप्रश्नार्थस्य समानत्वात् त्वया पर्यायवादिना य एवोत्पादः स एवार्थ इत्युत्पादेनार्थ आत्मसात्कृत इत्युच्यते, मया द्रव्यार्थवादिना य एवार्थः स एवोत्पाद इत्यर्थेनोत्पाद आत्मसात्क्रियत इत्युच्यते, तथा च परिप्रश्नस्य समानत्वाद्विशेषनिर्णायकाभावात् कतरद्वचनं साध्विति भाव्यमिति दर्शयति—**इत्येतच्च नेति ।** य एवोत्पादः स एवार्थ इत्यभ्युपगम्य क्षणिकव्यपदेशसाधनं न युक्तमिति भावः । तुल्यतामाविष्करोति—**वयं ब्रूम इति,** द्रव्यार्थवादिनो वयं कारणेन कार्यमात्मसात्क्रियते तस्माद्द्रव्यप्राधान्यमिति ब्रूम इत्यर्थः"। **त्वं ब्रूया इति,** पर्यायवादी त्वं कार्येण विनाशादिना कारणमुत्पत्तिः उत्पत्त्या वा कार्येण कारणमङ्कुरादि आत्मसात्क्रियते तस्मात् कार्यं पर्यायः प्रधानमिति ब्रूयाः तत्र कस्य वचसा विशेषनिर्णयः कार्य इत्यनिर्णयः विशेषाभावादिति तुल्यतेति भावः । मया प्राक् प्रारम्भादिक्रियाणां पूर्वनिर्वृत्तवस्तुनिबन्धनत्वं प्रतिपादयता विशेष उक्त एवेत्याह—**ननूक्तवस्तुवादवदिति ।** वस्तुवादः—द्रव्यार्थलक्षणार्थप्रतिपादनम्, पूर्वमुक्तः—क्षणिकशब्दार्थतत्त्वान्वीक्षणावसरे

कारणेनासाद्येते उत्पादविनाशाविति, यद्येवं नेष्यते खपुष्परूपमप्यासाद्येत, तस्योत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् यद्यदुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतः तत्तेनासाद्यमानं दृष्टम्, यथाङ्कुर उत्पादेन, अङ्कुरं वोत्पादो नासादयेत्, अर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यासुतादिवत् ।

ननूक्तवस्तुवादवदित्यादि । यावदासाद्येते इति, ननु पूर्वमुत्पततैव[1] मयोक्तमार्हतवादवदुत्पादविनाशवता वस्तुना स्थितिमतापि भवितव्यं भूतत्वादित्यादि, तच्च भवदेव भवति, नाभवत्, भवच्च कारणं द्रव्यमेवोत्पादं विनाशं कार्यञ्चात्मसात्करोति-आसादयति, तस्मात्तेनैव भवता द्रव्येण कारणेनासाद्येते कार्योत्पादविनाशाविति[2] नाभवत्कार्यमासादयितुमर्हति कञ्चिदर्थमसत्त्वात् खपुष्पवत्, यद्येवं नेष्यते—अतस्त्वन्यथा खपुष्परूपमप्यासाद्येतैव—निर्बीजमपि उत्पादवदेव[3] भवेत्, उत्पादो हि भवता निर्बीजोऽभ्युपगतः, स चोत्पादो निर्बीजः कारणान्यात्मसात्करोतीतीष्टः, तस्मात्तेनैवोत्पादेनात्मसात्क्रियेत खपुष्पवंध्यासुताद्यपि, किं कारणं ? तस्य खपुष्पादेरुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात्, यद्यदुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतं तत्तन्नासाद्यमानं-आत्मसात्क्रियमाणं दृष्टम्, यथाऽङ्कुर उत्पादेनेत्यापन्नमनिष्टञ्चैतत्, अङ्कुरं वोत्पादो नासादयेत्, अर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यासुतादिवत् ।

यत्तूत्तरेण विनाशेन प्राच्यस्यासतः तत्काले तेन वा सम्प्रति असता न युक्तो व्यपदेश इत्यस्योत्तरं यदुच्यते त्वया न भाविधर्मव्यपदेशादिति भाविनं क्षणं सन्धायोच्यते क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति मरणधर्मिवत्, तस्यैव चासौ भावस्य व्ययः प्राच्यस्येति न्याय्य एवापदेशः यदि भावकालान्तरभाविना मरणधर्मेणापि व्ययात्मकेन तस्यैव धर्म इति व्यपदिश्यते भावः किमिति पुनरात्मलाभानन्तरभाविना विनाशेनात्मीयेन प्रथमक्षण एव क्षणिक इति नोच्यते भाविक्षणसन्धानञ्चानन्तरशब्दलोपं कृत्वा उत्पाद्यते क्षणिक इति ।

क्षणिकशब्दस्यास्त्यस्तिमत्सम्बन्धवाचिठन्प्रत्ययान्तस्य स्थितार्थाभावेऽभिधेयाभावप्रसङ्ग इति स स्थितोऽर्थो जैनेन्द्रव्युत्पादितोत्पादविनाशपर्यायार्थसहचारिस्थितद्रव्यार्थवद्भवितुमर्हतीति प्रतिपादितस्तद्वदित्यर्थः । इदमेवाह—**ननु पूर्वमिति** । तच्च स्थितिमद्वस्तु भवदेव तेन तेन रूपेण भवति, नाभवत्, भवद्वस्त्वेव कारणं कार्यभूतमुत्पादं विनाशञ्चात्मसात्करोतीत्याह—**तच्च भवदेवेति ।** भवतैव कारणेन कार्यस्यात्मसात्करणात् नाभवत्कार्यं कञ्चिदप्यर्थं कारणरूपमासादयितुमर्हति स्वयमसत्त्वात् खपुष्पवदित्याह—**तस्मात्तेनैवेति,** भवत एव भवनादित्यर्थः । यद्यभवदपि भवनमासाद्यते तदाऽऽह—**अतस्त्वन्यथेति,** खपुष्पमपि भवनमासाद्येतेति भावः । तत्समर्थयति—**उत्पादो हीति,** भवन्मते उत्पादो निर्बीजः, अभवद्भवनरूपत्वात्, स च कारणान्यात्मसात्करोतीति मन्यते, एवञ्चोत्पादेन कारणवदसत् खपुष्पाद्यपि आत्मसात्क्रियेतेति भावः । तत्र कारणमाह—**तस्येति ।** खपुष्पाद्यपि भवनमासाद्येत, उत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात्, यथाऽङ्कुरस्योत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वादुत्पादेनाङ्कुर आसाद्यत इत्यनुमानं दर्शयति—**यद्यदिति ।** खपुष्पादेरुत्पादादर्थान्तरत्वेनाभूतत्वेऽपि तेनासाद्यमानत्वस्यानभ्युपगमेऽङ्कुरमप्युत्पादो नासादयेत्, तदर्थान्तरत्वेनाभूतत्वात् खपुष्पवन्ध्यापुत्रादिवदिति विपक्षेऽनिष्टमाह—**अङ्कुरं वेति,** अङ्कुर उत्पद्यते खपुष्पादि नोत्पद्यत इति विशेषो न स्यादिति भावः । ननु क्षणेन विनाशेन विनाशकाले उत्पादकाले वा क्षणिकव्यपदेशोऽसत्त्वान्न सम्भवतीति दूषणस्य परिहारान्तरमाशङ्कते—

---

१ सि. क्ष. धा. डे. पूर्वमुतातवैवमयोक्त० । २ सि. क्ष. छा. डे, कार्योत्पादाविति । ३ सि. क्ष. छा. डे, उत्पादादेव ।

यत्तूत्तरेणेत्यादि, यदस्माभिर्दूषणं-उत्तरेण विनाशेन प्राच्यस्यासतस्तत्काले तेन वा विनाशे[न] सम्प्रत्यसता न युक्तो व्यपदेश इत्यस्योत्तरं परिहारान्तरं यदुच्यते त्वया-न, भाविधर्मव्यपदेशादिति तद्व्याख्या-भाविनं क्षणं सन्धायोच्यते क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति, असहभाविनाऽपि भाविना तद्वत्ता भवति, किमिव ? मरणधर्मिवत्-यथा भाविना मरणधर्मेण तद्वान् मनुष्यादिः प्राणी व्यपदिश्यते, तथा प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणेनासहभाविनाऽपि भाविना क्षणिक इत्यपदेशो व्यपदेशः, तस्यैव चासौ भावस्य व्ययः प्राच्यस्येति न्याय्य एव व्यपदेशः, यदि भावकालान्तरभाविना मरणधर्मेणापि व्ययात्मकेन तस्यैव धर्म इति व्यपदिश्यते भावः किमिति पुनरात्मलाभानन्तरभाविनाशेनात्मीयेन प्रथमक्षण एव क्षणिक इति नोच्यते, भाविक्षणसन्धानञ्चेत्यादि, मैवं मंस्थाः प्रतिबध्यमानेनेदानीं हेत्वन्तरमुपात्तमिति, किं तर्हि ? भाविक्षणसन्धानञ्च प्रथममेवोपात्तं मयाऽऽत्मलाभोऽनन्तरेति विशेष्योक्तत्वात्, अतोऽनन्तरशब्दलोपं कृत्वा-अनन्तरक्षणोऽस्यास्तीति विगृह्यानन्तरशब्दलोपं कृत्वा ठन्प्रत्यय उत्पाद्यते क्षणिक इति, यथा देवदत्तो देविल इति, 'ठाजादावूर्द्ध्वं द्वितीयादचः' (पा० ५-३-८३) इति ।

किमर्थं पुनरेवमुच्यते ब्रूमः—

तस्योत्पन्नस्य व्यापारस्थितिरिक्तताज्ञापनार्थमेवमुच्यते यद्वत् क्षणिक आस्ते, क्षणिकं निकेतनमिति, एतदपि परिकल्पितमेव यन्मरणधर्मिणो द्रव्यार्थस्याक्षणिकस्यात्माख्यस्याभाव-

---

यत्तूत्तरेणेति । व्याचष्टे-**उत्तरेणेति,** उत्तरेण विनाशरूपेण क्षणेन प्राच्यस्योत्पादस्य तत्कालेऽसतः-विनाशकालेऽविद्यमानस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्तः, एवं तेन-विनाशक्षणेनोत्पादस्य **सम्प्रत्यसता**-उत्पादकालेऽविद्यमानेन क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न युक्त इति यद्दूषणमस्माभिरुक्तं तत्परिहाराय उत्पादकाले विनाशस्याभावेऽपि तदनन्तरक्षणे विनाशो भविष्यतीति कृत्वा भाविना विनाशेनोत्पादः क्षणिकत्वेन व्यपदिश्यत इति यदि परिहारान्तरं ब्रूष इति भावः । तदेव परिहारान्तरं दर्शयति-**न, भाविधर्मेति ।** भाविनं विनाशं बुद्ध्या विषयीकृत्योत्पादस्य तदसहभाविनः क्षणिकत्वेन व्यपदिश्यत इति व्याचष्टे-**भाविनमिति ।** तथा व्यपदेशः किं क्वचिदपि दृष्ट इत्यत्राह-**मरणधर्मिवदिति ।** दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकं च समीकरोति-**यथा भाविनेति ।** प्राणिर्मरणधर्मीति व्यपदेशस्य भाविधर्मेण मरणेन भवतो यदि प्रामाणिकत्वं तर्हि प्रथमक्षणोऽपि भाविना स्वधर्मेण विनाशेन क्षणिकः कुतो न स्यादित्याह-**यदि भावकालान्तरभाविनेति,** भावस्य प्राणिनः कालान्तरे भाविना मरणेन धर्मेणेत्यर्थः । यथा मरणधर्मः प्राणिन एव भावी धर्म इति कृत्वा प्राणी मरणधर्मा व्यपदिश्यते तथा नाशोऽपि प्रथमक्षणस्याऽऽत्मीयो भावीति प्रथमक्षण एव कुतो न क्षणिक इति व्यपदिश्येतेत्याह-**किमितीति ।** मया प्रतिबध्यमानत्वं प्राक्तनं हेतुं विहाय सम्प्रति हेत्वन्तरं स्वीकृतवानिति मा मंस्थाः, भाविधर्मसन्धानरूपो हेतुर्मया प्रागेवोपात्त आत्मलाभानन्तरमिति पदेनेत्याह-**मैवं मंस्था इति ।** तथा च क्षणिकशब्दव्युत्पत्तिरनन्तरक्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इत्यनन्तरशब्दलोपं कृत्वा विज्ञेया, तथा च न हेत्वन्तरत्वप्रयुक्तनिग्रहस्थानतेत्याशयेनाह-**भाविक्षणसन्धानश्चेति,** भाविनः क्षणस्य योजनमित्यर्थः । विग्रहं दर्शयति-**अनन्तरक्षण इति ।** दृष्टान्तमाह-**यथेति,** अनुकम्पितो देवदत्तः देविको देविल इत्यादिदेवदत्तशब्दात् ठन्प्रत्यये इलप्रत्यये वा प्रकृतेर्द्वितीयस्वरादूर्ध्वभागस्य दत्तशब्दस्य 'ठाजादावूर्द्ध्वं द्वितीयादच' इति सूत्रेण लोपे देविको देविल इत्यादि रूपसिद्धिः, तथैवात्र पूर्वपदस्यानन्तरशब्दस्य लोपः 'पूर्वपदस्य चे'ति वार्त्तिकेन लोपे क्षणिक इति भवति, तथा च न हेत्वन्तरोपादानमिति भावः । किमर्थमनन्तरशब्दलोपं विधाय रूपं साध्यत इत्यत्र तत्प्रयोजनमाह-**तस्योत्पन्नस्येति ।** यथाऽयं क्षणिक आस्ते इत्यनेन निष्कर्माऽऽस्त इति क्षणिकं निकेतनमित्यनेन च गृहमिदं क्षणिकं न कोऽप्यत्र वर्त्तत इति क्रियाशून्यत्वं स्थिति-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. आत्मलाभानन्तरमिति । २ सि. क्ष. छा. डे. देवदत्तादेवल इति वरताजदापूर्वं द्वितीयादय इति ।

विलक्षणस्य भावान्तरविलक्षणस्य विपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुः, स्थितमेव जायते जातश्च म्रियत इत्येवं लोके दृष्टत्वात्, यथा कृतकत्वानित्यत्वधर्मा स्थित एव घटादिः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञायां दृष्टान्त उच्यते नास्थितो नात्यन्ताभावो नापि ततोऽर्थान्तरभूतो वा कृतकत्वानित्यत्वधर्मासम्बन्ध्याकाशादिः तथाऽवस्थितपुरुषमरणव्यपदेशो जन्मना तदविनाभावात् घटाद्यनित्यधर्मिव्यपदेशवन्मरणधर्मिव्यपदेशः ।

(**तस्येति**) तस्योत्पन्नस्य व्यापारस्थितिरिक्तताज्ञापनार्थं–उत्पन्नं क्रियाविरहितं स्थितिविरहितञ्चेति ज्ञापयितुं, तदुदाहरणे यथासंख्यं–यद्वत् क्षणिक आस्ते–निःकर्मेत्यर्थः, क्षणिकं निकेतनं–स्थितपुरुषादिरहितं गृहमित्यर्थः, अत्रोच्यते–एतदपि परिकल्पितमेव-अयुक्तम्, यन्मरणधर्मिणीत्यादि, द्रव्यार्थस्य[ा] क्षणिकस्यात्माख्यस्याभावविलक्षणस्य भावान्तरविलक्षणस्येति दृष्टान्तस्य वैधर्म्यं दर्शयति, विपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुरिति, एवं स्थितमेव जायते, जातश्च म्रियते, स्थित्यविनाभाविनी जन्ममरणे, मरणाविनाभावि च जन्मेत्येवं लोके दृष्टत्वात्, उपदृष्टान्तश्च कृतकत्वानित्यत्वेत्यादि,-कृतकत्वधर्माऽनित्यत्वधर्मा चा[व]स्थित एव घटादिः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञायां दृष्टान्त उच्यते यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति, नास्थितो नात्यन्ताभावो नापि ततोऽर्थान्तरभूतो वा यावद्धर्मासम्बन्ध्याकाशादिरिति, तद्वदवस्थितघटाद्यनित्यत्वस्य कृतकत्वेन व्यपदेशवत् अवस्थितपुरुषमरणव्यपदेशो जन्मना तदविनाभावादिति दृष्टान्तस्य स्वपक्षसाधकतामापाद्य दार्ष्टान्तिकत्वोपसंहारं करोति–घटाद्यनित्यधर्मिव्यपदेशवन्मरणधर्मिव्यपदेशः ।

आयुष्कजननमरणयोर्द्वयोरपि आयुःकर्मणि स्थिते आत्मा जायते स एव म्रियते भुक्तायुःकर्मत्वात्, असति च क्रियानुपपत्तेः ।

शून्यत्वञ्च प्रतीयते तथैवोत्पन्नस्य वस्तुनः क्रियाशून्यतास्थितिशून्यतयोः प्रदर्शनार्थं तथा विग्रहः कार्य इत्याशयेन व्याकरोति–**उत्पन्नमिति** । इत्थमुत्पन्नस्य क्रियारहितत्वस्थितिरहितत्वप्रसाधनं त्वया यत्क्रियते तद्विपर्ययसाधनमेवेति निराचष्टे–**एतदपि परिकल्पितमेवेति** । मरणधर्मिणीव त्वया क्षणिकत्वं यत् साध्यते तद्द्रव्यार्थस्य विपर्ययसाधनं क्रियत इत्याह–**द्रव्यार्थस्येति** । द्रव्यरूपोऽर्थः न क्षणिकोऽभावविलक्षणः, तव तु क्षणिकोऽर्थः कालाभेदभवनाभावादभावरूप इति मरणधर्मिप्राणिनो दृष्टान्ताद्विधर्मा क्षणिकः, तस्माद्द्वाविधर्मव्यपदेशादिति हेतुर्विपर्ययसाधनं भवति तेन द्रव्यार्थस्याक्षणिकस्यैव सिद्धेरतो क्षणिकत्वसाधने विरुद्धो हेतुरिति दर्शयति–**विपर्ययसाधनादिति** । लोकरूढिमपि प्रमाणयति–**एवं स्थितमेवेति,** स्थितमेव जायते विनश्यति चेति जन्ममरणे स्थित्यविनाभाविनी जन्मापि मरणाविनाभावि लोके दृष्टमिति भावः । अत एव च शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र घटादिर्दृष्टान्त उच्यते कृतकत्वानित्यत्वधर्मयोऽरवस्थितस्यैव सम्भवात्, न ह्यनवस्थितोऽत्यन्ताभावस्ताभ्यामर्थान्तरभूतो वा गगनादिः तयोः सम्बन्धी भवतीत्याह–**उपदृष्टान्तश्चेति** । घटदृष्टान्तेन प्रकृतं समीकरोति–**तद्वदिति,** अवस्थिते घटे विद्यमानमेवानित्यत्वं कृतकत्वेन यथा व्यपदिश्यते तथैवावस्थितपुरुषस्यैव मरणव्यपदेशः जन्मना तस्याविनाभावादिति भावः । अवस्थितस्यैव जन्मिनो मरणमित्यर्थे दृष्टान्तं घटादि प्रदर्श्य विद्यमानस्यैव कृतकघटादेरनित्यधर्मिव्यपदेशवत् जन्मिनोऽवस्थितपुरुषस्यैव मरणधर्मित्वेन व्यपदेश इत्याह–**इति दृष्टान्तस्येति** । ननु भवतु मरणधर्मी प्राणी, स्थितस्यैव च मरणम्, तथापि तृतीयादिक्षणे कुतो न तस्य मरणमित्यत्राह–**आयुष्केति,** जननञ्च मरणञ्च जननमरणे, आयुषो भवे आयुष्के, ते च ते जननमरणे च तयोरिति विग्रहः, जननमरणे आयुर्निमित्ते, न निर्हेतुके, यदा चायुष उदयः तदा जायते जीवः, अन्यायुष उदये सर्वायुर्नाशे

---

१ सि. क्ष. छा. डे. परिकृतामेवायुक्तम् ।

आयुष्कजननेत्यादि, आयुःकर्मणा व्यवस्थितेन जीवस्य जननमरणे, नासता खपुष्पादिना, नार्थान्तरेणात्मापरिगृहीतपरमाण्वाकाशादिना वा यथोक्तं—'आयुगवसेन जीवो जायते जीवति य आउगस्सुदये । अन्नायुगोदए वा मरति उ सव्वायुणासे वा ॥' ( ) तस्मात्तयोः जन्ममरणयोर्द्वयोरपि, तत्रायुःकर्मणि स्थिते-विद्यमाने विद्यमान एवात्मा स्वयमुदीर्णायुष्कर्मपरिणतो जायते स एव म्रियते, भुक्तायुःकर्मत्वात्, असति च क्रियानुपपत्तेः, नात्यन्तासति खपुष्पे जन्ममरणादिक्रिया उपपद्यते, नाप्यर्थान्तरे तत्परिणामशून्ये गगनादौ ।

तथा चाभियुक्ताः पठन्ति मृङ् प्राणत्यागे इति (धातुपा. १४२८) व्यवस्थितो जीवो प्राणानुपात्तान् त्यजति, उपादत्ते च तानेव तत्र तद्भूतत्वात् किं सन्धानेन ।

तथा चाभियुक्ताः पठन्तीति, ज्ञापकमाह, के पुनरभियुक्ताः ? अर्थप्रवृत्तितत्त्वनिबन्धनशब्दस्वरूपपरिज्ञानलक्षणे व्याकरणेऽभियुक्ताः वैयाकरणाः, यथाह—'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् । तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥' (वाक्यप० का० १ श्लो० १३) तस्मादर्थतत्त्वस्य व्यवस्थापनार्थप्रवृत्तेः अर्थतत्त्वं व्यवस्थापयितुं प्रवृत्तत्वाद्वैयाकरणाः पठन्ति—'मृङ् प्राणत्यागे' इति, व्यवस्थितो जीवो म्रियते प्राणानुपात्तान्—इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासलक्षणान् त्यजति, उपादत्ते च तानेव जायत इति, तत्र तद्भूतत्वात्—तत्रैवंप्रकारेऽवस्थित[1]प्राणोपादानत्यागात्मलक्षणजन्ममरणात्मकायुःकर्मसाद्भूतात्मस्वरूपत्वात् किं सन्धानेन ? किं प्रयोजनं कल्पितेन सन्धानेन ? नास्तीत्यर्थः ।

वा म्रियत इति न तृतीयादिक्षणे मरणनैयत्यमिति भावः । व्यवस्थितेनैवायुःकर्मणा जन्ममरणे इत्याह—**आयुः कर्मणेति ।** तस्य व्यवस्थितत्वञ्च स्थितत्वेन भावत्वेनानर्थान्तरभूतत्वेन च, अनर्थान्तरभूतत्वं चात्मनाऽऽयुःकर्मपुद्गलपरिणमनेनात्मसात्करणादिति भावः । व्यवस्थितत्वमेव व्यतिरेकमुखेन दर्शयति—**नासतेति ।** आयुषो वशेन जन्ममरणे इत्यत्रागमं प्रमाणयति—**'आयुगवसेन' इति,** आयुष्कवशेन जीवो जायते जीवति चाऽऽयुष्कस्योदये । अन्यायुष्कोदये वा म्रियते तु सर्वायुर्नाशे वा ॥ इति । छाया व्याख्यातार्था । स्थित एव आयुःकर्मणि स्थित एवात्मा उदीर्णायुष्कर्मणा सहानर्थान्तरभूतो जायते, स एव पूर्णे आयुःकर्मोपभोगे म्रियते न त्वविद्यमानेऽत्यन्ताभावरूपेऽनर्थान्तरतयाऽपरिणते आत्मनि ते स्त इत्याह—**तस्मात्तयोरिति ।** असदादिरूपे जन्ममरणादिक्रियानुपपत्तिमाह—**असति चेति ।** अवस्थितस्यैव जीवस्य जन्ममरणे भवत इत्यत्राभियुक्तानां वचनमपि ज्ञापकतया दर्शयति—**तथा चेति ।** अभियुक्तानां स्वरूपमाह—**के पुनरिति । अर्थेति ।** अर्थविषयनिखिलव्यवहारसम्पादकजात्यादिबोधकशब्दस्वरूपप्रकाशकव्याकरणशास्त्रनिष्णाता अभियुक्ता वैयाकरणा इत्यर्थः । एतदर्थां कारिकां वाक्यपदीयोक्तामाह—**अर्थप्रवृत्तीति ।** घटादीनामर्थाना प्रवृत्तौ—व्यवहारे जलाहरणादिरूपार्थक्रियाकारित्वेऽयं घट इत्यादिशब्दप्रयोगे वा तत्त्वानि-निमित्तानि-जातिगुणक्रियासंज्ञाः, जात्याद्युपरागाभावे इदं तदित्येवं व्यक्तीनां व्यवहार्यत्वाभावात्, तेषां शब्दा एव निबन्धनं—बोधकाः, सर्वव्यवहाराणां शब्दमूलत्वात्, शब्दोच्चारणमन्तरेण व्यवहर्तुमशक्यत्वात्, तत्र शब्दानां यत्तत्त्वं—साधुत्वं यथार्थबोधकत्वं वा तस्यावबोधो—निश्चयो व्याकरणमन्तरेण न सम्भवतीति तदर्थः । **तस्मादर्थतत्त्वस्येति,** अर्थतत्त्वव्यवस्थापनार्थप्रवृत्ता वैयाकरणा अभियुक्ताः, ते पठन्ति 'मृङ् प्राणत्यागे' इति म्रियत इत्यत्र मृधातुः प्राणानां त्यागे वर्त्तत इत्यर्थः । भावार्थमाह—**व्यवस्थित इति ।** जीवो दशविधान् प्राणान् यदा त्यजति तदा म्रियत इति तानेव यदोपादत्ते तदा जायत इति व्यपदिश्यत इति भावः । कारणमाह—**तत्र तद्भूतत्वादिति,** एवं प्रकारे आयुःकर्मणि आत्मसाद्भूतात्मस्वरूपत्वादित्यर्थः । कीदृशे आयुः कर्मणि ? अवस्थिते प्राणोपादानत्यागरूपे जन्ममरणात्मके आयुःकर्मसाद्भूतत्वादेव जायते म्रियत इति व्यपदेशो नानवस्थितभाविधर्मसन्धानादित्याशयेनाह—**किं सन्धानेनेति ।** यदुक्तं प्राक् तस्यैव चासौ भावस्य व्ययः प्राच्यस्येति न्याय्य

१ छा. डे. क्ष. सि. अनव० ।

किञ्चान्यत्—

यदप्युक्तं तस्यैव भावस्य व्ययत्वात् विनाशेनोत्पादस्य क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति व्यपदेशो न्यायादनपेत इति तदपि न किञ्चित्, उत्पद्यमानविनश्यतोरपि तावत् भावयोस्त्वन्मतेऽभूतत्वात् सम्बन्धाभावः, किमङ्गपुनस्तत्प्रभावलभ्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धकथा? तयोरसत्त्वभूतत्वादवस्तुत्वाच्च, असम्भाव्यप्रवृत्त्योः, अपि चात्रापि तस्यैव भावस्य व्यय इति षष्ठ्यर्थानुपपत्तिरपि, असम्बन्धात्, सम्बन्धाभावश्चासहभावात्।

यदप्युक्तमित्यादि, तस्यैव भावस्य व्ययत्वात् विनाशेनोत्पादस्य क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति व्यपदेशो न्यायादनपेत इति त्वया यदुक्तं तदपि न किञ्चित् नार्थो न नायुक्तत्वात्, तद्दर्शयति—उत्पद्यमानविनश्यतोरपि तावदित्यादि, यावेतावुत्पत्तृविनंष्टारौ भावौ तावेतावपि त्वन्मते न स्तः, उत्पाद एवाङ्कुर इति वचनात्, तयोश्चाभूतत्वादभावत्वं खपुष्पयोरिव सम्बन्धाभावः, तस्मादुत्पत्तैव विनंष्टेत्ययुक्तं वक्तुम्, किमङ्ग! पुनरित्यादि, दूरत एवोत्पद्यमानविनश्यदर्थाभावे तत्प्रभावलभ्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धकथा कुतः? तयोरसत्त्वभूतत्वात्, असत्त्वभूतत्वं अवस्तुत्वाच्च,—न वस्तुनी स्तः ययोस्तावुत्पादविनाशौ अवस्तू तद्भावादवस्तुत्वात्, तौ चासम्भाव्यप्रवृत्ती खपुष्पवत्, असम्भाव्यप्रवृत्त्योरेव सम्बन्धाभाव इति वर्त्तते, किञ्चान्यत्-अपि चात्रापीत्यादि, यथैवास्त्यस्तिमत्सम्बन्धाभावादसहभाविनोरुत्पादविनाशयोः क्षणिक इति ठन्प्रत्ययाभावः तथा तस्यैव भावस्य व्यय इति षष्ठ्यर्थानुपपत्तिरपि, असम्बन्धात्, सम्बन्धलक्षणा हि कारकविभक्तयः, कारकाविवक्षायां शेषसम्बन्धे प्रातिपदिकार्थव्यतिरेके षष्ठीविधानात्, सम्बन्धाभावश्चासहभावादिति।

एवापदेश इति तन्निराकरणायाह-**यदप्युक्तमिति**। विनाशस्तस्यैव भावस्योत्पादस्य धर्म इति तस्योत्पादस्य क्षणिकत्वेन व्यपदेशो न्याययुक्त एवेति पूर्वपक्षिणोक्तमिति दर्शयति-**तस्यैव भावस्येति**। अयुक्तत्वमेवाह-**उत्पद्यमानेति,** उत्पत्त्याश्रयस्य विनाशाश्रयस्य च भावस्य तव मतेनासत्त्वमेव, पर्यायमात्राभ्युपगन्तृत्वात्, उत्पाद एवाङ्कुर इति त्वयैवोक्तत्वात्, तस्मात्तथाविधभावस्य खपुष्पवदभावत्वात् कथमुत्पत्तुरेव विनंष्टृता, अभावरूपयोः परस्परं सम्बन्धाभावादिति भावः। यदा चोत्पत्तृविनंष्टृभावाभावस्तदा किमु वक्तव्यं तत्प्रभावेण लभ्ययोरुत्पादविनाशयोः सम्बन्धे इत्याह-**किमङ्गेति**। हेतुमाह-**तयोरिति,** उत्पादविनाशयोरित्यर्थः। तयोरसत्त्वञ्चोत्पादविनाशाश्रयस्य स्वात्मलाभप्रयोजकस्यावस्तुभूतत्वादित्याह-**असत्त्वभूतत्वमिति**। एवञ्च तयोः प्रवृत्त्यसम्भवात् सम्बन्धस्तयोर्न सम्भवतीत्याह-**तौ चेति**। उत्पादविनाशावित्यर्थः। यथा चोत्पादविनाशयोः सहभावाभावादस्त्यस्तिमत्सम्बन्धबोधकठन्प्रत्ययासम्भवः क्षणशब्दादुक्तस्तथैव तस्यैव भावस्य व्यय इत्यत्रापि भावस्येत्यत्र षष्ठी न सार्थिका, भावव्यययोरसहभावित्वेन सम्बन्धासम्भवादित्याह-**अपि चेति**। भावस्येत्यत्र षष्ठी शेषे भवति, कारकविभक्तित्वात्, 'सामान्यं कारकं तस्य सप्ताद्या भेदयोनयः' इत्युक्तत्वात्, क्रियानिर्वृत्तौ कर्त्तृकर्मादीनां हेतुत्वात् हेतुत्वस्य च सम्बन्धमन्तरेणासम्भवात् सर्वाः कारकविभक्तयः सम्बन्धरूपा एव, कर्तृत्वकर्मत्वादिरूपतः सम्बन्धः षष्ठ्यतिरिक्तविभक्त्यर्थः, सम्बन्धत्वेन रूपेण सम्बन्धः स्वस्वामिभावादिः षष्ठ्यर्थः, तस्य कर्मादिविशेषलक्षणेभ्यः षड्भ्योऽन्यत्वाच्छेषत्वम्, अत एव कारकाणामविवक्षा शेष इत्युच्यते क्रियाकारकपूर्वकत्वाच्च कारकत्वमस्येत्याशयेनाह-**सम्बन्धलक्षणा हीति,** यथा राजा पुरुषाय ददाति, अत्र राज्ञः पुरुष इति स्वस्वामिभावोऽवतिष्ठते, तत्र क्रियाकारकसम्बन्धः कारणभूतः, शेषसंम्बन्धस्तु फलभूतः, क्रियाकारकसम्बन्धो हि वृत्तः स्वाश्रये शेषसम्बन्धं फलं निवेश्योपरमते तत्र पूर्वं कर्तृसम्प्रदानरूपौ राजपुरुषावभूताम्, शेषसम्बन्धकाले कर्त्रादिविशेषरूपतानवगम इति तच्छेषभूतं सामान्यकारकत्वमवतिष्ठत एवेति शेषे षष्ठी विज्ञेया, प्रथमा चाभिहितकारकविभक्तिः प्रातिपदिकार्थमात्रे एवेति न तत्र षष्ठीति विज्ञेयम्। तदेतदभिप्रायेणाह-**कारकाविवक्षायामिति**। कुतोऽसम्बन्ध इत्यत्राह-**सम्बन्धाभावश्चेति**।

आह—

नन्वसहभवनेऽपि षष्ठी विकारविषया, प्रकृत्युपमर्दश्च विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः, तण्डुलानामोदन इति, न ह्यत्र प्रकृतिर्विकृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति एतदपि न, द्रव्यपर्यायसहवृत्तेः, धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनत्वादिविकारपरिणामात्तथातथाऽवस्थानात्, विनाशो घटस्य इव, तस्मात् स्वजात्यपरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावौ सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो विधीयते भवन्नेव वर्त्तते वोदेति वेत्युक्तं भवति, अतोऽन्यथा ह्यद्रव्ययोरुत्पादविनाशयोर्वस्त्ववक्तव्यमिति भाव एव स नेति कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा?

(**नन्विति,**) नन्वसहभवनेऽपि विकारविषया—विकारलक्षणा, प्रकृत्युपमर्दश्च विकारः, तद्यथा—धानानां सक्तवः, तण्डुलानामोदन इति, न ह्यत्र प्रकृतिर्विकृत्यवस्थायामस्ति, अथ च प्रकृतौ षष्ठी श्रूयते धानानां तण्डुलानामिति, अत्र ब्रूमः, एतदपि न, कस्मात्? द्रव्यपर्यायसहवृत्तेः-द्रव्यं प्रकृतिर्धानातण्डुलादिः पर्यायेण विशेषेण विकारेण सह वर्त्तते धानातण्डुलादिप्रकृतेरेव सक्त्वोदनादिविकारपरिणामात् तथातथा व्यवस्थानात्, किमिव? घटस्य विनाश इति, यथा मृद्द्रव्यस्यैव पिण्डशिवकादिक्रमभाविधर्मणः रूपादिसहभाविधर्मणश्च घटस्यैवं कपालत्वेन मृदात्मनः परमाण्वादिसंघातपरिणाम्यवयवसंस्थानान्तरेण वर्त्तनं विनाशो घटस्येवेत्युच्यते, तस्मात्स्वजात्यपरित्यागवृत्तेराविर्भावतिरोभावौ सर्वभावानामतः सहभाविनोरेव सम्बन्धादुपपद्यतेऽत्रापि षष्ठी भावस्य व्यय इति भावो[1] व्ययते भवन्नेव वर्त्तते वा[2] उदेति वेत्युक्तम्भवति द्रव्यार्थापरित्यागेनैवोत्पादव्ययवृत्तेः, अतोऽन्यथा ह्यद्रव्ययोस्तूत्पादविनाशयोर्निर्बीजयोर्वस्तु[3] अवक्तव्यमिति

नन्वसहभावित्वेऽपि सम्बन्धो दृश्यते यथा धानानां सक्तवः, तण्डुलानामोदन इत्यादि, विकार्यं प्रकृत्युच्छेदेन सम्भूतम्, निरन्वयविनाशात् प्रकृतेरुच्छेदः यथा काष्ठादेर्भस्मादि, भस्मादि कार्यं काष्ठादिकमुपमर्द्योपजातमिति प्रतीतेर्विकार्यम्, एवञ्च काष्ठस्य भस्म इत्यादौ विकृत्यवस्थायां प्रकृतेरभावादसहभावेऽपि षष्ठी दृश्यत इति न दोष इति शङ्कते—**नन्वसहभवनेऽपीति** । व्याचष्टे—**विकारलक्षणेति,** धानातण्डुलानां भर्जनपेषणविक्लित्त्यादिक्रिययोपमर्दात् सक्त्वोदनकाले तेषामभावात् असहभावेऽपि प्रकृतौ षष्ठी श्रूयत एव, न हि सक्त्वादिकाले धानादीनां स्वस्वरूपेण सद्भाव इति भावः । अत्राप्यसहवृत्तित्वमसिद्धम्, द्रव्यात्मना धानातण्डुलादीनां स्वस्वपर्यायभूतसक्त्वोदनादिकालेऽपि अवस्थानादित्याशयेन समाधत्ते—**द्रव्यपर्यायेति,** द्रव्यं धानातण्डुलादि, पर्यायः सक्त्वोदनादि तयोः सहभावात्, न हि तयोः सहभावाभावे विकार्यविकारिभावोऽस्यायं विकारोऽयञ्च विकारीति व्यपदेशः सम्भवति, अन्यथाऽन्यस्यापि घटादेः सक्त्वादिविकारित्वापत्तेः, तस्माद्धानादिरेव तथा तथा परिणमत इति सहभावोऽस्त्येवेति भावः । निदर्शनमाह—**घटस्य विनाश इति,** पिण्डशिवकादिक्रमभाविपर्यायरूपरसादिसहभाविपर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यस्वरूपघटादेरेव कपालात्मकेन परमाणुसंघातपरिणामरूपावयवसंस्थानान्तरेण वर्त्तनं घटस्य विनाश उच्यते तस्मादुत्पादविनाशौ स्वजात्यपरित्यागेन मृद्द्रव्यादेराविर्भावतिरोभावावेवेति द्रव्यपर्यायसहवृत्तितेति भावः । तस्मात् सहभाविनोरेव सम्बन्धे षष्ठ्युपपत्तेर्भावस्य व्यय इत्यत्रापि भावव्यययोः सहभावित्वात् षष्ठीति भावो भवन्नेव व्ययते वर्त्तते उदेति च द्रव्यापरित्यागेनोत्पादविनाशयोर्भावादित्याह—**अतः सहभाविनोरेवेति** । द्रव्यार्थपरित्यागे तु उत्पादव्यययोर्निर्बीजत्वेनास्योत्पादो व्ययो वेति वक्तुमेवाशक्यम्, नहि खपुष्पस्योत्पादो व्ययो वा वक्तुं शक्य इत्याह—**अतोऽन्यथा हीति** । द्रव्यार्थापरित्यागेन तयोर्वृत्तेर्वैपरीत्ये हीत्यर्थः ।

---

१ सि. क्ष. डे. धा. भावाच्चियते । २ सि. क्ष. धा. डे. चेत्कदेति । ३ सि. क्ष. भा. डे. वक्रवक्तव्य० ।

वक्तुमेवाशक्यमेतत्, भाव एवासौ वस्तुत्वाभिमतो नास्ति, कुतोऽस्योत्पादो विनाशो वा धर्मो द्रव्यार्थस्याभावे ? खपुष्पस्येव ।

तद्वैधर्म्येण द्रव्यार्थवादिन एवोत्पादविनाशोपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—

भवन्ती हि मृत् भवति उत्पद्यते तद्यथा शिवकस्य स्तूपकीभावः सैव च मृत् भवन्ती व्येति, स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वाद्व्येति, भवनाद्धि भावः, भावस्य व्यय इत्यत्र भावशब्दोऽप्येवं घटते नान्यथा, एवन्तु त्वयोक्तो भावः स भाव एव न, पूर्वमभावात् पश्चादभावात् पूर्वं पश्चाच्चाभावात् वंध्यापुत्रवत् ।

(**भवन्तीति**) भवन्ती हि मृत्—द्रव्यार्थेन भवन्त्येव भवन्ती-स्वरूपमत्यजन्ती भवत्युत्पद्यते, तद्यथा—शिवकस्य स्तूपकीभावः उत्पादे स्तूपक इति निदर्शनम्, सैव च मृत् भवन्ती व्येति, तन्निदर्शनं—स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना शिवकत्वात् व्येतीति, भवनाद्धि भावः, भावस्य व्यय इत्यत्र योऽयं भावशब्दः सोऽप्येवमस्मदुक्तद्रव्यार्थविषय एव घटते, यदर्थस्य व्यय उच्यते, नान्यथा—यत्त्वभवत् खपुष्पाद्यद्रव्यं तन्नोत्पद्यते न व्येति वा, एवन्त्वित्यादि, इत्थमुक्तन्यायेन त्वयोक्तो भावः स भाव एव न भवति, कस्मात् ? पूर्वमभावात्—भवनाभावादित्यर्थः, भाव एव स नेति वर्त्तते, एवमेतौ प्रत्येकं हेतू, समुदितावपि—तद्यथा—पूर्वं पश्चाच्चाभावादिति, त्रयाणामपि हेतूनां वन्ध्यापुत्रवदित्येक एव दृष्टान्तः, त्वन्मतेनैव वा एते हेतवः सिद्धाः, उत्पादक्षणस्यैव सत्त्वाभ्युपगमात्, अतो भाव एव न स इति साधूक्तम् ।

स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति सापि न कार्या, त्वदुद्ग्राह एव, प्राक् पश्चात् मध्ये चाभावात्, त्वद्वचनादेव भावस्येति षष्ठी यदि कर्त्तृलक्षणा, स एव भावः—उत्पादः व्येति—विनश्यति न भवति इत्युक्तं भवति, यदि कर्मलक्षणा, विनाशोऽकर्त्तृकः केनोत्पादो निवर्त्त्येतेत्ययुक्त एव भावः, तस्मात्स एव न भवतीति मध्येऽप्यभावः ।

(**स्यादिति**) स्यात् प्रत्याशा वर्त्तमानक्षणे भावो भवितुमर्हतीति, साऽपि न कार्या-प्रत्याशा, कस्यामप्यवस्थायामसत्त्वात्, तत आह—यथा-त्वदुद्ग्राह एव, प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात्, भाव एव न स

द्रव्यार्थपरित्यागवैधर्म्येणैवोत्पादविनाशावुपपद्येते इति प्रदर्शय इति—**भवन्ती हीति**। मृत् स्वस्वरूपमत्यजन्ती शिवकादिरूपा स्तूपकत्वेनोत्पद्यते सैव स्तूपकत्वेनोत्पद्यमाना मृत् शिवकत्वेन व्येति, तेन तेन प्रकारेण भवनादेव हि मृदादिर्भाव उच्यत इत्याशयेन व्याकरोति—**द्रव्यार्थेन भवन्त्येवेति**। भावस्य व्यय इत्यत्रापि तथा तथा भवन्नेव भावो द्रव्यार्थविषय एव, नान्यथा व्ययः सङ्गच्छत इत्याह—**भावस्य व्यय इत्यत्रेति**। अभवतो नोत्पादव्ययौ स्तः खपुष्पस्येवेत्याह—**नान्यथेति**। त्वत्सम्मतस्तु भावो भवनाभावाद्भाव एव न सम्भवति न हि स भाव उत्पादाभिमतः पूर्वमस्ति पश्चादस्ति पूर्वं पश्चाच्चास्ति वा वन्ध्यापुत्रवदित्याह—**इत्थमुक्तन्यायेनेति**। हेतुमाह—**पूर्वमभावादिति**, उत्पादक्षणपूर्वमभावादित्यर्थः, यः केवलं पूर्वं न भवति पश्चान्न भवति पूर्वं पश्चाच्च न भवति स भाव एव न भवति वन्ध्यापुत्रादिवदित्यर्थः। हेतूनामसिद्धिं व्युदस्यति—**त्वन्मतेनैवेति**। पूर्वं पश्चाद्वाऽभवनेऽपि उत्पादक्षणे स भवत्येवेत्याशङ्कते—**स्यात् प्रत्याशेति**। वर्त्तमानक्षणे भावो भवतीत्याशाऽपि मा कुरु, तदानीमपि तस्यासत्त्वादिति समाधत्ते-**कस्यामपीति**, प्रागवस्थायां पश्चादवस्थायां वर्त्तमानावस्थायामप्यसत्त्वादित्यर्थः। तदेव समर्थयति—**यथा त्वदुद्ग्राह**

इति वर्त्तते, प्राक् पश्चाच्चाभावत्त्वमद्रव्यत्वादस्मन्मतेनोक्तम्, अधुना त्वन्मते वर्त्तमानक्षणेऽप्यसत्त्वं[1] साध्यते प्राक् पश्चाच्चाभावत्वं सिद्धमेव भवतीति तत्साधयितुमाह त्वद्वचनादेव–तद्यथा-त्वया ह्युच्यते तस्यैव चासौ भावस्य व्यय इति, व्यपदेशप्रसिद्धिसाधनार्थेन वचनेन, तस्य चायमर्थो भावस्येति कर्तृलक्षणा षष्ठी स्यात् कर्मलक्षणा वा, यदि कर्तृलक्षणा स एव भाव उत्पादो व्येति विनश्यति न भवति तेनैव विधीयते न भूयते विनश्यतीत्युक्तं भवति, कोऽसौ न भवति, ? उत्पाद एव, यदि कर्मलक्षणा ततो विना[2]श[ोऽ]कर्तृकः केनोत्पादो निवर्त्त्येतेत्ययुक्त एव भावः, तस्मात् स एव न भवति-उत्पाद इति मध्येऽप्यभावः, तस्मात् प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात् भावस्य व्यय इति वचनात् क्षणिकशब्दो नार्थवान् स्यात् ।

अपि च तण्डुलानामोदन इत्यत्रोदनस्य स्वकालसमवस्थायिद्रव्यवृत्तविकारान्तरगतेः सम्भवेदियं गतिः, त्वन्मते तु तद्वैधर्म्यात्तदासावसन्निहित एव भावः कथं व्येतीत्युच्यते? यदि यदा सन्निहितस्तदैव व्येति नैव तर्ह्युत्पद्यते, अथोत्पद्यते न तर्हि व्येति, उत्पादव्यययोर्विप्रतिषेधात् कुत एव तत् ?

(**अपि चेति**) अपि च तण्डुलानामोदन इत्यत्रोदनस्य विकारस्याऽऽत्मलाभकाले द्रव्यार्थतः तण्डुलानां समवस्थायित्वादोदनेन सह स्थास्नुत्वाद्विकारान्तरमोदनत्वं तत्र द्रव्ये वृत्तं गच्छेयुरापद्येरन् तण्डुलाः, सम्भवेदियं गतिरीदृशी, त्वन्मते तु तस्या अपि स्वकालसमवस्थायिद्रव्यवृत्तविकारान्तरगतेरसम्भवात् तद्वैधर्म्यात् तदासावसन्निहित एव भावः-उत्पादः त्वदिष्टोऽसन्नेव कथं व्येतीत्युच्यते,–खपुष्पवदसन्निहितः केन न्यायेन व्येतीति शक्यते वक्तुम्, स्यान्मतं यदा सन्निहितस्तदा व्येतीत्युच्यत इति,

---

पश्चेति, त्वदभिमतः स भावो भाव एव न भवति प्राक् पश्चान्मध्ये चाभावात्, प्राक् पश्चाच्चाभावो द्रव्यानभ्युपगमात्, नास्ति द्रव्यमाश्रयतया यस्य तस्य भावत्वादद्रव्यत्वादिति मयाऽऽपादितम्, मध्येऽपि स न भाव इति भावस्य व्यय इति त्वदीयवचनेनैव सिद्ध्यतीति भावः । प्राक् पश्चाच्चाभावत्वमुभयमतेन सिद्धमेवातो मध्येऽभावमेव साधयितुं प्रयत इत्याह–**प्राक् पश्चाच्चेति** । तस्यैव चासौ भावस्य व्यय इति त्वया क्षणिकत्वव्यपदेशप्रसिद्ध्यर्थं वचनमुक्तम्, तत्र च भावस्येति षष्ठी श्रूयते सा च कृत्प्रत्ययान्तव्ययशब्दयोगेन कर्त्तुः कर्मणो वा भवति, तत्र कस्मिन्नर्थे षष्ठीयमिति पृच्छति–**तस्य चायमर्थ इति** । कर्तृषष्ठ्यभ्युपगमे भावः कर्त्ता स्यात्, तथा च भावो व्येति–विनश्यति–न भवतीति भावकर्तृको विनाशो भवनाभावो वाक्येन तेन विधीयते भावेन न भूयते भावो विनश्यतीत्युक्तं भवति, तस्मान्मध्यावस्थायामपि उत्पादस्याभावस्तेन वचनेनोक्त इति भावः । यदि भावस्य व्यय इति कर्मलक्षणा षष्ठीत्युच्यते तर्हि भावो न विनाशं प्रति कर्त्ता स्यात्, तस्य कर्मत्वाभ्युपगमात्, अन्यस्य तु कर्तृत्वं नाभ्युपगम्यते 'जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते' इति त्वयैवोक्तत्वात्, तथा च विनाशोऽकर्तृक इति विनाशासम्भवात्, क्षणस्य भावस्य निवृत्तिरेव न स्यात्, निवर्त्तकाभावादित्याशयेनाह–**यदि कर्मलक्षणेति** । उपसंहरति–**तस्मात् प्रागिति,** भावस्य व्यय इति वचनेन क्षणिकशब्दस्यार्थवत्तासाधनं न सम्भवतीति भावः । द्रव्यार्थपक्ष एव तण्डुलानामोदन इत्यादि निर्देशः सम्भवति, ओदनादिविकारकाले द्रव्यस्य वृत्तेर्विकारान्तरगमनसम्भवादित्याह–**अपि चेति** । व्याचष्टे–**अपि च तण्डुलानामिति,** ओदनादिविकारकाले द्रव्यार्थतया तण्डुलादेः वर्त्तमानत्वात् तत्र विकारस्य वृत्तत्वेन तण्डुला ओदनत्वमापद्यन्त इति भावः । तव मते द्रव्यस्य तथाविधविकारान्तरगमनं न सम्भवति विकारकाले विकारिणोऽभावात् एवञ्च कथं भावस्य व्यय इत्याह–**त्वन्मते त्विति** । यदा भावः सन्निहितस्तदैव व्येतीत्युच्यत इत्याशङ्कते–**स्यान्मतमिति** । ननूक्तमेव त्वया किन्तु स

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °प्यसत्त्वे साध्येते । २ सि. क्ष. छा. डे. विनाशकर्तृकः ।

ननूक्तमत्रोच्यते सम्प्रधारः स एव वर्त्तते तदैवायुक्तमिति, यदि यदा सन्निहितस्तदैव व्येति नैव तर्ह्युत्पद्यते न सन्निहितः न भवति-नास्तीत्यर्थः, अथोत्पद्यते भवति सन्निहितो न तर्हि व्येति, कस्मात् ? उत्पादव्यययोर्विप्रतिषेधाद्विरुद्धः प्रतिषेधो विप्रतिषेधः, उत्पादो व्ययेन विरुध्यते व्ययश्चोत्पादेन, अतो विरुद्धत्वात् परस्परनिवारितत्वाद्विप्रतिषेधात् कुत एव तत् ?—तद्वचनं तस्यैव भावस्य व्यय इति, दूरत एव न घटतेऽभावादिति, एवं तावदुत्पादक्षण एव विनाशक्षण इति वक्तुमयुक्तम्, विप्रतिषेधात् ।

न केवलमयमेव न घटते किं तर्हि ?—

एवञ्चोत्तरोऽप्यस्य विनाशक्षणो नैव भवति, यतः तदपेक्षः क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते, अनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवत्, आकाशवद्वा, द्वयाभावे तु यदि सदेव चेद्वस्त्विष्यते तत आर्हतमताभिमतस्थितद्रव्यार्थसद्भावे क्षणे क्षणे पर्यायनयसद्भावे चोत्पादविनाशाभ्युपगमात् क्षणिकशब्दार्थवत्सोपपद्यते नान्यथेति, एवमेव च 'जातिरेव हीति' श्लोक इत्थं पठितव्यः, तद्यथा-'जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते' इति, यस्मात् स्थित एवार्थ उत्पद्यते नास्थितः तस्मादुत्पत्तिरेवावस्थाने कारणं जातमवस्थितश्चेत्यतो न ध्वस्तमिति ।

(एवञ्चेति) एवञ्चोत्तरोऽप्यस्य विनाशक्षणो नैव भवति, यतस्तदपेक्षः क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते-तस्याभावादेव न घटत इत्यर्थः, कस्मात् ? अनुत्पन्नत्वात् खपुष्पवदिति गतार्थम्, सौत्रान्तिकं प्र[त्या]काशवदिति वा, एवं तावदुत्पादविनाशौ न युक्तावेकक्षणे क्षणान्तरे वा क्षणिकशब्दाभिधेयो यतः स्यात्, तथा च द्वयाभावे तु—उत्पादविनाशक्षणाभावेऽपि यदि सदेव चेद्वस्त्विष्यते तत इदमापन्नमार्हतमताभिमतस्थितद्रव्यार्थसद्भावे क्षणे क्षणे पर्यायनयसद्भावे चोत्पादविनाशाभ्युपगमात् क्षणिकाः सर्वभावा

विरुद्धार्थः स एव वर्त्तते तदैव विनश्यतीत्याह-**ननूक्तमिति** । स एव वर्त्तत इति यदुच्यते तदेवायुक्तमित्यर्थः । कथमयुक्ततेत्यत्राह-**यदि यदेति,** उत्पादव्यययोरेककालत्वे उत्पाद एव न भवति विनाशप्रतिरुद्धत्वादुत्पादस्यासन्निहितत्वादिति भावः । यदि चोत्पादो भवति न तर्हि विनाशः स्यादुत्पादप्रतिरुद्धत्वेनासन्निहितत्वादित्याह-**अथोत्पद्यत इति** । प्रतिरोधः कथमित्यत्राह-**उत्पादव्यययोरिति,** तयोः परस्परं विरोधादेकसद्भावेऽपरः प्रतिरुध्यत इति भावः । विरोधं दर्शयति-**उत्पाद इति** । उत्पादो भवनरूपो विनाशश्च भवनविघातक इति भवनतद्विघातयोरेकदाऽसम्भवात् युगपत्परस्परप्रतिषिद्धप्रसरत्वमिति भावः । अतो भावस्य व्यय इति वचनमेककालावच्छेदेन न संजाघटीतीति दर्शयति-**कुत एव तदिति** । उपसंहरति-**एवं तावदिति** । दोषान्तरमप्याह-**एवञ्चेति,** उत्पादक्षण एव विनशक्षण इत्यस्यासम्भवेन चेत्यर्थः । उत्पादस्योत्तरक्षणो विनाशोऽपि न सम्भवति, यदपेक्षयोत्पादक्षणस्तेन क्षणिकः स्यादित्याह-**एवञ्चोत्तरोऽपीति** । **अनुत्पन्नत्वादिति,** न हि उत्पादक्षणे विनाशक्षण उत्पन्नः, अनुत्पन्नेन च तद्वत्ताऽसम्भवात्, उत्पादस्योत्तरक्षणो विनाशो न भवति, अनुत्पन्नत्वात्, योऽनुत्पन्नः स न कस्याप्युत्तरक्षणो भवितुमर्हति खपुष्पादिवत्, सौत्रान्तिकं बौद्धं प्रत्याकाशवत्, तन्मते संस्कृतस्यैव क्षणिकत्वात्, आकाशादेरसंस्कृतत्वेनाभावमात्रत्वात्, उक्तमपि शङ्कराचार्यैर्ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्याये भाष्ये "अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति 'बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकञ्च' इति तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशञ्चेत्याचक्षते, त्रयमपि चैतदवस्तु अभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते" इति । तदेवमेकस्मिन् क्षणे क्षणान्तरे वोत्पादविनाशौ न युक्तौ यत उत्पादः क्षणिकशब्दाभिधेयः स्यादित्याह-**एवं तावदिति** । एवमुक्तप्रकारेणोत्पादविनाशाभावेऽपि वस्तु सदेवेत्यभ्युपगम्यते तर्ह्यार्हतमताभ्युपगतवस्तुत्वप्रसङ्गः स्थितद्रव्यार्थसद्भाव एवोत्पादविनाशयोरभ्युपगमादित्याह-**तथा चेति,** द्रव्यार्थतः स्थितद्रव्यसद्भाव एव पर्यायार्थतः प्रतिक्षणमुत्पादविनाशाभ्युपगम एव सर्वे-

इति क्षणिकशब्दार्थवत्तोपपद्यते नान्यथेति, एवमेव च–यथा व्याख्यातं तथा जातिरेव हीति श्लोक इत्थं पठितव्यः तद्यथा–जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते,' पश्चार्द्धं तदेव, त्वया तु भावानामनाश इत्यत्र संहितापाठतो मकारो विकारसहितपाठाद्विनाशितः, केनचिदजानता दुर्लिखितत्वाद्वा, अन्येन दुरुपदेशाद्वा, यस्मादुक्तविधिना स्थित एवार्थ उत्पद्यते नास्थित इति प्रतिपादितं तस्मादुत्पत्तिरेवावस्थाने कारणम्, अवस्थितस्यैवोत्पत्तेः जातमवस्थितञ्चेत्यतो न ध्वस्तम्, तस्योत्पत्तिकाल एवानष्टस्य सतोऽवस्थानात्मकस्य पश्चात् को विनाशहेतुरिति न कदाचिदपि विनाशः ।

मा मंस्थाः साहसमिदं स्थितं जायते जातञ्च न ध्वंसत इति, तदर्थं प्रतिज्ञायते—

स्थितश्च जायते च न च ध्वंसते घटः द्रव्यार्थात्मा, न तावदस्थितः, अनुत्पादविनाशात्मकत्वात्, यदुत्पादात्मकं विनाशात्मकञ्च न भवति तन्नास्थितमेव, असंस्कृतत्रयवत्, तद्धि बोध्यत्वाद्रूपादिवत् सत्, सच्च नास्थितञ्च, उत्पादविनाशमात्रात्मकतायान्तु निर्बीजायां तयोरभावः, तस्यैव चासौ भाव इत्येतदपि न किञ्चित्, स्थितमेवोत्पद्यते विनश्यति चेत्यादि भावितवदिति, योऽपि श्लोकः 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिः सोऽप्येवं पठितव्यः तद्यथा –'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया ?'। तद्व्याख्या–भावाः वस्तूनि इति पर्यायाः ते सर्वेऽप्यक्षणिकाः स्थित्या क्रियया चोत्पत्तिविनाशात्मिकया सततभवनक्रियात्मका एव, अतस्ताभ्यामक्षणिका इति ।

(**स्थितश्चेति**) स्थितश्च जायते च न च ध्वंसते घटः द्रव्यार्थात्मेति, तस्य युगपत् प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् क्रमेण प्रतिपाद्यते, स्थितत्वं तावत्–न तावदस्थित इति प्रतिज्ञायते–अस्थितत्वप्रतिषेधे स्थितत्वं सिद्ध्यतीति, कस्मात् ? अनुत्पादविनाशात्मकत्वात्, यदुत्पादात्मकं विनाशात्मकञ्च न भवति

भावानां क्षणिकत्वमिति क्षणिकशब्दस्यार्थवत्त्वं सूपपद्यते, अन्यथा तु नैव उपपद्यत इति भावः । एवञ्चेदानीं 'जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते । पश्चाद्विनाशकाभावान्न विनश्येत् कदाचन' इति कारिका त्वयोक्ता 'जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते । पश्चाद्विनाशकाभावान्न विनश्येत् कदाचन' इत्थं पठनीयेत्याह–**एवमेव चेति** । इत्थमेव कारिकापाठो योग्यः, तत्र त्वया 'भावानामनाशे' इत्यत्रानुस्वारं विहाय मकारस्थाने विपदं योजयित्वा स पाठो विनाशितः, यद्वा केनचिद्दुर्बुद्धेन तथा पाठ उल्लिखितः स्यात्, यतस्त्वमपि तथैवाङ्गीचकर्थ, अथवा केनापि त्वं दुरुपदिष्टो वेत्याह–**त्वया त्विति** । कारिकां व्याचष्टे–**यस्मादिति** । स्थितस्यैवोत्पादो नास्थितस्येति यतोऽत एव जातिरेव–उत्पत्तिरेव अनाशे–अवस्थाने कारणम्, अवस्थानञ्चोत्पत्ताविति जातमवस्थितञ्च द्वयरूपमेव वस्तु, न तु ध्वंसस्यावकाशः, जनेः सत्त्वात् स्थितेः सत्त्वाच्च जनेरेव भावात्, जनिकालेऽपि वस्त्ववस्थानात् विनाशकारणाभावाच्च न कदाचिदपि विनाशावसर इति भावः । स्थितं जायते जातश्च न ध्वंसत इति साधयति–**स्थितश्चेति** । द्रव्यार्थात्मा स्थित एव घटः पिण्डशिवकस्थासकघटकपालकपालिकादिरूपेण जायते तस्माद् द्रव्यभावात्मकं वस्तु, न च ध्वंसते–न च निरन्वयविनाशी, न चास्थितः न क्षणिक एव जायते, न प्रागसत उत्पादो न वा निरन्वयो विनाश इति भावः। तथा स्थित एव जायते नास्थितो जायत इत्यर्थद्वयं युगपत् प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् क्रमेण प्रतिपाद्यते तत्रास्थितो न जायत इत्युक्तौ स्थित एव जायत इति सिद्ध्यत्येवेति तथैव प्रतिज्ञायते–**न तावदस्थित इति,** द्रव्यार्थात्मा घटो न तावदस्थित एवेत्यर्थः । हेतुमाह–**अनुत्पादेति,** उत्पादविनाशात्मकत्वाभावादित्यर्थः, असत आत्मलाभो निरन्वयविनाशश्च यतो न भवतीति भावः । व्याप्तिं ग्राहयति–**यदुत्पादेति । असंस्कृतेति,** सर्वास्तित्ववादिबौद्धमते संस्कृताः–हेतुप्रत्ययजनिताः क्षणिकाः क्षणमात्रमेवैषां कालो न परतः, त एते रूपादयः पञ्चस्कन्धाः द्वादशचक्षुराद्यायतनानि चक्षुराद्यष्टादश धातवश्च, हेतुप्रत्ययं विनैव बुद्धिबोध्या असंस्कृता आकाशप्रतिसंख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधास्त्रयः, एते च न क्षणिकाः अनुत्पादविनाशात्मकाः बुद्धि-

तन्नास्थितमेव, असंस्कृतत्रयवत् यथा प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधः, आकाशमित्येतत्त्रयं बोध्यत्वाद्रूपादिवत् सत्प्रत्ययेनाजनितत्वादसंस्कृतं त्रयमिति संख्यात्रयवाच्यत्वाच्च सच्च नास्थितञ्च तथा घटोऽपीति, त्वन्मतेन चोत्पादविनाशमात्रात्मकतायान्तु निर्बीजायां–स्थितार्थशून्यायां तयोः उत्पादविनाशयोरभावः प्राप्तः, यदप्युक्तं तस्यैव चासौ भाव इति, एतदपि न किञ्चित् इत्युपक्रम्य शब्दतोऽर्थतश्च यावद्विप्रतिषेधादिति भावितेन तुल्यं भावितवदित्यतिदिशति स्थितमेवोत्पद्यते विनश्यति चेत्यादि, योऽपि श्लोकः–'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यादिः सोऽप्येवं पठितव्यः एतस्मात् कारणात्, इतिशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्, तद्यथा–'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया' पश्चार्धं त्वत्पाठवत्, उत्पन्नस्याविनाशप्रतिपादनार्थः श्लोकः, तद्व्याख्या–भावाः वस्तूनीति पर्यायाः ते सर्वेऽप्यक्षणिकाः, स्थित्या क्रियया चोत्पत्तिविनाशात्मिकया सततभवनक्रियात्मका इत्युक्ता एव, अतः स्थितिक्रियाभ्यामक्षणिका इत्युपसंहृतार्थव्याख्यैव ।

त्वन्मतवद्यदि क्षणिकाः स्युस्तत एषामुत्पादविनाशौ नैव स्याताम्, व्यापारस्थितिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, यद्यक्षणिकाः तत उत्पादविनाशासम्भवात्तदतिरिक्तत्वं, उत्पादविनाशातिरिक्तत्वात्ते न स्थिता एव, खपुष्पवदस्थितानां कुतः क्रियेत्युक्तम्, सा हि युज्यते संवृत्त्यैवेति चेन्न भूतिर्येषां क्रिया सैव भवतीत्यभ्युपगतैव प्राक् व्यापारारिक्तता द्रव्यार्थवस्तुनः, भूतेरेव ।

(**त्वन्मतवदिति**) त्वन्मतवद्यदि क्षणिकाः स्युस्तत एषामुत्पादविनाशौ नैव स्याताम्, व्यापारस्थितिरिक्तत्वात् खपुष्पवदित्यनिष्टापादनसाधनमिदं गतार्थम्, तस्मात् स्थितस्यैवोत्पादविनाशसिद्धेरक्षणिका भावाः, अत्राह–यद्यक्षणिका इत्यादि यदि स्थितोऽक्षणिकश्च भावः तस्योत्पादविनाशौ न

बोध्यत्वाद्रूपादिवत् सन्तश्च नास्थिताः, एवं घटोऽपीतिभावः । बोध्यत्वं प्रकाशयति–**त्रयमितीति** । त्वन्मते च स्थितेरभावात् उत्पादविनाशयोरभाव एव स्यात् निर्बीजत्वादित्याह–**त्वन्मतेन चेति,** तयोरवस्तुत्वेनासत्त्वभूतत्वादिति भावः । भावितमेवैतत् प्राक् स्थितमेवोत्पद्यते उत्पन्नञ्च विनश्यतीति निरूपणावसरे तस्यैव चासौ भावस्य व्यय इत्यादि यावद्विप्रतिषेधादिति ग्रन्थेनेत्याह–**यदप्युक्तमिति** । प्रत्ययजन्मानः संस्काराः रूपादयः सर्वे क्षणिका क्षणमात्रस्थायिनो द्वितीयादिक्षणानवस्थायिन इत्येतदर्थकारिका त्वया योक्ता 'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया ?। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति साऽपि 'सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया ? भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥' इति पठनीया इत्याह–**योऽपि श्लोक इति,** उत्पन्नस्य विनाशो न भवतीत्येतदर्थकोऽयं श्लोक इत्याह–**उत्पन्नस्येति** । श्लोकं व्याचष्टे–**तद्व्याख्येति** । भावमात्रमक्षणिकं स्थितिभवनरूपं स्थितस्यैव पिण्डशिवकस्थासकोशकुशूलघटकपालकपालिकाद्यात्मकत्वात्, तत्र पूर्वपूर्वभवनस्योत्पादात्मकत्वादुत्तरोत्तरभवनस्य विनाशात्मकत्वात्, तस्मात् स्थितिभवनाभ्यामक्षणिकाः स्थितं जायते न च ध्वंसत इति भावः । तव मते तु भावाः क्षणिकाः स्थितिव्यापाररहिताः कथं तेषामुत्पादविनाशौ स्यातामित्याह–**त्वन्मतवदिति,** तवाभिप्रायवदित्यर्थः । खपुष्पं हि व्यापारेण स्थित्या च रिक्तं नोत्पद्यते न विनश्यति च, एवं यदि भावाः क्षणिकाः स्युः तदा नोत्पद्येरन् न च विनश्येयुर्व्यापारस्थितिरिक्तत्वात्, तस्मात् स्थितस्यैव व्यापारसम्भवादक्षणिका भावा इत्याह–**यदि क्षणिकाः स्युरिति,** एवञ्च क्षणिकानां कुतः क्रियैतिव्याख्यातम् । ननु यदि भावः स्थितोऽक्षणिकश्च ततः सिद्धस्वरूपस्य तस्योत्पादविनाशौ न भवतः, आभ्यां व्यतिरिक्ता न काचित् क्रियाऽस्ति, अतो व्यापाररिक्तः स्थितो भावो वाच्यः, एवञ्चोत्पादविनाशरिक्तत्वादनुत्पन्नत्वादविनष्टत्वाच्च नासौ स्थित एव, यदुत्पादात्मकं विनाशात्मकञ्च न भवति तन्न स्थितमेव किन्तु क्षणिक एव भावः, भावस्य क्षणिकत्वे च त्वदुक्तविधिना खपुष्पवदस्थितानां कुतः क्रिया स्यादत एवास्माभिरस्थितानां कुतः क्रियेत्युच्यत इति शङ्कते–**यदि स्थित इति,** एवञ्च

स्तः, उत्पादविनाशव्यतिरिक्तश्च नान्यः कश्चिद्व्यापारः सम्भवति, तदसम्भवात्तदतिरिक्तत्वं-उत्पादविनाशातिरिक्तत्वम्, उत्पादविनाशातिरिक्तत्वात् अनुत्पन्नविनष्टत्वादपि ते न स्थिता एव, युष्मद्युक्तविधिना खपुष्पवदस्थितानां कुतः क्रियेत्युक्तं पुनर्व्यापाररिक्ता निर्व्यापारक्षणिकतैव, [सा हि युज्यते] संवृत्त्यैवेत्यत्रोच्यते, एतदपि नैव युक्तं भूतिर्येषां क्रिया सैव भवतीत्यभ्युपगतमस्माभिः प्रागेव-स्थितश्च जायते च न ध्वंसते चेति व्यापाररिक्तता-व्यापारयुक्तैव हि द्रव्यार्थवस्तुनः कस्मात्? भूतेरेव, एवं हि भवद्वस्तु भवेत् यदि भवत्येव भवति ।

तत्पुनर्भवनं त्वदिष्टं निर्बीजमनवस्थितं न भवति जन्मेति तद्दर्शयति—

अभ्युपगतमपि चैतत् भूतिर्येषां भावानां स एव व्यापार इति, उत्पादविनाशावाविर्भावतिरोभावाववस्थितस्यैवेति, अत एव कारकं सैव भूतिः, भव्यभवनद्रव्यार्थत्वात्, एवञ्च तदप्यकस्मात् दुःखं यत् पठ्यते 'नंष्टा चेन्नाशविघ्नः कः······।······॥ (   ) इति ।

अभ्युपगतमपि चैतदित्यादि, मयाऽभ्युपगतमेव प्रागुक्ता भूतिर्येषां भावानां स एव व्यापार इति, नाभूतिरभावः प्रागसदुत्पादो नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तविनाशः प्रध्वंसाभावः कौ तर्हि तौ उत्पादविनाशौ? आविर्भावतिरोभावाववस्थितस्यैवेति विस्तरशः चरितार्थम्, तस्मादेवंविधक्रिया[1]युक्तत्वान्निर्व्यापारा[ः]-क्षणिका न भवन्ति भावाः, नाप्यस्थितक्षणिकाः, अत एव कारकं सैव च-भूतिः कारकं आविर्भावतिरोभावात्मकस्थितस्यैव,[2] कस्मात्? भव्यभवनद्रव्यार्थत्वात्-भवतीति भव्यं कर्त्तरि, भूयते यत्तेन तद्भवनं भावे, कर्तृभावसाधनलभ्यात्मनोऽङ्गुलिवक्रर्जुत्ववदात्मनैवात्मनः साध्यसाधनत्वात्, एवञ्च तदप्यकस्मात्[3]

निर्व्यापारक्षणिकताऽस्माकमभीष्टैवेति भावः । तर्हि क्रिया घटः क्रियते घटं करोति कुम्भकार इति क्व भवति, अत्रोच्यते संवृत्त्या व्यवहार इत्याशङ्कायामाह-**एतदपि नैव युक्तमिति,** स्थितस्य क्रियाशून्यत्वं यदापादितं तन्न युक्तं येषां भूतिः-भवनं सैव क्रिया भवतीति स्थितश्च जायते तेन तेन प्रकारेण न च ध्वंसत इति प्रागेव क्रियावत्त्वस्योपपादितत्वात्, तस्मात् द्रव्यार्थभूतं वस्तु व्यापारयुक्तमेव भवत एव वस्तुनो तथा तथा भवनादिति भावः । कारणमाह-**भूतेरेवेति,** द्रव्यार्थस्य भवनादेवेत्यर्थः, यदि भवत्येव भवति-यदि स्थितमेव जायते तदैव हि भवद्वस्तु भवेदित्यर्थः । त्वत्सम्मतं भवनं तु स्थितार्थरिक्तत्वान्निर्बीजं कथमुत्पादरूपं भवेदित्याह-**अभ्युपगतमपीति** । व्याचष्टे-**मयेति,** भूतिर्येषां क्रिया सैवेति भावानामवस्थितानामेव नात्यन्ताभावानां खपुष्पादीनां न वा प्रागसतामुत्पादस्याभ्युपगतत्वान्न व्यापाररिक्ता स्थितिः, नवोत्पन्नस्यात्यन्तविनाशः मे मत इति भावः । उत्पादविनाशयोः प्रागभावप्रध्वंसाभावानात्मकत्वे कीदृशौ तौ भवत इत्यत्राह-**आविर्भावतिरोभावाविति,** विद्यमानस्यैव घटादेः प्रदीपात् प्रकाशनवत् स्थितस्यैवाऽऽविर्भावतिरोभावावुत्पादविनाशावित्युच्यते, प्ररूपितश्चैतद्द्रव्यार्थनयेषु प्रागिति भावः । त्वया तु निर्व्यापारक्षणिकताभ्युपगमात् ते क्षणिका न भवन्ति नाप्यवतिष्ठन्त इत्याह-**एवंविधेति,** आविर्भावतिरोभावरूपेत्यर्थः, निर्व्यापारक्षणिकताऽस्थितक्षणिकता च न युक्ता, तादृशस्य भवनासम्भवादिति भावः । कारकं सैव चोच्यते इति पादं व्याचष्टे-**अत एवेति,** भवतो भावस्य भवनादेवेत्यर्थः, करोतीति कारकं द्रव्यं, सैव भूतिर्भवनमाविर्भावतिरोभावौ, तथा चाविर्भावतिरोभावात्मकस्थितमेव कारकभावरूपमित्यर्थः । हेतुमाह-**भव्येति,** भव्यं द्रव्यं भवनं भावः, कर्तृभवनात्मको द्रव्यार्थः सैव भवति भावश्च यथाऽङ्गुलिरेव वक्रा ऋज्वी भवतीति स्वेनैव स्वस्य साध्यत्वं साधनत्वञ्चेति भावः । एवञ्च नंष्टा चेन्नाशविघ्नः क इत्यादिश्लोकं यत् पठति भवान् तदप्यकस्माद्दुःखमेव खेद एवेत्याह-**एवञ्च तदपीति,** विनाशाभावादेव

---

१ छा. क्रियायुक्तत्वा० । २ सि. क्ष. छा. डे. °रावात्मिकास्थित० । ३ सि. क्ष. छा. डे. °कस्माद्भिरवं ।

दुःखं, एवं स्थितार्थाविर्भावतिरोभावमात्रोत्पादविनाशत्वे यत् पठ्यते–'नंष्टा चेत्' इत्यादिश्लोकः सोऽप्यकस्मात् खेदः ।

स्थितस्यैवोन्मर्दनमुत्पादो विशेषेणादर्शनं विनाशः, को नंष्टाऽत्यन्तादृश्यात्मना? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्य विघ्नश्चिन्त्यते? को विनंक्ष्यति? विनाश एव नास्ति कुतोऽस्य हेतुर्यत उच्यते 'साध्यं विनाशहेतुत्वमि'ति? अपि च वयमित्थं पठामः, तद्यथा– 'भवितुर्भावविघ्नः को न चेन्नैव तथा भवेत्' इति प्रतिपक्षसंस्पर्शविनिर्मुक्तो भाव एव भाव इति निर्धार्यः, यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता, भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथाभवने को विघ्नः? यदि हि भावो भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवने विघ्नः? सदा हि तेन भवता भावेन भवितव्यम्, न न भवितव्यं कदाचित्, 'न चेन्नैव तथा भवेत्' अथ पुनरेवं नेष्यते अतोऽसावभवनधर्मा ततश्चाधुनापि नैव भवेत् ।

(**स्थितस्यैवेति**) स्थितस्यैवार्थस्योन्मर्दनमुत्पादो विशेषेणादर्शनं विनाशोऽन्यथादर्शनं प्राग्वद्दर्शनम्, को नंष्टाऽत्यन्तादृश्यात्मना त्वन्मतः? को नाशः प्रध्वंसाभावात्मको यस्यैवं लक्षणस्य विघ्नश्चिन्त्यते? को विनंक्ष्यति? न कश्चिदपि भावो विनंक्ष्यतीत्यर्थः, कस्मात्, विनाशाभावादेव, एतत्सर्वमुन्मत्तकप्रलपितस्थानीयमविचारक्षमम्, अत आह–विनाश एव नास्ति कुतोऽस्य हेतुः? यत उच्यते–'साध्यं विनाशहेतुत्वमिति', अपि च वयमित्थं पठामो भ्रष्टाम्नायस्तु त्वदीयः पाठः, मदीयस्त्वभ्रष्टः श्रूयताम्–तद्यथा 'भवितुः' इत्यादिश्लोकः, अस्य व्याख्या–प्रतिपक्षसंस्पर्शविनिर्मुक्त इत्यादि, द्रव्यार्थनित्यत्वात् भाव एव भाव इति निर्धार्यः, न प्रतिपक्षः क्षणिकः, तं प्रागभावप्रध्वंसाभावात्मकं संस्पृश्य प्रतिपक्षं भवत्येव भवतीति निर्धार्यः, कथं निर्धार्यते? यथा हि भाव उत्पन्नः स भविता, भूतोऽस्ति चेत् पुनरस्य तथा भवने को विघ्नः? नास्त्येवेत्यभिप्रायः, तद्विवृणोति–यदि हि भावो भूतः कोऽस्योत्तरकालमपि भवने विघ्नः? सदा हि–पूर्वं पश्चात्तदानीञ्च त्रिष्वपि कालेषु तेन भवता भावेन भवितव्यं, न न भवितव्यं कदाचित्, 'न चेन्नैव तथा भवेत्' तद्व्याख्या–

नंष्टेत्यादिश्लोकपठनमपीत्यर्थः । उत्पादविनाशौ दर्शनादर्शने, वर्त्तमानघटादिविशेषेण द्रव्यस्य दर्शनमेवोत्पाद आविर्भावः पूर्वोत्तरविशेषेणादर्शनमेव विनाशस्तिरोधानम्, यद्वस्तु दृष्टमदृष्टञ्च तदेकरूपमेव, य एव हि वर्त्तमानरूपेण दर्शनविषयः स एव पूर्वोत्तररूपाभ्यामदर्शनविषयः न हि निरन्वयध्वंसिनः कदाप्युत्पादः सम्भवति, तिरोभावात्तु स्यादुत्पत्तिः, तस्मान्न प्रध्वंसाभावात्मको विनाशोऽस्ति न वाऽत्यन्तादृश्यात्मना नंष्टाऽस्ति यदर्थं विघ्नचिन्ता भवेदित्याशयेनाह–**स्थितस्यैवेति** । व्याचष्टे–**स्थितस्यैवार्थस्येति,** उत्पादो वर्त्तमानविशेषेण दर्शनम्, विशेषेणादर्शनमन्यथा दर्शनं प्राग्वददर्शनं वा विनाशः, न त्वत्यन्तादर्शनं तथा चात्यन्तादृश्यात्मना नंष्टा न कोऽपि, न वा प्रध्वंसाभावात्मको विनाशस्त्वत्सम्मतोऽस्ति येन विनाशे विघ्नश्चिन्त्यः स्यात्, विनाशाभावादेव विनंष्टापि न कश्चिदस्ति, तस्मात् नंष्टा चेन्नाशविघ्नः क इत्यादिप्रयासो वृथैवेति भावः । विनाशाभावेन तद्धेतुत्वसिद्धत्वादेव त्वयाऽप्युच्यते 'साध्यं विनाशहेतुत्वमित्यादीत्याह–**विनाश एवेति** । एवञ्च नंष्टा चेदित्यादिकारिकापाठो भ्रष्टाम्नायः, कारिका चेत्थं पठनीयेत्याह–**अपि चेति** । 'भवितुर्भावविघ्नः कः न चेन्नैव तथा भवेत्' इति स्यात् कारिकापाठः । तां व्याचष्टे–**प्रतिपक्षेति,** द्रव्यार्थपक्षे वस्तुनो नित्यत्वे भाव एव भावो भवति, न भावस्य कश्चित् प्रतिपक्षः क्षणिकः प्रागभावप्रध्वंसाभावरूपो विद्यते, तस्मात् स स्वप्रतिपक्षक्षणिकसंस्पर्शेन विनिर्मुक्तः सदा भवन्नेव भवति कदाचिदपि न न भवति, न ह्येकदा भवितुर्भावस्य पुनर्भवने कश्चिद्विघ्नोऽस्तीति भावः । एवमेव व्याचष्टे–**यदि हि भाव इति,** एवञ्च त्रिष्वपि कालेषु भवत्येव, भवनस्वभावत्वात्, पूर्वभवनवदिति भावः । विपक्षे दोषमाह–**न चेन्नैव तथा भवेदिति** । तस्य भाष्यमाह–**अथ पुनरित्या-**

अथ पुनरित्यादि, अथैवं नेष्यते—अधुना भवितृत्वात् त्रिष्वपि कालेषु भवत्येवेत्यतोऽसावभवनधर्मा, ततश्चाभवनधर्मत्वादधुनाऽपि नैव भवेत्—इदानीं भवितृत्वेन दृष्टः स नैव कदाचिदपि भवेत् तथाधुनात्वेन खपुष्पवदित्याद्यापन्नमनिष्टञ्चैतत् ।

इतरावाहतुः—

अस्ति भवने विघ्नः स्वयं विनाशो वा कः कस्य विनाशहेतुर्वेति निदर्श्यौ, वैशेषिको ब्रूयात् घटादीनामश्माद्यभिघातो विनाशहेतुः, अग्निसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाञ्च तत्सान्निध्ये विनाशोऽसान्निध्येऽवस्थानमिति, बौद्धोऽपि 'जुहुक्खित्तं मिलेडम्मि' इति तन्न 'साध्ये विनाशतत्त्वे स्तः' अन्यतरासिद्धे कथं निर्धार्यमयं हेतुरेवेति, अस्ति विशेषहेतुस्तस्मिन् सति पश्चादग्रहणादिति ।

(अस्तीति) अस्ति भवने विघ्नः, बौद्धवैशेषिकौ यथासंख्यं स्वयं विनाशो विनाशहेतुसान्निध्यमिति च वाशब्दात्, वयमेवं पृच्छामो यथा कः कस्य विनाशहेतुर्वेति निदर्श्याविति अशक्यमित्यभिप्रायः, वैशेषिको ब्रूयात् यथा घटादीनामश्माद्यभिघात इत्यादि पूर्वनयवत् निदर्शनो गतार्थः, बौद्धोऽपि 'जुहुक्खित्तं मिलेडम्मि' इत्यादि जन्मैव च विनाश इति ब्रूयात् तयोर्युगपदुत्तरं 'साध्ये विनाशतत्त्वे स्त' इत्यादि, क्षणिकवादी ब्रूयास्त्वं जातस्य स्वयं विनाशः प्रागभावप्रध्वंसाभावलक्षण इति, वयं तु ब्रूमः प्रतिलय इत्युक्तन्यायेन, वैशेषिकस्त्वं ब्रूयाः तेनाश्माभिघाताग्निसंयोगादिना घटपार्थिवरूपोदकानां विनाश इति वयं ब्रूमः स्वयमेव प्रतिलय इति ततः कथमिदमन्यतरासिद्धान्निर्धार्यते, अन्यतरासिद्धिव्युदासार्थमाहतुः—तस्मिन् सति पश्चादग्रहणादिति पूर्वनयव्याख्यावदनुगन्तव्यम् ।

दीति, अधुना भवितृत्वात् त्रिष्वपि कालेषु भवत्येवेति यदि नेष्यते तर्हि स भावोऽभवनधर्मा स्यात्, ततश्चाभवनधर्मत्वादधुनाऽपि नैव भवेत् खपुष्पवदिति भावः । आपाद्यं व्याचष्टे—**इदानीमिति,** इदानीं भवितृत्वेन स दृष्टोऽपि न कदाचिदपि तथा भवेत्, तथा—अधुनात्वेन, खपुष्पवदनिष्टञ्चैतदिति भावः । अथ कालान्तरावस्थाय्यनित्यत्ववादी वैशेषिकः क्षणविनश्वरवादी बौद्धश्च भवने विघ्नं शङ्केते—**अस्ति भवने विघ्न इति ।** बौद्धवैशेषिकौ यथाक्रमं स्वयं विनाशं विनाशहेतुसान्निध्यं वा विघ्नं भवने आहतुरित्याह—**बौद्धेति,** वाशब्दाद्वाद्विद्वयं लभ्यत इति भावः । युवाभ्यां कः कस्य विनाशे हेतुरिति विनाशहेतू निदर्श्याविति द्रव्यार्थवादी पृच्छति—**वयमेवमिति,** तद्दर्शनमशक्यमिति पृच्छकस्याभिप्रायः । अश्माद्यभिघातो घटादिविनाशस्य वह्न्यादिसंयोगः पार्थिवानां रूपादीनामपाञ्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुः सिद्ध इति वैशेषिकोक्तिं दर्शयति—**वैशेषिक इति ।** बौद्धोक्तं विनाशहेतुमादर्शयति—**बौद्धोऽपीति,** जन्मैव भावानां विनाशहेतुरिति भावः । ननु विनाशो विनाशहेतुत्वञ्च न सिद्धे, अपि तु ते साध्ये इत्याह—**तयोर्युगपदुत्तरमिति,** बौद्धवैशेषिकयोरुभयोरेकोक्त्यैवोत्तरमुच्यत इति भावः, अत्र 'साध्ये विनाशतत्त्वे स्तः, पश्चादग्रहणं यतः । स्वयं लयेऽपि तुल्यत्वात्तथाऽनुत्पत्तितो ग्रहः' इति कारिका स्यात् । बौद्धं प्रति विनाशस्य साध्यत्वं तावद्दर्शयति—**क्षणिकवादीति,** जातस्य पूर्वभावस्य स्वयं विनाशः-स्वयं प्रध्वंसाभाव इति बौद्धो ब्रवीति, वयन्तु न विनाशो निरन्वयः, किन्तु तिरोभावलक्षणः प्रतिलय एव विनाश इति ब्रूमः, अत एवास्माकं तथाविधविनाशोऽसिद्ध इति भावः । वैशेषिकं प्रति विनाशहेतुत्वस्य साध्यत्वं दर्शयति—**वैशेषिक इति ।** नाश्मादिसंयोगादिना घटादेर्विनाशः, किन्तु स्वयमेव प्रतिलयो भवतीत्यस्मदभीष्टम्, तस्मादन्यतरासिद्धत्वाद्विनाशतत्कारणत्वयोर्निर्धारणमशक्यमित्याह—**वयं ब्रूम इति ।** विनाशे विनाशहेतौ वा सति पश्चात्तद्विशेषस्याग्रहणात्तदसान्निध्ये ग्रहणाच्च घटादिविनाशः तत्कारणञ्च सिद्ध्यतीत्याशयेनाह—**अन्यतरासिद्धीति,** पश्चादग्रहणस्योभयोः सिद्धत्वाद्विनाशः

---

१ सि. क्ष. छा. डे. सन् नैव० ।

तत्रोत्तरं द्वयोरपि–

इदमसंज्ञापकं स्वयं विनाशेऽपि हि भावेऽकृतके क्रमनियमप्राप्तवृत्तौ प्राग्दृष्टो घटभावः कपालत्वेनाविर्भवंस्तिरोभवंश्च घटत्वेन न गृह्यते कपालत्वेन गृह्यते, अतः सिद्ध्यत्येवास्मन्मतेन घटपार्थिवरूपाद्युदकानां तिरोभूतौ तेन रूपेणानुपलब्धिः, कथं कृत्वा? यथासंख्यनिर्देशा हि मृद्रूपादयः, उभयेऽपि शिवकाख्यां लभन्ते, स्वेन रूपेणाविनष्टाः तत्तत्स्वभावभूतेरेव पिण्डत्वेन लीनाः, कर्तृप्रत्ययवशाच्चोत्पन्नाः स्तूपकत्वेन स्तूपक इत्युच्यन्ते, अभिघातादिप्रत्ययवशाद्वा कपालानीति, सर्वज्ञो हि तथा तथा पश्यति, अतस्तस्य शिवकादेरग्रहणं न स्वयमभावाद्विनाशाद्वा।

इदमिति। इदमसंज्ञापकं यस्मात् स्वयं विनाशेऽपि भावे–स्वयं विनाशो हि भावस्याविर्भावतिरोभावात्मकः प्रतिलयो भाव उक्तः, स चोक्तवद्भावत्वादेवाकृतकः तस्मिंश्चाकृतके भावे क्रमनियमप्राप्तवृत्तौ क्रमेण नियमः क्रमनियमः, क्रमनियमेन प्राप्ता वृत्तिर्यस्य सः क्रमनियमप्राप्तवृत्तिर्भावोऽकृतको मृत्पिण्डशिवकस्थासकादिक्रमेण नियता च वृत्तिः प्राप्यते, पिण्डाच्छिवकः, शिवकात् स्तूपक इत्यादि स्वयमेव, कर्त्रादिकारकान्तराण्यपि नियतमृत्पिण्डचक्रसूत्रोदककुलालादिरूपाणि क्रमेण भवन्त्येव भवन्ति, तस्मिंश्च क्रमनियमप्राप्तवृत्तौ भावे प्राग् दृष्टो घटभावः कपालत्वेनाविर्भवंस्तिरोभवंश्च घटत्वेनाश्माभिघातादिनिमित्तभवनप्रकारेण न गृह्यते घटत्वेन, कपालत्वेन गृह्यते, अतस्तेषां सिद्ध्यत्येवास्मन्मतेन तिरोभूतावग्रहणं घटपार्थिवरूपाद्युदकानाम्, तेन रूपेणानुपलब्धिर्विनाशो विशेषेणादर्शनमन्यथोपलब्धिरेवानुपलब्धिरिति, तस्य भावनाप्रश्नः कथं कृत्वेति, व्याकरणं–यथासंख्यनिर्देशा हीत्यादि, मृदिति द्रव्यार्थभवनैक्यादेकसंख्ययोच्यते, रूपादय इत्याविर्भावतिरोभावपर्यायभवनभेदात् बहुत्वसंख्ययोच्यन्ते, उभयेऽपि शिवकाख्यां लभन्ते, स्वेन रूपेण चाविनष्टाः, कस्मादविनष्टा आत्मनेति इति चेत्, तत्तत्स्वभावभूतेरेव–तेन पिं[डा]श्माभिघातादिस्वपरापेक्षेण स्वभावेन

तद्धेतुश्च सिद्ध एवेति भावः। द्वयोरप्युत्तरं स्वयं प्रतिलयेऽप्यग्रहणस्य तुल्यत्वात् पश्चादग्रहणमसंज्ञापकमित्याह–**इदमसंज्ञापकमिति।** आविर्भावतिरोभावात्मकः प्रतिलय एव विनाशो भावानाम्, आविर्भावतिरोभावात्मकभावत्वादेवाकृतकः, अकृतकत्वादेव मृदादिर्भावः क्रमेण नियमेनच वर्त्तत इत्याशयेन व्याचष्टे–**यस्मात् स्वयं विनाशेऽपीति।** अकृतको भावः क्रमेण पिण्डशिवकस्तूपकस्थासकादिना नियतां वृत्तिं प्राप्नोति स्वयमेव, पिण्डाच्छिबक; ततः स्तूपकः, ततः स्थासक इतीति दर्शयति–**क्रमनियमेति।** कारकान्तराण्यपि दण्डचक्रसूत्रसलिलकुलालादिरूपाणि भवन्त्येव तेन सह भवन्ति क्रमनियमेन, स्वपरापेक्षभवनस्वभावत्वात्, पिण्डशिबकादिभवनस्य कारकान्तरापेक्षस्वभावत्वात्, इत्थं क्रमेण पिण्डशिबकादिरूपेण स्वपरापेक्षभवनरूपेण विशेषाणां प्राप्तवृत्तौ भावे पूर्वदृष्टघटपर्यायस्य कपालत्वेनाविर्भावे अश्माभिघातादिनिमित्तभवनरूपेण घटभावस्य तिरोभवनात् तदानीं न तस्य ग्रहणं भवतीत्याह–**कर्त्रादीति।** तस्मात् परनिमित्तापेक्षभवनस्वभावत्वात्तिरोभावस्य तद्भवने चास्मन्मतेनाग्रहणं घटपार्थिवरूपसलिलादीनामित्याह–**अतस्तेषामिति,** भावस्याविर्भावतिरोभावयोः स्वपरापेक्षभवनस्वभावत्वादेव घटपार्थिवरूपादीनां घटत्वादिनाऽनुपलब्धिः, सैव विनाशो विशेषेणादर्शनमन्यथोपलब्धिरुच्यते पर्युदासवृत्त्या, न तु प्रसज्यप्रतिषेधेनोपलब्ध्यभावः तस्य निःस्वभावत्वादिति भावः। उक्तमेव भावयति–**कथं कृत्वेति,** मृत् कथं कृत्वा शिबकाद्याख्यां लभत इत्यर्थः। भावयति–**यथासंख्येति** रूपादिविशिष्टा मृदेव शिबकाद्याख्यां लभते स्वस्वरूपमजहती यथासंख्यता च मृदो द्रव्यत्वेनैकविधभवनात्मकत्वादेकवचनान्तनिर्देशः, रूपादय इत्याविर्भावतिरोभावपर्यायाः तद्भवनस्यानेकविधत्वात् बहुवचनान्तनिर्देशः तत्र शिबकादिसंज्ञा न मृद एव न वा रूपादीनामेव किन्तूभये शिवकादिसंज्ञां लभन्ते तत्रापि ते न स्वयं विनष्टाः सन्तः, किन्तु स्वस्वरूपमत्यजन्तः, कुतो हेतोः स्वस्वरूपेणाविनष्टाः? तेन तेन स्वभावेन स्वपरापेक्षेण भव-

भवन्तो लीनास्तिरोभूताः पिण्डत्वेन कर्तृप्रत्ययवशाच्चोत्पन्नाः स्तूपकत्वेन स्तूपक इत्युच्यन्ते मृद्रूपादयः, अभिघाता[दि]प्रत्ययवशाद्वा कपालानीति, सर्वज्ञो हि 'जं जं जे जे भावे परिणमति, पयोगवीससा दव्वं । तं तह जाणाति जिणो अपज्जवे जाणणा णत्थि ॥' (आव० नि० २६६७) इति वचनात् तथा तथा पश्यति, तदुपसंहरति–अतस्तस्य शिवकादेरग्रहणम्, न स्वयमभावाद्विनाशाद्वेत्युभयोरप्युत्तरोक्तिः ।

पार्थिवा अपि रूपादयः स्वपरापेक्षस्वभावेन भवन्तोऽग्निसम्बन्धसामर्थ्येन पूर्वरूपतिरोभावे पुनरन्यथोत्पन्नाः, तथाऽपामप्यर्थान्तरापेक्षानपेक्षस्थितार्थभवनव्याप्तेरल्पतराविर्भूतिरग्निसम्बन्धसामर्थ्यात्, अन्त्यानामपामतिसूक्ष्मत्वान्न स्फुटं ग्रहीतुं शक्यतेऽनुमीयते तु तिरोभूता इत्यार्हतद्रव्यार्थवादं पर्यायार्थाकाङ्क्षं क्षणिकवादः समर्थयति ।

पार्थिवा अपीत्यादि, तद्ग्रन्थवदेवात्रापि ग्रन्थः, विशेषस्तु पूर्वरूपतिरोभावे पुनरन्यथोत्पन्ना इति व्याख्यातानुसारेण, विशेषश्चाग्निसम्बन्धसामर्थ्यम्, एवमपामित्यादि, विशेषस्तथैव, अपामल्पतराविर्भूतेरर्थान्तरापेक्षानपेक्षस्थितार्थभवनव्याप्तेरेवापामल्पतराविर्भूतिरग्निसम्बन्धसामर्थ्याद्तोऽन्त्यानामपामतिसूक्ष्मत्वादभिव्यक्तावसामर्थ्ये न स्फुटं ग्रहीतुं शक्यते प्रत्यक्षतोऽनुमीयते तु तिरोभूता इति, अनेन प्रकारेण [अ]ग्रहणं न तेनाग्निसंयोगेन विनाशनादिति, तस्मात् साध्ववोचमार्हतद्रव्यार्थवादमेव पर्यायार्थाकांक्षं क्षणि[क]वस्तुवादः समर्थयतीति ।

मा चाधृतिं कार्षीः ममैवार्हतत्वमापतितमनिच्छतोऽपीति, किं तर्हि? विध्यादिभङ्गान्तःपातिनः सर्वेऽन्येऽपि वस्तुवाद्युद्ग्राहाः त्वदुद्ग्राहतुल्याः, तच्च तद्व्यसनदर्शनादात्माश्वासकरमिति धृतिं भावय ।

मा चाधृतिं कार्षीरित्यादि, ममैव क्षणिकवस्तुवादिन आर्हतत्वमापतितमनिच्छतोऽपीत्यनुतापं

नादश्माभिघातादिप्रत्ययवशात् पूर्वस्वभावेन तिरोभूता उत्तरस्वभावेनाविर्भूताः कर्त्रादिप्रत्ययवशान् मृद्रूपादयः शिवकस्थासकाद्याख्यां अभिघातादिप्रत्ययवशाच्च कपालकपालिकाद्याख्यां लभन्त इति भावः । ईदृशप्रक्रियायां प्रमाणमह–**सर्वज्ञो हीति । 'जं जं' इति** 'यद्यत् यस्मिन् यस्मिन् भावे परिणमति प्रयोगविस्रसाभ्या द्रव्यम् । तत्तथा जानाति जिनोऽपर्यवे ज्ञातृता नास्ति ॥' इति छाया, यावत्प्रकारद्रव्यवेत्तृत्वं सर्वज्ञस्योक्तमस्यां गाथायाम् अभिघातादिप्रत्ययवशात् स्वरूपेण सन्तोऽपि शिवकत्वादिना शिवकादेस्तिरोधानादेव शिवकादेरग्रहणम्, न तु शिबकस्यात्यन्तमभावाद्विनाशाद्वेत्याह–**अतस्तस्येति** । पार्थिवरूपादीनां स्थितानामेवाविर्भावतिरोभावरूपेण भवनमिति दर्शयति–**पार्थिवा अपीति** पृथिवीसम्बन्धिनोऽपीत्यर्थः । पूर्वग्रन्थतुल्यतामत्रातिदिशति–**तद्ग्रन्थवदेवेति** । स्वेन रूपेणाविनष्टा रूपाग्निसंयोगादिस्वपरापेक्षस्वभावेन तिरोभूता रूपकर्तृप्रत्ययवशाच्चोत्पन्नाः तिरोभूतरूपेण न गृह्यन्ते, आविर्भूतरूपेण च गृह्यन्त इत्याशयेन विशेषं दर्शयति-**विशेषस्त्विति,** अत्राग्निसम्बन्धसामर्थ्यं रूपादि च विशेषः पूर्वस्मात्, तत्र ह्यश्माभिघातादिसामर्थ्यं मृत्पिण्डादि चोक्तमिति भावः । जलस्यापि स्वपरापेक्षस्वभावेन भवतोऽग्निसम्बन्धसामर्थ्यात् स्थूलतरतिरोभावेनाल्पतराविर्भूतिरित्याह-**एवमपामित्यादीति । अर्थान्तरेति,** स्थितार्थभवनमर्थान्तरं यदग्निसंयोगादि तदपेक्षमप्यनपेक्षं स्वतो भवनादिति भावः । अन्त्यस्य सलिलस्यातिसूक्ष्मत्वेन तस्याभिव्यक्तौ सामर्थ्यं नास्ति अत एव प्रत्यक्षतो न गृह्यते किन्त्वनुमीयते तिरोभूतं सलिलमितीत्याह–**अन्त्यानामपामिति** । अल्पाल्पतरत्वादिना सलिलस्याग्रहणमेत्र विनाशो न त्वग्निसंयोगादिना विनाशनादित्याह–**अनेनेति** । एवञ्च पर्यायार्थाकाङ्क्षं व्यार्थवादमर्हत्सम्मतमेव क्षणिकवस्तुवादः समर्थयति, अन्यथाऽसम्भवादित्याह–**तस्मादिति** । ननु क्षणिकवस्तुवादिनो मेऽनिच्छतोऽप्यार्हतत्वमापतितमिति मा शुच इत्याह–**मा चाधृतिमिति** । व्याचष्टे–**ममैवेति** । क्षणिकवस्तुवादिनस्तवैव-

मा कार्षीः । किं तर्हि ? विध्यादिभङ्गान्तःपातिनः सर्वेऽन्येऽपि वस्तुवाद्युद्ग्राहास्त्वदुद्ग्राहेण तुल्या आर्हतता-मेवानुपतन्ति, वस्तूद्ग्राहस्यानेकान्तत्वापत्तेः, तच्च तेषां पूर्वाभ्युपगमे विरोधा[द्]व्यसनं प्रेक्ष्यात्मन आश्वा-सकरमिति तद्व्यसनदर्शनादात्माश्वासकरमिति तद्व्यसनदर्शनादात्माश्वासनं कुरु धृतिं भावय ।

अनन्तरातीतनयदर्शनं तावद्भावयामः तद्यथा–

येप्याहुः राशिवदिति, एष श्लोकः स्याद्वाद एव नैकान्तार्थत्वात् 'शक्त्यन्तरत्वतादात्म्या-न्यानन्यत्वप्रकल्पना। ………………… ॥' इति शक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं तदात्मना सेना तु प्रत्येकमिति तयोः समुदायिसमुदाययो-रेकत्वनानात्वे वादिनाऽङ्गीकृते द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कृतो भवति, नरादिसामान्यतादा-त्म्येऽपि च सेनाऽन्यापि, तत्समुदायमात्रत्वात् तदात्मत्वात् भवनसामान्यस्य रूपरसार्थान्तर-त्ववत्, तस्मादेव प्रागेष न्यायस्तद्यथा 'नृरथाश्व…………………।…………॥' इति ।

येप्याहुः राशिवदित्यादि, एष श्लोकः स्याद्वाद एव, नैकान्तार्थत्वात्, तद्व्याख्याश्लोकमाह– 'शक्त्यन्तरत्वतादात्म्ये'त्यादि सेनायां भाविते सर्वदृष्टान्तेषु राशिसार्थादिष्वपि भावितमेव भविष्यतीति लाघवार्थं, शक्त्यन्तरं नरादिषु प्रत्येकमसत् सेनायां समुदितनरादिचतुरङ्गायां दृष्टं प्रबलरिपुविजयनम्, तदात्मना सेना तु प्रत्येकं, तान्येव हि नराद्यङ्गानि सेनेति, तेनैव तयोर्नरादिसेनाख्यवस्तुनोः समुदायिसमुदाययो-रङ्गाङ्गिनोरेकत्वनानात्वे वादिनोद्ग्राहयताऽङ्गीकृते, तदङ्गीकरणात् द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः–उभयनयात्मक-

---

सर्वेषां विध्यादिभङ्गान्तःपतितानामपि वस्तुवादानामार्हतत्वमापतत्येवेत्याह–**विध्यादीति** । हेतुमाह–**वस्तूद्ग्राहस्येति,** यदि वस्त्वभ्युपगम्यते केनापि तदा तद्वादस्यानेकान्तत्वमापद्यत एवेति भावः । एवञ्चानेकान्तत्वमात्मन आश्वासकारि, अन्यवादाश्च दोषभूयिष्ठत्वाद्व्यसनरूपा इति विचार्य शोकं मा कुर्वित्याह–**तच्चेति** आर्हतत्वञ्चेत्यर्थः । ननु विध्यादिभङ्गान्तःपातिवस्तुवादाना-मार्हतत्वमापद्यते, तत्कथमिति प्रतिपादनीयम्, वचनमात्रात्तथात्वानापत्तेः, तत्राव्यवहितपूर्वनयस्यार्हतत्वापादनस्य कृतत्वादनन्त-रादेकादशादतीतं दशमनयदर्शनमेव तावत्प्रथममार्हतत्वेन भावयाम इत्याशयेनाह–**येऽप्याहुरिति** । पूर्वपक्षव्यावर्णनपरं श्लोकमाह–**राशिवदित्यादीति,** नायं श्लोकोऽस्माभिर्लब्धो पञ्चस्कन्धातिरिक्तस्यात्मनो नास्तित्वे संवृत्त्या समुदाय एव स प्रज्ञाप्यते तत्सन्ताने वेति साधनाय दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता राश्यादयः, समुदायासत्त्वप्रतिपादनार्थाः, रूपादिमात्रवस्तुत्वप्रतिपादनाः, तदर्थस्य दृढीकरणार्थञ्च दृष्टान्तबाहुल्यं तन्नयेन प्रतिपादितमिति बोध्यम् । एतच्छ्लोकप्रतिपादितोऽर्थः स्याद्वाद एव, अनेकान्तार्थत्वादिति प्रतिवाद्याह–**एष श्लोक इति** । कथं स्याद्वाद इत्यत्र श्लोकेन तत्प्रकारं दर्शयति–**तद्व्याख्याश्लोकमिति** । **शक्त्यन्तर-त्वेति,** अयमपि श्लोको न पूर्ण उपलब्धः । शक्त्यन्तरत्वतादात्म्यान्यानन्यत्वप्रकल्पना । अनेकान्तार्थरूपत्वात् स्याद्वादम-नुगच्छति ॥ इति कारिका सम्भाव्यते । अनेके दृष्टान्ताः पूर्वपक्षिणोक्ताः तत्र सेनादृष्टान्ते स्याद्वादे भाविते सर्वदृष्टान्तेषु राशिसार्थादिषु स भावितो भवतीत्याह–**सेनायां भावित इति,** सेनायां स्याद्वादे भाविते इत्यर्थः । 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्', तत्र प्रत्येकं हस्त्यादौ भिन्ना शक्तिः, समुदितायां सेनायान्तु शक्त्यन्तरत्वमस्ति, तच्च प्रबलरिपुविजयनरूपम्, तत्तु प्रत्येकं नरादौ नास्ति, सेना तु तत्स्वरूपभूता, प्रत्येकं नराद्येव हि सेनेत्युच्यत इत्याह–**शक्त्यन्तरमिति,** अन्या शक्तिः शक्त्यन्तरम् । ततः किमित्यत्राह–**तेनैवेति,** अस्य वादिनेत्यनेन सम्बन्धः, तयोः नरादिसेनयोः शक्त्यन्तरत्वान्नानात्वं तदात्म-त्वाच्चैकत्वं वादिनाऽङ्गीकृतमिति भावः । भवतु तेनापि किमित्यत्राह–**तदङ्गीकरणादिति,** उक्तरीत्याऽङ्गाङ्गिनोरेकत्वनाना-त्वाभ्युपगमाद्द्रव्यार्थपर्यायार्थानुपातः कृतो भवति, एकत्वाङ्गीकाराद्द्रव्यार्थानुपातः, नानात्वाङ्गीकाराच्च पर्यायार्थानुपातः, अयञ्चो-

---

१ सि. क्ष. डे. छ. स च० । २ सि. क्ष. डे. छा. पेव्यसनमाश्वास० । ३ सि. क्ष. छा. डे. भावितेषु ।

स्याद्वादानुपातः कुतो भवति, उभयनयात्मकत्वे साधनमाह–नरादिसामान्यतादात्म्येऽपि चेत्यादि यावद्रूपरसार्थान्तरत्ववदिति, यथा हि भवनसामान्येन भवदपि रूपं रसादर्थान्तरं रसोऽपि रूपात्, रूपान्तरेण निरूपितरूपत्वात् तथा गन्धादेर्गन्धादिरपि, ताभ्यां तत्स्वरूपं[1] शक्त्यन्तरं यतः[2] तत्र वृत्तौ रूपरसौ, ततोऽन्यौ परस्परतः, एवं नरादय एव सेनेति तत्सामान्यतादात्म्ये सत्यपि सेनाऽन्यापि तेभ्यः, अपिशब्दादनन्यापि तत्समुदायमात्रत्वात् तदात्मत्वात् तस्मादेव प्रागिव न्यायः, तद्यथा 'नृरथाश्वे'त्यादि श्लोकः, शक्त्यन्तरादन्या तादात्म्यादनन्येति ।

तथा शिखरादिभ्यः प्रत्येकमसत्त्वात्तेष्वेव सत्त्वादन्योऽनन्यश्च शिखरी, तथा मरिचादिभ्यः पानकस्यान्यानन्यते वातादिरोगकोपोपशमादिसत्त्वासत्त्वाभ्यां पृथक् समुदाये च, तथाऽऽत्मापि सुखादिसहक्रमभाविपर्यायात्मकत्वादनन्यः, अन्यस्तु प्रत्येकं तेषां विरोध्यविरोधिभेदात्, पानकद्रव्यमात्रं स्वतत्त्वमपि, तद्वृत्तिसिद्धत्वात्, मधुररसवत्, न हि तद्वृत्तिसिद्धो रसः रूपादिसहभाविधर्मान्तरसङ्गतिमन्तरेणोपलभ्यतेऽतः स्वतत्त्वः परतत्त्वश्च ।

तथा शिखरादिभ्य इति, शिखरसान्वादिषु प्रत्येकमसत्त्वादन्यः समुदितेषु तेष्वेव सत्त्वादनन्यः शिखरी तेभ्यः, तथा मरिचेत्यादि, 'युक्तितो मिश्रितेष्वि'ति वचनात् पानकस्य मरिचादिभ्योऽन्यत्वमसत्त्वाच्च पृथक्, तदात्मत्वादनन्यता, वातादिरोगकोपोपशमादिशक्त्यन्तरसत्त्वासत्त्वाभ्यां पृथक्, समुदाये चेति, तथाऽऽत्मापि सुखदुःखेच्छाद्वेषादिसहक्रमभाविपर्यायात्मकत्वादनन्यः, तेषां सुखादीनामात्म[प]रिणाममात्रत्वात्तदभेदाच्च, अन्यस्तु प्रत्येकं तेषां विरोध्यविरोधिभेदात्, तावत् परिसमाप्तश्च शक्त्यन्तरतदात्मत्वाभ्या-

---

भयनयात्मकस्याद्वादानुपात एवेति भावः । उभयनयात्मकत्वमेव हेतुद्वारा साधयति–**नरादीति,** नरादिसामान्ययोस्तादात्म्ये सत्यपि सेना ततोऽन्यापि तत्समुदायरूपत्वात्, अनन्यापि तदात्मत्वादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह–**यथा हीति ।** रूपरसगन्धस्पर्शाः भवनात्मकाः, तथा च ते भवनसामान्येन भवन्तोऽपि रूपं रसादिभ्यः रसादयो रूपात्, रूपरसौ गन्धादेः गन्धादिश्च रूपरसाभ्यामर्थान्तरं भवति रूपादीनां विभिन्नस्वरूपैर्निरूपितस्वरूपत्वादिति भावः । **ताभ्यामिति,** रूपरसाभ्यां तत्स्वरूपं भवनं शक्त्यन्तरं, अर्थान्तरं यस्मात् रूपरसौ भवने वृत्तौ, ततोऽन्यौ इति भावः । दार्ष्टान्तिकेऽन्यानन्यत्वे आह–**एवं नरादय एवेति ।** अत्रापि नृरथाश्वेति श्लोकोऽस्माभिः नोपलब्धः, तथापि 'नृरथाश्वद्विपवती सेना शक्त्यन्तरत्वतः । अन्यापि च तदात्मत्वादनन्या सा भवे'दिति ॥ एवं स्यादिति सम्भाव्यते । अन्यानन्यत्वे शिखर्य्यादिदृष्टान्तेषु दर्शयति–**तथा शिखरादिभ्य इति ।** शिखरसानुपाषाणादिषु शिखरिणः प्रत्येकमसत्त्वादन्यः शिखरी तेष्वेव शिखरादिषु वृत्तेश्च तदात्मत्वादनन्यः । शिखरादिभ्य इत्याह–**शिखरेति ।** पानकदृष्टांतं भावयति–**युक्तित इति,** मरीचादिषु प्रत्येकं पानकस्यासत्त्वादन्यता तेष्वेव वृत्तेस्तदात्मत्वादनन्यतेति भावः । प्रकारान्तरेणान्यत्वानन्यत्वे घटयति–**वातादीति,** वातादिरोगोपशमनरूपं शक्त्यन्तरं पानक एवास्ति, न मरीचादिप्रत्येकं तस्माच्छक्त्यन्तरत्वादन्यत्वं तदभावाच्च मरीचादेस्ततोऽन्यत्वमिति भावः । आत्मदृष्टान्तं भावयति–**तथाऽऽत्मापीति,** सुखदुःखेच्छाद्वेषादिसहक्रमभाविपर्यायात्मक एवात्मा सुखादयो ह्यात्मपरिणामाः परिणामपरिणामिनोश्चाभेदः, सुखदुःखादीनां प्रत्येकं विरोध्यविरोधित्वाभ्यां भेद इति तावच्छक्त्यन्तरतदात्मत्वाभ्यामन्यानन्यत्वप्रकल्पना विज्ञेयेति भावः । मधुराम्लादिविरोध्यविरोधिभेदभिन्नानां संहत्या सिद्धे कटुकत्वादिरसविशेषे

---

१ सि. क्ष. छा. डे. तच्चरूपं । २ सि. क्ष. छा. डे. तयोस्तत्र ।

मन्यानन्यत्वप्रकल्पना, तथा माधुर्याम्लादिरपि, ते मधुरादयो धर्मा येषां विरोध्यविरोधिभेदात् सन्ति ते तद्वन्तः, तेभ्यस्तद्वद्भ्यः सिद्धानि कटुकत्वादीनि, तेषु संहतेषु पानकद्रव्यमात्रं प्रतिज्ञा स्वतत्त्वमपीति, अपिशब्दात् परतत्त्वमपि, तद्वत्सिद्धत्वात् मधुररसवत्, यथा रसः पृथिव्याद्यनभ्युपगमेऽपि रूपादिसहभाविधर्मान्तरसङ्गतिमन्तरेणानुपलब्धेः स्वतत्त्वः परतत्त्वश्च तथा पानकमपि, न हि तद्वदित्यादि दृष्टान्तव्याख्या गतार्था ।

तथैव पुरुषद्रव्यं स्कन्धमात्रे न समानीयते यतः स्कन्धा अपि रूपम् वेदना विज्ञानं संज्ञा संस्कार इति, रूपमपि विषयेन्द्रियविज्ञप्त्याख्यमरूपमपि विज्ञानात्मत्वात्, एवं पञ्चापि, आत्मापि विज्ञानात्मकः ते एव रूपादयः स्कन्धा इत्यनात्मा च, तस्मात् सिद्धार्थीयस्थित्यनतिक्रमात् उद्ग्राहितवस्तूनामयुक्तं पठितमेकान्तेन राशिवदित्यादि, तत्त एवाप्राज्ञाः स्कन्धव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तात्मानमात्मानं स्कन्धा एवेत्याहुः, अप्राज्ञानां तेषामेव च भेदवादो यथा रूपादिसमुदायमात्रं तत्त्वमिति समुदायो रूपादिविशेषाणां सामान्यमभ्युपगतं, तथेहापि पञ्चस्कन्धसमुदायः सामान्यमेवेति निराकार्यः सैद्धार्थीयैः तदुभयमिच्छद्भिरात्मग्राहोऽस्त्विति ।

तथैव पुरुषद्रव्यमित्यादि, स्कन्धमात्रे नात्मप्रकारैः समानीयते, कथं न समानीयते? यस्मात् स्कन्धा अपीत्युद्देशः, निर्देशो रूपमित्यादि, रूपादि चक्षुरादि, विषयेन्द्रियविज्ञप्त्याख्यं रूपं, विज्ञानात्मसात्कृतं रूप्यते तस्मात्तत्, अरूपमपि विज्ञानात्मत्वात्, एवं पञ्चापीत्यतिदिशति, वेदनादीनामपि रूपादिस्वाभाव्यौदारिकानौदारिकादिभेदलक्षणसम्बन्धाविनाभावात् परस्पराविनिर्भागवृत्त्यभ्युपगमात्, यथोक्तं— 'यथानलकलापौ द्वौ तिष्ठतोऽन्योऽन्यसंश्रितौ । एवं नाम च रूपं च तिष्ठन्तोऽन्योऽन्यसंश्रिते' (   ) इति, आत्मापीति, सोऽपि विज्ञानात्मकः, त एव रूपादयः स्कन्धा इत्यात्माऽनात्मा च, शक्त्यन्तरतदात्मत्वाभ्यामेव, तस्मात् सिद्धार्थीयस्थित्यनतिक्रमादुद्ग्राहितवस्तूनामयुक्तं[1] तैरपि पठितं एकान्तेन 'राशिवदि'त्यादि, तस्मात्त एवाप्राज्ञा ए[व] स्कन्धव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तात्मानमात्मानं स्कन्धा एवेत्याहुः, इत्युद्घटना, इत्य[त]श्चाप्राज्ञानां

पानकसंज्ञा, अत एव पानकद्रव्यं स्वतत्त्वमपीत्याह-**तथा माधुर्याम्लादिरपीति** । इदञ्च रससमुदायस्य पानकद्रव्यत्वे निदर्शनम् । ते मधुराम्लतिक्तादयः सन्त्येषु गुडामलकीमरीचादिषु ते तद्वन्तः, तेभ्यः सिद्धः कटुकत्वादिरसस्तदेव पानकद्रव्यं स्वतत्त्वमपि परतत्त्वमपि, तद्वत्सिद्धत्वादिति । प्रयोगार्थमाह-**ते मधुरादय इति** । दृष्टान्तं स्फुटयति-**यथा रस इति** । यथा रसः रूपादिस्वतत्त्वः रूपादिसहभाविधर्मव्यतिरेकेणानुपलब्धेः, परतत्त्वोऽपि रूपादीनां परस्परं विरोध्यविरोधिस्वरूपत्वात् तथैव पानकद्रव्यमपीति भावः । पञ्चस्कन्धस्वरूप एव पुरुष इति मतं निराकरोति-**तथैवेति** । व्याचष्टे-**स्कन्धमात्र इति** । आत्मद्रव्यं स्कन्धमात्रे न पर्याप्तमित्यर्थः । तत्कुत इत्यत्राह-**स्कन्धा अपीति** । विभज्यमानपदार्था इत्यर्थः, निर्देशो विभागप्रकारः रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्वरूपाः पञ्चस्कन्धा इति भावः । रूपस्कन्धः क इत्यत्राह-**रूपादीति** । विषया इन्द्रियाणि अविज्ञप्तिश्च रूपस्कन्ध इति भावः । तस्य रूप्यरूपित्वे दर्शयति-**विज्ञानेति** । विज्ञानप्रतिबिम्बितं सद्रूप्यते यतोऽतस्तद्रूपमुच्यते । न हि तद् विज्ञानेनासम्बद्धं रूपितुं शक्यमिति भावः । तस्या रूपत्वन्तु विज्ञानस्वरूपत्वादेव, विज्ञानस्यारूपत्वादित्याह-**अरूपमपीति** । रसादिपञ्चस्वप्येवमेव भाव्यमित्यतिदिशति-**एवमिति** । वेदनादीनामपि रूपित्वारूपित्वे दर्शयति-**वेदनादीनामपीति** । पञ्चस्कन्धातिरिक्तात्मा नेभ्युपगन्तुरस्य वादिनो न विशेषवादित्वम्, यथा रूपादिसमुदायमात्रं तत्त्वमित्यव्यवहितपूर्वनयवादिनो न विशेषवादित्वम्, रूपादिविशेषाणां सामान्यस्वरूपतत्समुदायस्य चाभ्युपगमात्, तथैव पञ्चानां स्कन्धानां विशेषाणां सामान्यस्वरूपतत्समुदायस्य चाभ्युपगमात्त्वमपि तद्वत् ते आत्मग्राहोऽस्त्विति सामान्यविशेषोभयमिच्छद्भिः स्याद्वादिभिर्निरा-

---

१ सि. क. क्ष. छ. वस्तुनां० ।

तेषामेव भेदवाद इत्यादीति, यथाऽतीतनये रूपादिसमुदायमात्रं तत्त्वमिति समुदायो रूपादीनां विशेषाणां सामान्यमभ्युपगतम्, ततो न विशेषवाद्यसाविति निराकृतः, तथेहापि पञ्चानां स्कन्धानां समुदायः सामान्यमेवेति निराकार्यो जायते सैद्धार्थीयैः तदुभयमिच्छद्भिरात्मग्राहोऽस्त्विति ।

किञ्चान्यत्—

औदासीन्याच्च तत्त्वेषु मिथ्याभिनिवेशात्त्वदुद्ग्राहप्रापिते ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकमात्मानं पश्यसि तस्मात् तादात्म्यशक्त्यन्तरोद्ग्राहपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् सैद्धार्थीयत्वापत्तिः वस्तुवादित्वात्, एवं शेषवादेष्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात् तत्र तत्र तथैव योजितमित्यलं प्रसङ्गिन्याः संकथायाः ।

औदासीन्याच्चेत्यादि तत्त्वपरीक्षानादरात् मिथ्याभिनिवेशात्—अहमस्मि तत्त्वदर्शीत्यात्माभिमानाच्च भवतः त्वदुद्ग्राहप्रापिते ज्ञानसुखाद्यन्यात्मकं स्याद्वादनिरूपितमहं सुखी दुःखी रक्तो द्विष्टो वाऽस्मीत्यात्मानं पश्यसि, तस्मात्तादात्म्यशक्त्यन्तरोद्ग्राहपुरस्कृतसामान्यविशेषात्मकत्वानतिक्रमात् रूपादिसमुदायमात्रवादिनोऽपि सैद्धार्थीयत्वापत्तिः वस्तुवादित्वादिति साधूक्तम्, एवं शेषवादेष्वपीत्यतिदेशः, एवं शेषेषु पुरुषवादेष्वपि स्याद्वाद एवापद्यते बलात्, तत्र तत्र तथैव योजितमित्यलं प्रसङ्गिन्याः संकथायाः, कियदुच्यते विरमोऽस्तु वादात् एकान्तनिश्चयपुरस्कृताया वस्तुवादाभ्युपगमायाः, सम्बन्धाभावात् ।

किं तर्हि ?—

एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिदं सर्वम्, सुप्तोन्मत्तादिवत्, सुप्तमत्तस्थानीया एव हि रक्तद्विष्टमूढाः पाषण्डिनः तदतदाकारप्रकल्पनानुपातिविज्ञानत्वात् तदतत्स्वाभाव्येन विज्ञानकल्पिताकारसुप्तमत्तादिविज्ञानविषयवत्, किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः शून्यं तैः स्वैराकारैरिदं गृह्यमाणमपि बुद्ध्या ग्राहकाकारपरिप्लवाद्ग्राह्याकारभ्रान्तेः शून्यगृहवत् प्रवेष्टृस्थातृनिर्गन्तृकल्पोत्पादादिरहितं कल्पयितुं न्याय्यम् ।

(**एवमिति**) एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिदं सर्वं सुप्तोन्मत्तादिवत्, यथा सुप्तस्य संवृत्तमपि

क्रियत इति दर्शयति—**यथाऽतीतनय इति,** एकादशनय इत्यर्थः । त्वदुद्ग्राहप्रापिते पञ्चस्कन्धसमुदाय एव स्याद्वादसम्मतमहं सुखी दुःखी वाऽस्मीति यदात्मानं पश्यसि तद्भवतस्तत्त्वपरीक्षायामनादरात् मिथ्याभिनिवेशादात्मनस्तत्त्वदर्शित्वाऽभिमानाच्चेत्याह—**औदासीन्याच्चेति** । व्याचष्टे—**तत्त्वपरीक्षेति** । एवमपि त्वं वस्तुवाद्यसि यतोऽत एव सैद्धार्थीयोऽसि, शक्त्यन्तरत्वतदात्मत्वाभ्यामन्यानन्यत्वरूपसामान्यविशेषात्मकवस्त्वनतिक्रमात्, तस्माद्रूपादिसमुदायमात्रं तत्त्वमिति वादिन इव रूपादिपञ्चस्कन्धसमुदायात्मक आत्मेति वादिनः सैद्धार्थीयत्वापादनं साधूक्तमित्याह—**तस्मात्तादात्म्येति** । इदमेवेतरवादेष्वप्यतिदिशति—**एवमिति** । शेषवादेष्वपि तत्र तत्र नयष्वेव सैद्धार्थीयत्वापत्तिः कृतैवेति प्रसङ्गादागतायाः एकान्तनिश्चयपूर्वकवस्तुवादाभ्युगमरूपसंकथाया अलम्, अत्र कियद्वक्तव्यम्, विरमोऽस्तु वादात्, सम्बन्धाभावादित्याह—**एवं शेषेष्विति** । इत्थमत्र वादेषु स्याद्वादत्वापत्तिप्रसङ्गेन सर्वमिदं दृश्यमानं जगत् निःस्वभावमेवेति गृह्यतामिति एष नयः प्राह—**एवन्त्विति** । व्याचष्टे—**यथा सुप्तस्येति** । सुप्तो हि अवकाशलक्षणे आकाशे गजसमूहदिव्यभवनपक्षिसदृक्षस्वोड्डयनादि नरः पश्यति तत्सर्वं निःस्वभा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. मिच्छद्भिरातामाग्रहीर्थेस्त्विति ।

अवका[शे] हस्तियूथादिदर्शनं निःस्वभावविषयं तदतत्स्वभावशून्यं तथा जाग्रतोऽपि, यथा वा मत्तस्य मदाद्याकुलस्य, सुप्तमत्तस्थानीया एव हि रक्तद्विष्टमूढाः पाषण्डिनः तदतदाकारप्रकल्पनानुपातिविज्ञानत्वात्, तदतत्स्वाभाव्येन विज्ञानकल्पिताकारसुप्तमत्तादिविज्ञानविषयवत् किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः, शून्यं तैस्तैराकारैरिदं गृह्यमाणमपि बुद्ध्या, ग्राहकाकारपरिप्लवाद्ग्राह्याकारभ्रान्तेः, तस्मान्न ग्राहकं शून्यमेवेति कल्पयितुं न्याय्यम्, किमिव ? शून्यगृहवत् प्रवेष्टृस्थातृनिर्गन्तृकल्पोत्पादादिरहितम्— यथा शून्यगृहे न प्रवेष्टा न स्थाता [न] निर्गन्ता [नैवम]त्रापि उत्पत्तिस्थितिविनाशसम्बन्धाः तथैवोत्पादस्थितिभङ्गरहितमिदं ज्ञानविज्ञेयाभिमतमित्युद्देशः ।

स च स्वभावश्चिन्त्यमानो न स्वतः नापि परतो न द्वाभ्याम्, नाप्यहेतुतः, अथ कथं स्वपरोभयाभावः ? ब्रूमः, असिद्ध्ययुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्यः, असिद्धेस्तावत् दीर्घह्रस्वयोर्मध्यमानामिकाङ्गुल्योः दीर्घाया दीर्घस्वभावो न तावद्दीर्घे स्वात्मन्यस्ति परायत्तत्वात्तस्यास्तस्य तद्धि अनामिकाह्रस्वत्वायत्तं यत् स्वात्मन्यसिद्धं तत् कथं परतः सिद्ध्येत् ? ।

(**स चेति**) स च स्वभावश्चिन्त्यमानो हेतुतो[ऽहेतुतो] वा स्यात्, यदि हेतुतः स्वतः परत उभयतो वा स्यात्, स च स्वभावो 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां, नाप्यहेतुतः', अत्रोपपत्तिप्रश्नः अथ

वत्वाच्छून्यमेव, न हि यथा तत् पश्यति तत्तत्स्वभावमन्यस्वभावं वा, एवं जाग्रदवस्थायां दृश्यमाना घटादयोऽपि तथाविधा इति भावः । एवं मत्तपुरुषजन्यज्ञानविषयपदार्थानां निःस्वभावतावदपि जगन्निःस्वभावमित्याह—**यथा वेति** । जगद्वस्तुप्ररूपकाः पार्षडिनोऽपि रक्तद्विष्टमूढाः सुप्तमत्तोन्मत्तस्थानीया एवेति तद्विज्ञानं वस्तूनां निःस्वभावत्वेऽपि तदाकारामतदाकाराञ्च प्रकल्पनामनुसरति सुप्तादिविज्ञानवदित्याह—**सुप्तमत्तेति** । यथा सुप्तमत्तादिपुरुषीयविज्ञानविषयाणा तत्स्वभावतयाऽतत्स्वभावतया च विज्ञानैः परिकल्पिताकारत्वं तथैव जाग्रदवस्थायामपि किमपीदं किमपीदमिति प्रतिभासते वस्तु, परमार्थतस्तु नास्ति कश्चिदाकारो वस्तूनां किन्तु शून्यमेव तत्त्वमतो ग्राह्याभावाद्ग्राहकमपि न किञ्चिदस्ति, तस्माच्छून्यमेव सर्वमिति कल्पयितुं युक्तमित्याह—**तदतत्स्वाभाव्येनेति** । एतन्नये विज्ञानमेव तत्त्वं, परमार्थभूतः बाह्यः पदार्थो नास्ति, बुद्धिमात्रेणैव प्रमाणप्रमेयादिविभागः, न हि बाह्योऽर्थो ग्राह्यो भवत्यसम्बन्धात् तादात्म्यासम्भवात् जन्यजनकभावासम्भवाच्च, न हि विज्ञानेनार्थस्योत्पत्तिः, न वाऽर्थेन विज्ञानस्य, विज्ञानं हि स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिविज्ञानहेतुजन्यम्, नान्यः कश्चन सम्बन्धोऽस्ति, न च नीलपीतादिविज्ञानवैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या बाह्योऽर्थो निमित्तहेतुर्भवति, विज्ञाने नीलादेः स्वाकारार्पणाक्षमत्वात्, अन्याकारस्यान्यत्रार्पणासम्भवात्, अन्यथा स्वस्य निराकारत्वापत्तेः, तस्मान्नास्ति बाह्यं ग्राह्यम्, ज्ञानाकारवैचित्र्यन्तु पूर्वविज्ञानवैलक्षण्योद्भावितपूर्वपूर्वज्ञाननिष्ठशक्तिविशेषादेव, संसारस्यानादित्वात्, तस्मात् विज्ञानमेव वासनावैचित्र्यान्नीलपीताद्याकारमवभासते न बाह्यो नीलादिः परमार्थः, तस्मादयं नील इत्यादिजाग्रद्विज्ञानं स्वप्नविज्ञानं स्वावभासमात्रं बहिर्वदवभासस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम एवेति विज्ञेयम्, अत एव बुद्ध्या तैस्तैराकारैर्नीलादिभिर्गृह्यमाणमपीदं शून्यमेव वासनावैचित्र्यादेव ग्राहके विज्ञाने आकारस्य परिप्लवात् परितो गमनात् ग्राह्याकारो बाह्यो भ्रम एव, तस्मान्न बाह्यवस्तुग्राहकं विज्ञानमिति विज्ञानव्यतिरिक्तत्वेनाभिमतं सर्वं शून्यमेवेत्याह—**तैस्तैराकारैरिति** । प्रवेष्टृस्थातृनिर्गन्तृरहितशून्यगृहवत् उत्पत्तिस्थितिविनाशसम्बन्धरहितं ज्ञानाज्ज्ञेयत्वेनाभिमतमिदं सर्वं जगदिति निराकारविज्ञानवादिमतवस्तुसंकीर्त्तनमित्याह—**शून्यगृहवदिति** । वस्तूनां निःस्वभावत्वसिद्ध्यर्थं वस्तु स्वभावत्वेनाभिमतं स्वभावं निराकर्तुमाह—**स च स्वभाव इति** । उत्पादस्थितिभङ्गा एव वस्तूनां स्वभावः, तत्र विद्यमानस्य कथमुत्पादः, अविद्यमानस्य खपुष्पायमाणत्वात् कथमुत्पादः, एवञ्च स न स्वभावो भवितुमर्हति एवं स्थितिरपि, निरुद्धं निरुध्यमानञ्च न निरुध्यते, अनिरुद्धमपि न निरुध्यत इति निरोधो न स्वभावः, तस्मात्—'यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा । तथोत्पादः तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥ इति माध्यमिका कारिका । तत्र वस्तूना स्वभावः किं हेतुतः उताहेतुतो भवति, यदि हेतुत उच्यते स हेतुः स्वं वा परो वोभयं वेत्याह—**स चेति** । हेतुतः स न सम्भवतीत्याह—**स च स्वभाव इति** । 'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः

कथं स्वपरोभयाभावः ? ब्रूमः–एभ्यो हेतुभ्यः–असिद्ध्ययुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्यः–असिद्धावयुक्तौ च क्व स्वभावः ? उत्पादे सति स्वः परो वा भावः स्यात्, अनुत्पादे कुतः सः ? सामग्र्या दर्शनेऽपि न स्वोभावः, अदर्शने पुनर्भेदस्वभावः इत्युपसंहारो भविष्यति, क्रमेणैते हेतवः प्रतिपाद्या इत्यत आह–असिद्धेस्तावदित्यादि, अङ्गुलिर्मध्यमा दीर्घा अनामिका ह्रस्वा, तयोर्दीर्घाया-मध्यमाया दीर्घेति यः स्वभावः–दीर्घत्वं तन्न तावत् दीर्घे स्वात्मन्यस्ति, कस्मात् ? परायत्तत्वात् तस्या मध्यमायास्तस्य दीर्घत्वस्य, तद्धि तस्या दीर्घत्वमनामिकाह्रस्वत्वायत्तम्, तां ह्यनामिकां ह्रस्वामपेक्ष्य मध्यमा दीर्घेत्युच्यते, यत्स्वात्मन्यसिद्धं खरविषाणादिवत्तत् कथं परतः सिद्ध्येत् ? ।

स्यान्मतं स्वायत्तमेवेति, तन्न अनामिकाह्रस्वत्वाभावप्रसङ्गात्—

यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात्, अनामिकाह्रस्वत्वं न स्यात्, अपरापेक्षत्वात् साऽपि दीर्घैव स्यात्, मध्यमावत्, न तु भवति तस्या ह्रस्वत्वेष्टेः, अथाह्रस्वैवेष्यते ततश्च मध्यमादीर्घत्वाभावः, तामेवापेक्ष्य दीर्घेति व्यपदेशात्, तस्माच्च दीर्घत्वप्रतिपक्षस्यानामिकाह्रस्वत्वस्याभावः, तयोः परस्परायत्तत्वात्, कदा मध्यमा दीर्घा सेत्स्यति ? यदाऽनामिकाह्रस्वा भवेत्, अनामिका ह्रस्वा च मध्यमादीर्घत्वसिद्धौ सेत्स्यति इति इतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः ।

(यदि हीति) यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात्–यथाऽऽत्मायत्तमेव मध्यमाया दीर्घत्वं तथा अनामिकाह्रस्वत्वं न स्यात्, अपरापेक्षत्वात् सापि दीर्घैव स्यात्–यथा हि मध्यमाऽनामिकानिरपेक्षा दीर्घेष्यते तथाऽनामिकापि मध्यमानिरपेक्षा स्वत एव दीर्घेष्यताम्, मध्यमावत्, न तु भवति तस्या ह्रस्वत्वेष्टेः, अथाह्रस्वैवेष्यते ततश्च-अह्रस्वत्वे मध्यमादीर्घत्वाभावः–तस्या अनामिकायाः स्वात्मनि ह्रस्वत्वाभावे मध्यमाया

क्वचन केचन ॥' इति माध्यमिककारिका, तत्रोत्पादादिस्वभावाः स्वपरोभयेभ्यो न भवन्ति, असिद्धेरयुक्तेश्च, उत्पादे सिद्धे हि स स्वतो वा परतो वोभयतो वेति भवेत् स एवासिद्धोऽयुक्तश्च, न युज्यते इत्ययुक्तिर्नास्ति वा युक्तिः साधनं यस्येत्ययुक्तिस्तस्मात्, एवञ्च भावासिद्धावेव कः स्वभावः कस्माद्वा भवेदित्याह–**असिद्धावयुक्तौ चेति** । उत्पत्तिविनाशयोः जाताजातयोर्वाऽनुत्पादादसत्त्वे कुतः स्वभाव इत्याह–**अनुत्पाद इति** । सत्यां सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते न प्रत्येकं स्वरूपेण वा, स्वरूपेण च यन्नास्ति तस्य सामग्र्यां सत्यामपि कुतोऽस्तित्वं स्यादिति कुतः स्वोभाव इत्याह–**सामग्र्या इति** । वस्तुनो आराद्भागस्यैव दर्शनात् परमध्यभागयोरदर्शनात् एकस्यापि वस्तुनो भेदस्वभावतैव स्यादित्याह–**अदर्शन इति** । अथ प्रत्येकमेषां हेतूनां विचारं कर्तुमाह–**क्रमेणैत इति** । प्रथमं सौलभ्यादापेक्षिकपदार्थाश्रयेणाह–**अङ्गुलिरिति,** मध्यमाऽङ्गुलिर्दीर्घेत्युच्यते, अनामिका च ह्रस्वेत्युच्यते, तत्राङ्गुलिद्वयमध्ये मध्यमाया यद्दीर्घत्वं स्वभावस्तन्नास्ति दीर्घे स्वात्मनि, परायत्तत्वात्, तद्धि दीर्घत्वमनामिका ह्रस्वत्वमपेक्ष्य भवति, एवञ्च यत्स्वात्मन्यसिद्धं तत्कथं परतः क्षिद्ध्येत् खरविषाणादिवदिति भावः । यदि तु दीर्घत्वं परायत्तं न मन्यते स्वायत्तमेव स्यात्तदा प्राह–**यदि हीति** । यदि मध्यमाया दीर्घत्वं स्वविषयमेव स्वापेक्षमेव न तु परायत्तं तर्ह्यनामिकाया ह्रस्वत्वमपि परायत्तं न स्यात्, एवञ्च यदपरायत्तं स्वायत्तं तद्दीर्घं दृष्टं यथा मध्यमा तथाऽनामिकापि दीर्घा स्यात्, अपरायत्तत्वादित्याशयेन व्याचष्टे–**यथेति** । अनामिकाया दीर्घतां प्रतिपादयति–**यथा हीति** । इष्टापत्तिं व्युदस्यति–**न तु भवतीति** । मध्यमापेक्षह्रस्वत्वस्यैव तत्रेष्टत्वादिति भावः । युक्तिसिद्धत्वादिष्टं विहायानामिकाया अह्रस्वत्वमेवेष्यते यदि तर्ह्यनामिकायाः स्वात्मनि ह्रस्वत्वं नास्ति, एवं सति मध्यमाया दीर्घत्वं कथं स्यात् अनामिकाह्रस्वत्वमपेक्ष्य हि तस्या दीर्घत्वमिष्यते अनामिका यदि न ह्रस्वा तर्हि कामपेक्ष्य मध्यमा दीर्घा भवेत् तस्मात्तस्या दीर्घता न स्यादित्याह–**अथाह्रस्वैवेष्यत इति** । एवञ्चानामिकाह्रस्वत्वाभावे मध्यमादीर्घत्वाभावः, मध्यमादीर्घत्वा-

दीर्घत्वं न स्यात्, तामेवापेक्ष्य-ह्रस्वानामिकां दीर्घेति व्यपदेशात् सा चेदनामिका ह्रस्वा न भवति कामन्यामपेक्ष्य दीर्घा स्यान्मध्यमा? इति तस्या दीर्घत्वाभावः, तस्माच्च-मध्यमादीर्घत्वाभावात् दीर्घत्वप्रतिपक्षस्यानामिकाह्रस्वत्वस्याभावः, तयोः परस्परायत्तत्वात्, तद्भावयति—कदा मध्यमेत्यादि यावत् सेत्स्यतीति गतार्थमितरेतराश्रयत्वभावनम्, इतीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः—इत्थमुक्तेतरेतराश्रयत्वान्न सिद्धिः परस्परप्रतिबद्धवाताहतनौद्वयवद्विशीर्येते ह्रस्वदीर्घत्वकल्पना, एवं तावत् दीर्घे दीर्घत्ववृत्तिमिच्छतः प्रसङ्गादुभयोरभाव आपादितः।

स्यान्मतं ह्रस्वे तर्हि दीर्घता भविष्यति त्वदुक्तविधिना, ह्रस्वापेक्षत्वाद्दीर्घत्वस्य, अनामिकाह्रस्वत्वायत्तत्वाभिमतमध्यमादीर्घता भवितुमर्हत्यतः सिद्ध्यति दीर्घत्वं तथा ह्रस्वत्वमितरापेक्षत्वादित्यत्रोच्यते—

न ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं तत्प्रतिद्वन्द्वित्वात्तयोस्तमःप्रकाशवत् जीवितमरणवच्चैकत्र कुतो भावः? तस्य वाऽदीर्घत्वेऽभावात्मकत्वात् कुतो दीर्घत्वमागतमन्यत्? ह्रस्वत्वाभावाच्च नास्ति दीर्घत्वम्, दीर्घत्वस्य ह्रस्वे वृत्ते तदवष्टब्धे ह्रस्वत्वस्यानवकाशात्, तथापि पुनः ह्रस्वप्रतियोगिनो दीर्घत्वस्याभावान्न सिद्ध्यति दीर्घत्वम्, स्वात्मनि परत्र वा वृत्त्यसम्भवात्।

(**नेति**) न ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं तत्प्रतिद्वन्द्वित्वात्, दीर्घत्वेन ह्रस्वत्वेन विरोधात् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परविरोधात् तमःप्रकाशवज्जीवितमरणवच्चैकत्र कुतो भावः? तस्य वाऽदीर्घत्वेऽभावात्मकत्वात्—तस्य ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वात्, यद्धि लोके दीर्घं न भवति उच्यते ह्रस्वमिति तस्मात् तस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वात् कुतो दीर्घत्वमागतमन्यत्? ह्रस्वत्वाभावाच्च नास्ति दीर्घत्वं—दीर्घत्वस्य ह्रस्वे वृत्ते दीर्घत्वाव[1]ष्टब्धेऽनवकाशात्

भावे चानामिकाह्रस्वत्वाभावः, ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परायत्तत्वादित्याह—**तस्माच्चेति**। एवमितरेतराश्रयत्वाद्ध्रस्वत्वदीर्घत्वयोरसिद्धिः न हि परस्पराश्रयाणि कार्याय कल्पेरन् परस्परप्रतिबद्धवाताहतनौद्वयवदुभयमपि विनश्येतेति भावयति—**कदा मध्यमेत्यादीति**। इतरेतराश्रयत्वे च हानिमाह—**इतीतरेतराश्रयत्वादिति**। एवं दीर्घादीर्घत्वस्वभावाभाव आपादित इत्याह—**एवं तावदिति**। भवतु त्वदुक्तरीत्या स्वत एव मध्यमानपेक्षा दीर्घताऽनामिकायाः, अपरापेक्षत्वात्, मध्यमायामपि अनामिकाह्रस्वत्वापेक्षं दीर्घत्वं स्यात्, एवञ्च दीर्घत्वह्रस्वत्वयोः सिद्धिरितरापेक्षत्वादित्याशङ्कते—**न ह्रस्वेऽपीति**। ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परं प्रतिद्वंद्वित्वादेकत्रासत्त्वाद्ध्रस्वे दीर्घता न सम्भवतीति व्याचष्टे—**नेति**। तमःसम्बन्धावच्छेदेन जीवनकालावच्छेदेन वैकत्र यथा प्रकाशस्य मरणस्य वा सद्भावो नास्ति तथा ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरेकत्र न सम्भव इत्याह—**तमःप्रकाशवदिति**। यदि च दीर्घत्वविरोधिनो ह्रस्वत्वस्यादीर्घत्वं—दीर्घत्वाभावात्मकत्वं तर्हि मध्यमायां दीर्घत्वं कुत आगतं ह्रस्वत्वापेक्षं हि तत्, ह्रस्वत्वस्यैवाभावे कुतो दीर्घत्वम्? यद्वा ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्वाभावात्मकत्वे दीर्घत्वाभाववति ह्रस्वे कुतोऽन्यद्दीर्घत्वमागतम्? इत्याशयेनाह—**तस्य वेति**। प्रतिद्वन्द्विनो ह्रस्वत्वस्येत्यर्थः। कथं ह्रस्वत्वं दीर्घत्वाभावात्मकमित्यत्र लोकव्यवहारं दर्शयति—**यद्धि लोक इति,** लोके हि यद्दीर्घं न भवति तद्ध्रस्वमित्युच्यतेऽतो दीर्घत्वाभावात्मकं ह्रस्वत्वमिति भावः। प्रकारान्तरेण ह्रस्वे दीर्घत्वं नेत्याह—**ह्रस्वत्वाभावाच्चेति,** ह्रस्वे दीर्घत्वस्य वृत्तौ सत्यां स दीर्घत्वेनाक्रान्तः, अतो ह्रस्व एव नास्ति, न हि तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावे तदन्यपदवाच्यो भवितुमर्हति घटे घटपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्य सत्त्वे स घटः पटपदवाच्यो न हि भवति, तथा ह्रस्वाभिमते दीर्घत्वस्य सत्त्वे स दीर्घ एव भवेत् न तु ह्रस्व इति ह्रस्वत्वस्यानवकाशेन ह्रस्वाभावात् कुत्र दीर्घत्वं वर्त्ततामिति भावः। एवमपि स्वरूपतो दीर्घत्वे ह्रस्वत्वेऽङ्गीकृतेऽपि

---

1 सि. क्ष. छ. डे. °त्वावश्रब्धस्यानव०।

ह्रस्वत्वस्य ह्रस्वाभावे क्व दीर्घत्वं वर्त्तेत ? अतोऽपि दीर्घत्वाभावः तथापि पुनरित्यादि–पुनरपि च दीर्घत्व-ह्रस्वत्वयोर्भावाभ्युपगमेऽपि ह्रस्वत्वप्रतियोगिनो दीर्घत्वस्याभावान्न सिद्ध्यति दीर्घत्वं स्वात्मनि परत्र वा वृत्त्यसम्भवात् ।

स्यान्मतमुभयत्र वर्त्ततेऽन्यापेक्षत्वादुभयोः ह्रस्वमपेक्ष्य [दीर्घं दीर्घमपेक्ष्य] ह्रस्वं सिद्ध्यतीत्येतच्च—

न द्वये, उक्तन्यायात्, प्रतिद्वन्द्वित्वाद्वा, उभयत्र दीर्घत्ववृत्तिरेषा च किं ह्रस्वे वर्त्तमाने दीर्घत्वे दीर्घं भवति? उत दीर्घे एव वर्त्तमाने, यदि ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वमुभयत्र भावं लभते ततो ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घ इति बुद्धिञ्च कथं कुर्यात्? ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात्, ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत् ।

(**नेति**) [न]द्वये, कस्मात् ? उक्तन्यायात्, यथा दीर्घे दीर्घत्वं न परायत्तत्वादित्युपक्रम्य यावदितरेतराश्रयत्वादसिद्धिरित्युक्तन्यायान्न सिद्ध्यति दीर्घता तथा ह्रस्वेऽपि न वर्त्तत इत्यधुनोक्तन्यायान्न सिद्ध्यति, द्वयोरन्यतरत्रापि असिद्धस्य कुत उभयत्र सिद्धिः स्वपरयोः प्रतिद्वन्द्वित्वाद्वा-यथा दीर्घत्वं दीर्घे ह्रस्वे च वर्त्तते तथा ह्रस्वत्वमपि दीर्घे ह्रस्वे च वर्त्तते, अत उभयोरुभयत्र भावो विरोधी तयोः सहवृत्तिरयुक्ता विरोधित्वादेव परस्पर[त] इत्युक्तम्, तस्मान्न स्वतो न परतो नोभयतश्च दीर्घत्वं सिद्ध्यति ह्रस्वत्वं वा, एवं ह्रस्वत्वेऽपीत्यतिदेश्यमानत्वात्, किञ्चान्यत्–उभयत्र दीर्घत्ववृत्तिरेषा-सा तु इतरेतरयोगः, एषोऽपि चिन्त्यः किं ह्रस्वे स्वाश्रयाद्दीर्घादन्यत्र वर्त्तमाने दीर्घत्वे [1]दीर्घं भवति ? उत स्वाश्रये दीर्घे एव वर्त्तमाने [1]दीर्घं भवति ? इति निर्धार्यम्, किञ्चातः-यदि ह्रस्वे इत्यादि–यदि ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वमुभयत्र भावमितरेतरयोगं लभत इतीष्यते प्रथमविकल्प इति ततः किं ? ततो ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घ इति बुद्धिं च कथं कुर्यात् ?–न कुर्यात्, नादध्यात्तद्बुद्धिञ्च, [2]ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात्, यद्यतोऽन्यत्र वर्त्तते तत्तस्य तत्तां

ह्रस्वत्वापेक्षस्य दीर्घत्वस्य दीर्घेऽन्यत्र वा प्रागुदितरीत्या वृत्त्यसम्भवेन नास्ति सिद्धिरित्याह-**पुनरपीति** । ननु केवलं स्वस्मिन् परस्मिन् वा वृत्त्यसम्भवेऽपि परस्परापेक्षसिद्धिके ह्रस्वत्वदीर्घत्वे उभयत्र स्यातामित्याशङ्कायामाह-**न द्वय इति** । व्याचष्टे-**यथेति** । दीर्घत्वस्य ह्रस्वापेक्षस्य स्वात्मन्यवृत्तिता, परायत्तत्वात् स्वात्मन्यसिद्धस्य परतः सिद्ध्यसम्भवात् स्वतः सिद्धौ चापरायत्तत्वाद्ध्रस्वत्वस्याप्यपरायत्तत्वेन न सिद्धिः स्यात् अनामिकापि दीर्घैव भवेत्, तस्या अह्रस्वत्वे च मध्यमादीर्घत्वं न सिद्ध्येत्, तदसिद्धौ ह्रस्वत्वमपि न स्यात्, तयोः परस्पराश्रयत्वेनेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः, ह्रस्वेऽपि च दीर्घत्वस्यावृत्तित्वोक्तेः तस्मात् स्वस्मिन् परस्मिन् वाऽसिद्धस्य दीर्घत्वस्य ह्रस्वत्वस्य वा कथमुभयत्र सम्भव इत्युक्तन्यायमेवात्रापि भाव्यमिति भावः । परस्परप्रतिद्वन्द्वित्वाच्च ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोर्नोभयत्र वृत्तित्वमित्याह-**स्वपरयोरिति** । स्वस्मिन् दीर्घे परस्मिन् ह्रस्वे चोभयत्र ह्रस्वत्वदीर्घत्वे न वर्त्तेते परस्परप्रतिद्वन्द्वित्वात् सहवृत्तेरसम्भवादिति भावः । उपसंहरति-**तस्मान्नेति** । ह्रस्वत्वस्यापि सहोक्तौ कारणमाह-**एवमिति** । किञ्चेयमुभयत्र वृत्तिरितरस्मिन्नितरस्य योगरूपा तत्र प्रश्न उदेतीत्याह-**उभयत्रेति** । ह्रस्वदीर्घयोरित्यर्थः । **एषोऽपीति,** इतरेतरयोगोऽपीत्यर्थः । **किं ह्रस्वे इति,** दीर्घत्वं स्वाश्रयाद्दीर्घादन्यत्र ह्रस्वे वर्त्तमानं सत् दीर्घस्य दीर्घतां दीर्घ इति बुद्धिञ्च किं विधत्ते किं वा स्वाश्रये एव वर्त्तमानं सदिति प्रश्नार्थः । प्रथमकल्पं निराचष्टे-**यदि ह्रस्व इति** ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वमितरत्, इतरस्मिन् योगं दीर्घत्वं दीर्घप्रत्ययञ्च करोतीति यदि मन्यसे इत्यर्थः । तत्र दोषमाह-**तत इति,** मन्तव्यमात्रमेवैतत्ते ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वमन्यत्र दीर्घतां दीर्घप्रत्ययञ्च विधत्त इति, तन्नैव विधत्ते, ततोऽन्यस्य तत्त्वभूतत्वादिति भावः । तमेव हेतुमाह-**ततोऽन्यत्रवृत्तत्वादिति** । यद्धि यतोऽन्यस्य तत्त्वं तत्तस्य तत्त्वं तद्बुद्धिञ्च न करोति यथा दीर्घत्वं ह्रस्वादन्यस्य

१ सि. क्ष. छा. डे. दीर्घत्वं । २ छा. ततोऽन्यत्ववृत्तत्वात् । सि. क्ष. डे. ततोऽन्यतत्त्वात् ।

न करोति न च तद्बुद्धिमादधाति ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत्- यथा ह्रस्वे दीर्घत्वं न करोति नादधाति तत्प्रत्ययं तथा दीर्घत्वं दीर्घे प्रत्ययञ्च न कुर्यान्नादध्यादिति ।

अथ दीर्घ एव दीर्घत्ववृत्तिरिष्यते ततो दीर्घे एव वर्त्तमानं दीर्घत्वं करोति तत्प्रत्ययञ्चाधत्ते इति ह्रस्वेन दीर्घेतरेणेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन नार्थः न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारबलादेव तत्सिद्धेः, अथ तथापि तत्र दीर्घे दीर्घतां न करोति न तत्प्रत्ययञ्चादधातीति मन्यसे ततो ह्रस्वे कथं दीर्घत्वं तद्बुद्धिञ्च कुर्यात्, ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात्, ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत्, अथोच्येत ह्रस्वे दीर्घतां नैव करोति दीर्घप्रत्ययमपि नादधातीति, एतदपि नोपपद्यते ह्रस्वदीर्घयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात्, तद्यथा—सिद्धार्थकेत्यादि मेरुपर्यन्तानामितरेतरापेक्षह्रस्वदीर्घाणां दृष्टानां ह्रस्वे वृत्तस्य दीर्घत्वस्य दीर्घाकरणदीर्घप्रत्ययानाधानाभ्युपगमेऽत्यन्तदीर्घाभाव एव प्रसक्तः, नैव दीर्घं भवेत् दीर्घाकरणात्, ह्रस्वत्ववत्, तत्प्रत्ययोऽपि न भवेत्, दीर्घप्रत्ययानाधानात्, ह्रस्वप्रत्ययवदिति, एवं ह्रस्वत्वेऽपि ।

(अथेति) अथ मा भूदेषदोष इति दीर्घ एव दीर्घत्ववृत्तिरिष्यते, अत्र ब्रूमः—दीर्घ एव वर्त्तमानमित्यादि, तत इदमापन्नं दीर्घ एव वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घतां करोति तत्प्रत्ययञ्चाधत्ते तत्रेति इष्यत एतत्, किन्तु ह्रस्वेन दीर्घेतरेणेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन नार्थः, न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारबलादेव तत्सिद्धेः, इतरेतरयोगप्रस्तुतेश्चायमपि दोषः, अथ तथेत्यादि—ह्रस्वह्रस्वप्रत्ययवैयर्थ्यदोषपरिहारार्थमितरेतरयोगे सत्यपि तत्र दीर्घे दीर्घतां न करोति न दीर्घप्रत्ययं चादधातीति मन्यसे तत इदमन्यद्दोषजातं प्राप्तं—ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वं न करोति न च दीर्घप्रत्ययमाधास्यतीति प्राप्तम्, एतदर्थप्रदर्शनं—ह्रस्वे कथमित्यादि गतार्थं पूर्वसाधनं यावत् ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवदिति, अथोच्येतैतद्दोषपरिहारार्थं त्वया ह्रस्वे दीर्घतां नैव करोतीति दीर्घप्रत्ययमपि नादधातीति, एतदपि नोपपद्यते—ह्रस्वदीर्घयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात्, तत्प्रत्ययस्य च, तस्यैव चैकस्य वस्तुनोऽर्थान्तरापेक्षस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्वदर्शनात्, तद्यथा—सिद्धार्थकेत्यादि दण्डकोक्तानां सिद्धार्थकादारभ्य मेरुपर्यन्तानामितरेतरापेक्ष-

---

दीर्घस्य तत्त्वं, तद्दीर्घत्वं ह्रस्वस्य दीर्घत्वं दीर्घ इति प्रत्ययञ्च न करोति तथा ह्रस्वस्य तत्त्वभूतं दीर्घत्वं ह्रस्वादन्यस्मिन् दीर्घे दीर्घत्वं दीर्घ इति प्रत्ययञ्च न कुर्यादिति निरूपयति—**यद्यत इति,** अथ द्वितीयं स्वाश्रये दीर्घ एव वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घत्वदीर्घबुद्ध्योर्विधायकमिति पक्षे दोषमाह—**अथ दीर्घ एवेति** । टीकयति—**अथ मा भूदिति** । एवं तर्हि ह्रस्वस्य तत्प्रत्ययस्य च वैयर्थ्यं प्रसज्यते, इतरेतरयोगार्थं दीर्घे च ह्रस्वापेक्षदीर्घत्वतत्प्रत्ययत्वयोः सम्पत्त्यर्थं तौ प्रकल्प्यौ, यदा तु दीर्घत्वं स्वाधारे एव वर्त्तते न परापेक्षं तदा स्वाधारबलादेव तयोः सिद्धेरित्याह—**तत इदमापन्नमिति** । इतरेतरयोगप्रस्तावादन्यमपि दोषमाहेति दर्शयति—**इतरेतरेति** । अथ ह्रस्वत्वतत्प्रत्यययोर्मा भूद्वैयर्थ्यमिति उभयत्र सम्बन्ध्यपि दीर्घत्वं दीर्घे दीर्घत्वतत्प्रत्ययाधायकं न भवतीति मन्यत इत्याह—**ह्रस्वेति** । यद्येवं तर्हि ह्रस्वेऽपि दीर्घत्वतत्प्रत्यययोराधायकं न स्यात् इष्यते च तत्र तौ, अनामिकायाः कनिष्ठिकापेक्षयोस्तयोर्भावात्, अन्यथेतरस्मिन्नितरस्य योग एव व्यर्थः स्यादित्याशयेनाह—**ह्रस्वेऽपीति** । ह्रस्वेऽपि दीर्घतां दीर्घ इति बुद्धिञ्च कथं कुर्यात्, ह्रस्वादन्यस्य दीर्घस्य तत्त्वभूतत्वात्, ह्रस्वादन्यत्र वृत्तेर्वा, ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवदिति प्रागुक्तमिति स्मारयति—**ह्रस्वे कथमित्यादीति** । ननु नेष्यत एव ह्रस्वे दीर्घत्वं दीर्घप्रत्ययञ्च करोतीति, को दोष इत्याशङ्कते—**अथोच्येतेति** । दृष्टा हि लोके ह्रस्वत्वस्य दीर्घत्वापेक्षया दीर्घत्वस्य च ह्रस्वत्वापेक्षया सिद्धिः, एकस्यैवानामिकादेर्मध्यमापेक्षह्रस्वप्रत्ययः कनिष्ठिकापेक्षदीर्घप्रत्ययश्चेति समाधत्ते—**ह्रस्वदीर्घयोरिति** । तत्रैव दृष्टान्तानाह—**तद्यथेति** । सर्षपापेक्षया चणको दीर्घः आमलकापेक्षया ह्रस्वः साप्यामलकी जम्बीराद्य-

ह्रस्वादीनां दीर्घाणाञ्च दृष्टानां ह्रस्वे वृत्तस्य दीर्घत्वस्य दीर्घाकरणदीर्घप्रत्ययानाधानाभ्युपगमेऽत्यन्तदीर्घाभाव एव प्रसक्तः, अत्रानिष्टापादनसाधनं–नैव दीर्घमित्यादि गतार्थं यावद्ध्रस्वत्ववदिति, तथा तत्प्रत्ययोऽपि नेति गतार्थं यावद्ध्रस्वप्रत्ययवदिति, एवं ह्रस्वत्वेऽपि, अतिदेशः–यदि ह्रस्वे ह्रस्वत्वमित्युपक्रम्य दीर्घशब्दस्थाने ह्रस्वशब्दं कृत्वा स एव ग्रन्थो वाच्यो यावदयमवधिरिति ।

उभयोभयपक्षोऽपि प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते, प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः, विप्रतिषेधाच्च, एवं तावन्न स्वतो न परतो नोभयतश्च ह्रस्वदीर्घे सिद्ध्यतः, यद्यहेतुतः, खपुष्पमपि स्यादिति ।

(**उभयेति**) उभयोभयपक्षस्य ह्रस्वमपि दीर्घं ह्रस्वञ्च, दीर्घमपि दीर्घं ह्रस्वञ्चेत्ययमपि उभयोभयपक्षः प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते, प्रत्येकमसिद्धयोरपेक्षायामप्यसिद्धेः, पृथक् सिद्धिमूलत्वादपेक्षायाः, किञ्चान्यत्–विप्रतिषेधाच्च ह्रस्वदीर्घत्वयोर्विरोधादप्रवृत्तिरित्युक्तत्वात्, एवं तावन्न स्वतो नापि परतो नोभयतश्च ह्रस्वदीर्घे सिद्ध्यत इति, स्यान्मतमहेतुतः सिद्ध्यत इति, अत्रोच्यते–यद्यहेतुतः खपुष्पमपि स्यात्, अहेतुतश्च न सिद्ध्यति दीर्घत्वमहेतुकत्वात्, खपुष्पवत्, यदि सिद्ध्येत् खपुष्पमपि सिद्ध्येत्, अहेतुकत्वाद्दीर्घत्ववत् ।

स्यान्मतमापेक्षिकेषु ह्रस्वदीर्घादिषु स्यादयं न्यायो न तु घटादिष्वपि, नैवं मन्तव्यं यस्मात्—

एवं घटादीनामपि स्वरूपसिद्धिरेव नास्ति, न घटे घटत्वम्, परायत्तत्वाद् घटत्वस्येत्यादि-दीर्घत्वप्रतिषेधन्याय एवात्रापि, यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात् घटो न घटोऽपि स्यात्, भवत्वितरेतरः तस्य चाघटत्वे एवमन्येऽपि घटा इति तस्याभावः, तस्याभावेऽघटाभावः घटापेक्षत्वाद-

---

पेक्षया ह्रस्वः तदपेक्षया च जम्बीरादि दीर्घम्, एवं यावन्मेरुं, एकस्यैवेतरेतरापेक्षया ह्रस्वदीर्घत्वे दृष्टे तथा ह्रस्वदीर्घप्रत्ययौ च, यदि ह्रस्वे वर्त्तमानं दीर्घत्वं दीर्घं न करोति तत्प्रत्ययञ्च नादधाति तदा दीर्घत्वदीर्घप्रत्यययोरभावात् नितरां दीर्घस्यैवाभावः स्यादिति भावः । यथा ह्रस्वत्वं दीर्घाकरणान्न दीर्घं भवति ह्रस्वं तथैव दीर्घत्वमपि दीर्घाकरणान्न किमपि दीर्घं भवेदिति दीर्घात्यन्ताभावः, ह्रस्वप्रत्ययो यथा वा न क्वापि दीर्घप्रत्ययाधायकस्तथा दीर्घप्रत्ययोऽपीति न क्वाऽपि दीर्घप्रत्ययः स्यादिति तदत्यन्ताभाव इति प्रयोगं दर्शयति–**नैव दीर्घमित्यादीति,** तदेवं दीर्घत्वासिद्धिरुक्ता । एवमेव ह्रस्वत्वासिद्धिरपि न तावद्ध्रस्वत्वं ह्रस्वे स्वात्मन्यस्ति परायत्तत्वात् अनामिकाया ह्रस्वत्वस्य, तद्धि मध्यमादीर्घत्वायत्तं यत् स्वात्मन्यसिद्धं तत्कथं परतः सिद्ध्येत्, यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात मध्यमादीर्घत्वं न स्यात् अपरापेक्षत्वात्, सापि ह्रस्वैव स्यात्, अनामिकावत्, न तु भवति तस्या दीर्घत्वेष्टेः, अथादीर्घैवेष्यते ततश्चानामिकाह्रस्वत्वाभावः, तामेवापेक्ष्य ह्रस्वेति व्यपेदशात्, तस्माच्च ह्रस्वत्वप्रतिपक्षस्य मध्यमादीर्घत्वस्याभावः तयोः परस्परायत्तत्वात्, कदाऽनामिका ह्रस्वा सेत्स्यति ? यदा मध्यमा दीर्घा न भवेत्, मध्यमा दीर्घा चानामिका ह्रस्वत्वसिद्धौ सेत्स्यतीतीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः, इत्येवं दीर्घग्रन्थो दीर्घशब्दस्थाने ह्रस्वशब्दं संयोज्य सर्वो वाच्य इत्याह–**एवं ह्रस्वेऽपीति** । अथोभयत्रोभयं वर्त्तत इति पक्षं निराकरोति–**उभयोभयेति** । ह्रस्वे ह्रस्वत्वं दीर्घत्वञ्च दीर्घे दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं च यद्यभ्युपगम्यते तदापि प्रत्येकपक्षोदितदोषा जाग्रत्येवेत्याह–**उभयोभयपक्षस्येति** । स्वतोऽसिद्धयोरपेक्षयाऽप्यसिद्धिः, प्रत्येकं स्वतः सिद्धयोरेवापेक्षासम्भवादित्याह–**प्रत्येकमिति** । ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोः परस्परं विरोधात् सहवृत्त्यसम्भव इत्याह–**विप्रतिषेधाच्चेति** । एवं च हेतुतो ह्रस्वदीर्घत्वयोरसिद्धिरुक्तेत्याह–**एवं तावदिति** । यद्यहेतुतः ह्रस्वत्वदीर्घत्वे भवत इतीष्यते तर्हि खपुष्पादिकमपि भवेदित्याह–**स्यान्मतमिति** । व्याचष्टे–**अहेतुतश्चेति** । अथानपेक्षेषु घटादिष्वपि दीर्घत्वप्रतिषेधन्यायमवतारयति–**एवं घटादीनामपीति** । कथं घटादीनामसिद्धिः स्वरूपस्येत्य-

घटत्वस्य, सोऽप्येवमघटो न भवति, एतद्घटायत्तत्वादघटत्वस्य, तयोः परस्परायत्तवृत्तित्वात् कदा घटः सेत्स्यति प्रत्येकव्यक्त्यात्मा ? यदाऽसावघटो भवेत्, अघटश्च घटसिद्धौ सेत्स्यतीतीतरेतराश्रयत्वादसिद्धिः ।

(**एवमिति**) एवं घटादीनामपि स्वरूपसिद्धिरेव नास्ति, तद्व्याचष्टे—न घटे घटत्वम्, परायत्तत्वात् घटस्येत्यादि यो दीर्घत्वप्रतिषेधे न्यायः स एवात्रापि दीर्घस्थाने घटं कृत्वा ह्रस्वस्थाने पटाद्यघटं घटान्तरं च कृत्वा, घट एवाघटो दृष्टः, इतरस्य घटस्येतरघटत्वाभावात् देशकालाकारादिभेदाच्च परस्परतः, तस्मात् परायत्तत्वं—घटान्तरे पटादौ वाऽऽयत्तं, यदि हि स्वविषयमेवैतत् स्यात् [1]घटो न घटोऽपि स्यात्, कथं पुनरघटोऽपि भवतीत्यत आह—भवत्वितरेतरः तस्य चाघटत्वे एवम्—तस्य घटस्यैवाघटत्वे यथाऽसावघटः तथाऽन्येऽपि घटा अघटा एवेति घटाभावः, पटादयस्त्वघटा एव सिद्धाः, तस्य—घटस्याभावे[2]ऽघटाभावः, कस्मात् ? घटापेक्षत्वादघटत्वस्य, सोऽप्येवमघटो न भवतीत्यघटः, तस्मादन्यो घटः पटो वा, एतद्घटत्वायत्तत्वादघटत्वस्य, परस्परायत्तवृत्तित्वात् घटत्वाघटत्वयोः, तद्दर्शयति—कदा घटः सेत्स्यति प्रत्येकव्यक्त्यात्मा घटान्तरव्यावृत्तविविक्तस्वरूपः ? यदासावघट इत्यादि पूर्ववद्ग्रन्थो नेयो दीर्घह्रस्वयोरिव घटाघटयोर्यावदितरेतराश्रयत्वादसिद्धिः, एवं तावत् घटे नास्ति घटत्वम् ।

स्यान्मतमेवं तर्हि [3]दर्शितदिशाऽघट इत्याद्यधुना व्याख्यातदिशाऽघट एव घटत्वं वर्त्तते तथा दृष्टत्वादिति मन्यसे चेत्—अत्रापि ब्रूमः—

त्राह—**न घट इति** । स एव दीर्घत्वप्रतिषेधग्रन्थं न तावद्घटे स्वात्मनि घटत्वं वर्त्तते परायत्तत्वात्, घटत्वं ह्यघटव्यावृत्तिरूपमतोऽपेक्षतेऽघटं घटत्वम्, यत् स्वात्मन्यसिद्धं सिद्ध्येत्तत् कथं परतः ? इति दीर्घस्थाने घटं प्रक्षिप्य ह्रस्वस्थाने चाघटं पटादि घटान्तरं वा संयोज्य गमनीयमिति भावः । ननु कथमघटो घटान्तरमित्यत्राह—**घट एवाघटो दृष्ट इति,** न ह्यपरघटोऽप्येतद्घट एव, एतद्घटवृत्तित्वविशिष्टघटत्वस्य तत्राभावात्, घटघटान्तरयोश्च भिन्नदेशवृत्तित्वात्, भिन्नकालवृत्तित्वात्, भिन्नाकारादित्वाच्च परस्परं भेदादिति भावः । तस्मात् परायत्तत्वमित्याह—**तस्मादिति** । नन्वात्मायत्तमेव घटे घटत्वं न परायत्तम्, नैवम्, अघटस्याघटत्वं न स्यादपरायत्तत्वात्, सोपि घट एव स्यात्, यथा हि घटोऽघटनिरपेक्षो घटस्तथाऽघटोऽपि घटनिरपेक्षः स्वत एव घटः स्यात्, घटवत्, न तु भवति, तस्याघटत्वेष्टेः, अथापि घट एवेष्यते घटस्य घटत्वं न स्यात्, एवञ्च घटोऽघटः स्यादित्याशयेनाह—**यदि हीति** । कथं घटस्याघटत्वमित्यत्राह—**भवत्विति,** अघटे घटत्वस्य घटेऽघटत्वस्य योगे भवतीति भावः । ततः किमित्यत्राह—**तस्य चेति,** एवं सति सर्वेषां घटानामभावः स्यात्, एतद्घटस्याघटत्ववदितरेषामपि घटानामघटत्वादिति भावः । अघटो हि पटादिरपि घटोऽपि, पटादौ घटाभावस्तु सिद्ध एव, किन्तु घटस्याभावः स्यात्, घटो ह्यघटमपेक्ष्य घट उच्यते स चेदघटो न भवति कमन्यमपेक्ष्य घटो घटः स्यादिति घटाभावः, एवञ्च घटस्य घटत्वाभावात् घटापेक्षाघटस्याऽप्यभाव इत्याह—**तस्येति** । घटादन्योऽघटः पटो घटो वेत्याह—**तस्मादन्य इति** । पटघटान्तरयोरघटत्वमेतद्घटापेक्षं घटत्वाघटत्वयोः परस्परायत्तवृत्तित्वादित्याह—**एतद्घटत्वेति** । कदा घटः सेत्स्यति सजातीयविजातीयव्यावृत्तः ? यदाऽसावघटो भवेत्, अस्याघटत्वञ्च घटस्य घटत्वसिद्धौ सेत्स्यतीति परस्पराश्रयत्वान्न सिद्धिः परस्परप्रतिबद्धवाताहतनौद्वयवदित्याह—**कदा घट इति** । इत्थं नास्ति घटे घटत्वमित्युपसंहरति—**एवं तावदिति** । नन्वपरापेक्षत्वात् घटस्याघटनिरपेक्षघटत्ववदघटोऽपि घटनिरपेक्षो घटः स्यादित्युक्तदिशाऽघट एव घटत्वं वर्त्तते, अघटायत्तं घटत्वमपि घटस्य भवितुमर्हति, तथा चाघटे घटत्वमघटत्वञ्च स्यादित्यवतारयति

---

१ सि. क्ष. छा. डे. नाघटोऽपि । २ सि. क्ष. छा. डे. °भावोऽघटा० । ३ सि. क्ष. छा. डे. दर्शितदिगघट० ।

अथाघटेऽपि न घटत्वम्, प्रत्यक्षत एवाघटे घटत्वस्याभावात् प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चाघटे कथं घटत्वं स्यात्, ह्रस्वदीर्घत्ववत्, अघटस्य च घटत्वे घट एव सः प्राप्तः तस्मात् को घटो नामाघटादन्य इति घटाभावः, घटत्वाभावात्मकत्वादघटत्वस्य, अघटाभावाच्च नास्ति घटत्वम्, घटत्वास्याघटे वृत्ते घटत्वावष्टब्धेऽघटत्वानवकाशात्, अघटाभावे क्व घटत्वं वर्त्तेत? तथापि पुनर्न सिद्ध्यति घटत्वं स्वात्मनि परत्र वा वृत्त्यसम्भवात्।

(अथेति) अथाघटेऽपि न घटत्वम्, प्रत्यक्षत एवाघटे पटादौ घटत्वास्याभावात्, प्रतिद्वन्द्वित्वाच्च–विरोधिन्यघटे घटत्वं विरोधि कथं स्यात्? विरोधिनोः सहाभावे दृष्टान्तः–ह्रस्वदीर्घत्ववत्, अघटस्य च घटत्वे–अघटे चेद्वर्त्तते घटत्वं घट एव सोऽघटः संवृत्तः, तस्मात् को घटो नामाघटादन्य इति घटाभावः, कस्मात्? घटत्वाभावात्मकत्वादघटत्वस्येत्यादि पूर्वोक्तह्रस्वदीर्घत्ववदिहापि नेयम्।

स्यान्मतमुभयत्रेति तत्—

न द्वये, उक्तन्यायात् द्वयोरन्यतरत्राप्यसिद्धस्य कुत उभयत्र सिद्धिः स्वपरयोः, प्रतिद्वन्द्वित्वाद्वा तयोः सहवृत्तिरयुक्ता, अयमपि च न्यायश्चिन्त्यः किमघटे घटत्वं वर्त्तमानमुभयत्र भावं लभते? उत घट एव वर्त्तमानमिति, यद्यघटे विद्यमानमुभयत्र भावं लभते ततोऽघटे वर्त्तमानं घटत्वं घटस्य घटत्वं कथं कुर्यात्, तद्बुद्धिञ्चादध्यात्? ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात् ह्रस्वादीर्घप्रत्ययवत्, अथ घट एव घटत्ववृत्तिरिष्यते ततो घट एव वर्त्तमानं घटत्वं घटतां करोति तत्प्रत्ययञ्चाधत्ते तत्रेतीष्यते किन्तु अघटेन घटेतरेणेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन नार्थः न च तत्प्रत्ययेन, स्वाधारबलादेव तत्सिद्धेः, अथ तथापि तत्र घटतां न करोति न एतत्प्रत्ययञ्चादधातीति मन्यसे ततः कथं त्वयोच्यते मन्यते च घट इति ततोऽन्यत्र वृत्तत्वात् ह्रस्वादीर्घत्वप्रत्ययवत् अथोच्येताघटे घटतां नैव करोति तत्प्रत्ययमपि नादधातीति, तदपि न, घटाघटयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वात् तद्यथा–सिद्धार्थकेत्यादिमेरुपर्यन्तानामितरेतरापेक्षघटाघटानां दृष्टानामघटे वृत्तस्य घटत्वस्य घटाकरणघटप्रत्ययानाधानाभ्युपगमेऽत्यन्तघटाभाव एव प्रसक्तः, नैव घटो भवेत् घटाकरणात्, ह्रस्वत्ववत् तत्प्रत्ययोऽपि न भवेत्, घटप्रत्ययानाधानात्, ह्रस्वप्रत्ययवदिति, एवं न घटत्वेऽपि, नाघटेऽघटत्वमित्यादि यावद्घटत्ववदनुसर्त्तव्यम्।

(न द्वय इति) न द्वये यथा घट इत्यादि ह्रस्वदीर्घयोरिव घटाघटयोः प्रत्येकमसिद्धेर्भावितमेव-

---

मूलम्-**स्यान्मतमिति**। अघटे घटत्वं निरस्यति-**अथाघटेऽपीति**। अघटे घटत्वस्य प्रत्यक्षतो विरोधान्न सम्भवतीत्याह-**प्रत्यक्षत एवेति**। घटाघटत्वयोः विरोधित्वेन परस्परपरिहारस्थितिकत्वात् अघटे घटत्वं कथं स्यात्, यथा ह्रस्वे दीर्घत्वस्य नास्ति वृत्तिता तद्वदित्याह-**प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चेति**। तथापि तद्वृत्तित्वाङ्गीकारे घटत्वावष्टब्धस्य घटत्वादघटोऽपि घट एव स्यात्, तथा चाघटादन्यस्य घटस्याभावात् कस्तदन्यो घट इति घटाभावः प्रसक्तः, अघटस्य घटत्वाभावात्मकत्वादित्याह-**अघटस्य चेति**। भवतु घटाघटोभयविषयं घटत्वमित्याशङ्कायामाह-**न द्वय इति**। प्रत्येकवृत्तिन्यायमुक्तं स्मारयति-**यथा घट इत्यादीति**। यथा न घटे घटत्वं परायत्तत्वादिना तथाघटेऽपि न घटत्वमित्यादिना च ह्रस्वदीर्घयोरिव प्रत्येकमसिद्धिर्भाविता, एवं स्वपरयोरपि भावनीयाऽसिद्धिः, प्रत्येकमसिद्धसत उभयत्र सिद्धसत्त्वायोगादिति भावः। इतरेतरयोगरूपोभयत्र वृत्तिर्घटादन्यत्राघटे वर्त्तमाने

मिहापि स एव न्यायो यावत् परयोरपीति, अयमपि चेत्यादि, एषोऽपि स एव न्यायः [1]किमघटे घटत्वमिति पूर्वोपक्रमः, अघटे घटाकरणप्रत्ययानाधानप्रदर्शनस्य सुकरत्वात् शेषं पूर्ववत्, स्ववचनविरोधोद्भावनञ्च– कथं त्वयोच्यते मन्यते च घट इति, शेषं तथैव नेयं घटाघटार्थविशेषणं यावत् घटप्रत्ययवदिति स एव गमः, एवमघटत्वेऽपीत्यतिदेशोऽपि पूर्ववदेव, तस्य दिशं दर्शयति–नाघटेऽघटत्वमित्यादिना स्वयमेव ग्रन्थकारो यावत्कारेण यावद्घटत्ववदनुसर्त्तव्यमिति, गतत्वान्न्यायस्य ।

उभयोभयपक्षस्तु प्रत्येकमभिहितैर्दोषैर्न विमुच्यते, प्रत्येकमसिद्ध्योरपेक्षायामप्यसिद्धेः, विप्रतिषेधाच्च, एवं तावन्न स्वतो न परतो नोभयतश्च घटाघटौ सिद्ध्यतः, सिद्ध्यत्यहेतुतश्चेत् खपुष्पाद्यपि स्यात्, एवं सर्वार्थेष्वपीत्यसिद्धिरेवेति ।

(**उभयेति**) उभयोभयपक्षस्तूभयदोषापत्तेरिति समानपूर्वोत्तरपक्षव्याख्या पूर्वातीतग्रन्थेन गतार्था, विप्रतिषेधाच्चेत्यपि तथैव, स्यान्मतं स्वपरोभयवृत्तिहेतुमार्गेणासिद्धावप्यहेतुतः सिद्धिरिति तच्च नाहेतु[त]ः, खपुष्पवदसिद्धेः, तत्रापि सिद्ध्यत्यहेतुतश्चेत्, खपुष्पाद्यपि स्यादिति पूर्ववदनिष्टापादनं नेयम्, एवं सर्वार्थेष्वपीति, घटासिद्ध्या पटरथकटादिनिरपेक्षसिद्धाभिमतसर्वार्थासिद्धिरित्यतिदेशः, इत्यसिद्धिरेवेति यथाप्रतिज्ञमसिद्धिहेतुः सिद्ध इत्युपसंहारः ।

अनन्तरोक्तायुक्तिहेतुसिद्धिरधुनोच्यते तत्सम्बन्धप्रदर्शनार्थं तावदाह—

अथान्तरेणापीतरेतरयोगं स्वत एव सिद्ध्यति घट इति चेदत्र ब्रूमः, यद्यस्ति घटस्ततस्तस्य सत्त्वैकत्वघटत्वानामेकत्वान्यत्वयोः का युक्तिरिति विचारे तेषामेकत्वञ्चेदिष्यते ततो यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वमपि निष्कलं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हति, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यान-

---

घटत्वे किमुभयो घटो भवति ? उत स्वाश्रये घट एव वर्त्तमान उभयो घटो भवतीत्येषोऽपि विचार्य इत्यतिदिशति-**एषोऽपीति** । अघटे विद्यमानं घटत्वं घटस्य घटतां घट इति बुद्धिञ्च कथं कुर्यात्, ततोऽन्यत्र वृत्तत्वादिति प्रथमविकल्पे दोषः, घट एव विद्यमानस्य घटत्वस्य तथात्वेऽपि घटादन्येनाघटेनेतरेतरयोगार्थं कल्पितेन न प्रयोजनं तत्प्रत्ययेन च, स्वाधारबलादेव तत्प्रयोजननिर्वृत्तेः, घटेऽपि घटत्वतत्प्रत्ययानाधानेऽघटेऽपि घटत्वतत्प्रत्ययानाधानप्रसङ्ग इष्टौ च तत्र तौ, घटाघटयोः परस्परापेक्षसिद्धेर्लोके दृष्टत्वादित्यादि प्रागिव भाव्यमित्याह-**किमघट इति** । घटस्य घटत्वतत्प्रत्ययानाधानाभ्युपगमे घटत्वेनाभिमतोऽयं कथं घटः स्यात् तत्प्रत्ययश्च, मन्यत उच्यते च घट इति स्ववचनविरोध इत्याह-**स्ववचनेति** । पूर्वग्रन्थमेव न्यायस्य तुल्यत्वादतिदिशति-**शेषमिति** । एवमेव यद्यघटेऽघटत्वमित्यादिना घटत्वस्य घटेऽघटे द्वये वाऽसिद्ध्युद्भावको ग्रन्थो भाव्य इति मूलकार एवातिदिशतीत्याह-**एवमघटत्वेऽपीति** । घटेऽघटे च घटत्वाघटत्वपक्षोऽपि प्रत्येकपक्षसम्भविदोषकलङ्ककलङ्कित एवेत्याह-**उभयोभयपक्षस्त्विति** । पूर्वोदितदोषमेवातिदिशति-**उभयेति** । घटाघटत्वयोरेकत्र विरोधादवृत्तिरपि तथैव भाव्येत्याह-**विप्रतिषेधाच्चेति** । घटाघटत्वयोरहेतुतः सिद्धिपक्षमपि निराकरोति-**स्यान्मतमिति** । हेतुं विना न किमपि सिद्ध्यति खपुष्पवत्, यदि सिद्ध्येत् हेतुं विनाऽपि तर्हि खपुष्पमपि सिद्ध्येदविशेषादित्याह-**तत्रापीति** । तदेवं न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतो घटाद्यसिद्धिवत् निरपेक्षपटकटादिसर्वपदार्थानामप्यसिद्धिर्विज्ञेयेत्युपसंहरति-**एवमिति** । तदेवं न स्वभावो घटाद्यसिद्धेरिति संसाध्यायुक्तिहेतुनापि तदसिद्धिं दर्शयितुमाह-**अथान्तरेणापीति** । घटादिवस्तूनामन्योन्या-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. किन्त्वघटे ।

र्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, घट इव घटस्वतत्त्वस्य, ततश्चास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इति सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गः ।

(अथेति) अथान्तरेणापीतरेतरयोगं–विनापि वस्तूनामन्योन्यापेक्षया घटसिद्धेर्बीजमस्ति, कुतः ? स्वत एव सिद्ध्यति–स्वयमेव घट इति चेन्मन्यसे अत्र ब्रूमः–यद्यस्ति घट इत्यादि, अस्तीत्युक्तत्वात् सन् घटः, स चैको द्रव्यम्, एकवचनोक्तत्वात्, ततस्तस्य घटस्य सत्त्वैकत्वघटत्वानां का युक्तिरिति विचारे तदविनाभावो युक्तिः, सा तु तेषां त्रयाणामेकत्वेऽन्यत्वे वा न सम्भवति, तत्कथमिति–यदस्त्येको घट इति त्रयाणामर्थानामस्त्येकघटशब्दवाच्यानामेकत्वञ्चेदिष्यते ततो यत्रैकत्वमित्यादि तद्दोषप्रदर्शनम्, यत्रैकत्वमस्ति तत्रास्तित्वमपि निष्कलं–निरवशेषं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीति प्रतिजानीमहे तावत्, कुतः ? अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्येत्याद्यन्वयप्रदर्शनं हेतोः साध्येन, तत्र तस्येत्याद्युपनयो निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवतीति साध्यार्थः, उदाहरणं–घट इव घटस्वतत्त्वस्येति, घटस्वतत्त्वं यथा घटे निरवशेषमस्ति तदनर्थान्तरत्वात् तथैकत्वेऽस्तित्वस्वतत्त्वं निरवशेषमिति, ततश्चास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इति कृत्वा सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गः, यदस्ति तद्घटाव्यतिरेकात् सर्वमेव घट इत्युपसंहारो वक्ष्यते ।

तथा—

यत्रास्तित्वमिति पूर्ववत्साधनं कृत्वा एकत्वस्वतत्त्वञ्च सर्वत्रैवैकैकस्मिन्, सर्वस्य प्रत्येकमस्त्येकत्वादिति साधनद्वयेऽप्यस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः पटादय इत्यनन्यत्वापादनं तुल्यम्, पूर्वत्र घटः सर्वं तदेकत्वं सतः घटाव्यतिरिक्तम्, परस्मिंस्तु घट एव सर्वं तदेकत्वं सर्वभावा इति विशेषोऽस्मात्तस्य ।

पेक्षया विनापि स्वत एव सिद्ध्यतीत्याशङ्कते–**विनापीति,** अन्योऽन्यापेक्षया घटसिद्धेर्बीजं नास्त्येवोक्तरीत्या अन्योन्यापेक्षां विनापि घटसिद्धेर्बीजं कुतः स्यायेनान्योन्यापेक्षा विनापि स्वत एव घटसिद्धिर्मन्येतेति भावः । स्वत एव घटोऽस्तीत्यत्राह–**यद्यस्तीति ।** घटादिसिद्धेर्बीजमस्ति घट इत्यनुभव एव वक्तव्यं तथा सति सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्ग एकस्यापि घटस्य बहुत्वप्रसङ्गश्चेति दर्शयितुमाह–**अस्तीत्युक्तत्वादिति ।** अस्तीत्युक्तत्वात् घटे सत्त्वं प्रतीयते घट इत्येकवचनान्ततयोक्तत्वाद्घट एकत्वं प्रतीयते घट इत्युक्तत्वाद्घटत्वमपि, एवञ्च घटस्यास्तित्वैकत्वघटत्वानि स्वभावा इति प्राप्तम्, तेषां त्रयाणां स्वभावानामेकत्वान्यत्वविचारे का युक्तिरिति चेदविनाभाव एव युक्तिरिति भावः । सा युक्तिरविनाभावस्वरूपा नैकत्वेऽन्यत्वे वा तेषां सम्भवति, तत्रैकत्वपक्षेऽसम्भवं दर्शयति–**यदस्त्येक इति ।** प्रतिज्ञामाह–**यत्रैकत्वमस्तीति,** एकत्वाधिकरणं स्वेनैव तत्त्वेनास्तित्वस्यापि परिपूर्णमधिकरणं भवति नांशतः, तत्रास्तित्वस्यैकत्वं स्वीयमेव तत्त्वं विज्ञेयम्, स्वकीययावत्स्वरूपपुरस्कारेणास्तित्वं वर्तत इति भावः । अयमविनाभावः किंप्रयुक्त इत्यत्राह–**अनर्थान्तरत्वादिति,** एकत्वास्तित्वयोरनर्थान्तरत्वात्, यतस्तयोरेकत्वं मन्यत इति भावः । एकत्वेऽस्तित्वस्वतत्त्वसाधकहेतोरन्वयं दर्शयति–**यत्र यस्येत्यादीति,** यथा यत्र घटे यस्य घटस्वतत्त्वस्यानर्थान्तरत्वमस्ति तत्र घटे घटस्वतत्त्वमपि परिपूर्णमेवास्ति, एकत्वे चास्तित्वानर्थान्तरत्वमस्ति तस्मादस्तित्वस्वतत्त्वमपि निरवशेषमस्त्येवेति भावः । सर्वभावेषु चास्तित्वस्वतत्त्वमस्ति तस्मात्सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्ग इत्याह–**ततश्चेति ।** अस्तित्वस्वतत्त्वता यथैकत्वे तथा सर्वभावेषु पटादिष्वप्यस्ति सर्वभावानामस्तित्वात्, एकत्वाधिकरणे चास्तित्वस्य निरवशेषतया स्वतत्त्वेन सत्त्वादेव सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्गात् सर्वं घट एवेति भावः । अत एव घट एकः सर्वं, अस्तित्वाव्यतिरेकाद्घटत्वस्य, तदधुना यद्यपि न निरूपितं तथाप्यग्रे तथोपसंह्रियमाणत्वात्तथोक्तमित्याह–**यदस्तीति ।** तदेवमेकत्वस्यास्तित्वस्वतत्त्वतां प्रतिपाद्याथास्तित्वस्यैकत्वस्वतत्त्वतामाह–**यत्रास्तित्वमिति ।** पूर्ववदत्राप्यस्तित्वाधिकरणे एकत्वमपि स्वीययावत्तत्त्वपुरस्कारेण वर्तत इति दर्शयति–**पूर्ववदिति ।**

---

१ सि. क्ष. धा. डे. अथान्तरेणापांतरेतर० । २ छा. किंयुक्तिरयुक्तिरिति ।

यत्रास्तित्वमित्यादि, पूर्ववत् साधनं कृत्वेत्यतिदेशात्—यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तर[त्वात्] यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति घट इव घटस्वतत्त्वस्येति तदेकत्वेनोपनय इति विशेषः—तद्यथा—एकत्वस्वतत्त्वञ्च सर्वत्रैवैकैकस्मिन्—सर्वस्य प्रत्येकमेकैकमस्त्येकत्वादिति, साधनद्वयेऽप्यस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः पटादय इत्यनन्यत्वापादनं तुल्यम्, पूर्वत्रैकश्च घटः तदनन्यदस्तित्वमिति, द्वितीये संश्च घटस्तदनन्यदेकत्वमिति, पूर्वस्मिन् साधने घटः सर्वं तदेकत्वं तच्च कतमदिति प्रश्ने व्याकरणं—तत्सतः[1] घटादव्यतिरिक्तमिति, घट एव सर्वसिद्धिरिति[2] परस्मिंस्तु तच्च कतमदिति प्रश्ने सर्वभावा इति व्याकरणमिति विशेषोऽस्मात्तस्य, घटे सर्वभावा एकत्वाव्यतिरिक्ताः सिद्ध्यन्तीत्यर्थः, एवं तावदस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्यत्वापादनेन घटस्य सर्वत्वं घटे सर्वभावसिद्धिरिति दोषाः ।

किञ्चान्यत्—

तथा यत्र घटत्वं तत्रास्तित्वैकत्वयोरपि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात् यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, यथा घट इव घटस्वतत्त्वस्येत्यत एकैको घटादिरबादिः सर्वो भेदेन सर्वात्मकः, तथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः व्यक्ताव्यक्तात्मकभावानां द्रव्यगुणकर्मणामुत्पादस्थितिभङ्गानां साधनदूषणतद्भेदानाञ्चापाद्याः ।

तथा यत्र घटत्वमित्यादि, इदानीं घटत्वेऽस्तित्वैकत्वयोः स्वतत्त्वापादनं तदेव साधनं सभावनम्, उपसंहारः—अतो घटादनन्यत्वेऽस्तित्वैकत्वयोरेकैको घटादिः—घटो रथः पट इत्यादिः, अबादिरिति—

अयमप्यविनाभावोऽस्तित्वैकत्वयोरनर्थान्तरत्वप्रयुक्त इति हेतुमाह—**अनर्थान्तरत्वादिति** । अस्तित्वे एकत्वानर्थान्तरत्वादेकत्वस्वतत्त्वताऽस्तीति दर्शयति—**यत्र यस्येति,** अस्तित्वे एकत्वस्येत्यर्थः । पूर्वत्रास्तित्वस्वतत्त्वं च सर्वभावा इत्युक्तमत्र तु विशेषोऽस्तीत्याह—**एकत्वस्वतत्त्वञ्चेति,** प्रत्येकं भावेषु एकत्वस्वतत्त्वमस्ति, एकत्ववन्तः सर्वे भावाः प्रत्येकावच्छेदेनेति भावः । प्रोक्तसाधनद्वयादेकत्वेन रूपेणास्तित्वेन रूपेण सर्वभावानामनन्यताऽऽपाद्यत इति फलितार्थमाह—**साधनद्वय इति** । तत्कथमित्यत्राह—**पूर्वत्रेति,** प्रथमे एकत्वाधिकरणं हि घटस्तत्रैकत्वानन्यदस्तित्वस्वतत्वमस्ति, द्वितीये चास्तित्वाधिकरणं घटस्तत्रास्तित्वानन्यदेकत्वस्वतत्त्वमस्तीति भावः । घट एव सर्वं, तच्च सर्वत्वमेकत्वरूपम्, तदप्येकत्वमभेदेनास्तित्वावच्छिन्नघटनिरूपिताव्यतिरिक्तरूपं प्रथमे साधने, द्वितीये साधने त्वस्तित्वाधिकरणे घटे एकत्वनिरूपिताव्यतिरेकावच्छिन्नसर्वभावसत्त्वरूपं पूर्वत्रैकत्वाधिकरणस्यास्तित्वाधिकरणत्वप्रतिज्ञानात्, परत्रास्तित्वाधिकरणनिरूपितैकैकस्मिन्नेकत्वस्वतत्त्वप्रतिज्ञानाच्चेति निरूपयति—**पूर्वस्मिन् साधन इति** । एकत्वाभिन्नघटाभिन्नास्तित्वस्याभेदेन सर्वघटपटादिषु सत्त्वान्निरवशेषैकत्वसत्त्वाच्चैकत्वानर्थान्तरत्वात् घटपटादीनां प्रत्येकं सर्वत्वं सिद्ध्यतीति भावः । परसाधनभावार्थमाह—**घटे सर्वभावा इति,** अत्र चास्तित्वाभिन्नघटाभिन्नैकत्वस्याभेदेन घटादौ सत्त्वात् तत्र च निरवशेषास्तित्वस्वतत्त्वस्य सत्त्वाच्च घटे सर्वभावसिद्धिः, पूर्वेण घटः सर्वं द्वितीयेन सर्वभावात्मकञ्च सिद्ध्यतीति सर्वसर्वात्मकत्वप्रसङ्ग आपादितः । उपसंहरति—**एवं तावदिति** । अथ घटत्वेऽस्तित्वस्यैकत्वस्य च स्वतत्त्वतामैकपद्येन साधयति—**तथा यत्रेति** । सङ्गतिमाह—**इदानीमिति,** अवसरसङ्गतिप्रयुक्तसम्प्राप्तनिरूपणकालावच्छेदेनेत्यर्थः । साधनेनानेन सभावनेन पर्यवसन्नमभिप्रेयं प्रकाशयति—**अतो घटादिति,** उक्तसाधनापादितयोरस्तित्वैकत्वयोर्घटनिरूपितानन्यतावतोः सतोर्निखिलं वस्तु घटाद्यबादिप्रत्ये-

---

१ सि. क्ष. छा, डे, तत्सतोपटाद० । २ सि. क्ष. छा. डे. °पूर्वस्मिस्तु ।

अ[ब]ग्निवायुभूम्यादि सर्वं सर्वात्मकमेकैकम्, अत आह–सर्वो भेदेन घटः प्रत्येकमित्यर्थः, भवतु सर्वं सर्वात्मकम्, को दोष इति चेदुच्यन्ते दोषाः–तथा च प्रत्यक्षादिविरोधाः–घटादीनां प्रत्यक्षमसर्वात्मकत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनामनुमानादिविरोधा योज्याः, [व्यक्ता]व्यक्तात्मकेत्यादि, ते च प्रत्यक्षादिविरोधा व्यक्तादिभावेषु व्यक्तं शब्दपृथिव्यादि गवादि घटादि वा, एकैकमस्त्येकशब्दानां त्रयाणामेकत्वमन्यत्वं वा स्यादित्यादिप्रक्रान्तन्यायेनास्तित्वस्वतत्त्वमेकत्व [स्वतत्त्वं] शब्दस्वतत्त्वं चेत्यापाद्यं यावत्सर्वसर्वात्मकत्वम्, पृथिव्यादीनामपि प्रत्येकं गवादीनां नेयम्, तदभ्युपगमे प्रत्यक्षादिविरोधाः, अव्यक्ते सत्त्वरजस्तमसाञ्च प्रत्येकमस्त्येकाव्यक्तानां त्रयाणामित्यादि अस्त्येकसत्त्वानामित्यादि । [अस्त्येकरजसामित्यादि] अस्त्येक[त]मसामित्यादि, तथा द्रव्यगुणकर्मणामिति, तथोत्पादस्थितिभङ्गानाम्, तथा साधनस्य तद्भेदानां प्रतिज्ञादीनां दूषणस्य तद्भेदानाञ्च स्ववचनविरोधाद्यसिद्ध्यादिसाध्यधर्मवैकल्यादीनामपि प्रोक्तन्यायेन प्रत्यक्षादिविरोधा आपाद्याः, व्यापित्वादस्य न्यायस्येति ।

एते चेन्नेष्यन्ते घटो नास्तीति प्रतिपत्तव्यम्, तथा च सर्वे भावाः, यत्र घटस्यावृत्तिस्तत्र सर्वभावानामवृत्तिरेव, अस्तित्वैकत्वयोः घटानर्थान्तरत्वात्, अथाप्यर्थान्तरं ततो घटस्य सामान्यविशेषौ न स्त इति निःसामान्यत्वान्निर्विशेषत्वाच्चासत्त्वमेव स्यात् ।

(**एते चेदिति**) एते चेन्नेष्यन्ते घटो नास्तीति प्रतिपत्तव्यम्–अथैतान् प्रत्यक्षविरोधादिदोषान् नैवेच्छसि तदा घटो नास्तीत्येतत् प्रतिपद्यस्वेति स्वमतशून्यताऽऽपादनम्, तथा च सर्वे भावा इत्यतिदेशो

कावच्छेदेन सर्वात्मकं भवेदिति भावः । आपाद्यमेवाह–**सर्वो भेदेनेति** । प्रत्येकावच्छेदेन सर्वसर्वात्मकतायामनिष्टप्रसञ्जनमाह–**तथा चेति,** प्रतिनियतधर्मपुरस्कारेणैव घटादीनां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तस्य सर्वात्मकताभ्युपगमः प्रत्यक्षतो विरुद्ध इति भावः । सर्वात्मकताप्रत्यक्षवैधुर्येण ततस्तद्व्याप्यहेतुग्रहासम्भवादसर्वात्मकत्वव्याप्यहेतुमत्ताज्ञानजनितानुमानेन प्रतिनियतधर्मावच्छिन्नघटस्यैव सिद्धेस्तस्य सर्वात्मकताभ्युपगमोऽनुमानेन विरुद्ध इत्याह–**प्रत्यक्षपूर्वकत्वादिति,** सहचारसङ्केतादिग्राहकप्रत्यक्षप्रयोजकत्वादित्यर्थः । घटादेः सर्वात्मकत्वे यथा प्रत्यक्षादिविरोधा आपादितास्तथा सर्वसर्वात्मकत्वाभ्युपगन्तृसांख्यदर्शनप्रसिद्धव्यक्ताव्यक्तपदार्थेष्वपि प्रत्येकावच्छेदेन प्रोक्तन्यायेन सर्वात्मकतामापाद्य प्रत्यक्षादिविरोधा वाच्या इत्याह–**व्यक्ताव्यक्तात्मकेत्यादीति** । महदादिभावाः प्रधानाद्व्यज्यमानत्वाद्व्यक्ताः प्रधानन्तु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थात्मकं न केनापि व्यज्यमानमित्यव्यक्तम्, शब्दपृथिव्यादयः स्फुटतरं व्यक्ताः प्रत्यक्षवेद्यत्वादिति तानेवाऽऽदाय सर्वात्मकतामापाद्य प्रत्यक्षादिविरोधान् प्रदर्शयति–**ते चेति** । व्यक्ताः शब्दपृथिव्यादिगवादिघटादयः, तत्र प्रत्येकं शब्दादौ यदस्त्येको घट इत्यत्र घटशब्दस्थाने शब्दशब्दं प्रक्षिप्य यदस्त्येकः शब्दः तस्य सत्त्वैकत्वशब्दत्वानामेकत्वान्यत्वयोः का युक्तिरिति विचारे तेषामेकत्वं चेदिष्यते ततो यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वमपि निष्कलं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीत्यादिग्रन्थः सर्वभावेषु शब्दत्वस्य शब्दे सर्वभावस्य चापादनद्वारेण सर्वसर्वात्मकत्वप्रसञ्जको वक्तव्यः, तथैव तदभ्युपगमे प्रत्यक्षादिविरोधापादनग्रन्थश्च, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थात्मकेऽव्यक्तेऽपि प्रत्येकं सत्त्वादौ तथैवाव्यक्तेऽपि सर्वसर्वात्मकत्वमापाद्य प्रत्यक्षादिविरोधो वाच्य इत्याह–**व्यक्तमिति** । एवं द्रव्यगुणकर्मसूत्पादस्थितिभङ्गेषु साधने तद्भेदेषु प्रतिज्ञाहेत्वादिषु दूषणे तद्भेदेषु स्ववचनविरोधादिषु चैकत्वसत्त्वद्रव्यत्वादितत्तद्धर्माणामेकत्वे सर्वसर्वात्मकत्वमापाद्य प्रत्यक्षादिविरोधा वाच्याः, उक्तन्यायस्य सर्वत्र व्यापकत्वादित्याह–**तथा द्रव्येति** । उक्तदोषानभ्युपगमे शून्यतैव फलतीत्याह–**एते चेन्नेष्यन्त इति,** उक्तदोषा यदि नेष्यन्त इत्यर्थः । व्याकरोति–**अथैतानिति** । प्रत्यक्षादिविरोधदूरीकरणाय सर्वसर्वात्मकत्वं नाभ्युपेयम्, तदभावाय चास्तित्वैकत्वघटत्वानामेकत्वेऽपि स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीत्यंशो नाभ्युपेयः, एवञ्च घटादौ तेषामवृत्तेर्निःस्वभावतया शून्यत्वमेव सेत्स्यतीत्याशयेनाह–**तदा घट इति** । यथा घटस्य नास्तित्वं तथा सर्वभावानामपी-

यथा घटस्यायुक्त्या नास्तित्वं प्रतिपादितमस्त्येकत्रयाणामनन्यत्वे तथा पटरथादिसर्वभावानां प्रतिपाद्यमतोऽतीतन्यायेन योजयितुमुपायं प्रदर्शयन्नाह–यत्र घटस्यावृत्तिः तत्र सर्वभावानामवृत्तिरेव, कस्मात्? घटानर्थान्तरत्वात्, घटादनर्थान्तरत्वं सर्वभावानां भावितमेव, क ? अस्तित्वैकत्वयोरनर्थान्तरत्वे घटस्य पटादीनामप्यस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वात् घटानर्थान्तरत्वमतश्च घटानर्थान्तरत्वात् सर्वभावानां घटावृत्ताववृत्तिरेवेत्यस्त्येकघटानामनर्थान्तरत्वे दोषः, अथाप्यर्थान्तरमिति-अस्त्येकत्वाभ्यां घटस्यार्थान्तरतायां वा सामान्यमस्तित्वं विशेष एकत्वं घटस्य, ततस्तौ सामान्यविशेषौ न स्तः, निःसामान्यत्वान्निर्विशेषत्वाच्चासत्त्वमेव घटस्य खपुष्पवत् स्यादिति ।

अत्राह—

अथ भावाः परस्परविपरीतस्वभावा एव सत्यप्यस्तित्वैकत्वाभेदे, भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः, तस्मान्न सर्वात्मदोषः, अत्र ब्रूमः घटः पटादस्त्यात्मकादेकात्मकादनन्यात्मकाच्च विपरीतः संवृत्तः ततश्च घटो घटात्मस्वरूपादपि विपरीतः प्राप्नोति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां विपरीतत्वात्, घटविपरीतपटात्मवदिति पुनरपि नास्ति घटः, एवं सर्वभावा अपि, सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः।

अथेत्यादि, घटपटादयो भावाः परस्परविपरीतस्वभावा एव सत्यप्यस्तित्वैकत्वाभेदे, किमर्थं किं कारणं वा ? उच्यते भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः, प्रधानं हि प्रकृतिबहुधानकादिपर्यायं पुरुषोपभोगं शब्दाद्युपलब्धिरूपमाद्यं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपञ्चान्त्यमुद्दिश्य पुरुषं प्रवर्त्त[य]मानं शब्दादिपृथिव्यादिगवादिघटादिभेदानन्तरेण न शक्नोति पुरुषार्थं कर्त्तुम्, अतो भेदार्थं प्रधानादिप्रवृत्तेः घटपटादयः परस्परविभिन्नस्वभावा

त्यतिदिशति-**तथा च सर्वे भावा इति,** यत्रैकत्वमस्ति तत्रास्तित्वमपि निष्कलं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हति, अनर्थान्तरत्वादिति हि युक्तिः, तत्र सर्वसर्वात्मकतावारणायास्तित्वं निष्कलं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीत्यंशानभ्युपगमे घटस्य नास्तित्वं प्रतिपादितं भवति, अस्तित्वादीनामवृत्तेः, एवं घटानन्यैकत्वास्तित्वानन्यत्वात् सर्वभावानां घटवदेवावृत्तित्वं स्यादिति भावः । तत्र प्रोक्तन्यायं संघटयितुमुपायमाह-**यत्र घटस्येति ।** अस्तित्वैकत्वयोर्घटस्यावृत्तित्वात् सर्वभावानामप्यवृत्तित्वम्, सर्वभावानां घटानर्थान्तरत्वस्य भावितत्वादित्यर्थः । कुत्र भावितमित्यत्राह-**अस्तित्वैकत्वयोरिति,** घटादनर्थान्तरे ह्येकत्वास्तित्वे ताभ्यामनर्थान्तराणि सर्वभावा इति घटादनर्थान्तरत्वं सर्वभावानां पटादीनाम्, तदभिन्नाभिन्नत्वस्य तदभिन्नत्वव्याप्तेरिति भावितमिति भावः । ततः किमित्यत्राह-**सर्वभावानामिति ।** अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्यार्थान्तरत्वे तु सामान्यविशेषशून्यत्वाद्घटस्य खपुष्पवदभाव एव स्यादित्याह-**अस्त्येकत्वाभ्यामिति,** सम्बन्धाभावादिति भावः । अथ सन्तोऽप्येकरूपा अपि भावाः परस्परविलक्षणा इति सामान्यविशेषात्मकत्वेऽपि भावानां घटपटादीनां परस्परतो नाभेद इत्याशङ्कते-**अथ भावा इति ।** घटपटादीनामस्तित्वेनैकत्वेन चाभेदे सत्यपि ते परस्परं भेदाद्विपरीतस्वभावा एव न त्वभिन्नस्वभावा अत एव च न सर्वसर्वात्मका इति व्याचष्टे-**घटपटादय इति ।** घटादीनां सर्वात्मकत्वे प्रतिनियतार्थक्रियाप्रवृत्तिर्न स्यात्, तथाविधार्थक्रियायोग्यविशेषतासम्पादनार्थं विशेषस्वभावता तेषां वाच्या, किञ्च ते यदि सर्वात्मका न तदर्थं प्रधानप्रवृत्तिः स्यात् प्रधानवत्तेषामपि सर्वात्मकत्वात्, प्रवर्त्तते च प्रधानम्, तस्मात्ते तद्विपरीतस्वभावा असर्वात्मकाः प्रतिनियतस्वभावा इति यावदित्याशयेन पृच्छति-**किमर्थं किं कारणं वेति,** कस्मै प्रयोजनाय केन हेतुना च परस्परविपरीतस्वभावतेत्यर्थः । समाधत्ते-**भेदार्थमिति ।** व्याचष्टे-**प्रधानं हीति,** प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रकर्षेण धीयन्तेऽस्मिन्निति प्रधानं प्रकर्षश्च प्राचुर्यं बहुप्रभेदाधारं बहुधानकम्, एतेषां पर्यायता, ईदृक् प्रधानं पुरुषोपभोगं जनयितुं प्रवर्त्तते, स चोपभोगो द्विविधः, शब्दादिविषयोपलब्धिरूपः गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपश्चाद्यन्तशब्दवाच्यावेतौ, तं च पुरुषोपभोगं साक्षाद्विधातुमशक्नुवन्ती महदहङ्कारतन्मात्रशब्दादिपृथिव्यादिघटादिभेद-

एव, तस्मान्न सर्वात्मदोषोऽस्त्येकघटानामित्यत्र[ब्रूमः] ततो घटः पटादस्त्यात्मकाद्विपरीतोऽधुनाऽभ्युपगतः, एवमभ्युपगते पुनर[यं]दोष आपद्यते यथा घटः पटादस्त्यात्मकादेकात्मकादनन्यात्मकाच्च विपरीतः संवृत्तः, एवं हि वैपरीत्यं, नान्यथा, ततश्च तथा घटो घटात्मस्वरूपादपि विपरीतः [1]पटास्तित्वैकत्वव[त्त]दनन्यत्वलक्षणात् प्राप्नोति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां विपरीतत्वात्, घटविपरीतपटात्मवदिति घटात्मनैवाभावात् पुनरपि नास्ति घटः, एवं सर्वभावा अपीत्यतिदेशादेकैको भावः कटरथादिरभावः स्यात्, कस्मात् पटादनन्यत्वैकत्वास्तित्वविपरीतता सिद्ध्यति ? सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः ।

नन्वस्तित्वैकयोर्विपरीतता कस्मात् सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः, ततो व्यावृत्तिः कल्प्यते घटादयः परस्परविपरीता इति, अत्र ब्रूमः, एवं तावदेकत्वे कुत इदं ? यत्ते सर्वगते न घटत्वम्, घटत्वमेवासर्वगतं न ते इति, नन्वेवं सर्वेषामप्येकरूपेण भवितव्यम्, अनन्यत्वात्, प्रतिवस्तुतत्त्ववदिति नास्ति सर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषः, अथैतन्नेष्यते घटबहुत्वं तर्हि प्राप्तम्, यस्मादस्त्यपि घटो भेदेन, एकोऽपि, घटोऽपीति त्रयो घटाः स्युः, अथ घट एवैको घट इष्यते, न त्वस्तित्वैकत्वे सिद्धस्तर्हि नास्ति घट इति, अस्तित्वार्थान्तरत्वात् खपुष्पवत्, नैक इति च, एकत्वास्तित्वत्यागाच्च रूपादिषु घटैकदेशेष्वपि न घट इति प्राप्तम्, एकत्वत्यागात्, एकैकत्वाच्च रूपादीनां रूपादिष्वभावे घटस्य रूपादयो घटः संवृतिसन्निति निवर्त्तते, क्षणिक इति च न क्षणिकमात्रम्, अस्तित्वत्यागात् ततश्चानस्तित्वो घट इति प्राप्तम्, तच्च विज्ञानमात्रमिदं सर्वं इति वक्ष्यमाणपक्षोऽभ्युपगतो भवति ।

(नन्विति) नन्वस्तित्वैकत्वयोर्विपरीतता, कस्मात् सर्वगतत्वाद्व्याप्तेः ? इति, अस्तित्वैकत्वाभ्यां हि

प्रभेदरूपेण भवति, तस्मात्ते भेदप्रभेदाः परस्परं विलक्षणस्वभावा इति भावः । तस्मान्न सर्वात्मकत्वदोषो घटादीनामित्याह–**तस्मान्नेति** । तदेतन्मतं शून्यवादी प्रतिक्षिपति–**ततो घटः पटादिति,** घटो घटात्मस्वरूपाद्विपरीतः, अस्त्याद्यात्मकविपरीतत्वात्, घटविपरीतपटात्मवत्, योऽस्त्याद्यात्मकविपरीतः स घटस्वरूपादपि विपरीतो यथा पटोऽस्त्यात्मकादेकात्मकात् घटाद्विपरीतस्तथा घटस्वरूपाद्विपरीतः तथा घटोऽप्यस्त्यात्मकादेकात्मकादस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्यात्मकात् पटाद्विपरीत इति घटस्वरूपादपि विपरीतः संवृत्तः, घटपटादीनाञ्च विपरीतस्वरूपताभ्युपगमादस्त्याद्यात्मकात् पटादेर्विपरीतताऽभ्युपगतैवेति नासिद्धिरिति भावः । हेतोः सिद्धत्वे चानुमानमाह–**एवमभ्युपगत इति** । अस्तित्वाद्यात्मकयत्किञ्चित्प्रतियोगिकवैपरीत्यमेव त्वयाऽपि वाच्यं नान्यथा वैपरीत्यं सम्भवतीत्याह–**एवं हीति** । भवतु ततः किमित्यत्राह–**तथा घट इति** । यथा पटस्यास्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्य विपरीतता तथा घटानन्यात्मकात् घटात्मस्वरूपादपि विपरीतो घटः स्यादित्याह–**पटास्तित्वेति,** पटास्तित्वैकत्वयोर्घटस्य विपरीतत्वमिति भावः । भवतु घटस्य घटात्मस्वरूपविपरीतत्वं किं नः छिन्नमित्यत्राह–**घटात्मनैवेति,** स्वस्वरूपाद्वैपरीत्ये प्रागिव घटो नैव स्यादिति भावः । एवं सर्वभावानां कटरथादीनामप्यभावः, उक्तन्यायादित्याह–**एवमिति** । उक्तन्यायस्य सर्वत्र समानत्वात् सोऽत्रापि योज्य इति हेतुं दर्शयति–**कस्मादिति** । ननु यत्रैकत्वमस्तित्वं वा तत्रास्तित्वमेकत्वं निष्कलं स्वेनैव तत्त्वेन भवितुमर्हतीति व्याप्तेः सर्वगतत्वात् कथमस्तित्वैकत्वाभ्यां विपरीतता घटादेरिति शङ्कते–**नन्विति,** अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटादयो न

---

१ सि. क्ष. छा. डे. पदा० ।

व्याप्ता घटादयः यस्मात्, कुतस्तयोर्वैपरीत्यम्? [1]ततो व्यावृत्तेः कल्प्यते घटादयस्तु परस्परविपरीताः स्युः व्यावृत्तात्मत्वादतो न निःस्वभावापत्तिरस्तित्वैकत्वव्याप्तेरिति, अत्र ब्रूमः ए[वं] तावदेकत्वे, कुत इदं यत्ते इत्यादि, ताभ्यामस्तित्वैकत्वाभ्यां [2]घटत्वैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने कुतोऽयं विशेष आयातः तयोरेवास्तित्वैकत्वयोः सर्वगतत्वं न घट[त्व]स्य, घट[त्व]स्यैवासर्वगतता नास्तित्वैकत्वयोरिति? अत्र साधनं नन्वेवमित्यादि—सर्वेषामस्तित्वैकत्वघट[त्व]ानामप्येकरूपेण भवितव्यमिति पक्षः, अनन्यत्वादिति हेतुः, प्रतिवस्तुतत्त्ववदिति दृष्टान्तः—यथा वस्तु वस्तु प्रति यदात्मस्वरूपं घटादौ तत्तदनन्यत्वादेकरूपमेव दृष्टम्, रूपरूपत्वमसाधारणं न तद्रसाद्यात्मकमपीत्यविशिष्टं तथाऽस्त्येकघटानामपीति नास्ति सर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेष इति तदवस्था निःस्वभावता, अथैतन्नेष्यते निःस्वभावत्वमनन्यत्वञ्चार्थान्तरत्वमेवास्त्येकघटानामिष्यते चेत् ततो घटबहुत्वं तर्हि प्राप्तमिति ब्रूमः, यस्मादस्त्यपि घटो भेदेन, एकोऽपि, घटो भेदेनेति वर्त्तते, तथा घटोऽपि घट इति त्रयो घटाः स्युरनिष्टञ्चैतत्, अथ मा भूदेष दोष इति घट एवैको घट इष्यते न त्वस्तित्वैकत्वे घट इति ततः सिद्धस्तर्हि नास्ति घट इति, कस्मात्? अस्तित्वादर्थान्तरत्वात् खपुष्पवत्, नैक इति च, सिद्धस्तर्हीति वर्त्तते, किञ्चान्यत्—एकत्वास्तित्वत्यागाच्च रूपादिषु घटैकदेशेष्वपि न घट इति प्राप्तमेकत्वत्यागात्, एकैकत्वाच्च रूपादीनां रूपादिष्वभावे घटस्य [3]रूपादि-

विपरीताः किन्त्वनुवृत्ताः, परस्परेण तु विपरीताः घटत्वपटत्वादिलक्षणविभिन्नव्यावृत्तिमत्त्वात्, अस्तित्वैकत्वाभ्यामनुवृत्तत्वादेव च घटादयो न निःस्वभावा इति शङ्कार्थः। एवं तर्हि अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटादेरनन्यत्वादस्तित्वैकत्वे सर्वगते घटत्वादि न सर्वगतमिति भेदो न स्यादिति समाधत्ते—**एवं तावदिति**। यद्यस्तित्वैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वं घटत्वस्य यत्र यस्यानर्थान्तरत्वमित्युक्तव्याप्त्याऽभ्युपगम्यते तर्हि कथमस्तित्वमेकत्वञ्च सर्वभावेषु घटत्वन्तु घट एवेति विशेषस्तथा घटत्वं न सर्वभावेषु, अस्तित्वमेकत्वञ्च सर्वभावेष्विति व्याचष्टे—**ताभ्यामिति,** अत्रान्यत्र च घटपदस्थाने घटत्वपदं चारु भासते। उक्तार्थमनुमानेन प्रकाशयति—**अत्र साधनमिति,** अस्तित्वैकत्वघटत्वानि अविशिष्टानि, अनन्यत्वात्, प्रतिवस्तुतत्त्ववत्, वस्तूनां हि स्वतत्त्वानि वस्तुतत्त्वयोरनन्यत्वादविशिष्टानि दृष्टानि यथा घटतत्स्वरूपे अनन्यत्वादविशिष्टे, तथा रूपस्य यद्रूपत्वं-तत्स्वरूपं तदपि नासाधारणम्, रूपरसादिसमुदायात्मकत्वाद्घटस्यावयवावयविनोरनन्यत्वेन रूपाभिन्नघटाभिन्नरसादे रूपानन्यत्वात् रूपस्वरूपं रसाद्यात्मकमपीति रूपस्वरूपं नैकरूपमिति न शङ्क्यम्, तदपि रसाद्यात्मकत्वादविशिष्टमेवेति भावः। तदेव व्यभिचारशङ्कां निरस्यति—**रूपरूपत्वमिति**; रूपस्य स्वरूपमित्यर्थः। एवमस्तित्वैकत्वघटत्वानामप्यनन्यत्वेनाविशिष्टत्वात् सर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषाभावप्रसङ्गादस्तित्वैकत्ववैपरीत्यस्य घटत्वादावसिद्धेरस्त्यात्मकादेकात्मकात्तदनन्यात्मकाच्च पटाद्विपरीतत्वाद्घटात्मस्वरूपादपि विपरीतत्वात्तदवस्था निःस्वभावतेत्याह—**तथाऽस्त्येकेति**। इत्थं सिद्धं निःस्वभावत्वं सर्वभावानामनन्यत्वञ्चास्तित्वैकत्वघटत्वादीनां नेष्यते तेषामर्थान्तरत्वमेवेष्यते चेत्तदा दोषं वक्तुमाह—**अथैतन्नेष्यत इति**। दोषमाह—**ततो घटबहुत्वमिति,** अस्तित्वस्यैकत्वस्य घटत्वस्य च परस्परं भिन्नत्वादस्तित्वावच्छिन्नो घटोऽन्यः एकत्वावच्छिन्नो घटोऽन्यो घटत्वावच्छिन्नश्च घटोऽन्य इत्येकस्यैव घटस्य बहुघटत्वप्रसङ्गः, अस्त्येकघटस्यैकत्वेष्टेरिति भावः। ननु नायं दोषः, घटत्वावच्छिन्नस्यैव घटत्वात्, अस्तित्वावच्छिन्नस्यैकत्वावच्छिन्नस्य चाघटत्वात्ततो न घटबहुत्वमित्याशङ्कते—**अथ मा भूदिति**। यदि घटस्यास्तित्वावच्छिन्नत्वमेकत्वावच्छिन्नत्वञ्च नेष्यते ततो घटोऽस्तीति एक इति च न स्यात्, अस्तित्वैकत्वानवच्छिन्नत्वात्, किन्तु नास्तित्वमनेकत्वमेव घटस्य स्यादित्युत्तरयति—**सिद्धस्तर्हीति**। दोषान्तरमप्यत्र पक्षे प्रकाशयति—**एकत्वास्तित्वत्यागाच्चेति,** घटेऽस्तित्वस्यैकत्वस्य च परित्यागे रूपरसादिसमुदायो घट इति समुदायिवृत्तित्वात् समुदायस्य रूपनिरूपितमस्तित्वं घटे न स्यात्, घटेऽस्तित्वानभ्युपगमात्, एवं रसादिनिरूपितमपि, रूपादेरेकैकत्वेनाभेदेन तत्र घटो न स्यात्,

१ सि. क्ष. छा. डे. यतो० कल्प्येत। २ सि. क्ष. छा. डे. घटैकत्वे। ३ सि. क्ष. डे. रूपादयोघरसं०, छा. रूपादयो समुदायो घटसं०।

समुदायो घट[ः]संवृत्तिसन्नित्येतन्निवर्त्तते, तथा क्षणिक इत्येकक्षणावलम्बिनोऽस्तित्वं क्षणिकवादेऽभ्युपगतं भूतिर्येषां क्रिया सैवेति, भूतेरस्तित्वत्यागात् न भूतमात्रमिति च प्राप्तम्, अनिष्टञ्चैतदुभयमपीति, ततः किं ? ततश्चानस्तित्वो घट इति प्राप्तम्—नास्ति अस्तित्वं यस्य सोऽनस्तित्वो यो घट इत्युच्यते सोऽनस्तित्वः, तच्च विज्ञानमात्रमिदं सर्वं बाह्यार्थशून्यमिति वक्ष्यमाणः पक्षोऽभ्युपगतो भवतीति ।

अथोच्येत बह्वेवास्ति प्रत्येकवृत्तेरस्तित्वस्य, बह्वेव नास्ति परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वात्, तच्च क्वचिदर्थे न सर्वत्र, पटाद्विशेषणार्थमस्ति घट इत्युच्यते, एकमपि द्व्यादिविशेषणार्थमुच्यते तत्रात्येको घट इति, सर्वैकत्वप्रसङ्गो घटबहुत्वप्रसङ्गश्च कुत आयातौ ? इति, एतन्न, सर्वसमयाप्रसिद्धेः, अस्तितत्त्वं न कस्यचित् समयसिद्धं बह्विति, अस्तित्वस्य रूपान्तराभावात् ।

अथोच्येतेत्यादि, अत्र यदि परिहारः परेणोच्यते, तद्यथा—बह्वेवास्ति घटपटादिः[1] प्रत्येकवृत्तेरस्तित्वस्य, तथा बह्वेव नास्ति घटपटाद्येव, परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वात्, तच्च क्वचिदेकैकस्मिन्नर्थे, न सर्वत्रास्तित्वमेव नास्तित्वमेव वा, तस्मात् घटस्य पटाद्विशेषणार्थमस्ति घट इति घटस्यैवास्तित्वमुच्यते, तथैकमपि बह्वेव घटपटादि, तदेव हि द्वित्रिचतुरादिसंख्यमपि, तस्मादेकमिति द्व्यादेर्विशेषणार्थमुच्यते तत्रैव विधिवस्तुनि अस्त्येको घट इति, अस्त्येकघटानां त्रयाणामनन्यत्वात् सर्वैक[त्व]प्रसङ्गः, अन्यत्वे वाऽस्त्यप्येकोऽपि घटोऽपि घट इति घटबहुत्वप्रसङ्गश्च कुत आयातावेतौ प्रसङ्गाविति परिहारः, अत्र ब्रूमः, एतन्न

घटस्यैकत्वाभावात्, तथा च रूपादिसमुदायो घटः स च संवृतिसन्निति सिद्धान्तो निवर्त्तेत इति भावः । एवं क्षणमात्रास्तित्वं घटादेरभ्युपगतं तदपि निवर्त्तेत इत्याह—**तथा क्षणिक इति** । क्षणिकस्यास्तित्वं कुतोऽभ्युपगतमित्यत्राह—**भूतिर्येषामिति,** भवनमेव क्षणिकाणां क्रियोक्तेत्यर्थः, एवञ्च भवनमेवास्तित्वं तत्त्यागाद्घटादयो न भूतमात्रमिति भावः । एवञ्च घटादीनां नास्तित्वं प्राप्यत इत्याह—**ततश्चेति** । अनस्तित्वशब्दव्युत्पत्तिमाह—**नास्तीति,** अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्, न तु क्रियापदं ततस्त्वप्रत्ययानुत्पत्तेः अस्ति भावोऽस्तित्वम्, ततो नास्ति अस्तित्वं यस्य घटादेः सोऽनस्तित्वः, नत्वस्तित्वं न भवतीति तत्पुरुषः, अजहल्लिङ्गत्वादिति भावः । घटस्य नास्तित्वे किं स्यादित्यत्राह—**तच्चेति,** इत्थं बाह्यार्थशून्यत्वाद्विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमिति निरूप्यमाणपक्ष आपन्न इति भावः । ननु सर्वभावनिष्ठमस्तितत्वं न स्वसजातीयनिष्ठभेदाप्रतियोगित्वरूपम्, स्वसजातीयद्वितीयराहित्यरूपं वा यतोऽर्थान्तरत्वानर्थान्तरत्वाभ्यामनस्तित्वाविशिष्टत्वादिदोषाः स्युः किन्तु प्रतिव्यक्ति अस्तित्वं विभिन्नमेव, तस्माद्घटपटादि बहुत्ववदस्तित्ववदित्याह—**अथोच्येतेति** । व्याचष्टे—**बह्वेवास्तीति,** बहुत्वमस्तित्ववदेकदेशेऽस्तित्वेऽन्वेति, बहुत्ववदस्तित्ववदित्यर्थः, सम्पन्नो व्रीहिरित्यादिवत्, एवं नास्तित्वमपि नानैव, घटपटादीनां परस्परं व्यावृत्तस्वरूपत्वादिति भावः । तच्चास्तित्वं नास्तित्वञ्च प्रत्येकव्यक्तिनियतम्, न तु सर्वत्वव्यापकास्तित्ववत्त्वं नापि सर्वत्वव्यापकनास्तित्ववत्त्वं वेत्याह—**तच्चेति** । एवञ्चास्तीत्युक्तौ किं घटोऽस्ति पटो वेति संशयः स्यात्, पटादिव्यावर्त्तनाय च घटोऽस्तीत्युच्यते; इदमस्तित्वं घटस्य, न तु पटस्येति पटादिव्यावर्त्तनाय घटपदप्रयोग इत्याह—**तस्मादिति** । एवमेव घटपटादौ नैकमेकत्वम्, किन्तु प्रतिव्यक्तिभिन्नमेकत्वम्, तथा सर्वत्रैकत्वमेव, अनेकत्वमेव वेति न नियमः, घटपटाविति द्वित्वस्य घटपटकटा इति त्रित्वस्य घटपटकटरथा इत्येवं चतुष्ट्वादेः प्रत्येकं घटादौ सत्त्वात्, प्रत्येकावृत्तेः समुदायावृत्तित्वनियमात्, एवञ्च घटे एकत्वानभ्युपगमे द्व्यादेरविशिष्टता स्यात्तन्मा भूदिति एको घट इत्युच्यत इत्याह—**तथैकमपीति** । एवमस्त्यात्मके एकात्मके घटादौ अस्तित्वैकत्वघटत्वेभ्यो भेदाभेदाभ्यां सर्वैकत्वघटबहुत्वप्रसङ्गौ न सम्भवत इत्याह—**तत्रैवेति** । तदेतन्मतं शून्यवादी पराकरोति—**एतन्नेति** । नानास्तित्वाभ्युपगमेन यत्परिहार-

१ सि. क्ष. छा. डे. घटपरादेः ।

परिहारवचनम्, कस्मात्? सर्वसमयाप्रसिद्धेः, अस्तीत्यस्य तद्भावोऽस्तित्वं तन्न कस्यचित्–सांख्यादीनां समयसिद्धं बह्विति, कस्मात्? अस्तित्वस्य रूपान्तराभावात्।

यदि स्याद्रूपान्तरं ततो नानारूपमेव स्यात् किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति किञ्चिदस्ति नास्ति चेति, अनिष्टञ्चैतत्, तस्मादभेद एवास्तित्वस्य, तस्मिंश्च तदभेदे तु सर्वेषामैक्यम्, भेदे वा घटबहुत्वमिति तदवस्थौ प्रसङ्गौ, तथापि च नास्तित्वमेव, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात् खपुष्पवत्। इतरेतरासत्त्वाभ्युपगमाच्च कुतोऽस्तित्वं तेषामिति।

(**यदि स्यादिति**) यदि स्याद्रूपान्तरं–घटेऽन्यत् पटेऽन्यदस्तित्वं रथादिषु च शेषेष्वन्यदन्यत् स्यात् ततो नानारूपमेव स्यात् किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति किञ्चिदस्ति नास्ति चेति, अनिष्टञ्चैतत्, तस्मादयुक्ता कल्पना-घटान्तरपटान्तराद्यस्तित्वेभ्यो विशेषणार्थमस्ति घट इति तथैको घट इत्यपि ज्ञेयम्, तस्मादभेद एवास्तित्वस्य, तस्मिंश्च तदभेदे तु–घटादीनामस्तित्वादनन्यत्वपक्षे सर्वेषामैक्यम्, अन्यत्वपक्षे वा घटबहुत्वमिति तदवस्थौ प्रसङ्गौ, किञ्चान्यत्–तथापि च नास्तित्वमेव–एवमस्तित्वसामान्यशून्यत्वादेकत्वविशेषशून्यत्वाच्च नास्तित्वमर्थान्तरतायां खपुष्पवत्, इतरेतरासत्त्वाभ्युपगमाच्चेत्यतो हेतोः कुतोऽस्ति[त्वं] तेषां घटादीनामिति, अनन्यत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविरोधसर्वैक्यदोषापादनद्वारेणासत्त्वमुक्तवदिति।

अथोच्येत भिन्नास्तित्व एव घटः, आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात्, पटकटधीवत्, कटो हि नास्ति पटः पटश्च नास्ति कट इति कटपटधियौ भिन्नास्तित्वे दृष्टे तथा घटोऽपि भिन्नप्रकारात्मलाभत्वात् पटादिभ्यो भिन्नास्तित्वः, एतदपि न, उक्तसत्त्वतुल्यत्वात्, अस्य वा हेतोरभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेऽपि, येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामप्यात्मलाभः, अस्तित्वेन भवनाविशेषात्, नानारूप्येऽस्तित्वं नास्तित्वमस्तिनास्तित्वं वा स्यादित्युक्तम्, तस्मादभिन्नास्तित्वोऽसौ नञ्सहित एव हेतुः, घटवदिति दृष्टान्तः, तथैकत्वमपि।

अथोच्येत भिन्नास्तित्व एवेत्यादि, भिन्नमेवास्तित्वं घटस्य पटाद्यस्तित्वात्, प्रत्येकमसाधा-

---

वचनमुच्यते तन्न युक्तम्, कस्मिन्नपि दर्शने नानास्तित्वानभ्युपगमादस्तित्वमेकरूपमेव न रूपान्तरमसिद्धेरिति भावः। **अस्तीत्यस्येति**। अस्तेर्योऽसौ तद्भावः तत्त्वरूप. प्रसिद्धो भावोऽस्तित्वं तन्न कस्यचित्समये बह्विति सिद्धमिति भावः। हेतुमाह–**अस्तित्वस्येति,** अस्तित्वमेकरूपमेव, नास्त्यस्य रूपान्तरम्, यदि नाना स्यात्, तर्हि अस्यास्तित्वस्येदं रूपम्, एतदस्तित्वस्यान्यद्रूपं तदस्तित्वस्यापरं रूपमित्येवं रूपान्तरं स्यान्न चैवमिति भावः। यदि स्याद्रूपान्तरं कानुपपत्तिरित्यत्राह–**यदि स्यादिति**। घटपटादिप्रतिव्यक्तिभिन्नत्वेऽस्तित्वस्य किञ्चिद्वस्तु आकाशादि अस्तित्ववदेव, किञ्चिन्नास्तित्ववदेव खपुष्पादि, किञ्चिच्च घटपटाद्यस्तित्वनास्तित्वोभयवदिति नानारूपं स्याद्वस्तु न तु प्रतिनियतैकरूपम्, अनिष्टा च नानारूपतेति व्याकरोति–**घटेऽन्यदिति**। अत एवास्ति घट इति पटास्तित्वविलक्षणास्तित्वप्रकाशनाय, अन्यथा पटास्तित्वाभावान्नास्तित्वमेव घटस्य स्यात्, अस्तित्वे वा घटपटयोर्निर्विशेषता न स्यादेवमेको घट इत्यपीति कल्पनाप्ययुक्तैवेत्याह–**तस्मादयुक्ता कल्पनेति**। एवञ्चास्तित्वस्य नास्ति भेदः, तथाचास्तित्वैकत्वादीनामभेदे प्राग्वत्सर्वैक्यस्य भेदे च घटबहुत्वस्य प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्याह–**तदभेदे त्विति,** अस्तित्वाभेदे त्वित्यर्थः, घटाभिन्नास्तित्वाभिन्नपटादीनां घटत्वप्रसङ्गात्, प्रागुदितरूपाद्वेति भावः। अस्तित्वैकत्वयोर्घटाद्यर्थान्तरतायामस्तित्वसामान्येनैकत्वविशेषेण च घटादि शून्यं स्यात्ताभ्या तस्य सम्बन्धाभावादित्याह–**तथापि चेति**। एवं घटस्य निरपेक्षास्तित्वं न सिद्ध्यति, परस्परापेक्षमस्तित्वमपि नाभ्युपगम्यतेऽतः कुतो घटादीनामस्तित्वं स्यादित्याह–**इतरेतरेति**। अस्त्येकघटानामनन्यत्वे च सर्वसर्वात्मकताप्रसङ्गात् प्रत्यक्षादिविरोधा उक्तवदित्याह–**अनन्यत्वेऽपीति**। पुनरपि वादी घटपटादीनामस्तित्वं परस्परं विभिन्नमेवेति प्रकारान्तरेण वर्णयति–**अथोच्येतेति**। व्याचष्टे–**भिन्नमेवेति,** पटादिनिष्ठास्तित्वापेक्षया घटनिष्ठमस्तित्वं विलक्षणम्, घटपटादीनामात्म-

रणात्मलाभादिदेशकालाकारनिमित्तादिभेदेन, तदिदं प्रतिज्ञायते भिन्नभवनः—भिन्नास्तित्व एव घट इति, कुतः? आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात्—आत्मलाभे जन्मनि उत्पत्तौ घटस्य घटान्तरात् पटादिभ्यश्च देशकालाकारनिमित्तादिप्रकारो भिन्न एव, व्यावृत्त्यात्मरूपत्वात्, किमिव? पटकटधीवत्, तद्व्याख्या—कटो हि नास्ति पट इत्यादि, यथा कट इति बुद्धिः पटबुद्धेर्भिन्नेन प्रकारेणात्मानं लभते, पटबुद्धिश्च कटबुद्धेः, ते च कटपटधियौ परस्परतो भिन्नास्तित्वे दृष्टे तथा घटोऽपि भिन्नप्रकारात्मलाभत्वात् पटादिभ्यो भिन्नास्तित्व इति, एतदपि न, उक्तसत्त्वतुल्यत्वात्—इदमप्यनन्तरोक्तपटादिव्यतिरिक्ताभिमतघटास्तित्वेन तुल्यं घटभिन्नास्तित्त्वम्, तस्मादुक्तसत्त्वतुल्यत्वादसत्त्वमेवेत्यर्थः, भिन्नप्रकारत्वादित्यस्य वा हेतोरभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेऽप्यस्तित्वव्याप्तिसाधनत्वे तुल्यत्वञ्चेति द्विधाप्युक्तसत्त्वतुल्यत्वात्, न त्वदभिमतभिन्नास्त्वित्वो घट इति सम्बन्धः, तस्य व्याख्यानं समानमर्थद्वयेऽप्यत आह—येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामप्यात्मलाभोऽस्तित्वेन भवनाविशेषात्, नानारूप्ये[ऽस्तित्वं] नास्तित्वमस्तित्वनास्तित्वं वा स्यादित्युक्तम्, तस्मादात्मलाभस्याभिन्नरूपत्वादभिन्नास्तित्वो घटः, विरुद्धो व्यभिचारी वाऽयम्, अभिन्नास्तित्वोऽसौ, नञ्सहित एव हेतुरिति—अभिन्नप्रकारात्मलाभत्वादिति प्रयोक्तव्य इत्यभिप्रायः, एवं घटवदिति दृष्टान्तः यथैव हि घट आत्मलाभक्षणेऽत्यन्तमभिन्नास्तित्वः तथा घटान्तराणि पटादयश्चेति, तथैकत्वमपि नेयम्, एवमेकत्वास्तित्वाभ्यामभिन्नो घटः ।

लाभस्यासाधारणत्वात्, सोऽपि भिन्न एवात्मलाभः, देशकालाऽऽकारनिमित्तादिभेदात्, घटस्य हि देशो मृत्, पटस्य तन्तवः इति देशभेदः, यदैव घटस्यात्मलाभस्तदैव पटस्येत्यनियमात् कालभेदः, कम्बुग्रीवादिमदाकारो घटः, आतानवितानाद्याकारः पटः, इत्याकारभेदः, दण्डचक्रादयो घटस्य निमित्तं तुरीवेमादिकन्तु पटस्येति निमित्तभेदस्तस्मान्न साधारणमात्मलाभः, आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वाच्च घटपटादीनां भिन्नभिन्नास्तित्वमिति भावः। इदमेवानुमानेन साधयति—**तदिदमिति,** भिन्नं भवनमअस्तित्वं न त्वात्मलाभः साध्यसाधनयोरविशिष्टत्वाद्यस्य घटस्य स घटो भिन्नभवन इति प्रतिज्ञार्थः। हेतुमाह—**आत्मलाभ इति,** भिन्नः प्रकारो यस्य तस्य भावस्तस्मात्, एतद्घटस्याऽऽत्मलाभे जन्मनि स्वव्यतिरिक्तेभ्यो यावद्भ्यः सजातीयेभ्यो विजातीयेभ्यश्च देशकालाकारनिमित्तादिप्रकारो भिन्न एवेत्यर्थः। आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वादित्यस्यैव फलितार्थमाह—**व्यावृत्तात्मरूपत्वादिति,** सजातीयविजातीयव्यावृत्तस्वरूपत्वा दित्यर्थः। निदर्शनमाह—**पटकटधीवदिति**। पटबुद्धेः कटाविषयकत्वात् कटबुद्धेश्च पटाविषयकत्वात्तद्बुद्ध्योः परस्परव्यावृत्तात्मरूपत्वात् तयोरात्मलाभे भिन्नप्रकारत्वात् तयोर्भिन्नास्तित्ववत्त्वमित्याशयेन निदर्शनं व्याख्याति—**कटो हीति,** कटस्य पटरूपत्वाभावात् पटस्य च कटरूपत्वाभावात् पटकटधियौ भिन्नास्तित्ववत्यौ दृष्टे, विभिन्नप्रकारेणात्मलाभत्वात्, तथा घटोऽपि भिन्नास्तित्वः पटादिभ्यो भिन्नप्रकारात्मलाभत्वादिति भावः। व्याख्यामेव व्याचष्टे—**यथा कट इतीति**। यदि स्याद्रूपान्तरमित्यादिग्रन्थेन सर्वसमयाप्रसिद्धस्यापि अस्तित्वानां रूपान्तरस्याभ्युपगमे यो नानारूपताऽऽपत्तिदोष उक्तः सोऽत्रापि तुल्य इति मतमिदं निराकरोति—**उक्तसत्त्वेति**। व्याचष्टे—**इदमपीति**। किञ्चाभिन्नास्तित्ववान् घटः, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादिति प्रयोगेण सर्वत्र व्याप्तास्तित्वसाधनस्य तुल्यत्वात् साधनमिदमकारप्रश्लेषाप्रश्लेषाभ्यामुक्तसत्त्वतुल्यमित्याह—**भिन्नप्रकारत्वादित्यस्येति,** तस्य उक्तसत्त्वतुल्यत्वादित्यस्य व्याख्यानम्, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादिति हेतुरुक्तसत्त्वे सर्वत्रैकास्तित्वे तुल्य इति दर्शयति—**येन प्रकारेणेति,** अस्तित्वप्रकारेणैकस्य यथाऽऽत्मलाभस्तथा सर्वेषामिति भावः। आत्मलाभे भिन्नप्रकारत्वादिति हेतोरुक्तसत्त्वतुल्यतां दर्शयति—**नानारूप्य इति,** अस्तित्वनानात्मकतायामाकाशादेरस्तित्वमेव खपुष्पादेर्नास्तित्वमेव घटपटादेरस्तित्वनास्तित्वे एवेति स्यात्, सर्वास्तित्ववादिनः सांख्यस्य सर्वनास्तित्ववादिनो बौद्धस्य चानिष्टैषा कल्पनेति भावः। एवञ्चात्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादभिन्नास्तित्व एव घटः, तवोदितो हेतुर्नञ् सहितस्त्वदीयसाध्यस्य भिन्नास्तित्वस्य विरुद्धेनाभिन्नास्तित्वेनाव्यभिचारित्वाद्विरुद्धाव्यभिचारी हेतुरित्याह—**तस्मादिति**। विरुद्धानुमानमेव दर्शयति—**अभिन्नेति**। दृष्टान्तं घटयति—**यथैव हीति**। एवमेवाभिन्नैकत्वमपि साधनीयम्

यदि तु ताभ्यामप्यन्यस्ततो घटस्य शून्यत्वम्, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात् खपुष्पवदिति प्रागुक्तो दोषः, अनन्यत्वे तु सर्वमेव घटः, अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वात् घटस्वतत्त्वानर्थान्तरघटवदिति, अथैवं नेष्यतेऽनर्थान्तरत्वञ्च न त्यज्यते ततो घटोऽपि घटो मा भूद्भवनविशेषहेत्वभावात्, एवमनभ्युपगमे वा तुल्ययोरस्तित्वैकत्वयोः सतोर्घटो घट एव नियतरूपो न तु पटो घट इष्टः, अस्तित्वैकत्वाविशेषात्, एवमघट एव घटः स्यात्, तस्मादेव हेतोः, नन्वयमेव विपर्ययः—रूपं लोके रूपमेव न रस इति सिद्धमपि रूपं न स्याद्रसोऽपि रसो मा भूद्रूपं स्यात्, बहुत्वप्रसङ्गो वोक्तवत्, तस्मान्न सन्ति घटादयः ।

यदि त्वित्यादि, यदि तु ताभ्यामपि घटोऽस्तित्वैकत्वाभ्यामन्यस्ततो घटस्य शून्यत्वम्, अस्तित्वैकत्वशून्यत्वात्—सामान्यविशेषवत्त्वासत्त्वात् असत्त्वमेव खपुष्पवदिति प्रागुक्त इत्यर्थान्तरदोषोपसंहारः, अनन्यत्वे त्वित्यादिनाऽनर्थान्तरपक्षदोषोपसंहारो गतार्थो यावद्घटवदिति, तस्मात् स्थितमेतदाद्युक्तं घटवत् पटाद्यपि घट इति, अथैवमित्यादि, अथैवं न्यायापादितमपि घटादिसर्वभावघटत्वं नेष्यते प्रसिद्ध्यादिबलेन केनचित्, अ[न]र्थान्तरत्वं च न त्यज्यते ततो घटोऽपि घटो मा भूद्भवनविशेषहेत्वभावात्, अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वे घटभवनात् पटादिभवनानां न कश्चिद्विशेषोऽस्ति, न च तत्कारणम्, तस्माद्भवनविशेषहेत्वभावात् पटवद्घटोऽपि घटो मा भूदिति घट[1]स्याप्यभावः, एवमनभ्युपगमे वा तुल्ययोरस्तित्वैकत्वयोः सतोः सर्वत्रवर्त्तिनोः घटो घट एव नियतरूपो न[2] तु पटो घट इष्टः, कस्मात्? अस्तित्वैकत्वाविशेषात्, एव[म]घट एव घटः स्यात् तस्मादेव हेतोर्घटवदघट एव सन्नपि, नन्वयमेवेत्यादि, तदेवानुज्ञापयन्

एवञ्चास्तित्वैकत्वाभ्यां घटोऽभिन्नः सिद्ध्यतीत्याह—**तथैकत्वमपीति** । अस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्य भेदे दोषमाह—**यदि तु ताभ्यामिति,** अस्तित्वैकत्वाभ्यान्तु भिन्नश्चेद्घट इत्यर्थः । घटस्यास्तित्वैकत्वाभ्यां सामान्यविशेषात्मकाभ्यां व्यतिरिक्तत्वे सामान्यशून्यत्वाद्विशेषशून्यत्वाच्च खपुष्पवदसत्त्वमेव घटादेरित्याह—**यदि त्विति** । अथाप्यर्थान्तरं ततो घटस्य सामान्यविशेषौ न स्त इत्येवं प्रागुक्तमेव दोषमुपसंहरतीत्याह—**प्रागुक्त इति** । एवमस्तित्वैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वपक्षेऽपि घटस्वतत्त्वानर्थान्तरत्वाद्घटो घट एव तथा घटाभिन्नास्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वात् सर्वभावानां पटकटरथादीनामपि घटत्वप्रसङ्ग इत्याशयेनाह—**अनन्यत्वे त्विति,** ताभ्यां घटस्यानन्यत्वे त्वित्यर्थः । एवञ्च प्रथमं यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वमपीत्यादि ग्रंथं पटादिसर्वभावानां घटत्वापादकं स्मारयति—**तस्मात् स्थितमेतदिति** । तदेवं न्यायसिद्धं सर्वभावानां घटत्वं नेष्यते तदा दोषमाह—**अथैवमित्यादीति** । अनिष्यमाणत्वे निमित्तमुट्टङ्कयति—**प्रसिद्ध्यादिबलेनेति,** घटस्यैव घटत्वेन प्रसिद्धिर्लोके, न तु पटादेः, विभिन्नाऽर्थक्रियादर्शनाद्घटपटादेदेशकालाकारनिमित्तादिभेदाच्च सर्वभावानां पटादीनां घटत्वं नेष्यत इति भावः । तथा सर्वभावानामस्तित्वैकत्वाभ्याममभेद इष्यत इत्याह—**अनर्थान्तरत्वञ्चेति** । एवं तर्हि सर्वभावानां पटादीनां यथा घटत्वाभावः तथा घटस्यापि घटत्वाभाववत्ता स्यादित्याह—**तत इति** । हेतुमाह—**भवनविशेषेति,** भवनविशेषाभावात् हेत्वभावादित्यर्थः । भवनविशेषाभावमाचष्टे—**अस्तित्वैकत्वेति,** अस्तित्वस्य सर्वेषामेकरूपत्वादिति भावः । हेत्वभावमाह—**न च तत्कारणमिति,** अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वं न सर्वेषां घटभवने हेतुः येन तदनर्थान्तरत्वात् सर्वं घटो भवेत्, एवं सर्वभावघटत्वानङ्गीकारात् घटस्यापि घटत्वं न स्यादिति भावः । अथास्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वे सर्वभावघटत्वानभ्युपगमे घटस्य घटत्वाभावप्रसङ्गं प्राप्तमपि यदि नाभ्युपगम्यते घट एव घटोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटवदघट एव घटः स्यात् अघटः सन्नपि, अस्तित्वैकत्वाविशेषादित्याह—**एवमनभ्युपगमे वेति** । अमुमेव न्यायं रूपादावतिदिशति—**नन्वयमेवेत्यादीति,** यथाऽस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वे सर्वभावघटत्वानङ्गीकारे प्रसिद्ध्यादितो घट एव सन्नपि अघटः प्रसक्तः

---

१ सि. क्ष. छा. डे. घटस्य घटभावः । २ सि. क्ष. छा. डे. न त्वपटो ।

रूपादिष्वनिष्टमापादयति–तथाऽस्तित्वैकत्वे सत्येव घटादीनां विपर्ययः पटादित्वेन प्रापितः, तथा रूपं लोके रूपमेव न रस इति सिद्धमपि रूपं न स्यात्, रसोऽपि रसो मा भूत्, रूपं स्यादिति, तद्विषयविज्ञानाभिधानविपर्ययो योज्य इति, बहुत्वप्रसङ्गो वा, अस्तित्वैकत्वघटत्वैकत्वपक्षदोषा एते मा भूवन्निन्य[नन्य]त्वपक्षाभ्युपगमे घटबहुत्वप्रसङ्ग उक्तवत् स्यात्, तस्मात् न सन्ति घटादय इति ।

आह–

नन्वेवमसत्त्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यते, ननु तत्सर्वसिद्धान्तसिद्धमित्ययुक्तेर्घटादीनां शून्यता ।

(**नन्वेवमिति**) नन्वेवमसत्त्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यते–श्रमाऽऽतङ्कभयादिवेदनार्दितानां तत्प्रतिकारात्तदुपशमे सुखम्, बुभुक्षापिपासार्दितानाञ्च तृप्तिः प्रत्यक्षतो दृश्यते, तस्मात् प्रत्यक्षविरोधादयुक्ता कल्पनेत्यत्रोच्यते–ननु तत्सर्वसिद्धान्तेत्यादि, अव्युत्पन्नाविशुद्धमहाजनप्रत्यक्षादिभ्रान्तिविज्ञानाप्रमाणीकरणेनैव रूपादिविषयजन्यतृप्तिसुखादिष्वनाश्वासाद्वितथत्वाच्च मृगतृष्णिकातोयानाश्वासवत् मोक्षायैव यतितव्यमिति प्रवृत्तमोक्षार्थशास्त्रेषु सिद्धत्वादिति-इत्थमयुक्तेर्घटादीनां शून्यता ।

तथाऽनुत्पादादपि, आद्यन्तयोर्जाताजातयोरनुत्पादादसत्, तत्र हि तौ विद्येयातां न वा? यदि नाम न ततोऽसत्त्वे तयोः सर्वभावानामनाद्यन्तत्वान्नित्यस्थितिरेव स्यात् सा च प्रत्यक्षादिविरुद्धा उत्पत्तिविनाशदर्शनात्, स्थितवस्तुविपरीतत्वादवस्तु प्राप्नोति, अनुत्पन्नमेव सर्वं वस्त्वित्यभ्युपगमे सर्वसिद्धान्तव्याघातश्च ।

अघट एव सन्नपि वाऽघटो घटः प्रसक्त एवमेव लोके रसादिभिन्नं रूपत्वेन प्रसिद्धमपि रूपं न स्यात्, रसादि स्यात्, रसोऽपि रसो न स्यात्, रूपं स्यादिति रूपादौ रूपादिविषयविज्ञानं रूपमित्यादि नाम च न स्यादिति भावः । अस्तित्वैकत्वानर्थान्तरत्वपक्षप्रसक्तदोषकूटनिर्मूलनार्थमर्थान्तरत्वपक्षाभ्युपगमे त्वेकस्यैव घटस्य घटबहुत्वं स्यात्, अस्त्येको घट इत्यत्रास्तित्वविशिष्ट एको घटः, एकत्वविशिष्टोऽपरो घटः, घटत्वविशिष्टोऽन्यो घट इति घटबाहुल्यं भवेदित्याह–**बहुत्वप्रसङ्गो वेति** । व्याचष्टे–**अस्तित्वेति,** अस्तित्वैकत्वघटत्वानामेकत्वपक्षदोषा इत्यर्थः । तदेवमेकत्वपक्षेऽन्यत्वपक्षे वा घटादिभावसिद्धौ युक्त्यभावात् स्वपरोभयाभावात् न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां वा स्वभावसिद्धिरतो निःस्वभावमिदं सर्वमित्याशयेनोपसंहरति-**तस्मादिति** । नन्वेवं घटादि निखिलवस्तूनामभावे प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यत इत्याशङ्कते–**नन्वेवमिति** । ननु प्रत्यक्षतः प्रसिद्धं हि बुभुक्षया पिपासया चार्दितस्यान्नपानाद्यासेवनेन तृप्तिः, श्रमेणातङ्केन भयादिना पीडितानां तत्प्रतीकारेण तेषामुपशमे सुखम्, यदि तु घटादिवस्तुजातं नास्ति किं भोक्तुं किं वा पातुमिच्छा भवति कस्य वाऽऽसेवनम्, श्रमाद्यपि कस्मात्, केन वा तत्प्रतीकारः स्यात्, वस्त्वभावात्, तस्माद्बाह्यवस्तुशून्यताकल्पनैव केवलमिति व्याकरोति–**श्रमातङ्केति** । समाधत्ते–**ननु तदिति,** बाह्यार्थशून्यत्वं सर्वसिद्धान्तसिद्धमिति भावः । तदेव समर्थयति–**अव्युत्पन्नेति,** अव्युत्पन्नाः–शास्त्रवासनारहिताः अविशुद्धा–दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानपारमिताभिर्विशुद्धिभिः रहिता ये महाजनास्तेषां यानि प्रत्यक्षादिभ्रान्तिविज्ञानानि तेषामप्रमाणीकरणेनैवेत्यर्थः, अत्रायं भावो प्रत्यक्षादिभिर्दृश्यन्त एव घटपटादिपदार्थाः, ते सर्वे विकल्पककल्पिता एव, न हीन्द्रियादिभिः सिद्धा इत्येतावता तेषां परमार्थत्वम्, बालानामपि तत्त्वविस्त्वापत्तेः, तत्त्वज्ञानवैयर्थ्याच्च, तस्मादविचारयतामापातसिद्धा एते, तत्त्वविदान्तु तत्र नाश्वासः, विचार्यमाणानामेतेषां निःस्वभावताया एव सिद्धेः, स्कन्धायतनाद्युपदेशस्तु व्यवहाराश्रयणादेव, एते सांवृतसत्याः परमार्थसत्यस्य द्वारभूताः, न हि व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थ उपदेष्टुं शक्यः, परमार्थविज्ञानाभावे तु कुतो निर्वाणम्, तस्मात्तत्त्वविचारनिपुणैर्विचार्यमाणाः सर्वे एव भावा निःस्वभावा एव, तस्मात् सांवृतसिद्धपदार्थेषु मृगतृष्णिकायां जलप्रत्ययसिद्धे जले यथाऽऽनाश्वासस्तथाऽऽनाश्वासान्निर्वाणाय यतितव्यमिति । अयुक्तिमुपसंहरति–**इत्थमिति** । घटादिबाह्यवस्तुशून्यताऽनुत्पादादपि सिद्ध्यतीत्याह–**तथाऽनुत्पादादपीति** ।

तथाऽनुत्पादादित्यादि, अयुक्तेः शून्यत्ववदनुत्पादादपि वस्तुनः शून्यत्वं प्राप्नोति वस्तुवादिनः, उत्पत्तिविनाशयोरसत्त्वेऽनुत्पन्नाविनष्टत्वात् खपुष्पवदित्युपसंहरिष्यमाणशून्यत्वात्, आद्यन्तयोर्जाताजातयोरनुत्पादादसदिति,—तत्रादिरुत्पत्तिः, अन्तः क्षयः, तावाद्यन्तौ विद्येयाताम्, न वेति द्वौ विकल्पौ च, तयोः कतरमिच्छसि ? यदि नाम नेतीच्छसि ततोऽसत्त्वे तयोः सर्वभावानामनाद्यन्तत्वाद्घटादीनां नित्यता स्यात् स्थितिरेव, सा च प्रत्यक्षादिविरुद्धा स्थितिः, उत्पत्तिविनाशदर्शनात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनामनुमानादिभिरपि विरुध्येत, किञ्चान्यत्—स्थितवस्तुविपरीतत्वादवस्तु,—उत्पन्नमवस्तु प्राप्नोति, स्थितवस्तुविपरीतत्वात्, खपुष्पवत्, किञ्चान्यत्—अनुत्पन्नमेव सर्वं वस्त्वित्यभ्युपगमे सर्वसिद्धान्तव्याघातश्च, वैशेषिकसिद्धान्ते तावदुत्पत्तिमभ्युपेत्योक्तं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ।' 'क्रियागुणव्यपदेशाभावादसत्' (वै० अ० १ आ० १ सू० १०) इत्यादि प्रागसत्कार्योत्पत्तिव्याख्यानात् ।

अत्राह त्वयोक्तः सर्वसिद्धान्तव्याघातोऽनुत्पादाभ्युपगमेनेति तदयुक्तम्—तिष्ठन्तु तावत् पुरुषादिवादाः, सांख्यानामेव तावत् सत्कार्यवादित्वादव्याघात इत्यत्र ब्रूमः यतस्तन्मतं तावत् प्रत्युच्चारयामः । तद्यथा—

अथोच्येत सांख्यानामेव तावत् सत्कार्यवादित्वादव्याघात इति, नाव्याघातः, कथमसत्कार्यानभ्युपगमात्? प्रधानादीनां नित्यनिष्ठितत्वाभ्युपगमात्, अतस्तान्यारब्धान्येव, निष्ठितत्वात्, घटवत्, आरब्धत्वात् कृतकानि कृतकत्वात् पर्यवसानवन्त्यपि, यत्त्वेवं न भवति तत् खपुष्पवदसत् स्यात्, अथ त्वेवमपि नैवाभ्युपगम्यत आरम्भादि तर्ह्यनिर्वृत्तमनिष्ठितमसत् स्यात्, आकाशवत् ।

अथोच्येत सांख्यानामेवेत्यादि, तस्योत्तरं-नाव्याघात इत्यादि, नाव्याघातो व्याघात एव,

---

व्याचष्टे-**अयुक्तेरिति,** अयुक्त्या यथा घटपटादिबाह्यार्थानां शून्यता निरूपिता तथाऽनुत्पादादपि वस्तुवादिनः सांख्यादेः प्रधानादीनामाद्यन्तवत्त्वाभावे खपुष्पवदसत्त्वं स्यादित्यग्रे उपसंहरिष्यते तथा शून्यत्वं प्राप्नोतीति भावः । तदेतन्निरूपणार्थं प्रतिजानीते-**आद्यन्तयोरिति** । आद्यन्तशब्दार्थमुक्त्वा विचारार्थं विकल्पमुपस्थापयति-**तत्रादिरिति,** उत्पादविनाशयोः सत्त्वमसत्त्वं वेति विकल्पार्थः। उत्पादविनाशयोः सिद्ध्यर्थं प्रथमं तदसत्त्वपक्षं विचारयति—**यदि नामेति।** यदि सर्वभावानामुत्पादविनाशौ न स्तस्तदाऽनाद्यन्तत्वान्नित्यता सदावस्थानरूपा घटादीनां स्यात् सा चोत्पत्तिविनाशविषयप्रत्यक्षादिना विरुध्यत इत्याह—**ततोऽसत्त्व इति** । अनुमानादिविरोधमाह-**प्रत्यक्षेति** । उत्पादविनाशवद्घटादीनां नित्यत्वमापाद्येदानीं यद्यत् स्थितवस्तुविपरीतं तत्तदवस्तु दृष्टम्, यथा खपुष्पादि, स्थितवस्तुविपरीतञ्चोत्पत्तिविनाशशालि घटादि, ततोऽवस्तु स्यादिति दोषान्तरमाह—**स्थितवस्तुविपरीतत्वादिति,** नित्यवस्तुन इत्यर्थः । उत्पादविनाशयोरनभ्युपगमे सर्वं वस्तु अनुत्पन्नमिति स्यात्, तथा च सर्वसिद्धान्तव्याघातः स्यादित्याह—**अनुत्पन्नमेवेति** । वैशेषिकसिद्धान्तेऽसत्कार्यवादव्याख्याने उत्पत्तिमद्वस्तूना निरूपणं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्त' इत्यादिसूत्रैः प्रदर्शितमतस्तद्व्याघात इत्याह-**वैशेषिकसिद्धान्त इति।** अथ नित्यत्ववादी प्राह—त्वयोक्तः सर्वसिद्धान्तव्याघातो नास्माकं दोषः, उत्पत्त्यनभ्युपगमादिति तन्मतं दर्शयति—**अत्राहेति** । तदेतत्पूर्वपक्षं स्वयमेव व्याचष्टे टीकाकारः—**तिष्ठन्त्विति** । अथ मूलकृदिमामेव शङ्कामुपनिबध्नाति—**अथोच्येतेति** । तच्छङ्कां निराकरोति—**नाव्याघात इति,** युष्माकं सर्वसिद्धान्तैरव्याघात इति न, किन्तु व्याघात एवेत्यर्थः । कथमस्माकं व्याघातः, न हि वयमसत्कार्य-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °वस्तुत्वाद्विपरीतम० । २ सि. क्ष. धा. डे. त्वयोक्तं ।

द्विःप्रतिषेधस्य प्रकृत्यापत्तेः, कथमसत्कार्यानभ्युपगमादिति, उच्यते, प्रधानादीनां नित्यनिष्ठितत्वाभ्युपगमात्—नित्यं निष्ठितमेव प्रधानमहदहंकारादिव्यक्ताव्यक्तज्ञाख्यं सर्वमित्यभ्युपगमादारम्भोऽभ्युपगतो भवत्यारम्भमन्तरेण क्रियाभावात् क्रियामन्तरेण च निष्ठानाभावात्, तदुपसंहृत्य साधनमाह—अतस्तानीत्यादि, तानि प्रधानादीन्यारब्धान्येव, निष्ठितत्वात्, घटवत्, घटनिष्ठानक्रियारम्भाणां लोकप्रसिद्धत्वादुदाहरणसिद्धेः प्रधानादीनां तदुपनयसिद्धिः, एवमारब्धत्वात् कृतकत्वसिद्धिः, तथा कृतकत्वात् पर्यवसानवन्त्यपि, तस्मादाद्यन्तवन्तः प्रधानादयः, यत्त्वेवं न भवतीति वैधर्म्यदृष्टान्तः, साधनान्तरं वा गतार्थमाद्यन्तवत्त्वाभावे खपुष्पवदसत्त्वापादनं प्रधानादीनाम्, आदिग्रहणात् पुरुषादिष्वपि प्रसङ्गः समानचर्चः, अनेनैव साधनेन गतार्थत्वेऽप्युपपत्त्यन्तरनिराकरणार्थमाकाशदृष्टान्तेनानिष्टापादनसाधनं—अथ त्वेवमपि नैवाभ्युपगम्यत आरम्भादीत्यादि यावदाकाशवदिति ।

आह—

नन्वाकाशं शुद्धपदवाच्यत्वान्निर्वृत्तं निष्ठितं सदेव प्रमाणज्ञानवदित्यत्रोच्यते कुतोऽस्य शुद्धपदता ? आङीषदर्थ उपसर्गः, काशृ दीप्ताविति धातुः, आकाशत इत्याकाशम्, 'कुगतिप्रादयः' (पा. २–२–१८) इति समासत्वात् मृगतृष्णिकावदाभासत इत्याकाशमिति विज्ञानस्यैव तथातथोत्पादः । यदि च खादिशुद्धपदार्थप्रतिपत्तिं कुर्मस्ततो विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमिति नाभ्युपगच्छेम, अस्माकं हि वियद्गगनखाम्बरव्योममायाशून्यघटपटादिशब्दानामपि विज्ञानमात्रार्थतेति, अनेन सर्वे शब्दा विज्ञानाधाननिमित्तमात्रत्वादसदर्था एव ।

वादमभ्युपेमः, येनोत्पत्तिप्रसक्त्या व्याघातोऽनुत्पन्नवस्त्वभ्युपगमे स्यादित्याशङ्कते—**कथमिति** । प्रधानादीनामारब्धत्वं साधयति—**प्रधानादीनामिति** प्रधानेऽव्यक्ते महदहङ्कारादीनां सत्कार्यवादाभ्युपगमान्नित्यनिष्ठितत्वात्, प्रधानस्य प्रकृतित्वादेव नित्यनिष्ठितत्वम्, तस्य पुरुषस्य विभुत्वेनाक्रियत्वान्नित्यनिष्ठितत्वमिति भावः । एवञ्च व्यक्ताव्यक्तज्ञानां निष्ठितत्वेऽभ्युपगम्यमाने निष्ठानस्य क्रियामन्तरेण क्रियायाश्चारम्भणमन्तरेणासम्भवात् सदारम्भोऽभ्युपगत एव भवतीत्याह—**नित्यं निष्ठितमेवेति** । इदमेव प्रयोगतः साधयति—**अतस्तानीत्यादीति,** यस्य यस्य निष्ठितत्वं तस्य तस्यारम्भो दृष्टः, यथा घटादेः, यद्यदारब्धं तत्तत्कृतकम्, यद्यच्च कृतकं तत्तत्पर्यवसायि सर्वत्र घट एव निदर्शनम्, निष्ठानक्रियाऽऽरम्भाणां घटादेर्लोके सिद्धत्वादुदाहरणम्, एवञ्चाविनाभावसिद्धौ, हेतूनां तेषां प्रधानादावुपनयः सिद्ध इति भावः । कृतकत्वादिसिद्धिमाह—**एवमारब्धत्वादिति** । एवं प्रधानादीनामाद्यन्तवत्त्वं सिद्धमित्याह—**तस्मादिति,** निष्ठानक्रियारम्भकृतकपर्यवसायित्वादित्यर्थः । यत्त्वारम्भकृतकपर्यवसायि न भवति तदसदेव, खपुष्पवदिति वैधर्म्यनिदर्शनमित्याह—**यत्त्वेवमिति** । नन्वाद्यन्तवत्त्वं हि साध्यमारम्भादिसाधनं साध्याभावेन हेत्वभावप्रदर्शनं यत्र क्रियते तद्वैधर्म्यदृष्टान्तः, उक्तसाध्याभावेन नित्यत्वमेव सिध्येन्नासत्त्वमिति कथं वैधर्म्यदृष्टान्तोऽयमित्यस्वरसादाह—**साधनान्तरं वेति,** यदाद्यन्तशून्यं तदसद्दृष्टं यथा खपुष्पादि, आद्यन्तशून्यत्वञ्च प्रधानादीनामिष्यते त्वयेति सिध्यत्यसत्त्वं तेषामिति भावः । एवं पुरुषस्याप्याद्यन्तशून्यत्वं सिद्धमिति सूचयति—**आदिग्रहणादिति,** प्रधानादीनामित्यत्रादिग्रहणादित्यर्थः । ननु सर्वास्तित्ववादिबौद्धमते यस्यारम्भादि भवति स संस्कृतः ते च रूपस्कन्धादयः, असंस्कृत आकाशादिः तस्यारम्भाद्यभावेऽपि सत्त्वमेव, एवं प्रधानादि स्यादित्येवमुपपत्त्यन्तरं निराकर्त्तुमाह—**अनेनैवेति,** आद्यन्तवत्त्वाभावेन प्रधानादीनां खपुष्पवदसत्त्वसाधनेनैव सिद्धप्रयोजनत्वेऽपीत्यर्थः । अनिष्टापादनमाह—**अथ त्वेवमपीति,** निष्ठितत्वादारम्भादिप्रधानादेः सिद्धावपि यदि तन्नेष्यते तर्ह्याकाशवत् अनिर्वृत्तमनिष्ठितमसत् तत्स्यादित्यर्थः, आरम्भाद्यभावेन संस्कृतस्यासिद्धौ कथमसंस्कृतं सेत्स्यतीत्याकाशो दृष्टान्त इति भावः । नन्वाकाशेऽसत्त्वमसिद्धमित्याशङ्कते—**नन्वाकाशमिति** । नन्वाकाशं निर्वृत्तं–निष्ठितं सदिति यावत्, शुद्धपदवाच्यत्वात्, प्रमाणज्ञानवत्

नन्वाकाशमित्यादि, आकाशसत्त्वासिद्धिप्रदर्शनार्थमनुमानम्, शुद्धपदवाच्यत्वान्निर्वृत्तं निष्ठितं सदेव तत्, प्रमाणज्ञानवदित्यत्रोच्यते–कुतोऽस्य शुद्धपदतेति हेत्वसिद्ध्यापादनम्, तस्य समासपदतां दर्शयति–आङीषदर्थ उपसर्गः काशृ दीप्ताविति धातुः, आकाशत इत्याकाशम् । 'कुगतिप्रादयः' (पा० २–२–१८) इति समासत्वात्, कोऽस्यार्थ इति तत्प्रदर्शनार्थमाह–मृगतृष्णिकावदाभासत इत्याकाशमिति–यथा मृगतृष्णिका जलार्थत्वेनासती तद्वदाभासते तथाऽऽकाशमप्यविद्यमानं विद्यमानवद्विज्ञानेन गृह्यते, विज्ञानस्यैव तथा तथोत्पादात्, स्यान्मतं खवियद्व्योमादिशुद्धपदवाच्यत्वान्नासिद्धिरिति, एतच्चायुक्तम्, यदि च खादिशुद्धपदार्थेत्यादि, यदि वयं शुद्धपदवाच्यमपि शब्दार्थं प्रतिपद्येमहि ततो विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमिति नाभ्युपगच्छेम–न ब्रूयाम, अस्माकं हि वियद्गगनखांबरव्योममायाशून्यघटपटादिशब्दानामपि विज्ञानव्यतिरिक्तो नैवार्थोऽस्तीति सिद्धम्, तत्प्रतिपादनार्थञ्च यतिष्यामहे, अनेनेत्यादि, एतेन खादिशुद्धपदार्थापलापेन सर्वे शब्दाः क्रियाकारकसम्बन्धार्थवाचिन एवेति नैरुक्ताभिमतानां व्युत्पत्तिपक्षे यादृच्छिकशब्दानां वाऽव्युत्पत्तिपक्षे डित्थादीनां नञादिप्रतिषेधसहितानां केवलानां वा न कश्चिद्विद्यतेऽर्थस्तस्मात् विज्ञाना-धाननिमित्तमात्रत्वादसदर्था एव सर्वशब्दा इति ।

शुद्धपदवाच्यत्वञ्चासमस्तपदवाच्यत्वं यथा प्रमाणभूतं ज्ञानं शुद्धपदवाच्यत्वान्निष्ठितं सत् एवमाकाशमपीत्याचष्टे–**शुद्धपदवाच्यत्वादिति** । अथाऽऽकाशस्य शुद्धपदवाच्यत्वमसिद्धमाकाशपदस्यापि समस्तत्वादित्याह–**कुतोऽस्येति** । आकाशते ईषद्दीप्यते, दीप्तावीषत्त्वञ्च मृगतृष्णिकावदाभासमानत्वमिति व्युत्पत्तिमाकाशपदस्य दर्शयति–**आङीषदर्थ इति** । कुगतिप्रादय इति सूत्रेणा-च्प्रत्ययान्तकाशशब्देन गतिसमासः प्रादिसमासो वेत्याह–**कुगतीति,** कुशब्दो गतिसंज्ञकः शब्दः प्राद्युपसर्गश्च समर्थेन समस्यत इति तदर्थः । आकाशशब्दार्थमाह–**मृगतृष्णिकेति** । तदेव घटयति–**यथेति** । मृगतृष्णिका जलरूपेणासती दोषवशाज्जलवद्गृ-ह्यते तथाऽवभासनात् तथैवाऽऽलयविज्ञानमान्तरमेव तथातथाविधानादिवासनापरिपाकतो नीलपीतादितत्तदाकारयोगतः प्रवृत्ति-विज्ञानं नानाकारं जायते तस्मादाभ्यन्तरा एव नीलपीतादयो बहिर्वदवभासन्ते न तु ते धीभ्यो व्यतिरिक्ताः, तस्मादविद्यमानमेवा-काशादि वासनावैचित्र्याद्विद्यमानवद्गृह्यते ज्ञानेन, आलयविज्ञानात्तथाविधान्नानाकारप्रवृत्तिविज्ञानस्योदयादिति भावः । नन्वाकाश-पदस्य समस्तपदत्वेऽपि खवियद्व्योमादिपदानां शुद्धपदत्वात्तद्वाच्यत्वेनाकाशः सन्निति शङ्कते–**स्यान्मतमिति** । समाधत्ते–**यदि चेति,** यच्छुद्धपदवाच्यं तद्वस्तु सदित्येव नाभ्युपगच्छामः, येन खादिपदवाच्यतयाऽऽकाशादिसिद्धिः स्यात्, चेदभ्युपेमस्तथा नाभिदध्महे विज्ञानमात्रमिदं सर्वमिति, यदा चास्माकं शब्दार्थोऽपि विज्ञानमेव न तु कश्चित्तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः, प्रतिपादयिष्यते चाग्रे 'विज्ञानमेव शब्दार्थः, विज्ञानमेव हि शब्दो विज्ञानोत्थापितो रूपरसादिघटपटादिबाह्यो वाच्यो विज्ञानमेव' इति, तदा कथं खादिशब्दवाच्यं बाह्यं वस्तु सिद्ध्येदिति भावः । शब्दानामपि विज्ञानमेवार्थ इत्याह–**अस्माकं हीति** । शब्दविषये पक्षद्वयमस्ति, सर्वे शब्दा व्युत्पन्ना एवेत्येकः पक्षः, अपरस्तु अव्युत्पन्ना अपीति, व्युत्पन्नत्वञ्च क्रियाकारकसम्बन्धवाचिप्रकृतिप्रत्ययसमुदायत्वम्, यथा पाचकः कारक इत्यादि, अव्युत्पन्नत्वन्तु प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिज्ञानाविषयत्वे सत्यनादिव्यवहारगोचरत्वम्, यथा रामो गौः शुक्लः कृष्ण इत्यादि, एवञ्च व्युत्पत्तिपक्षे सर्वशब्दानां निर्वचनयोग्यतया शुद्धपदवाच्यत्वं न कस्यापि पदार्थस्य, अव्युत्पत्तिपक्षेऽपि यदृच्छाप्रयुक्तशब्दानां डित्थादीनां न कश्चिदर्थः, अत एवाधुनिकसङ्केतिते न शक्तिरिति सम्प्रदायः, नञादिसहितेऽब्राह्मण इत्यादि-समस्तपदेऽपि नार्थप्रत्यायकता अत एव न समासे शक्तिरिति केचित्, केवलानामसमस्तपदानामपि अर्थेन साकं तादात्म्यकार्य-कारणभावसम्बन्धासम्भवेन न वाचकत्वमपि तु विज्ञानजननिमित्ततामात्रमेवेति न कश्चिदर्थः शब्दस्येति सर्वे शब्दा अवाचका एवेति भावः । एवञ्च निष्ठितत्वादारम्भादिप्रधानादीनामभ्युपेयम्, अन्यथा खपुष्पवद्वाऽऽकाशवद्वाऽसत्त्वमेव तेषां स्यात्, शुद्धपद-वाच्यत्वादपि नाकाशादीनां सिद्धिः शुद्धपदाभावात्, भावे वा सर्वपदानां विज्ञानव्यतिरिक्तार्थाभावाद्विज्ञानमात्रताप्रसङ्गः,

---

१ सि. क्ष. छा. डे. कश्चिद्विद्यथास्तन्यत्र विज्ञाना० ।

अथ मा भूद्विज्ञानमात्रताप्रसङ्ग इत्यन्यथाऽऽदिः प्रधानादिरिष्यते पूर्वप्रत्युपसंहारसमाहितत्वादिति स सोपसंहारः किं नित्यः? उतानित्यः? अथादिनित्यतायां दोषान्नित्यनिष्ठितमिष्यते ततः पूर्वोक्त एव दोषो यावद्विज्ञानमात्रार्थता, अन्तनित्यतायान्त्वसत्त्वमेव।

अथ मा भूदित्यादि, स्यान्मतं निष्ठितत्वादेर्विज्ञानमात्रताप्रसङ्गः, स मा भूदित्यन्यथाऽऽदिरिष्यते, कः? प्रधानादिः प्रधानपुरुषकालस्वभावादि, तदेव च कारणं तन्मात्रञ्चेदं घटपटादिकार्यम्, कस्मात्? पूर्वप्रत्युपसंहारसमाहितत्वात्–कार्यात् प्रागपि तस्मिन्नेव प्रधानाद्यन्यतमकारणमात्रे समाहिता एव विकारा उत्तरकालमपि तत्रैवान्तर्लीनाः ततो भूतानां विद्यमानानामेव घटादीनां नित्यत्वमादिः, नारम्भादित्यत्र पृच्छ्यसे–स सोपसंहार इत्यादि, स आदिः प्रधानादिकारणाख्यः सहोपसंहारेण किं नित्यः? उत[1]–आहोस्विदनित्यः? इति निर्धार्यः, तत्र यदि नित्यस्तत आदिरेव न भवति, अकृतकत्वात्–अनारब्धत्वात्, ततः किं? ततश्चानिष्ठितः, अनिष्ठितत्वादसन् खपुष्पवत्, अथादिनित्यतायामित्यादि, एतद्दोषभयान्नित्यनिष्ठितं पूर्वोत्तरतुल्यकालवृत्तीष्यतेऽतः पूर्वोक्त एव दोषो-नित्यवृत्तत्वादनारब्धत्वादकृतकत्वादनिष्ठितं खपुष्पवदाकाशवद्वेत्यादीति तदेवातिदिशति यावद्विज्ञानमात्रार्थता, पूर्ववदेव सत्त्वानुपपत्तिरिति, एवमुत्पत्तिनित्यत्वे स्थितिनित्यत्वे चासत्त्वमुक्तम्, अन्तनित्यत्वं विनाशनित्यता तस्यान्त्वन्तनित्यतायामसत्त्वमेव, एवन्तावदादेर्नित्यत्वे दोषः।

अथानित्यत्वे स किं जातः? किमजातो वा? यदि जातोऽनुत्पादस्तर्हि, जातत्वात् निर्वृत्तघटवदनुत्पन्नत्वादसन्, यद्यजातस्ततोऽप्यनुत्पादः, अजातत्वात्, अनिर्वृत्तघटवत् जाताजातश्चेद्विरोधादुभयपक्षदोषसम्बन्धाच्च, निष्ठायामपि किं निष्ठितोऽनिष्ठितो वा? यदि निष्ठितः, अनुत्पादस्तर्हि निष्ठितत्वात्, निष्ठितघटवत्, यद्यनिष्ठितस्तथाप्यनुत्पाद एवानिष्ठितत्वात्,

---

तद्वारणार्थं यद्यन्यप्रकार आदिरिष्यते तदापि दोषापादनार्थं शङ्कते–**अथ मा भूदिति**। व्याचष्टे–**स्यान्मतमिति**। स चादिः कारणरूपः प्रधानं पुरुषः कालः स्वभावादि वा भवतु दृश्यमानन्तु घटपटादिसर्वं प्रधानादिमात्रमेवेत्याह–**प्रधानादिरिति**। प्रधानादिमात्रमेव सर्वं कार्यजातमित्यत्र हेतुमाह–**पूर्वप्रत्युपसंहारेति**। पूर्वं प्राक्कार्यप्रादुर्भावात् प्रत्युपसंहारे–उपसंहारदशायां सृष्टिप्राक्काले प्रलयकाले च सर्वेषां विकाराणां महदहंकारादीनां तत्रैव कारणमात्रे समाहितत्वात्–अन्तर्लीनत्वाद्विद्यमानानामेव महदादीनाभाविर्भावात् प्रधानादि नित्यं वस्तु आदिर्भवति न त्वसत आरम्भणादिति भावः। हेतुं व्याचष्टे–**कार्यादिति**। उपसंहृतः प्रधानादिः किं नित्य उतानित्य इति प्रश्नः, महदहङ्कारादिविशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वे कारणत्वमेव न स्यात्, महदाद्यारम्भकत्वे हि तस्य कारणता स्यात्, महदादि च प्रकृत्यन्तर्गतत्वेन तद्विशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वाभ्युपगमाच्च नारम्भकत्वम्, अन्तर्लीनमहदादेराविर्भावकत्वमपि न घटते, अन्तर्लीढमहदादित्वव्याघातात्, आविर्भूतमहदादिविशिष्टप्रधानादेर्नित्यत्वे सृष्टिकाल इव सर्वदाऽऽरम्भः स्यात्, यच्चानारम्भकं तदनिष्ठितमपि, अनिष्ठितञ्च खपुष्पवदसदेवेत्याह–**तत्र यदीति**। नन्वारम्भकत्वव्याप्यं निष्ठितत्वं मा भूत्, नित्यनिष्ठितत्वं पूर्वोत्तरकालतुल्यवृत्तित्वं–सदावस्थानरूपं प्रधानादीनामभ्युपगच्छाम इत्याशङ्क्य समाधत्तेऽतिदेशेन–**एतद्दोषभयादिति,** स्थित्यविनाभाविनामारम्भादिक्रियाविशेषाणामनभ्युपगमे कारणमात्रनित्यताभ्युपगमे नित्यवृत्तस्याकिञ्चित्करत्वादसत्त्वमेव खपुष्पवदाकाशवद्वेति प्रागुक्तमेवेति भावः। सृष्टिकालवत्प्रधानादेर्महदादिविशिष्टस्य नित्यत्वे उत्पत्तिनित्यता, कारणमात्रनित्यत्वे स्थितिनित्यतेत्युभयथाऽप्यकिञ्चित्करत्वात् प्रधानादीनामसत्त्वमेवेति दर्शयति–**एवमिति**। विनाशस्य नित्यत्वे तु प्रधानादीनामसत्त्वं स्फुटमेवेत्याह–**अन्तनित्यत्वमिति**। सोपसंहृतस्य प्रधानादेरनित्यत्वपक्षे दोषमाह–**अथानित्यत्व इति**। व्याकरोति–

---

१ सि. क्षा. डे. उताहोकश्चिदनित्य०।

अनिर्वृत्तघटवत्, अनिष्ठितश्चासन्, असत्त्वादकर्त्ता, अकर्तृत्वाच्च खपुष्पवन्न नितिष्ठति, नोभयमुक्तवत्, अन्तेऽपि किं विनष्टो विनश्यति, किं वाऽविनष्टः? यदि विनष्टो विनश्यतीतीष्यते ततोऽनुत्पाद एव विनष्टत्वात् विनष्टघटवत्, नाविनष्टोऽक्षतघटवदभूतविनश्यद्भावत्वादाकाशवदिति वा, अस्यानुगमं कृत्वा प्रसङ्गः नोभयमुक्तवदिति नोत्पत्तिस्थितिभङ्गाः सिद्ध्यन्ति ततश्च खपुष्पवदभाव एव स्याद्वस्तु।

अथ[ा]नित्यत्व इत्यादि, आदेर्नित्यत्वे दोषं दृष्ट्वा तत्परिहारार्थमादिरनित्य इतीष्यते तत्र त्रयी गतिः–जातस्य, अजातस्य, जाताजातस्य वा, किं जातः? किमजातः? इति विकल्पद्वयप्रश्नादेव तत्संयोगस्य तृतीयस्य विकल्पस्य सिद्धेः, यदि जात इत्यादिना द्वयोराद्यविकल्पयोरुत्पादाभावोऽनुत्पन्नत्वादसदिति गतार्थम्, जाताजातश्चेदिति तृतीयविकल्पस्य विरोधादसम्भवः, किञ्चोभयदोष[स]म्बन्धाच्च–यो जातत्वे दोषो यश्चाजातत्वे ताभ्यां युक्तो जाताजातत्वपक्षोऽतस्त्याज्यः, एवमुत्पादे दोषाः, निष्ठायामपीत्यादि, किं निष्ठितोऽनिष्ठितो निष्ठितानिष्ठितो वेति त एव विकल्पाः, तेष्वपि त्रिषु दोषा उत्पादवदुक्तन्यायेन नीता एव यावन्नोभयमुक्तवदिति, अनिष्ठितोऽसन्नसत्त्वादकर्त्ता, अकर्तृत्वाच्च खपुष्पवन्न नितिष्ठतीति विशेषो गतार्थः, अन्तेऽपीत्यादि, विनाशेऽपि किं विनष्टो विनश्यति? अविनष्टः? विनष्टाविनष्टो वा? यदि विनष्टो विनश्यतीतीष्यते इत्युपक्रम्य त्रिष्वपि विकल्पेषु यावन्नोभयमुक्तवदिति, नाविनष्टोऽक्षतघटवदित्यस्य व्याख्यानं–अभूतविनश्यद्भावत्वात्–अभूतोऽनुत्पन्नो विनश्यद्भावोऽस्येत्यभूतविनश्यद्भावः, तस्मादभूतविनश्यद्भावत्वात्, अक्षतघटवदिति, आकाशवदिति वा, अभूतविनश्यद्भावत्वादित्यस्यैव हेतोर्दृष्टान्तान्तरम्, अस्यानुगमं कृत्वा प्रसङ्गः, कोऽर्थः? शुद्धपदवाच्यत्वादित्यादि यावद्विज्ञानमात्रार्थतेत्यादि, नोभयमुक्तवत्–न

आदेर्नित्यत्व इति, आदिः प्रधानादिकारणमनित्य उत्पत्तिमदिति पक्षे त्रिधा शङ्का स्यात्, किमुत्पन्नस्वभावः किं वाऽनुत्पन्नस्वभावः किमुतोत्पन्नानुत्पन्नस्वभाव उत्पद्यत इत्याह–**तत्र त्रयी गतिरिति।** तदेव स्फुटयति–**किं जात इति।** तृतीयो विकल्पो मूलेऽनुक्तोऽपि ग्राह्य इत्याह–**विकल्पद्वयेति।** जातस्वभावस्याजातस्वभावस्य वोत्पादासम्भवः निर्वृत्तानिर्वृत्तघटवत्, अनुत्पन्नत्वाच्चासत्त्वमिति दर्शयति–**यदि जात इत्यादिनेति।** तृतीयपक्षस्तु परस्परविरोधान्न सम्भवति, सम्भवे वा पक्षद्वयोदितदोषसङ्क्रम इत्याह–**जाताजातश्चेदितीति।** उभयदोषसम्बन्धं प्रकाशयति–**यो जातत्व इति।** एवमुत्पादे दोषमभिधाय निष्ठानपक्षे दोषमाह–**निष्ठायामपीत्यादीति।** अत्रापि गतित्रयमाशङ्क्य प्रागुदितन्यायेनैवासत्त्वमापाद्यमिति दर्शयति–**किं निष्ठित इति।** विद्यमानो न नितिष्ठते न वाऽविद्यमानो नाप्युभयरूपो वा, सर्वत्रानुत्पादादसत्त्वमेव दोष इति भावः। अनिष्ठितत्वे दोषविशेषमाह–**अनिष्ठित इति।** अथ विनाशपक्षेऽपि तथैव विकल्प्य दोषमाह–**अन्तेऽपीत्यादीति।** अविनष्टपक्षे विशेषमाह–**नाविनष्ट इति। अभूतेति,** यस्य घटस्याकाशस्य वा विनश्यत्ता नोत्पन्ना तथाविधत्वान्नाविनष्टो विनश्यतीति भावः। एवमविनष्टत्वादाकाशस्यासत्त्वसिद्धौ प्राग्वत् नन्वाकाशं शुद्धपदवाच्यत्वान्निर्वृत्तं निष्ठितं सदेव प्रमाणज्ञानवदित्येवमनुगमं विधाय कुतोऽस्य शुद्धपदेत्यादि यावद्विज्ञानमात्रार्थतेति ग्रन्थोक्तप्रसङ्गोऽत्रापि कार्य इत्याह–**अस्यानुगममिति।** विनष्टाविनष्टपक्षे दोषमाह–**नोभयमिति।** व्याचष्टे–**नेति।** माध्यमिककारिका अत्र भाव्याः 'निरुध्यमानस्योत्पत्तिर्न भावस्योपपद्यते। यश्चानिरुध्यमानस्तु स भावो नोपपद्यते॥ स्थितिर्निरुध्यमानस्य न भावस्योपपद्यते। यश्चानिरुध्यमानस्तु स भावो नोपपद्यते॥ निरुध्यते नानिरुद्धं न निरुद्धं निरुध्यते। तथा निरुध्यमानञ्च०॥ उत्पत्तिस्थितिभङ्गानामसिद्धेर्नास्ति संस्कृतम्। संस्कृतस्याप्रसिद्धौ च कथं सेत्स्यत्य-

विनष्टाविनष्टो विनश्यत्यसम्भवात्, असम्भवो विरोधादुभयदोषाच्चेति पूर्वोक्तन्यायानुसारेण, इत्थं नोत्पत्तिस्थितिभङ्गाः सिद्ध्यन्ति, तदसिद्धेरनुत्पन्नास्थिताविनष्टत्वात् खपुष्पवदभाव एव स्याद्वस्त्विति ।

अथोच्येत किं न एताभ्यामस्वरूपाभ्यामाद्यन्ताभ्यां प्रयोजनम्, एतौ हि वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरकालौ, तयोरभावेऽपि तन्मध्ये वस्तु भवितुमर्हत्येव, अत्र ब्रूमः, तन्मध्ये मध्यं वा किं जातमजातं वा वस्तु स्यात्? यदि जातम्, अनुत्पादस्तर्ह्यस्य जातत्वान्निर्वृत्तघटवदित्यादि स एव ग्रन्थः, यावपि च तौ कालौ तावपि न स्तः, विनष्टानुत्पन्नत्वात् तदभावे तदपेक्षत्वात्तन्मध्यवस्त्वभावः, दग्धेन्धनज्वालावत्, यद्धि पूर्वोत्तरयोः कालयोर्नास्ति तन्मध्ये कथं सम्भाव्येत? असत्तद्भवति, पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात्, खपुष्पवदिति ।

अथोच्येत किं न इत्यादि, स्यान्मतं किमेताभ्यामाद्यन्ताभ्यां वस्तुनोऽस्वरूपाभ्यां विचारिताभ्यां प्रयोजनम्, वस्तु विचार्यम्, एतौ ह्याद्यन्तौ वस्तुन आत्मलाभात् पूर्वोत्तरौ कालौ—वस्त्वात्मलाभात् पूर्वः काल आदिरुच्यते, उत्तरोऽन्तः, तयोरभावेऽपि वस्तु भवितुमर्हत्येव तन्मध्ये, तस्मादस्ति वस्त्वित्यत्र ब्रूमः तन्मध्ये मध्यं वेत्यादि तयोः पूर्वोत्तरकालयोर्मध्ये यत्तद्वस्तु भवितुमर्हतीति मन्यसे, यो वा पूर्वोत्तरकालयोर्मध्यक्षणश्चिन्त्यते तदुभयमपि किं जातमजातं वा वस्तु स्यात्, यदि जातमनुत्पादस्तर्ह्यस्य जातत्वात्, निर्वृत्तघटवदित्यादि स एव त्रिषु योज्यो दोषापादनग्रन्थः, तुल्यदोषत्वात्, किञ्चान्यत्—यावपि च तौ कालौ पूर्वोत्तरौ तावपि न स्तस्त्वन्मतादपि, विनष्टानुत्पन्नत्वात्, तदभावे—तयोः कालयोरभावे तदपेक्षत्वात्तन्मध्यवस्त्वभावः, किमिव? दग्धेन्धनज्वालावत्, यथेन्धनापेक्षया ज्वाला इन्धनापेक्षा भवन्तीति सम्भाव्या अपि निर्दग्धे तस्मिन्निन्धने न सन्ति तदपेक्षत्वात्तदभावे, तथा पूर्वोत्तरकालापेक्षं मध्यमित्यभिमतं वस्तु तदपेक्षत्वात्तदभावे नास्तीति प्रसक्तमेव, यद्धि पूर्वोत्तरयोः कालयोर्नास्ति तस्य मध्येऽस्तित्वं कया युक्त्या सम्भाव्येत? न सम्भाव्यमित्यभिप्रायः, असत्तद् भवतीत्यादि, अत्र साधनमसत्तत् पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात्, खपुष्पवदिति ।

संस्कृतम्' इति ॥ इत्थमुत्पादस्थितिभङ्गानामसिद्ध्याऽनुत्पन्नत्वादस्थितत्वादविनष्टत्वात् खपुष्पवद्वस्त्वसदेवेत्याह-**इत्थमिति** । नन्वाद्यन्तौ न वस्तुनः स्वरूपे तस्मात्तद्विचारेण नार्थः कश्चिदस्ति, वस्तुनः पूर्वोत्तरकालत्वात्तयोः, मध्यकाले तयोरभावेऽपि वस्तु भवितुमर्हत्येवेत्याशङ्कते-**अथोच्येतेति** । व्याचष्टे-**स्यान्मतमिति,** कारणमादिः, अन्तो विनाशः, घटस्य पूर्वकालो मृत् आदिरुच्यते शकलादिश्चान्त उत्तरकाल उच्यते तौ च न वस्तुनः स्वरूपे, तयोरभावेऽपि मध्यकाले घटोऽस्त्येव, तस्मान्न वस्तुनोऽसत्त्वमिति भावः । आद्यन्तयोर्मध्यकाले यद्वस्तु यश्चाद्यन्तयोर्मध्यकालस्ते उभे किं जाते अजाते जाताजाते वा निष्ठिते अनिष्ठिते निष्ठितानिष्ठिते वा विनष्टेअविनष्टे विनष्टाविनष्टे वेति विकल्पैर्विचार्यमाणयोः पूर्ववदनुत्पन्नत्वादसत्त्वं तयोः प्रसज्यत इत्यतिदिशति-**तन्मध्ये मध्यं वेत्यादीति** । यौ च पूर्वोत्तरकालौ तौ मध्यकाले न स्तः पूर्वकालस्य विनष्टत्वात्, उत्तरकालस्य चानुत्पन्नत्वात्, तयोस्त्वभावे मध्यकालोऽपि न भवति तस्य पूर्वोत्तरकालसापेक्षत्वेन तदभावे कथं मध्यकालो भवेत्, तदभावे च मध्यकालीनवस्तुनोऽप्यभाव एवेत्याह-**यावपि चेति** । दृष्टान्तमाह-**दग्धेन्धनज्वालावदिति,** भस्मीभूते सतीन्धने तदपेक्षा यथा ज्वाला न भवति तद्वदित्यर्थः । तमेव व्याचष्टे-**यथेन्धनापेक्षयेति** । दार्ष्टान्तिकमाह-**तथा पूर्वोत्तरेति** । यद्वस्तु पूर्वकाले उत्तरकाले च नास्ति तन्मध्यकालेऽस्तीति कथं सम्भाव्येतेत्याह-**यद्धीति** । इदमेव प्रयोगेण दर्शयति-**असत्तदिति** । मध्यकालीनत्वेनाभिमतं वस्तु न सत्, पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वात्, यद्धि पूर्वोत्तरकालयोर्नास्ति तन्मध्येऽपि नास्ति, यथा खपुष्पादि, तथा चेदमिति

अथोच्येत आदौ मध्ये, न चोत्पन्नमात्रे, कार्यं तत्त्वोपनिलयनात् प्रागसदेव, तदर्थं प्रवृत्तेः, न हि तदर्थित्वं सति तस्मिन्नुपपद्यते, तत्त्वोपनिलयनादुत्तरकालमस्ति, तदर्थमप्रवृत्तेः, न ह्यसति तस्मिंस्तदर्थी न प्रवर्त्तते, एतदसत्यम्, तदसत्त्वानिवृत्तेरसदेव स्यात् पुनरपि, तदादिमध्यान्तेष्वभूतत्वात् खपुष्पवदिति ।

अथोच्येतेत्यादि, आदौ—आरम्भे, मध्ये—क्रियाकाले, न चोत्पन्नमात्रे—क्रियापरिसमाप्तौ, कार्यं—द्रव्यादि द्रव्यत्वादि-तत्त्वोपनिलयनात् प्रागसदेव, कस्मात्? आदौ मध्ये च तदर्थं प्रवृत्तेः, न हि तदर्थित्वं सति तस्मिन्नुपपद्यते, तत्त्वोपनिलयनादुत्तरकालमस्ति, कस्मात्? तदर्थमप्रवृत्तेः, उपरतक्रियत्वात्, न ह्यसति तस्मिंस्तदर्थी न प्रवर्त्तते, अत्र ब्रूमः—एतदसत्यं तदसत्त्वानिवृत्तेरसदेव स्यात् पुनरपि, तदादिमध्यान्तेष्वभूतत्वात्, खपुष्पवदिति, एवं तावदनुत्पादादपि शून्याः सर्वभावाः ।

इतश्च नास्ति वस्तु सामग्रीदर्शनादपि, सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते न प्रत्येकं स्वरूपेण, यच्च स्वरूपेण नास्ति तस्य सामग्र्यामपि कुतोऽस्तित्वम्? इह लोके यावती घट इति संज्ञा कपालसामग्र्यां पट इति संज्ञा तन्तुसामग्र्यां रूपमिति च संज्ञा तत्सन्ताने तत्सामग्रीमात्रमेव, सामग्री च भावानां भावान्तरं प्रति व्यापारः, यथा तन्तूनां पटं प्रति व्यापारः, तत्र च सामग्र्यामेकैकोऽवयवो नावयवी सम्भवति, तच्छक्त्यभावात्, न तावद्धेतुप्रत्ययसामग्री, पृथग्भावेष्वदर्शनात्, नापि तत्स्वरूपपृथक्त्वम्, अप्रत्यक्षतः, अनुमीयतेऽपि च नास्तीति, तत्सान्निध्य एव तदर्थप्रवृत्तेः, यच्च येषु नास्ति तेषु तदर्थी तदर्थं न प्रवर्त्तते घटपटवत्, न हि कुम्भः पटे नास्तीति मत्वा तदर्थिनां तदर्थं प्रवर्त्तनं पटे दृष्टम्, पटोऽपि वा कुम्भे नास्तीति मत्वा तदर्थिनां तदर्थं प्रवर्त्तनं कुम्भेऽपि दृष्टम् ।

(इतश्चेति) इतश्च नास्ति वस्तु सामग्रीदर्शनादपि, सामग्र्यां भावा दृश्यन्ते घटपटादयो न प्रत्येकं स्वरूपेण, यच्च स्वरूपेण नास्ति तस्य सामग्र्यामपि कुतोऽस्तित्वम्? सिकतातैलवदित्युपनयार्थो

भावः । ननु पूर्वोत्तरकालयोरुभयोरसत्त्वमसिद्धम्, तत्त्वोपनिलयनात् पूर्वकाले कार्यस्यासत्त्वात्तत्त्वोपनिलयनादुत्तरकाले च सत्त्वादित्याशङ्कते-**अथोच्येतेति** । व्याचष्टे-**आदाविति** । घटादिजनकक्रियाप्रारम्भकाले मध्ये-घटादिजनकक्रियाकाले च घटोऽसन्, घटत्वोपनिलयनकालात् प्राक्कालावेतौ, तदानी घटार्थिनां घटविषयप्रवृत्तिदर्शनात्, न हि तदानीं घटे विद्यमाने घटार्थिनां घटार्थप्रवृत्तिरवलोक्यते, तस्माद्घटत्वोपनिलयनात् प्राक्काले घटोऽसन्निति भावः । उत्पन्नमात्रे घटजनकक्रियापरिसमाप्तौ तु घटत्वोपनिलयनस्य संजातत्वात्तदुत्तरकालेऽस्ति घट', तदानीं घटार्थिनां घटविषयप्रवृत्त्यदर्शनात्, न हि तदानीमसति घटे घटार्थी न प्रवर्त्तत इति युज्यतेऽनुमन्तुम्, तस्मात् पूर्वोत्तरकालयोरसत्त्वमसिद्धमित्याशयेनाह-**तत्त्वोपनिलयनादिति** । घटादि वस्तुनः पूर्वे काले उत्तरस्मिंश्चासतो मध्यकालेऽप्यभावेनादिमध्यान्तेष्वभूतत्वात् खपुष्पवदसत्त्वं तथापि न निर्वृत्तमिति सर्वभावा अनुत्पन्नाविनष्टत्वाच्छून्या एवेत्युपसंहरति-**एतदसत्यमिति** । अथ घटाद्युत्पादकत्वेनाभिमतायां सामग्र्यां घटादेर्दर्शनेऽपि न सर्वभावाः सन्तीत्याह-**इतश्च नास्ति वस्त्विति** । ननु घटपटादयोऽवयवित्वेन सम्मता भावाः कपालतन्त्वादिसामग्र्यामेव स्युः तत्रैव दर्शनात्, किन्तु ते सामग्रीघटकेष्वेकैकस्मिन् स्वरूपेण न सन्ति, तथा चैकैकस्मिन् यत्स्वरूपेण नास्ति तत्समुदायेऽपि नास्त्येव, प्रत्येकं सिकतास्वसतस्तैलस्य समुदायेऽसत्त्ववत्, तस्मान्न सन्त्यवयवित्वेन सम्मता भावा घटादय इत्याशयेनाह-**सामग्र्यामिति** । व्याप्त्युपोद्बलकं निदर्शनमग्रे वक्ष्यमाणमाह-**सिकतेति** । सामग्र्यां भावा दृश्यन्त इत्यस्यैव भावना क्रियते-

भविष्यति, तद्भावना—इहलोके यावतीत्यादि, घट इति संज्ञा कपालसामग्र्यां पट इति तन्तुसामग्र्यां रूपमिति तत्सन्ताने—क्षणोत्पत्तिविनंष्टरूपसन्ताने, चशब्दादन्यद्वा यत्किञ्चिद्रसादि मुष्टिपंक्त्यादि वा देशकालभिन्नावयवसंघातमात्रं सामग्रीमात्रमेवेति, का सामग्री ? उच्यते भावानां भावान्तरं प्रति व्यापारः, तत्प्रदर्शनम्—यथा तन्तूनां पटं प्रति व्यापारः, अवयविनोऽवयवत्वेन व्याप्रियमाणा अवयवा एव तथातथावस्थिताः सामग्रीत्युच्यन्ते, अवयववैकल्ये तदभावात्, तत्र चेत्यादि, इत्थंभूतायाञ्च सामग्र्यां व्याप्टतानां तन्त्वाद्यवयवानामेकैकोऽवयवो नावयवी सम्भवति, तच्छक्त्यभावात् प्रत्येकमसत्त्वे तत्समुदितावप्यसत्त्वमित्यवयविनः सर्वथाऽप्यभाव एव स्यात्, तद्भावयति—न तावदित्यादि, हेतुप्रत्ययसामग्री पृथग्भावेष्वदर्शनात्—नास्ति हेतुषु—तन्तुषु पटो नास्ति, प्रत्यये—निमित्तकारणेषु तुरीवेमशलाकादिषु नास्ति, तस्मान्नास्ति सामग्री तदवयवीत्यर्थः, नापि तत्स्वरूपपृथक्त्वम्, अप्रत्यक्षत इति, प्रत्यक्षेणैव हि प्रमाणेन तन्तुस्वरूपे तुर्यादिस्वरूपे वा पृथगनुपलब्धा सामग्री पटाख्या, अनुमीयतेऽपि च नास्तीति, तत्सान्निध्य ए [व] तदर्थप्रवृत्तेः—सन्निहितेष्वेव हेतुप्रत्ययेषु तन्तुतुर्यादिषु पटार्थी पटो नास्तीति मत्वा तदर्थं प्रवर्त्तते, ततो नास्ति, किमिव ?

इह लोक इति, इह जगति येऽमी घट इति वा पट इति वा रूपमिति वा मुष्टिरिति वा पङ्क्तिरिति वा व्यपदेशा दृश्यन्ते ते सर्वेऽवयवसामग्र्यामेव भवन्ति न ततो व्यतिरिक्तः कश्चन घटाद्यवयवी वर्त्तते, यथा कपालसामग्र्यां घट इति व्यपदेशः तन्तुसामग्र्यां पट इति क्षणिकरूपादिसन्ताने रूपमित्यादि आकुञ्चिताङ्गुलिसमुदाये मुष्टिरिति अव्यवहितानुपूर्वीविशिष्टाक्षरसमुदाये पङ्क्तिरिति विशिष्टदेशकालभेदेन विभिन्नावयवसङ्घातविशेष एव घटादय इति भावः। सामग्रीपदार्थमेव तावद्दर्शयति—**का सामग्रीति,** भावान्तरं पटादिकं प्रति भावस्य तन्त्वादेर्विशिष्टसङ्घातरूपेण योऽयं व्यापारो—व्याप्रियमाणता सैव सामग्रीत्यर्थः। दृष्टान्तमाह—**यथेति।** एवं सामग्रीमात्रदर्शनाद्भावानामभावे प्रतिपादितेऽपि न सर्वशून्यताऽऽयाता, सामग्रीसत्त्वादित्याशङ्कायां तस्या अप्यभावं प्रतिपादयितुं सामग्रीलक्षणं व्याचष्टे—**अवयविन इति,** अवयवित्वेनाभिमतस्य पटादेरवयवा एव तन्त्वादयो विशिष्टसंस्थानरूपेण जायमानाः सामग्रीत्युच्यन्त इति भावः। विशिष्टसंस्थानेन जायमानानामवयवनामेव सामग्रीत्वात् कस्यचिदप्यवयवस्य वैकल्ये कार्यं न भवतीत्याह—**अवयवेति,** अवयवस्यासम्पूर्णतायां कार्यस्य सामग्र्या वाऽभावादित्यर्थः। यदि पटादि स्यात्तर्हीदृशी सामग्र्येव स्यात्, न ततो व्यतिरिक्तमिति निरूप्येदानीं पटाद्यभावमाह—**इत्थम्भूतायाञ्चेति,** विशिष्टसंस्थानसमवस्थितावयवसमुदायस्वरूपसामग्रीघटकप्रत्येकावयवस्यावयवित्वासम्भवे समुदितेष्वप्यवयवेषु नावयवित्वं सम्भवतीति घटपटाद्यवयविनः सर्वथाप्यसम्भव एवेति भावः। प्रत्येकावयवस्यावयवित्वाभावे हेतुमाह—**तच्छक्त्यभावादिति,** एकैकस्मिन्नवयवेऽवयवित्वभवनशक्त्यभावादित्यर्थः। प्रत्येकमसतः समुदायासत्त्वमित्याह—**प्रत्येकमिति।** अवयव्यभावमेवोक्तं दृढीकरणाय भावयति—**न तावदित्यादीति,** हेतुप्रत्ययेषु पृथग्भावेषु न तावत् सामग्र्यस्ति, अदर्शनादित्यर्थः। व्याचष्टे—**नास्ति हेतुष्विति,** उपादानतयाऽभिमतेषु कारणेषु सामग्री अवयविलक्षणा नास्ति, प्रत्ययेषु—निमित्तकारणेषु तुरीवेमादिष्वपि नास्ति सामग्रीति भावः। हेतुप्रत्ययस्वरूपव्यतिरिक्तस्वरूपतापि सामग्र्या नास्तीत्याह—**नापीति,** हेतुप्रत्ययस्वरूपात् पार्थक्यं सामग्र्या नास्तीत्यर्थः। सर्वत्र हेतुमाह—**अप्रत्यक्षत इति,** उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य पृथगनुपलम्भादित्यर्थः। व्याचष्टे—**प्रत्यक्षेणैव हीति।** अनुमानादपि सामग्र्यभावमाह—**अनुमीयतेऽपि चेति,** हेतुप्रत्ययेषु नास्ति सामग्री, तत्सान्निध्य एव तदर्थप्रवृत्तेः, वैधर्म्येण घटपटवदिति प्रयोगः। हेतुमाह—**तत्सान्निध्य इति,** हेतुप्रत्ययसन्निधान एवेत्यर्थः। हेतुं व्याचष्टे—**सन्निहितेष्वेवेति।** हेतुप्रत्ययेषु यदि सामग्री स्यात् तर्हि तत्सन्निधाने सति पटार्थी तदर्थं न प्रवर्त्तेत, पटस्य सत्त्वात्, प्रवर्त्तते तु, तस्मात्तेषु पटो नास्तीति भावः। यच्च येषु कारणासमवहितेषु नास्ति तेषु तदर्थी तदर्थं न प्रवर्त्तते यथा घटे कारणासन्निहिते पटस्याभावात् न हि पटार्थी पटार्थं घटे प्रवर्त्तेत इति दृष्टम्, पटे वा कारणासन्निहिते घटाभावाद्घटार्थी घटार्थं पटे प्रवर्त्तेत इति दृष्टमिति वैधर्म्यं प्रकाशयति—**यच्च**

---

१ सि. छा. डे. व्याप्यतानां।

घटपटवत्–यथा घटे सन्निहितेऽपि पटार्थी पटो नास्तीति मत्वा तदर्थं [न हि] प्रवर्त्तते, पटे वा सन्निहिते घटार्थी घटार्थम्, यच्च येषु नास्तीत्युपनयो गतार्थो यावत् कुम्भेऽपि दृष्टम्, नहीति वर्तते ।

अत्राह—

ननु कुम्भस्य सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टस्य दर्शनादिति, न सामग्रीतुल्यत्वात्, सामग्री हि साध्या तथैव तुल्यः कुम्भोऽपि, अस्माभिर्यदि दृष्टः स्यान्नत्वेतत्साध्यते–अस्ति नास्ति वा सामग्रीति, तस्यैवोपन्यासात्तद्विपक्षाभिमत्याऽनैकान्तिकत्वचोदनं पाठमात्रमेतत् प्रत्येकमदृष्टस्य सिकतासु कुम्भस्य दर्शनमिति ।

(नन्विति) ननु सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टः कुम्भः सामग्र्यां दृष्ट इत्यनैकान्तिकदोषोद्भावनं परः कुर्यात्–कुम्भस्य सिकताकणेषु प्रत्येकमदृष्टस्य दर्शनादित्य [त्र] ब्रूमः–न, सामग्रीतुल्यत्वात्–नानैकान्तिकः प्रत्येकमसत्त्वात् समुदायेऽप्यसदिति, यस्मात् सामग्री साध्या तथैव तुल्यः कुम्भोऽपि विपक्षत्वाभिमतः साध्यत्वात् पक्ष एव, तस्यापि कुम्भपरिणामस्य समुदायत्वात्, तस्माद्विपक्षासिद्धेरनैकान्तिकचोदनाभासं जात्युत्तरमिदम्, तद्व्याख्या–अस्माभिर्यदि दृष्टः स्यान्नैवमुच्येत सामग्र्या अप्यभाव इति, तदेव स्मारयति प्रस्तुतं–न त्वैतत्साध्यते अस्ति नास्ति [वा] सामग्रीति, तस्यैवोपन्यासात्तद्विपक्षाभिमत्याऽनैकान्ति [क] त्वचोदनं पाठमात्रमेतत् प्रत्येकमदृष्टस्य सिकतासु कुम्भस्य दर्शनमिति, एवं तावत् सामग्री नास्तीति प्रतिपादितम् ।

अवयवास्तर्हि सन्तीति चेन्न, आ रूपादिभ्योऽवयविनश्चासत्त्वस्योक्तत्वात्, रूपादयोऽपि न स्वतो रूपादित्वं लभन्ते यस्मात् रूपादयस्तु रूपणादिनिरूपितविज्ञानसाराः तत्र रूपादीनां परस्परतः पृथक्त्वं हेतुत्वञ्च बुद्धौ वृत्तेरेव नावृत्तेः, तस्मान्न बहिरस्तित्वं जनयितुमर्हतस्ते हेत्वाद्यभावे सामग्र्यभावात्, सामग्र्यभावे च का द्रव्यता ? इतरेतरदोषाच्चेति ।

(अवयवा इति) अवयवास्तर्हि सन्तीति चेत्–स्यान्मतं पटस्य तन्तवोऽवयवाः सन्तीति, तन्न,

---

येष्विति । ननु नास्ति सामग्री प्रत्येकासत्त्वात्, सिकतातैलवदिति यदुक्तं तत्र हेतोरनैकान्तिकत्वमुद्भावयति–**ननु कुम्भस्येति ।** व्याचष्टे–**नन्विति ।** सिकतासमूहे हि कुम्भो दृश्यते प्रत्येकं सिकताकणेष्वसन्नपीति प्रत्येकासत्त्वहेतोरनैकान्तिकत्वमिति भावः । कुम्भः सामग्र्यामस्तीत्येतदेवासिद्धं सामग्रीतुल्यत्वात् कुम्भस्य, सामग्रीमात्रस्यासत्त्वं हि मया निरूप्यते त्वया सामग्रीविशेषस्य कुम्भस्य सत्त्वं मन्वानेनानैकान्तिकत्वमुद्भाव्यते तच्चानैकान्तिकत्वोद्भावनमाभासमेव साध्यसमत्वाज्जात्युत्तररूपमिति समाधत्ते–**सामग्रीतुल्यत्वादिति । नानैकान्तिक इति,** समुदायेऽप्यसत्, प्रत्येकमसत्त्वादिति मानं नानैकान्तिकमित्यर्थः । सामग्रीतुल्यतां स्फुटयति–**यस्मादिति ।** समुदाये सत्त्वाभिमतः सामग्रीविशेषः कुम्भस्तव विपक्षतयेष्टः सामग्रीमात्रपक्षान्तर्गतत्वात् पक्ष एवेति नास्य विपक्षतासिद्धिरिति अनैकान्तिकत्वचोदनाऽऽभासरूपाऽतो जात्युत्तरमिदमिति भावः । विपक्षत्वासिद्धिमेव स्फुटयति–**अस्माभिरिति,** कुम्भेऽस्माभिरपि समुदायनिरूपितं सत्त्वं यदि दृष्टं भवेत् तर्हि समुदाये सामग्री वर्त्तते न वा वर्त्तत इति सत्त्वासत्त्वान्यतरसाधनप्रयासः कथं क्रियेत, तस्माद्यत्रासत्त्वं सिषाधयिषितं तदेव गृहीत्वा विपक्षतया त्वयोद्भावनं प्रत्येकमदृष्टस्यापि सिकतासमुदाये कुम्भस्य दर्शनमिति तत् केवलं पाठमात्रमेव नानैकान्तिकत्वसमर्थकमिति भावः । निगमयति–**एवं तावदिति ।** ननु मास्तु सामग्री, तदवयवास्तु सन्त्येवेति कथं सर्वभावशून्यता सेत्स्यतीत्याशङ्कते–**अवयवास्तर्हीति ।** व्याख्याति–**स्यान्मतमिति** सामग्र्यात्मकस्य पटस्याभावेऽपि तदवयवास्तन्तवो विद्यन्त एवेति न बाह्यार्थमात्रशून्यतेति भावः ।

---

१ सि. क्ष. डा. डे. कुम्भत्वस्य ।

कस्मात् ? आ रूपादिभ्योऽवयविनश्चासत्त्वस्योक्तत्वात्–तद्यथा तन्तवोंऽशुषु, अंशवस्त्रुटिषु त्रुटयः पक्ष्मसु, पक्ष्मादि स्वावयवेषु न सन्तीत्यादि यावत् परमाणुशो विभागस्तावदवयव्येव, परमाणुरविभागत्वान्निरवयवः सन्निति चेत्, सोऽपि रूपरसगन्धस्पर्शभेदेनावयव्येव, एवं तर्हि रूपादयोऽवयवा एव नावयविन इति चेत् तेऽपि न स्वतो रूपादित्वं लभन्ते, यस्माद्रूपादयस्तु रूपणादिनिरूपितविज्ञानसाराः–रूप्यत इति रूपं रस्यत इति रस इत्यादिविज्ञानेनैव निरूप्यन्ते रूपादयः तत्स्वरूपविज्ञानेन प्रकल्प्यन्ते, तत्र रूपादीनां परस्परतः पृथक्त्वं हेतुत्वञ्च बुद्धौ वृत्तेः संघटते, न तस्यामवृत्तेः स्वात्मनैव, तस्माद्बहिरस्तित्वं [न]जनयितुमर्हतः ते हेतुपृथक्त्वे, बुद्धिव्यतिरेकेण स्वरूपाभावात्, तदुपसंहृत्याह–हेत्वाद्यभावे सामग्र्यभावात्–हेतुप्रत्ययस्वरूपपृथक्त्वानामभावे रूपादीनां का सामग्री ? सामग्र्यभावे का द्रव्यतेति ? द्रव्याभावे सर्वाभावप्रसिद्धिः, तस्मादयुक्तमुक्तमवयवी सामग्री विद्यते अवयवा एव वा सन्तीति, किञ्चान्यत्–इतरेतराश्रयदोषाच्च–अवयविसद्भावेऽवयवास्तदवयवत्वात् सिद्ध्यन्ति हेतुत्वाच्च, तेषु वाऽवयवेषु सत्सु तदवयवित्वात् कार्यत्वादवयवी सिद्ध्यतीति तदिदमितरेतराश्रयत्वम्, इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते तद्यथा–नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणायेति, एवं सामग्रीदर्शनादपि न सन्ति सर्वभावाः ।

इतश्च न सन्ति तथाऽदर्शनात्, सर्वथाऽप्ययुक्तयो दर्शनावगृहीतसद्भावाः सन्तोऽर्थाः कल्पयितव्याः, तथापि न सन्ति तस्य दर्शनस्यासम्भवात्–तदपि च दर्शनं नास्त्येव यतो यावद् दृश्यं तावदारान्मध्यपरभागम् तत्र यद्याराद्भागो दृश्यते इति प्रत्यक्षमिष्यत परमध्यभागयोरदर्शनादप्रत्यक्षता तस्य किं नेष्यते ? तस्माददर्शनमेव वस्तुनः ।

(इतश्चेति) इतश्च न सन्ति तथाऽदर्शनात्–अदर्शनादपि तेनैव प्रकारेण न सन्ति, तत्र परमताऽऽशङ्का–

तन्तोरपि स्वावयवं प्रति तदवयवोऽपि स्वावयवं प्रतीत्येवं यावत्परमाणुरूपं सामग्रीत्वेन प्रोक्तरीत्या तासां तन्त्वादिसामग्रीणामभावसिद्धेरिति समाधत्ते–**आ रूपादिभ्य इति,** आङत्र मर्यादायां न त्वभिविधौ, रूपादेरनवयवित्वादिति तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषामवयवित्वेनाभावः सिद्ध एवेति भावः । तदेव साधनं व्याचष्टे–**तद्यथेति** । ननु तन्त्वादीनां सावयवत्वेनाभावे सिद्धेऽपि निरवयवस्य परमाणोः कथमभाव इत्याशङ्कते–**परमाणुरिति** । परमाणोः निरवयवत्वमसिद्धम्, रूपरसगन्धस्पर्शसमुदायात्मकत्वादित्याह–**सोऽपीति** परमाणुरपीत्यर्थः । एवं तर्हि रूपादेर्निरवयवत्वादस्तित्वं स्यादित्याशङ्कते–**एवं तर्हीति** । रूपादिनामपि न स्वरूपतोऽस्तित्वम्, किन्तु विज्ञानेन रूप्यमाणत्वाद्रूपं रस्यमानत्वाद्रसः घ्रायमाणत्वाद्गन्धः स्पृश्यमानत्वात् स्पर्श इत्येवं रूपादयो विज्ञानेनैव निरूप्यन्तेऽतो विज्ञानसाराः रूपणादिस्वरूपविज्ञानप्रकल्पितत्वादिति समाधत्ते–**तेऽपीति,** रूपादयोऽपि न स्वतो रूपादिभावं लभन्ते किन्तु विज्ञानेनेति भावः । रूपमिति बुद्धौ रस इति बुद्धौ गन्ध इति बुद्धौ स्पर्श इति बुद्धौ च प्रतिभासमानत्वादेव तत्तद्बुद्धिं प्रति तेषां हेतुत्वम्, विभिन्नबुद्धिनिरूप्यत्वादेव च तेषां परस्परं भेदः तस्मात्ते बुद्ध्यधीनसत्ताकत्वे बुद्धिवृत्तयः, न तु बुद्ध्यवृत्त्या स्वरूपं तेषां हेतुत्वं पार्थक्यञ्च सम्भवन्तीत्याह–**यस्माद्रूपादयस्त्विति** । **तस्मादिति,** यस्माद्रूपादीनां हेतुत्वतत्स्वरूपपृथक्त्वे विज्ञानायत्ते तस्मात्ते रूपादीनां बुद्ध्यविनाभाविस्वरूपाणां बहिरस्तित्वं न सम्पादयत इति भावः । रूपादिनां स्वरूपं बुद्धिरेव, न ततो व्यतिरिक्तं स्वरूपमस्तीत्याह–**बुद्धिव्यतिरेकेणेति** । एवञ्च रूपादीनां हेतुत्वस्य स्वरूपपृथक्त्वस्य चाभावात् काचित् सामग्र्यपि नास्ति, यया द्रव्यता सिद्ध्येदिति नास्ति कश्चिदवयवी अवयवो वेत्याह–**हेत्वाद्यभाव इति** । व्याचष्टे–**हेतुप्रत्ययेति** । अवयविसिद्धौ तत्कारणतयाऽवयवसिद्धिः स्यात्, अवयवसिद्धौ च तत्कार्यतयाऽवयविसिद्धिः स्यादिति परस्परापेक्षत्वादुभयोरसिद्धिरिति दोषान्तरमाह–**इतरेतरेति** । व्याकरोति–**अवयवीति** । सामग्रीदर्शनमुपसंहरति–**एवमिति** । एवमदर्शनादपि नास्ति वस्त्वित्याह–**इतश्चेति** । यथा सामग्रीदर्शनादिभ्यो वस्तुनः शून्यता तथाऽदर्शनादपि शून्यता सर्वभावानामिति व्याचष्टे–**अदर्शना-**

सर्वथाप्ययुक्तय इत्यादि—न सन्ति युक्तयो येषामर्थानामयुक्तयस्ते, यद्यपि युक्तितो नोपलभ्यन्ते प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते दृश्यन्ते दृश्यमानाश्च निराकर्तुं न शक्यन्ते, अतो दर्शनावगृहीतसद्भावाः सन्तोऽर्थाः कल्पयितव्या इति, यदि कल्पयेरन् तथापि न सन्ति, तस्य दर्शनस्यासम्भवात्, तद्व्याख्या—तदपि च दर्शनं नास्त्येव, कथं दर्शनं नास्ति ? उच्यते—यतो यावदित्यादि—यावद् दृश्यं तावत्, [आरान्मध्य] परभागम्, दृश्याभिमतस्य हि वस्तुन आराद्भाग एव दृश्यते न परमध्यभागौ दृश्येते, तैश्चावश्यमारान्मध्यपरभागैर्भवितव्यं वस्तुनः, तत्र यद्याराद्भागो दृश्यत इति प्रत्यक्षमिष्यते परमध्यभागयोरदर्शनादप्रत्यक्षता तस्य किं नेष्यते ? तस्माददर्शनमेव वस्तुनः, न हि आराद्भागमेव वस्त्विति ।

अथ मतमाराद्भागो नियमात् प्रत्यक्षतो ग्रहीष्यते परमध्यभागावप्यनुमानात् कालान्तरे च प्रत्यक्षतो ग्रहीष्येते इति, न तत्रापि त्रिभागत्वतुल्यत्वाददर्शनमेव सावयवत्वात् समस्तवस्त्वदर्शनवत् अथ मतं भागो द्रक्ष्यत इति परमाणवस्तर्हि गृह्यताम्, तेष्वदृश्यमानेषु निर्भागेषु भागवद् दृश्यत इति का कथा? भागान्तरादृश्यत्वात्, सिकतातैलवद्वा प्रत्येकं दर्शनाभावे तत्समुदायेऽपि दर्शनाभावात्, यदा च परमाणुर्न कस्यचिद् दृश्यस्तदा कुतः परमाणुसंघातो भागवान् द्रक्ष्यते? भागवति वा परमध्याग्रहणादगृह्यमाणे तदंशा निर्विभागाः परमाणवो ग्रहीष्यन्ते? इति ।

अथ मतमित्यादि, स्यादियं ते मतिराराद्भागस्तावद्ग्रहीष्यते नियमात् प्रत्यक्षतः तथा मध्यपरभागानप्यनुमानात् कालान्तरे प्रत्यक्षतो ग्रहीष्येते, तस्मान्नादर्शनतेति, अत्र ब्रूमः—न तत्रापि त्रिभागत्वतुल्यत्वात्—आराद्भागेऽपि दृश्याभिमते त्रयो भागाः सम्भवन्त्येव, आरान्मध्यपरभागाख्याः सावयवत्वात्, विभज्यमानं हि सावयवं त्रिधा व्यवतिष्ठते ततस्तवात्रापि परमध्यभागादर्शनम् त्रिभागतुल्यत्वात् समस्तवस्त्वदर्शनवदिति, एवं तावत् सावयवस्य त्रिभागस्य दर्शनासम्भवः, अथ मतं भागो द्रक्ष्यत इति—यन्निर्विभा-

---

द्पीति। यद्यपि भावा युक्तिभिर्न सिद्ध्यन्ति प्रत्यक्षतस्तूपलभ्यन्ते, उपलभ्यमानाश्च प्रतिषेद्धुं न शक्याः, तस्माद्दर्शनबलेन सिद्धसत्ताका भावा अभ्युपेया एवेति कथं शून्यतेत्याशङ्कते—**तत्र परमताऽऽशङ्केति** । एवं स्यात् कल्पना तेषां परन्तु भावानां दर्शनमेव तावन्न सम्भवतीत्याह—**यदि कल्पयेरन्निति।** कथं दर्शनं न सम्भवतीत्यत्राह—**तदपि चेति ।** यद्दृश्यत्वेनाभिमतं तत् सभागम्, आरान्मध्यपरभागम्, तत्र दृश्यत्वेनाभिमतं वस्तु चक्षुषा न पूर्णं गृह्यते किन्त्वाराद्भाग एव तस्य गृह्यते, न तु मध्यपरभागौ, सन्निकर्षासम्भवात्, न चाराद्भागमात्रमेव वस्तु भवितुमर्हति भागत्रयव्याप्यत्वाद्वस्तुन इति वस्तु न दर्शनविषय इत्याह—**यावद् दृश्यमिति।** भागत्रयव्याप्यत्वं वस्तुन आह—**तैश्चेति ।** तत्राराद्भागमात्रदर्शनादेव यदि वस्तुनः प्रत्यक्षत्वमिष्यते तर्हि विनिगमकाभावान्मध्यपरभागयोरदर्शनाद्वस्तुनोऽप्रत्यक्षत्वमेव कुतो नेष्यते ? तस्मादाराद्भागमात्रस्यावस्तुत्वाद्वस्तुनोऽदर्शनमेव युक्तमित्याह—**यत्र यदीति ।** नन्विदानीमाराद्भागस्य प्रत्यक्षनैयत्ये मध्यपरभागयोरनुमानाद्ग्रहः कालान्तरे वा प्रत्यक्षत इति वस्तुनो दर्शनं स्यान्नादर्शनमिति शङ्कते—**अथ मतमिति ।** व्याख्याति—**स्यादियमिति,** आराद्भागेणेन्द्रियसन्निकर्षस्यावश्यं सद्भावात् स गृह्यतां नाम, मध्यपरभागौ तु तदानीमनुमानतः कालान्तरे वा प्रत्यक्षतो गृह्येते इत्येवं वस्तुप्रत्यक्षतेति भावः । घटादेरिव आराद्भागस्यापि भागत्रयव्याप्यत्वात्तस्यापि भाग एव गृह्यते नाराद्भागस्य पूर्णस्येत्युत्तरयति—**न तत्रापीति,** आराद्भागेऽपीत्यर्थः । व्याचष्टे—**आराद्भागेऽपीति** भागत्रयाणामपि सावयवत्वात्तेऽपि त्रित्रिभागाः, तेषु भागत्रयेष्वपि आराद्भाग एव गृह्येत न मध्यपरभागौ, तस्मान्न परिपूर्णवस्तुदर्शनं तत्रापीति भावः । एवं भागानां विभज्यमानानां योऽयमन्तिमो भागो निर्विभागरूपः स तु गृह्यत एवेत्याशङ्कते—**अथ मतमिति** । व्याचष्टे—**यदिति।** स हि

गमात्रं भागः तन्मात्रं गृह्यत इति चेन्मन्यसे ततश्च तेऽनिष्टमिदं–परमाणवस्तर्हि गृह्यताम्, न हि परमाणवोऽतीन्द्रियाः सन्तः कस्यचिद् दृश्या इतीष्टाः, तेष्वदृश्यमानेषु निर्भागेषु भागवद् दृश्यत इति का कथा ? भागान्तरादृश्यत्वात्, सिकतातैलवद्वा प्रत्येकं दर्शनाभावे तत्समुदायेऽपि दर्शनाभावात्, भागवति वा परमाणुसंघाते परमध्यभागाग्रहणादगृह्यमाणे तदंशो निर्भागपरमाणुर्द्रक्ष्यत इति का कथा इत्यदर्शनान्नास्ति दर्शनम्, अस्यार्थद्वयस्य व्याख्या–यदा च परमाणुरित्यादि ग्रहीष्यन्त इति गतार्थम्, कुत इत्यनुवर्त्तनात्।

दृश्यदर्शनव्यवहारस्तर्हि कथमसति दृश्ये सम्भवतीति चेदुच्यते, अयन्तु व्यवहारो विज्ञानोत्थापित एव, विज्ञानञ्चासत्यपि बाह्येऽर्थे तथा तथा विपरिवर्त्तमानं बाह्यार्थवदवभासते, वस्तुत्वात् स्वप्नवत्, तत्रापि जाग्रद्गृहीतोऽर्थः कारणमिति चेत्तत्र च तत्र च विज्ञानमेव कारणम् स्वप्नजागरणकारणेन विज्ञानेनैवोत्थापितोऽर्थोऽर्थ इति प्रतिपत्तुं शक्यो नान्यथा, यदि वाऽविज्ञानोऽर्थः कश्चिदस्ति स दर्श्यतां त्वया, मया पुनः शक्यतेऽर्थेन बाह्येन विज्ञानमेवार्थ इति दर्शयितुम्, तद्यथा–स्वप्ने त्वनर्थकं विज्ञानमेवार्थ इति।

(दृश्येति) दृश्यदर्शनव्यवहारस्तर्हि कथमसति दृश्ये सम्भवतीति चेदुच्यते अयन्तु व्यवहारो विज्ञानोत्थापित एव, विज्ञानञ्च [ा]सत्यपि बाह्येऽर्थे तेन तेनाकारेण विपरिवर्त्तमानम[ा]न्तरे च बाह्यार्थवद[व]भासते वस्तुत्वात्–विज्ञानत्वात्, किमिव ? स्वप्नवत्–स्वप्न इव स्वप्नवत्, यथा सुप्तः [1]संवृतेऽवकाशेऽप्यसम्भविनं हस्तियूथपर्वताद्याकारं पश्यत्यसत्येव हस्तियूथादिबाह्येऽर्थे तथाप्यन्तर्विज्ञानपरिणामादेवं जाग्रदवस्थ[2]रूपादिविज्ञानान्यप्यन्तर्वर्तिबहिरर्थाभासानि, न कश्चित्तद्व्यतिरिक्तोऽर्थ इति, यथोक्तं 'द्यौः क्षमा

निर्विभागो भागः परमाणुरुच्यते यदि निर्विभागभागस्य प्रत्यक्षतेष्यते तदा परमाणोर्ग्राह्यताप्रसङ्गः स च नेष्ट इत्याह–**परमाणव इति**। एवञ्च परमाणोरतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षत्वात् तत्समुदायरूपस्य भागिनः प्रत्यक्षता न स्यादेव, एकस्याप्रत्यक्षत्वे तत्समूहस्याप्यप्रत्यक्षत्वादित्याह–**नहीति**। अदृश्यत्वे हेतुमाह–**भागान्तरेति,** आराद्भागरूपपरमाणुवद्भागान्तरयोर्मध्यपरभागयोरपि परमाणुत्वेनादृश्यत्वादित्यर्थः। निदर्शनमाह–**सिकतेति,** प्रत्येकं सिकतासु तैलादर्शने सिकतासमूहेऽपि तददर्शनवत् भागत्रयभूतानां परमाणूनामदर्शने तत्समुदायात्मकभागवतोऽप्यदर्शनमेवेति भावः। **भागवति वेति** भागिनः परमाणुसंघातस्यैव यदाऽदर्शनं तदा तद्भागानां परमाणूनामदर्शने किमु वक्तव्यं भागिनश्चादर्शनं मध्यपरभागाग्रहणादिति भावः। भागस्याग्रहणे भागिनोऽदर्शनम्, भागिनोऽदर्शने सुतरां भागस्याग्रहणमित्यर्थद्वयस्य व्याख्यामाहेत्याह–**अस्यार्थद्वयस्येति**। एवं दर्शनाद् दृश्यं वस्तु नास्तीत्युक्तम्, एवञ्च दृश्यस्याभावे दर्शनस्यापि दृश्यबललभ्यस्याभावाद् दृश्यदर्शनव्यवहारो लोके परिदृश्यमानः कथं स्यादित्याशङ्कते–**दृश्यदर्शनेति**। व्याचष्टे–**दृश्येति**। प्रोक्तव्यवहारो विज्ञानमात्रोत्थापितो न बाह्यवस्तुनिबन्धन इत्युत्तरयति–**अयन्त्विति,** आलयविज्ञानोत्थापिताः सर्वे व्यवहाराः, आलयविज्ञानस्यैवायं धर्मो बाह्यार्थानपेक्षोऽनादिवासनावशात्तत्तदाकारेण स्वभावभूतोऽवभासो बहिर्वदध्यवसीयत इत्याह–**विज्ञानञ्चेति,** इन्द्रियाख्यां शक्तिमान्तरं रूपञ्चोपादाय विज्ञानमर्थावभासि रूपाद्यविभक्तमुत्पद्यते बहिर्वदवभासते च, विज्ञानव्यतिरिक्तस्यावस्तुत्वात्तस्यैव वस्तुत्वादिति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह–**स्वप्नवदिति**। दृष्टान्तं प्रकाशयति–**यथा सुप्त इति,** अन्तर्विज्ञानपरिणामात्स्वप्ने सुप्तपुरुषस्याल्पे हृदयाकाशे महान्ति हस्तियूथपर्वतादीनि बाह्यार्थभूतहस्त्याद्यभावेऽपि पश्यति तथैव जाग्रद्दशायामपि रूपादिविज्ञानानि अन्तर्वर्त्यर्थावभासान्येव, न ततोऽतिरिक्तो बाह्योऽर्थः कश्चिदस्तीति भावः। तस्यैवान्तर्विज्ञानस्य धर्मो बाह्यार्थनिरपेक्षस्वभावभूतावभासतेत्यत्र वाक्यपदीयं वचनमाह–**द्यौः क्षमेति,** एते सर्वेऽन्तःकरणस्यैव भागाः प्रतिबिम्बकाः बहिरवस्थिताः, अन्तरवस्थितस्यैव बहीरूपतयाऽव-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. संवृत्ते०। २ सि. क्ष. छा. डे. जाग्रत्स्वस्थरूपा०।

वायुराकाशं सागरः सरितो दिशः। अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः' ॥ (वाक्य० कां० ३ श्लो० ४१) इति, तत्रापि जाग्रद्गृहीतोऽर्थः कारणमिति चेत् स्वप्ने हि दृष्टश्रुतानुभूतपरिकल्पितसुखदुःखादिरूपरसाद्याकारमेव विज्ञानमुत्पद्यते नात्यन्तानुपलब्धखपुष्पाद्याकारम्, तस्माद्बाह्यार्थमेव कारणमिति चेन्मन्यसे, अत्र वयं ब्रूमः, तत्र च तत्र च विज्ञानमेव कारणम्, स्वप्नजागरणकारणेन[1] विज्ञानेनैवोत्थापितोऽर्थोऽर्थ इति शक्यते प्रतिपत्तुम्, नान्यथा, विज्ञानेनाविनाभावितस्यार्थस्य जागरणेऽपि स्वरूपाभावाद्यदनुपलम्भे कुतः पुनः स्वप्नकारणत्वम्? तत आह–यदि वाऽविज्ञानोऽर्थः कश्चिदस्ति स दर्श्यतां त्वया–ज्ञानेन[ा] प्रकल्पितो न शक्यो दर्शयितुमर्थ इत्यभिप्रायः, मया पुनः शक्यतेऽर्थेन बाह्येन [विना] विज्ञानमेवार्थ इति, तद्यथा-स्वप्ने त्वनर्थकं विज्ञानमेवार्थ इति दर्श्यते, तस्मात् स्वपज्जाग्रदवस्थयोरप्यव्यभिचारिविज्ञानमेवार्थ इति न्याय्या कल्पना ।

अत्र नये कः शब्दार्थः ? ब्रूमः–

अत्र च विज्ञानं शब्दार्थः, विज्ञानमेव हि शब्दो विज्ञानोत्थापितो रूपरसादिघटपटादि–बाह्यो वाच्यो विज्ञानमेव, एवं तर्हि प्रमाणप्रमाणाभासाविशेष इति चेदिष्यत एतत्, तच्च विज्ञानं कल्पना, अनियतदेशकालाकारनिमित्तनैमित्तिकत्वात् सुप्ततैमिरिकादिविज्ञानवत्, बुद्ध्यनुसंहृतिर्वाक्यार्थः ।

(अत्र चेति) अत्र च विज्ञानं शब्दार्थः, विज्ञानमेव हि शब्दो वाचकाभिमतो विज्ञानोत्थापितः तदुपलक्ष्योऽपि रूपरसादिघटपटादिबाह्यो वाच्यो विज्ञानमेव, यथोक्तं 'विज्ञप्तिमात्रमेवेदं भो जिन-

---

भासन्त इति भावः। ननु स्वप्नज्ञाने हस्त्यादीनां तदैवावभासः स्याद्यदा जाग्रद्दशायां सोऽर्थो गृहीतो भवेन्नान्यथा तस्माज्जाग्रद्विज्ञान-ग्राह्योऽर्थस्तत्र कारणम्, अन्यथाऽत्यन्तादृष्टानां स्वर्गनरकादीनामत्यन्तासतां शशविषाणखपुष्पादीनामपि कुतो नावभासः स्वप्ने इत्याशङ्कते–**तत्रापीति,** स्वप्नीयविज्ञानावभासेऽपीत्यर्थः। व्याचष्टे–**स्वप्ने हीति,** जाग्रद्दशायां दृष्टाः श्रुता अनुभूताः परिकल्पिता वा ये सुखदुःखादयस्तदाकारमेव विज्ञानं स्वप्न उदेतीति भावः। स्वप्ने जाग्रति वा सर्वत्र कारणेनैकेन विज्ञानेनोत्थापितोऽर्थ एव प्रतिभासते, न तु स्वप्नविज्ञाने जागरणविज्ञानविषयः कारणमित्याह–**तत्र च तत्र चेति,** स्वप्ने च जागरणे चेत्यर्थः। ननु जागरणेऽपि विज्ञानेनार्थस्याविनाभावेनाभेदात् तद्व्यतिरिक्तस्वरूपाभावेनार्थस्यानुपलब्धौ स्वप्नकारणत्वं तस्य कुत इत्याह–**विज्ञानेनेति।** विज्ञानव्यतिरिक्तमर्थमभ्युपगच्छता त्वया तत्स्वरूपं प्रदर्श्यतां विज्ञानव्यतिरिक्तेन हेतुना ! यदा तु तथाविधो हेतुर्नास्ति किन्तु विज्ञानेनैव निरूप्योऽर्थः, तदा सोऽर्थो विज्ञानव्यतिरिक्तः कथं भवेत्, मया तु विषयीभूतार्थव्यतिरेकेणापि विज्ञानमेवार्थ इति निरूपयितुं शक्यते तस्माद्विज्ञानमेव स्वतंत्रत्वाद्वस्तु, अर्थस्तु विज्ञानपरतंत्रत्वाद्विज्ञानमेव नातिरिक्त इत्याशयेनाह–**यदि वेति** नास्ति विज्ञानं यस्य एवंभूतोऽर्थः। अविज्ञानोऽर्थः। कुत्र निरूपयितुं शक्यते त्वयेत्यत्राह–**स्वप्ने त्विति।** उपसंहरति–**तस्मादिति** विज्ञानमात्रवस्तुवादिनये विज्ञानमेव शब्दस्यार्थो नान्यः कश्चिदित्याशयेन वक्ति–**अत्र चेति,** विज्ञानमात्रवस्तुवाद्येतन्नय इत्यर्थः। वाचकः शब्दो विज्ञानरूप एव वाच्योऽपि विज्ञानमेव रूपरसादीनां घटपटादीनाञ्च बाह्यवस्तूनां विज्ञानत्वस्य प्रतिपादितत्वात्, विज्ञानव्यतिरिक्तवस्त्वभावाच्चेत्याह–**विज्ञानमेव हीति।** विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वमित्यत्र बुद्धवचनं दिङ्नागवचनञ्च प्रमाणयति **विज्ञप्तिमात्रमेवेदमिति। यदन्तर्ज्ञेयेति,** विज्ञानं विनान्यदालम्बनं नास्ति ग्राह्यांशश्च विज्ञानपरिणामो विषयाकारोऽर्थो भवति, तस्माद्विज्ञाने बाह्यविकल्पो विषयत्वेन स्थापितो गृह्यते, स एव बहिर्वदवभासते, अयं विकल्पो यथा बहिर्वर्त्तते तथाऽवभासते, अयं विज्ञानालम्बनप्रत्यय उच्यते विज्ञानरूपत्वाद्विज्ञानजननाच्च, इदं हि विज्ञानमन्तर्विषयरूपं भवति, अन्तर्विषयाच्च जायत इति धर्मद्वय-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. स्वप्ने जागरणकारणेनैव वि०।

पुत्र ! यदिदं त्रैधातुकम्' (बुद्धवचनम्) इत्यादि, 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं [तु] बहिर्वदवभासते । सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयाऽपि च' (आलम्बन० ६) इत्यादि, एवं तर्हि प्रमाणप्रमाणाभासाविशेष इति चेदिष्यत एतत्, यस्माच्च विज्ञानं कल्पना—कल्पनामात्रमेव, अनियतदेशकालाकारनिमित्तनैमित्तिकत्वात्, जाग्रदाद्यवस्थाभिमतविज्ञानस्यापि सुप्ततैमिरिकादिविज्ञानवदप्रामाण्यात्, एष पदार्थः, वाक्यार्थस्तर्हि कः ? उच्यते—बुद्ध्यनुसंहृतिः'वाक्यार्थः—विज्ञानस्यैव पौर्वापर्यार्थाभासविज्ञानानुसंहारेण सम्बन्धविज्ञानं वाक्यं वाक्यार्थश्चेति ।

अयञ्च विकल्प एवम्भूतैकदेशः, तस्य च पर्यवास्तिकभेदत्वात्, परि समन्तादवगमः, नैःस्वाभाव्यात् परितोऽवगमः, सोऽस्यास्तीति मतिरस्य पर्यवास्तिकोऽयं नयः, स च भावः भावोऽपि भाव एव साकारोऽनाकारो वा प्रमाणप्रमाणाभासादिविकल्पशून्यः, द्रव्यशब्दश्चैष षट्स्वपि द्रुगतिः, तस्या विकारे यत्प्रत्यये द्रव्यमिति, द्रव्यमेवार्थः द्रव्यार्थः, स पुनस्तथातथा प्राग्व्याख्यातो यथादर्शनं पर्यायार्थ एव स षड्विकल्पोऽपि, तथागतेः ।

(**अयश्चेति**) अयञ्च विकल्प एवम्भूतैकदेशः—शतधा भिन्नस्यैवम्भूतस्यैकदेशोऽयं नयः, तस्य च—एवम्भूतस्य पर्यवास्तिकभेदत्वात्, अक्षरार्थो गमयितव्यः पर्यवास्तिक इत्यत आह—परि समन्तादवगमः,—परिरुपसर्गः समन्तादर्थे, अवतिर्धातुरवगमार्थः, यथाह—'अव रक्षणगतिप्रीतितृप्त्यवगमनप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादहनभावबृद्धिषु' (धातुपाठे भ्वादिगणे ६०१) अत्रावगमस्य विवक्षितत्वात्, नैःस्वाभाव्यात् परितोऽवगमः—परीक्ष्यमाणस्य बाह्यार्थस्य विज्ञानव्यतिरिक्तस्य सर्वयुक्तिरिक्तस्वभावाभावादवगममात्रं विज्ञानमात्रमेवेत्यर्थः, सोऽस्यास्तीति मतिरस्येति—स पर्यवो यस्यास्तीति मतिः

युक्तं भवति, विज्ञानं विषयाकारं विज्ञानजनकञ्चेति भावार्थः। बाह्यार्थवस्तुनिबन्धनं यदि न विज्ञानं तर्हि प्रमाणप्रमाणाभासयोरविशेषः, विज्ञानस्याविशिष्टत्वात्तद्व्यतिरिक्तार्थाभावाच्चेत्याशङ्कते-**एवं तर्हीति** । इष्टापत्तिमाह-**यस्माच्चेति**, विज्ञानमिदं कल्पनामात्रमेव, विज्ञाने बाह्यविकल्पो विषयत्वेन स्थापितो हि गृह्यते बाह्यविकल्पश्च सञ्चितालम्बनः, सञ्चयश्च काल्पनिकोऽसन्निति तद्विज्ञानं कल्पनामात्रमेव, विज्ञाने हि देशकालाकारादीनां नियतानां निमित्तताऽसम्भवादनियतनिमित्तकत्वात् स्वप्नज्ञानवदप्रमाणमेव काल्पनिकत्वात्, वितथविकल्पाभ्यासवासनावशादभूतमेवार्थं जानाति, तस्मादप्रमाणमेवेति भावः । एवं वाक्यं किं तदर्थश्च क इत्यत्राह—**बुद्ध्यनुसंहृतिरिति**, बुद्धीनां—शब्दाकारोल्लेखिबुद्धीनामर्थाकारोल्लेखिबुद्धीनाञ्चानुक्रमेण पौर्वापर्यभावेन संहृतिः—बहीरूपतयाऽध्यस्तो निर्विभागः शब्दाकारोऽर्थाकारो वा वाक्यं वाक्यार्थश्च, उभौ चानादिवासनायाः शब्दविकल्पसम्भूताया अर्थविकल्पसम्भूताया वा प्रबोधाज्जायेते इति भावः । अस्य नयस्य सप्तविधनयेषु कुत्रान्तर्भाव इत्यत्राह-**अयञ्चेति** । शतधा भिन्नस्यैवम्भूतनयस्यैकदेश इत्याह-**शतधेति** । द्रव्यार्थपर्यायार्थयोः पर्यायार्थोऽयमित्याह-**तस्येति** । एतन्नयानुसारेण पर्यवास्तिकशब्दार्थं वक्तुमाह **परीति**, परिशब्दः समन्तादर्थे, अवधातुरवगमार्थे वर्त्तत इति भावः । अवतेरवगमार्थत्वे मानमाह-**अव रक्षणेत्यादि** । कथं परितोऽवगम इत्यत्राह-**नैःस्वाभाव्यादिति**, विचार्यमाणे सति विज्ञानव्यतिरिक्ते बाह्यवस्तुनि सर्वयुक्तिभिः स्वभावशून्यतैवावगम्यते, तस्य सर्वयुक्तिरिक्तस्वभावस्याभावाद्बाह्यार्थाभावेनावगममात्रमेव सेत्स्यति, स एव पर्यवोऽस्तीति मतिर्यस्येति व्युत्पत्तौ 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' इति सूत्रेण ठक्प्रत्यये पर्यवास्तिक इति नयोऽयमुच्यत इति भावः । पूर्वमुभयोभयादिनयविषया अपि

---

१ सि० क्ष० छा० डे । यदन्तर्ज्ञान ० । २ भागेति बोपदेवः, भट्टोजीदीक्षितश्च ।

स नयः, पर्यवोऽतीतः षट्प्रकारोऽपि, 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (पाणि० अ० ४ पा० ४ सू० ६०) इतिठक्प्रत्ययान्तरूपसिद्धेः, पर्यव एवास्तीति मन्यमानः पर्यवास्तिकोऽयं नयः, स च भावः–अर्थः शब्दो वा, वाच्य[वाचक]ाभिमतं विज्ञानलक्षणमेव वस्त्वित्यत आह–भावोऽपि भाव एव–भवतीति भावो घटपटादि द्रव्यगुणकर्मादि वा इति माग्रहीदिति भाव एव उपयोगो भावो न द्रव्यादीति, स च भावः क्षायिकः क्षायोपशमिक औपशमिकः पारिणामिको वा, स चोपयोग एव साकारोऽनाकारो वा प्रमाणप्रमाणाभासादिविकल्पशून्यः, तस्मात् पर्यवास्तिकनयभेद एवम्भूतैकदेशोऽत्यन्तविशुद्धविज्ञानपर्यायमात्रग्राही नयोऽयमिति, यथा विध्यादिविकल्पेष्वाद्येषु षट्सु द्रव्यास्तिकेषु पर्यवशब्दो द्रव्यप्राधान्यात् तदर्थत्वेन व्याख्यातः तथेहाप्यारातीयेषूभयोभयविकल्पेषु द्रव्यशब्दः पर्यवप्राधान्यात्तदर्थत्वेन गमयितव्यः, अत आह–द्रव्यशब्दश्चैष षट्स्वपीत्यादि, द्रुर्गतिरिति, दु द्रु गतौ द्रुशब्दो गत्यर्थः तस्याः–गतेर्विकारे यत्प्रत्यये कृते द्रव्यमिति रूपं भवति, द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थः, स पुनस्तथातथा–तेन तेन प्रकारेणातीतोभयोभयादिविकल्पेषु नयेषु प्राग् व्याख्यातः यद्यद् दर्शनं–यथादर्शनं तेषां षण्णां स्वेन स्वेन दर्शनेन पर्यायार्थ एव स षड्विकल्पोऽपि, तथागतेः–तथातथा परितो गमनात्।

किमेतत् स्वाभिप्रायविवरणमात्रम्? आहोस्विदस्य दर्शनस्योपनिबन्धनमार्षमप्यस्तीत्यत्रोच्यते अस्तीदम्—

निबन्धनमस्य 'से किं तं भावक्खंधे! २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा–आगमतो अ, नो आगमतो अ, से किं तं आगमतो भावक्खंधे! २ जाणये उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावक्खंधे' (अनु० सू० ५४–५५) इति, आगमभावस्कन्धादेरुपयोगलक्षणस्य विज्ञानस्वरूपमात्रत्वात् सर्वमुपयोग एव, अयं नियमस्यापि क्षणिकवादस्य नियमः, तदपि क्षणिकं वस्तु विज्ञानमेवेति नियमनियमभङ्गो द्वादशः।

पर्यवा इत्याह–**पर्यव इति**। स पर्यवो भाव एव सर्वानुगत इत्याह–**स चेति**। एतन्नयाभिमतं भावमाह–**अर्थ इति,** शब्दो वा भवत्वर्थो वा सर्वं विज्ञानलक्षणमेव, तदेव विज्ञानं वाचकमपि वाच्यमपीति भावः। **भावोऽपीति,** पर्यवशब्दवाच्याभिमतोऽपि भावो भवतीति भाव इति व्युत्पत्त्या न घटपटादिर्द्रव्यगुणादिर्वा विवक्षितः किन्तु भाव एव–उपयोग एव ग्राह्य इति भावः। उपयोगप्रभेदानाह–**स च भाव इति। स चोपयोग एवेति,** विज्ञानरूप उपयोग एव साकारो वा स्यान्निराकारो वा स्यात् किन्तु प्रमाणप्रमाणाभासप्रत्यक्षपरोक्षादिप्रभेदशून्यो विशुद्ध एवेति भावः। नानाविधप्रभेदरहितविशुद्धविज्ञानमात्राभ्युपगमादेवायं नयः पर्यवास्तिकनयघटकैवम्भूतैकदेश उच्यत इत्याह–**तस्मादिति**। यथा षष्ठनयपर्यन्तभागे षण्णां विध्यादिनयानामपि पर्यवार्थिकनयत्वमुक्त्वा पर्यवशब्दस्य द्रव्यपरत्वं व्याख्यातं तथोभयोभयादिनयानामपि द्रव्यार्थिकनयत्वं द्रव्यशब्दस्य पर्यायपरत्वमुपपाद्य वक्तव्यमित्याह–**यथेति**। द्रव्यशब्दस्य पर्यायार्थतां दर्शयति–**द्रव्यशब्दश्चैष इति, पर्या**यार्थिकनयेषु प्रयुक्तद्रव्यार्थिकनयशब्दघटकद्रव्यशब्दश्चेत्यर्थः, द्रव्यशब्दार्थश्चात्र गतिविकारः, विकाराश्च पर्याया एव, उभयोभयादिनयेषूक्ताः स्वस्वदर्शनानुसारेण व्याख्याताश्च तत्र तत्र पर्यायशब्दाः, तेन तेन प्रकारेण गमनादिति भावः। विज्ञानमात्रवस्तुत्वोपवर्णनमत्र केवलं स्वाभिप्रायमात्रवर्णनरूपं न भवति, अस्य मूलभूतमागमवचनमप्यस्तीत्याह–**निबन्धनमस्येति**। आगमतो भावस्कन्ध

(निबन्धनमिति) निबन्धनमस्य 'से किं तं भावक्खंधे इति प्रश्नोपक्रमो ग्रन्थो यावत् 'सेत्तं आगमतो भावक्खंधे' (अनु० सू० ५४-५५) इति व्याकरणोपसंहारः आगमभावस्कन्धस्योपयोगलक्षणस्य विज्ञानस्वरूपमात्रत्वा[दा]दिग्रहणाच्छ्रुतमावश्यकं सामायिकमन्यद्वा-नामादिनिक्षेपानुक्रमेणाधिगमनीयं यत्किञ्चित् तत्सर्वमागमत उपयोग एव—ज्ञानमेवेत्यर्थः, अयं नियमस्यापि क्षणिकवादस्य—क्षणिकमेव वस्तु इत्यस्यापि दर्शनस्य नियमः—तदपि क्षणिकं वस्तु विज्ञानमेव—न रूपादि तद्व्यतिरिक्तं बाह्यमस्ति, किं तर्हि ? विज्ञानान्तर्विपरिणामविजृम्भितमात्रमेवेति, नियमनियमभङ्गो नामाऽऽदितो विधिभङ्गादारभ्य गण्यमानो द्वादशो भङ्गः ।

द्वादशारनयचक्रस्य श्रीमन्मल्लवादिकृतस्य टीकायां श्रीमत्सिंहसूरिगणिविरचितायां समाप्तः ॥

उपयोग उच्यते स च विज्ञानमात्रस्वरूप एवेत्याह-**आगमभावस्कन्धस्येति** । भावस्कन्धादेरित्यत्रादिग्रहणग्राह्याणामपि विज्ञानरूपत्वमाह-**आदिग्रहणादिति** । सर्वमागमत उपयोग एवेति योऽयं नियमोऽत्र क्रियते स नियमस्यापि-क्षणिकवस्तुवादस्यापि भवति, क्षणिकवस्तुवादाभिमतं क्षणिकं वस्त्वपि विज्ञानमेव, न ततो व्यतिरिक्तं रूपादीति दर्शयति-**अयं नियमस्यापीति** । उपसंहरति-**नियमनियमभङ्ग इति** ।

इति विजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य द्वादशो नियमनियमभङ्गः समाप्तः ॥



---

१ सि० क्ष० छा० डे० °व्यतेत्यर्थं निबं० । २ सि० क्ष० छा० डे० गम्यमाने ।

अथ द्वादशभङ्गस्यान्तरम्

विध्यादिसर्वभङ्गात्मकैकवृत्तिसम्यग्दर्शनाधिकारे प्रत्येकवृत्तिमिथ्यादर्शनत्वापादनार्थं प्रवृत्तत्वादाह—

एतदपि पूर्ववदेवैकान्तत्वादयुक्तम्, सम्भविविकल्पानुपपत्तेः, एवं सर्वं निःस्वभावमित्येवं ब्रुवतस्तव विज्ञानवचसोरपि सर्वान्तःपातित्वान्निःस्वभावत्वेऽप्रत्यायनप्रसङ्गात् परप्रत्यायनमयुक्तम्, विज्ञानवचसोर्निश्चितपक्षादित्वेनाभूतत्वादुन्मत्तप्रलापविज्ञानवत्, अथ मा भूदेष दोष इति सस्वभावे विज्ञानवचसी अभ्युपगच्छसि ज्ञानवचनस्वभावत्वाभ्युपगमेनाभ्युपगमविरोधः, इदानीं सस्वभावत्वाभ्युपगमादिति स्ववचनविरोधश्च ।

(एतदपीति) एतदपि पूर्ववदेवैकान्तत्वादयुक्तम्—यथा क्षणिकमेव रूपादिसमुदाय[1] एव सामान्यविशेषै[कत्वा]न्यत्वादीनीत्येकान्तवादानामयुक्तत्वमेकान्तत्वात्, युक्तत्वे वा जैनेन्द्रत्वम्, अनेकान्तप्रतिष्ठागतित्वाद्वेत्युक्तम्, तथैतदपि सर्वं निःस्वभावमिति मतम्, कस्मात्? सम्भविविकल्पानुपपत्तेः—अस्मिन्नपि मते ये विकल्पाः सम्भवन्ति संग्रहेण विज्ञानवचसोः नैःस्वाभाव्यं स्वाभाव्यं वेत्यनयोरेव भेदा वक्ष्यमाणास्ते सर्वथा नोपपद्यन्ते, तदनुपपत्तेरस्यापि मतस्यायुक्तिरतो[2] जिनकल्पितानेकान्तरूपत्वं वस्तुनः श्रेय [3]इत्युपसंहारो भविष्यति, तद्यथा एवं सर्वं निःस्वभावमिति ब्रुवतोऽतीतासिद्ध्यादिप्रकारेण तवेति प्रत्युच्चारणं प्रथमैवंशब्दात्, द्वितीयैवंशब्दाद्विज्ञानवचसोरपि त्वयोक्तयोः सर्वान्तःपातित्वादविशेष्य सर्वं

ननु विध्यादिनिखिलभङ्गात्मिकैका वृत्तिः सम्यग्दर्शनं प्रत्येकभङ्गवृत्तिस्तु मिथ्यादर्शनम्, तस्मान्नियमनियमभङ्गस्यापि मिथ्यादर्शनत्वमापाद्यमतो द्रव्यार्थनयाश्रयेण तदापादयितुमुपक्रमते—**एतदपीति,** एवन्तु गृह्यतां निःस्वभावमिदं सर्वमेतदतदाकारप्रकल्पनानुपातिविज्ञानत्वात् सुप्तोन्मत्तादिवदिति मतमपीत्यर्थः । अपिशब्दसमुच्चितं दर्शयति—**यथा क्षणिकमेवेति,** नियमोभयनये एकादशे क्षणे क्षणेऽत्यन्तभिन्नरूपाद्यसाधारणानिर्देश्यपरमार्थत्वं दशमे नियमविधावुत्पादादिनिरपेक्षं रूपरसाद्यत्यन्तविविक्तदेशभिन्नविशेषसमुदायमात्रं वस्तु, नियमनये नवमे सामान्यविशेषयोरेकत्वान्यत्वोभयत्वानुभयत्वान्यतरोभयप्रधानोपसर्जनपक्षाणां त्यागादवक्तव्यं वस्तु, इत्येवंवादा यथाऽयुक्ताः, एकान्तत्वात्तथा विज्ञानमात्रमेवेदं त्रिभुवनं त्रैधातुकं वा, न बाह्यं रूपादिवस्तु वर्त्ततेऽसिद्ध्यादिहेतुभ्यस्तेषां शून्यतासिद्धेरिति द्वादशोऽपि नियमनियमनयोऽयुक्तः, एकान्तत्वादिति भावः । यद्येषां वादानां युक्तत्वमिष्यते तर्हि वादानामेषां वस्तुवाद्युद्ग्राहत्वाज्जिनेन्द्रीयत्वं स्यात्, अनेकान्तप्रतिष्ठापनानुकूलोद्ग्राहत्वादित्याह—**युक्तत्वे वेति,** आर्हतीयत्वञ्च तत्र तत्र नयेषु योजितमेवेति भावः । एवं निःस्वभावमिदं सर्वमिति नियमनियममतमप्ययुक्तमित्याह—**तथैतदपीति** । हेतुमाह—**सम्भवीति,** सम्भविनो ये विकल्पाः तेषामनुपपत्तेरित्यर्थः, सर्वमिदं निःस्वभावमिति विज्ञानं निःस्वभावं सस्वभावं वा, सर्वमिदं निःस्वभावमिति वचनं निःस्वभावं सस्वभावं वेति विज्ञानवचनयोराश्रयेण द्वौ द्वौ विकल्पौ तथाऽनयोरेव विकल्पयोर्भेदभूता अग्रे वक्ष्यमाणा विकल्पाश्च नोपपद्यन्त इति मतस्यैतस्यायुक्तत्वमिति भावः । अस्याप्ययुक्तत्वे किंभूतं वस्तु स्यादित्यत्राह—**अतो जिनकल्पितेति** । एतन्मतस्यायुक्तितामादर्शयति—**तद्यथेति** । **प्रथमैवंशब्दादिति,** एवं सर्वं निःस्वभावमितीत्यत्र प्रथमोक्तैवंशब्दादुक्तासिद्ध्ययुक्त्यादिप्रकारेण सर्वं वस्तु निस्स्वभावमिति विज्ञानं प्रतिपाद्यते, द्वितीयैवंशब्दात्—एवं सर्वं निःस्वभावमित्येवं ब्रुवत इत्यत्रेतिशब्दसमभिव्याहृतैवंशब्दादित्याकारकानुपूर्वीं वदत इत्यर्थात् सर्वं निःस्वभावमिति वचनस्य

---

१ सि. क्ष. छा. °मेव । २ सि. क्ष. छा. °रेतो० । ३. सि. क्ष. इत्यपि सं ।

निःस्वभावमित्युक्तत्वात्, विज्ञानतत्त्वाच्चातिप्रसक्तविज्ञानवचसी निःस्वभावे इत्येतद्दूरमनिष्टञ्चैतद्विज्ञानवचसोरप्रत्यायनप्रसङ्गात्—यदा हि विज्ञानमसत् तदा निःस्वभावमिदं सर्वमित्यनिश्चितं स्वयमनिश्चित्यास्मान् प्रतिपिपादयिषतस्ते पक्षादिसाधनवचनासत्त्वञ्च, तस्मात् परप्रत्यायनमयुक्तम्, विज्ञानवचसोर्निश्चितपक्षादित्वेनाभूतत्वादुन्मत्तप्रलापविज्ञानवदिति निःस्वभावविकल्पो ज्ञानवचसोः सर्ववस्तुनैःस्वाभाव्यं व्यावर्त्तयतीति दोषः, अथ मा भूदित्यादि, एतद्दोषभयात् सस्वभावे विज्ञानवचसी त्वदीये एव[म]भ्युपगच्छसि सर्वं निःस्वभावमित्यस्याभ्युपगमस्य विरोध[:] केन ? ज्ञानवचनस्वभावत्वाभ्युपगमेनेत्यभ्युपगमविरोधः प्रतिज्ञादोषः, न केवलमभ्युपगमविरोध एव, ज्ञानविषयैवचसोऽपि पक्षादिलक्षणस्यै ते[न] सस्वभावत्वे यत् प्रागुक्तं तन्न तर्हि सर्वं निःस्वभावम्, इदानीं सस्वभावत्वाभ्युपगमादिति, स्ववचनविरोधश्च दोषः, इति शब्दस्य हेत्वर्थत्वात् ।

इत्थं साधनदूषणप्रतिपाद्यप्रतिपादनव्यवहारमार्गानुपातिनः सतस्तेऽनुमानलोकैविरोधा[व]पीत्यत आह—

एवञ्च घटाद्यपि सत्, व्यवहारवृत्तत्वात्, तद्वाक्यवत्, उभयविरोधादिविकल्पतस्तच्छून्यत्वे तु प्रत्यक्षादिविरोधाः, लोकविरोधस्तु सर्वलोकमवमत्य प्रवृत्तत्वात् ।

(**एवञ्चेति**) एवञ्च घटाद्यपि सदिति प्रतिज्ञायते, त्वां प्रत्यसिद्धत्वात् सर्वलोकप्रसिद्धमपि,

---

च लाभात् तयोरपि विज्ञानवचसोः सर्वान्तर्गतत्वम्, सर्वं निःस्वभावमित्यविशेष्य व्यावर्त्तनमविधायोक्तत्वादिति भावः । तयोः सर्वान्तःपातित्वादेव विज्ञानतत्त्वव्यतिरिक्ते विज्ञानवचसी निःस्वभावे न्याय्ये, तयोश्च निःस्वाभाव्येऽर्थप्रत्यायकत्वं न स्यादित्यनिष्टञ्च भवेदित्याह—**विज्ञानतत्त्वाच्चेति,** त्वदभ्युपगतविज्ञानतत्त्वात्तयोः रूपादिवदतिप्रसक्तत्वादित्यर्थः । अप्रत्यायनमेव तावदाह—**यदा हीति** सर्वनिःस्वभावताविषयविज्ञानस्य सर्वान्तर्गतत्वेन निःस्वभावत्वादसत्त्वेन त्वया सर्वं निःस्वभावमिति न निश्चितम्, स्वयमनिश्चिन्वानो भवान् कथमस्मान् प्रतिपिपादयिषति, तथापि स्वपक्षप्रतिपादनार्थं सर्वमिदं निःस्वभावमिति यदि ब्रूयात्, तदपि वचनं सर्वान्तःपातित्वेन निःस्वभावतयाऽसत्त्वादप्रत्यायकमेवेति परप्रत्यायनमसम्भवीति भावः । हेतुमाह—**विज्ञानवचसोरिति,** एतयोर्निःस्वभावत्वेन निश्चितपक्षादिविषयत्वेनाभूतत्वम्, उन्मत्तस्य वचनविज्ञानयोरिवेति भावः । अप्रत्यायकत्वे को दोष इत्यत्राह—**निःस्वभावविकल्प इति,** निःस्वभावमिदं सर्वमिति विज्ञानवचसोर्निःस्वभावता सर्वेषां वस्तूनां घटपटादिरूपादीनां निःस्वभावतां दूरीकरोतीत्येष दोष इति भावः । प्रोक्तदोषपरिहाराय विज्ञानवचनयोः सस्वभावत्वाभ्युपगमेऽनेनैवाभ्युपगमेन सर्वं निःस्वभावमित्यभ्युपगमस्य विरोधः, सर्वस्य निःस्वभावत्वाभावात् तव प्रतिज्ञायां विरोधः प्राप्त इत्याह—**एतद्दोषभयादिति ।** अभ्युपगममात्रमत्र न दोषोऽपि तु स्ववचनादिविरोधोऽपीत्याह—**न केवलमिति,** सर्वं निःस्वभावमिति सर्वनिःस्वभावताविषयकबोधजनकप्रतिज्ञावाक्यस्य पक्षादिलक्षणस्य सस्वभावत्वे सर्वं निःस्वभावमिति यत् प्राग्व्यावर्णितं तन्न स्यात्, इदानीं सस्वभावत्वाभ्युपगमात्, हेतोरस्मात् स्ववचनविरोध इति भावः । एवं सर्वनिःस्वभावतासाधनाय तद्व्यतिरिक्ताबाधनाय च साधनदूषणवाच्यवाचकादिव्यवहारमनुवर्त्तमानस्य तवानुमानलोकविरोधावपि स्त इत्याह—**एवञ्चेति,** विज्ञानवचसोः प्रागुक्तयोः सस्वभावत्वाभ्युपगमे चेत्यर्थः । ननु घटादीनां सत्त्वं लोकप्रसिद्धं तत् किमिति प्रतिज्ञायते सिद्धसाधनतापत्तेरित्याशङ्कायामाह—**त्वां प्रतीति ।** एवंशब्दाभिधेय-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. इत्येतद्दूरोनिष्टञ्चतद्वि० । २ सि. क्ष. डे. छा. विषयोवचसोऽपि । ३ सि. क्ष. डे. छा. °स्याते सस्व० । ४ सि. क्ष. छा. डे. लोकेविरोधापील्य ताह ।

अनन्तरोक्तसस्वभावत्वे विज्ञानवचसोरिति स्मारयत्येवंशब्दः, कस्मात् सद्घटादीति चेत् उच्यते—व्यवहारवृत्तत्वात् तद्वाक्यवत्—असिद्ध्ययुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनपक्षपरायत्तोभयविरोधादिविकल्पहेतुखपुष्पादिदृष्टान्तबुद्धिवचसां सस्वभावत्ववद्घटादीनां व्यवहारवृत्तानां सस्वभावत्वं स्यादिति, [उ]भयविरोधादिविकल्पत[ः], तच्छून्यत्वे[1] तु प्रत्यक्षादिविरोधाः—तस्य तस्य वचनस्य श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षस्य पक्षाद्यवयवविभागस्य[2] घटादिप्रतिपाद्यार्थसहितस्य तद्विज्ञानस्य च तव मम च स्वसंवेद्यस्य शून्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधाः सस्वभावमनिच्छतः, इच्छतोऽभ्युपगमस्ववचनविरोधावुक्तावेव[3], आदिग्रहणादनुमानागमविरोधौ, अर्हद्बुद्धकपिलकणादब्रह्मादिप्रोक्तैरागमैः सह विरोधित्वात्, लोकविरोधस्तु प्रसह्यैवोपात्तस्त्वया घटादयो बाह्यार्था ज्ञानवचने च सन्तीति प्रपन्नं सर्वलोकमवमत्य शून्याः सर्वभावा इति प्रवृत्तत्वात्, एवं ज्ञानवचनशून्याशून्यत्वयोरभ्युपगमविरोधादिसर्वदोषाः सामान्यत उक्ताः ।

दोषदिक्प्रदर्शनार्थं तयैव दिशाऽऽह—

सर्वशून्यवादगतपक्षधर्माद्यभावाच्च न साध्यः, विज्ञानाभ्युपगमाच्च पुरुष एवेदं सर्वं चतुरवस्थामात्रभेदमभिन्नमस्तीत्यभ्युपगतं भवति सतो विज्ञानलक्षणत्वात् तस्य च सर्वत्वात् सर्वमेव चेद्विज्ञानमात्रं स च पुरुष एव ज्ञः, तन्मयश्चेदमिति, ननु विज्ञानशब्देनोत्प्रेक्षामात्रमुच्यते, नार्थवत्त्वं विज्ञानस्य, स्वप्नमुदाहरद्भिः कल्पनामात्रत्वस्य प्रतिपादितत्वादिति, एतदप्ययुक्तम्, जागरितव्यतिरिक्तस्वप्नोदाहरणादेव विज्ञानमात्रत्वव्यावर्त्तनात् ।

(**सर्वेति**) सर्वशून्यवादगतपक्षधर्माद्यभावाच्च—न साध्योऽसिद्ध्यादिपक्षासिद्धौ परायत्तत्वादिहेतवो न सिद्ध्यन्त्येवा[4]नयोक्तदिशेति स्फुटत्वान्नात्राभिनिविशामहे[5], अपि च विज्ञानाभ्युपगमादित्यादि यावत्[6]

माह—**अनन्तरेति** । घटादीनां सत्त्वे साध्ये हेतुमाह—**व्यवहारवृत्तत्वादिति,** व्यवहारप्रवृत्तत्वादित्यर्थः । तद्वाक्यवदिति दृष्टान्तघटकतच्छब्दपरामृश्यमाह—**असिद्धीति,** असिद्ध्ययुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनानि निःस्वभावानि परायत्तत्वादुभयविरोधादिविकल्पात् खपुष्पादिवदिति योऽनुमानविकल्पो यच्च तथाविधं वचनं तदुभयोर्यथा सस्वभावत्वं तथा व्यवहारप्रवृत्तानां घटपटादीनामपि सस्वभावत्वं स्यादिति भावः । प्रोक्तहेतुबलेन पक्षहेतुदृष्टान्तादीनामुक्तानां शून्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने च प्रत्यक्षादिविरोधाः स्युः, तत्तद्वचनानां पक्षाद्यवयवप्रतिपादकानां श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षग्राह्यत्वादित्याह—**उभयविरोधादीति** । प्रत्यक्षादिविरोधमादर्शयति—**तस्य तस्येति,** सार्थकपक्षहेत्वादिवचनस्य तज्जन्यविज्ञानस्योभाभ्यां स्वसंवेद्यस्य शून्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने विरोध इति भावः । सस्वभावत्वेष्टौ तु सर्वं निःस्वभावमित्यभ्युपगमस्ववचनादिविरोधदोष इत्याह—**इच्छत इति** । एवमनुमानागमविरोधावपि स्त इत्याह—**आदिग्रहणादिति,** प्रत्यक्षादीत्यत्रादिग्रहणादित्यर्थः । आगमविरोधमादर्शयति—**अर्हदिति** । लोकविरोधमाह—**लोकेति,** सर्वो हि लोको घटादिबाह्यं वस्तु विज्ञानं वचनं च प्रतिपद्यते, तमिमं लोकमवमत्य त्वया प्रसह्यैव निःस्वभावो भावो गृहीतः सर्वभावानां शून्यत्वप्रतिपादने प्रवृत्तत्वादित्यर्थः । तदेवं विज्ञानस्य वचनस्य शून्यत्वे—निःस्वभावत्वे सर्ववस्तुनः स्वाभाव्यव्यावर्त्तनदोषः, अशून्यत्वे सस्वभावत्वे सर्वनिःस्वभावताभ्युपगमविरोधः स्ववचनविरोधोऽनुमानागमलोकविरोधश्च दोष इति सामान्यत उक्तमित्याह—**एवं ज्ञानवचनेति** । अथ दोषा विशेषेणोच्यन्ते—**सर्वशून्येति** । सर्वशून्यवादे पक्षधर्मादेरभावात् साध्यसिद्धिर्न भवति, असिद्ध्ययुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनानि पक्षतयाऽभिमतान्यसिद्धानि सर्वशून्यत्वादेव, परायत्तत्वादिहेतवोऽपि न सिद्ध्यन्ति, एवमेव दृष्टान्तादीनामपि असिद्धता स्फुटैवेत्याह—**सर्वेति** । विज्ञानमेवेदं सर्वमित्यभ्युपगच्छतस्तव परमतप्रवेशापत्तिरित्याह—**अपि चेति,** बाह्यवस्तुनोऽभाव-

१ सि. °तत्त्वन्यत्वे । २ सि. क्ष. छा. डे. विभाविभागस्य । ३ सि. क्ष. छा. डे. °युक्तं चैव आदि° । ४ सि. क्ष. छा. डे. सिद्ध्यन्ते वा । ५ सि. क्ष. छा. डे. निर्विशामहो । ६ सि. क्ष. छा. डे. यावेंसतो ।

सतो विज्ञानलक्षणत्वादिति त्वयैवाभ्युपग[त]मसिद्ध्यादिहेतुभिर्बाह्यार्थैनैःस्वाभाव्यमापाद्य विज्ञानमात्रमेवेदं सर्वं स्वप्नसिंहादिवत् जाग्रत्सिंहदर्शनपुत्रजन्मादिभयहर्षसुखदुःखादि विज्ञानमपीत्यतः सर्वस्य विज्ञानलक्षणस्यैव सत्त्वात् तस्य च सर्वत्वात् सर्वमेव चेत् विज्ञानमात्रं स च पुरुष एव ज्ञः, तन्मयश्चेदमतीतानागताभिमतमपि वर्त्तमानमेव, स्तिमितसरःसलिलतरङ्गबुद्बुदाद्यवस्थावत् सुप्त[सुषुप्त]जागरिततुरीयाख्यचतुरवस्थामात्रभेदमभिन्नमेवास्तीत्यभ्युपगतं भवति, यथोक्तं विधिविधिनयारभङ्गे प्राक् पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि, एतत् पुरुषसूक्तं व्याख्यातं तत्रैवेति न पुनर्विव्रियते, अत्राह—ननु विज्ञानशब्देनोत्प्रेक्षामात्रमुच्यते, नार्थवत्त्वं विज्ञानस्य, स्वप्नसिंहदर्शनभयादिवदित्युदाहृत्य कल्पनामात्रत्वस्य प्रतिपादितत्वाद्ग्राह्य[ा]भावः, ग्राह्याभावे ग्राहकत्वस्याभावः, यथोक्तं 'तदभावे तदप्यसत्' इति, प्रत्युच्चारणमेव तदर्थं यावत् स्वप्नमुदाहरद्भिरिति, अत्रोच्यते—एतदप्ययुक्तं जागरितव्यतिरिक्तस्वप्नोदाहरणादेव विज्ञानमात्रत्वव्यावर्त्तनात् सप्रतिपक्षत्वाच्च भावानां प्रमाणप्रमाणाभासत्व[व]त् साध्यदृष्टान्तभेदाभ्युपगमोऽवश्यम्भावी ।

यदि तन्मात्रं किं स्वप्नस्य जागरणाद्विशेषणं घटते? उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिव, प्रतिपाद्यमत्यपेक्षया इति चेन्न, उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् ।

यदि तन्मात्रं किमित्यादि, यदि विज्ञानमेव-स्वप्नोऽस्वप्नो न भवति तस्मिन् स्वप्ने सिंहदर्शनम-

---

मसिद्ध्ययुक्त्यादिभिरुपपाद्य सर्वमिदं विज्ञानमात्रमेव, जाग्रदवस्थायां सिंहदर्शनाद्भीतेः पुत्रजन्मादितो हर्षस्य सुखदुःखादेश्च विज्ञानस्य स्वप्ने सिंहदर्शनपुत्रजन्मादिभयहर्षादिसुखदुःखादिविज्ञानवत्कल्पनामात्रत्वादेवञ्च विज्ञानमेव सत्, एवञ्च यत् सत्तद्विज्ञानमिति विज्ञानव्याप्यत्वात् सत्त्वस्य सर्वं विज्ञानमेव, अन्यथा सत्त्वासम्भव एव स्यात्, एवञ्च सर्वं यदि विज्ञानमेव तर्हि ज्ञानमयः पुरुष एव ज्ञस्वभावो विज्ञानं भवेत् तन्मयश्चेदं-वर्त्तमानं, अतीतानागताभिमतमपि वर्त्तमानमेव, निश्चलकासारकीलालस्य तरङ्गबुद्बुदादेरवस्थाविशेषवत् तस्यैव पुरुषस्य सुप्तसुषुप्तजाग्रत्तुरीयाख्याश्चतस्रोऽवस्थाः तन्मात्रभेदभिन्नमभिन्नमेव विज्ञानाख्यं पुरुषतत्त्वमभ्युपगतं भवतीति भावः । पुरुष एवेदं सर्वमित्येतत् विधिविधिभङ्गे पुरुषवादे निरूपितं नेह पुनर्निरूप्यत इत्याह—**यथोक्तमिति** । ननु पुरुष एव सर्वमिदमित्यपि न युक्तमिदंशब्दवाच्यजाग्रदादिविज्ञानस्य कल्पनामात्रत्वस्योक्तत्वात्तत् केवलं विज्ञानशब्देनोत्प्रेक्ष्यते, यतस्तद्ग्राह्यस्य सिंहपुत्रभयहर्षादेर्निःस्वभावत्वेनासत्त्वात्तद्ग्राहकस्यापि तद्विज्ञानस्याभावात्, केवलं यदि स्वाप्नविज्ञानवत्तत् स्यात्तर्हि विज्ञानमेव स्यादित्युत्प्रेक्ष्यते, तस्मान्न पुरुषवादप्रसङ्गः तत्रावस्थावस्थावतोः सत्त्वादित्याशङ्कते—**ननु विज्ञानशब्देनेति** । **ग्राह्याभाव इति,** स्वव्यतिरिक्तस्य पृथिव्यादेर्ग्राह्यस्याभावोऽसिद्ध्यादिभिरुक्तः, सन्तानस्यापि ग्राह्यरूपेणाभावः, ग्राह्याकारशून्यं तदपेक्ष्य विज्ञानस्य विजानातीति विज्ञानमिति ग्राहकाकारता प्रकल्पिता यदा च ग्राह्यरूपेण सन्तानस्याभावस्तदा विज्ञानस्य यद्ग्राहकत्वं-ग्राहकाकारस्तच्छून्यत्वमेव न तु विज्ञानस्वलक्षणस्यापीति भावः । तत्र प्रमाणमाह—**तदभाव इति** ग्राह्यरूपेण ग्राह्याभावे तदपि ग्राहकत्वमपि ग्राहकाकारोऽपि ग्राहकाकारतया वा ग्राहकमप्यसदित्यर्थः । समाधत्ते—**एतदपीति,** यदि विज्ञानमेव सर्वं तर्हि स्वप्नस्योदाहरणत्वेनोपदर्शनमयुक्तं तस्यापि सर्वान्तर्गतत्वेन दृष्टान्तत्वासम्भवात्, पक्षाभिन्नत्वात्, यदि सर्वपदेन जाग्रद्विज्ञानमेव गृह्यते तर्हि तद्व्यतिरिक्तस्वप्नोदाहरणात् तत्रैव जाग्रद्विज्ञाने विज्ञानमात्रत्वं सेत्स्यति, स्वप्नस्य तद्व्यतिरिक्तत्वाद्विज्ञानमात्रतायाः व्यावृत्तिरिति भावः । ननु स्वप्नोऽपि विज्ञानमेवेत्यत्राह—**सप्रतिपक्षत्वाच्चेति,** भावमात्रं प्रतिपक्षव्याप्यम्, यथा प्रमाणं प्रतिपक्षभूतेन प्रमाणाभासेन भावोऽभावेन घटोऽघटेन साध्यं दृष्टान्तेन च व्याप्यमतो जाग्रतो विज्ञानत्वं स्वप्नस्य च तत्प्रतिपक्षत्वं विज्ञानाभासत्वमतो न विज्ञानमात्रतासिद्धिरिति भावः । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरयोर्विशिष्टता न स्यादित्याह—**यदि तन्मात्रमिति** । व्याचष्टे—**स्वप्न इति** । यदि विज्ञानमात्रमेव तर्हि स्वप्नजागरणयोर्भेदो न स्यात्, स्वप्नो हि जागरणादिरूपोऽस्वप्नो न भवतीति प्रसिद्धम्, यतः स्वप्नेऽसदेव सिंहदर्शनं भयहेतुर्भवति तस्माज्जागृतस्य पुरुषस्य स्वप्नसिंहदर्शनासत्त्वे भयमपगच्छति, तथा जाग्रत्सिंहदर्शनं सत्यमेव मृत्युनिमित्तं भवति जाग्रत्पुत्रदर्शनमपि सदेव प्रीतिहेतुर्भवति, जाग्रदपेक्षयाऽविशुद्धे स्वप्ने

सदेव भयनिमित्तम्, विशु[द्ध]स्य भयापगमोऽसत्त्वे स्वप्नसिंहस्य जाग्रत्सिंहदर्शनञ्च साक्षान्मृत्युनिमित्तं सत्यमेव प्रीतिहेतुश्च जाग्रत्पुत्रदर्शनं स्वप्ने तदपेक्षा[1]विशुद्धे प्रीत्यपगमात् नैतावित्यवगम्य जाग्रद्विज्ञानव्यतिरिक्त-स्वप्नोदाहरणं युज्यते, तत्तु त्वत्पक्षे स्वप्नस्य जागरणाद्विशेषणं न घटते, कस्मात्? उभयोरप्यभावतुल्यत्वात्, खपुष्पस्य वन्ध्यासुतादिव, प्रतिपाद्यमत्यपेक्षयेति चेत्—स्यान्मतं सा[2]ध्यदृष्टान्तयोः जागरणस्वप्नविज्ञानयोरर्था-भावतुल्यत्वं तथापि त्वत्प्रसिद्धाभावार्थेन स्वप्नेनैव जागरा[3]भावार्थत्वप्रतिपादनं सुकरं त्वन्मत्यनुवृत्त्या क्रियते, अयं हि प्रतिपाद्यस्य मतेरनुरोधः—उपायः प्रतिपादयितुमभावतुल्यत्वेऽपीत्येतच्च न उभयोरप्यभावतुल्यत्वात् मतेरप्यमतेर्भेदेन विशेषणं प्रतिपाद्यस्य प्रतिपादकादेरप्रतिपाद्याद्विशेषणमित्याद्यप्यभावतुल्यत्वान्न घ[टत] एव।

किञ्चान्यत् स्वप्नदृष्टान्तोऽपि—

खपुष्पव्युदसनेन च स्वप्नसिंहदर्शनवदिति वचनं घटते, स्वप्नदृष्टान्तव्याख्याने न च वृथाभयहर्षादिविशेषणमवृथाभयहर्षादिना विना ननु भवितुमर्हति, विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव, ततश्च सर्वं निःस्वभावमित्येतन्मिथ्या, निर्भेदश्च नास्तित्वं नास्त्येव, कुतश्चित्सतो वस्तुनो विशेष्य सदेव शक्यं वक्तुं नास्तीति न शून्यत्वं सर्वस्य, सत्त्वमेव तत्तथा, स्वप्नविज्ञान-सिंहादेरपि नास्तित्वमन्यास्तित्वं साधयति।

(**खपुष्पेति**) खपुष्पव्युदसनेन च स्वप्नसिंहदर्शनवदिति वचनं घटते-खपुष्पं न भवति सिंह इति, स्वप्नदृष्टान्तव्याख्याने न च वृथाभयहर्षादिविशेषणमवृथाभयहर्षादिना विना[ननु]भवितुमर्हति, नन्वित्यनुज्ञापयति, किञ्चान्यत्—विज्ञानविषया चास्तिता ननु स्थितैव—विज्ञानमात्रमिति ब्रुवता विज्ञानास्ति-

---

तु प्रीत्यपगमः जाग्रत्पुत्रदर्शनासत्त्वे इति न भयहेतुप्रीतिहेतू इति भेदं विज्ञायैव जाग्रद्विज्ञाने स्वप्नोदाहरणं युज्यते कर्त्तुम्, विज्ञानमात्रपक्षे तूभयोः स्वप्नजागरयोः कल्पनामात्रत्वेनाभावतुल्यत्वाद्यथा खपुष्पस्य वन्ध्यासुताद्विलक्षणता न घटते तथा स्वप्नस्य जागरणाद्भेदो न घटत इति भावः। **सिंहदर्शनमिति,** स्वप्ने प्रतिभासमानमसत्सिंहदर्शनं भयहेतुस्तस्माज्जागृतस्य तत्सिंहदर्शना-पगमात् भयापगमः, जाग्रद्दशायाञ्च सदेव सिंहदर्शनं मृत्युहेतुः पुत्रदर्शनं प्रीतिहेतुः जागरणात् स्वप्ने यदा जीवो याति तदा जाग्रत्सिंहपुत्रदर्शनयोरभावेन भयप्रीत्योरपगमो भवतीति विशेषः। शङ्कते-**प्रतिपाद्येति,** विज्ञानवादी प्रतिपादकः, द्रव्यवादी प्रतिपाद्यः, यद्यपि प्रतिपादकस्य मे मतिर्जाग्रत्स्वप्नदर्शने कल्पनामात्रत्वादभावतुल्ये इति, तथापि प्रतिपाद्यस्य जाग्रद्दर्शनं सद्विषयं सत् स्वप्नदर्शनमसद्विषयमसदिति मतिः, तन्मतिं प्रसिद्धाभावार्थस्वप्नविषयिणीमनुसृत्य जाग्रति मयाऽभावार्थत्वं प्रतिपाद्यते, वस्तुतस्तयोर-भावतुल्यत्वेऽपि प्रतिपाद्यमतेरेव प्रतिपादने उपायत्वादिति भावः। एवमेव व्याचष्टे-**स्यान्मतमिति**। प्रतिपाद्यमतेः कारणत्व-माह-**अयं हीति**। प्रतिपाद्यमत्यपेक्षयेति त्वया वक्तुं न शक्यते, प्रतिपादकात् प्रतिपाद्यस्यामतेश्च मतेर्भेदाभावात्, प्रतिपाद्यप्रति-पादकमत्यमतीनां कल्पनामात्रतयाऽभावतुल्यत्वादित्युत्तरयति-**उभयोरपीति,** प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्मत्यमत्योरपीत्यर्थः। स्वप्नदृष्टा-न्तोऽप्यत्यन्तासतो व्युदासे सति युज्यत इत्याह-**खपुष्पेति**। व्याचष्टे-**खपुष्पं नेति,** सिंहः खपुष्पं न भवतीति खपुष्प-व्युदासेन सिंहदर्शनं स्वप्ने यदि स्यात्तदैव स्वप्नदृष्टान्तो घटते, अन्यथाऽत्यन्तासद्विषयत्वाद्धर्षभयादिनिमित्तं सिंहादिर्न स्यादिति भावः। स्वप्नदृष्टान्तस्य यद्व्याख्यानं कृतं तदपि यथार्थभयहर्षादिना विना वृथाभयहर्षादेरसम्भवेन सत्येव प्रतिपक्षे युज्यत इत्याह-**स्वप्न-दृष्टान्तेति**। सर्वं निःस्वभावमिति यदुच्यते त्वया तदप्यसत्, विज्ञानमात्रं वस्त्विति ब्रुवता विज्ञानस्यास्तित्वस्वभावस्य स्वीकृतत्वा-दित्याह-**विज्ञानविषया चेति,** विज्ञानसत्त्वाभ्युपगमात् सस्वभावं विज्ञानमिति सिद्धम्, तथा च सर्वं निःस्वभावमित्यसज्जल्पनं

---

१ सि. क्ष. छा. डे. तदपेक्षं विशुद्धे। २ सि. क्ष. छा. डे. भाव्यदृष्टा०। ३ सि. क्ष. छा. डे. जागराणां भावार्थं०। ४ सि. क्ष. डे. छा. क्रियाव अयं।

त्वमभ्युपगतमेव त्वया, ततश्च सर्वं निःस्वभावमित्येतन्मिथ्या, किञ्च–निर्भेदश्च नास्तित्वं नास्त्येव, कुतश्चित् सतो वस्तुनो विशेष्य सदेव शक्यं वक्तुं नास्तीति खस्य पुष्पं नास्ति, नाशोकस्येति नाविशेष्य, तस्मान्न शून्यत्वं सर्वस्य, सर्वमिति सत्त्वमेव तत् तथा-तेन प्रकारेण, स्वप्नविज्ञानसिंहादेरपि नास्तित्वमन्यास्तित्वं साधयतीति ।

अथोच्येत विज्ञानास्तित्वमपि कः प्रतिपद्यते ? कल्पनामात्रत्वात्, विज्ञानाद्धि विज्ञानम्, तद्विज्ञेयाभावे कुतः ? स्वप्ने तत्कारणविज्ञेयस्याभावाद्विबुद्धेऽप्येवमेव ।

अथोच्येतेत्यादि, विज्ञानास्तित्वमपि[1] कः प्रतिपद्यते ? कल्पनामात्रत्वात्–असिद्ध्यादिहेतुभ्य एव स्वप्नवन्नास्ति विज्ञानमपि, विजानातीति हि विज्ञानं स्यात्, सा च विज्ञानक्रिया कर्तृत्वं वा विज्ञानस्य नास्ति, विज्ञेयकर्माभावात्, स्वप्ने तत्प्रदर्शयन्नाह–विज्ञानाद्विज्ञानं[3] तद्विज्ञेयाभावे कुतः, ?–तद्विजानातीति विज्ञानस्य विज्ञानत्वं स्यात् तद्विज्ञेये कर्मण्यसति कुतः ? नास्ति कुतश्चित् कारणात्, स्वप्ने तत्कारणविज्ञेयस्याभावाद्विबुद्धेऽप्येवमेवेति–जाग्रद्विज्ञानस्यापि स्वप्नविज्ञानवद्विज्ञेयाभावे विज्ञानत्वाभावात् का विज्ञानास्तित्वाशा ? इति ।

अत्रोच्यते–

एवमपि विज्ञानविज्ञेयाविज्ञानाविज्ञेयज्ञानवचनविशेषणभेदाभ्युपगमात् सद्वाद एवाभ्युपगतोऽत्र त्वया, नो चेदभावाविशेषात्तूष्णीम्भावस्ते समाश्रयणीयः स्यात्, तथाऽविज्ञानाभावादिषु च नञः का गतिः ? किं प्रागादिविशेषेण नास्तीति ? उताविशेषेणैवेति ? तत्र यदि विशे-

स्यात्, सर्वान्तःपातिविज्ञानस्य निःस्वभावत्वाभावादिति भावः । एवं सर्वेषां शून्यत्वं–नास्तित्वं वक्तुमशक्यं निर्भेदनास्तिताया अभावात्–निष्प्रतियोगिकनास्तिताया अप्रसिद्धत्वादित्याह–**निर्भेदश्चेति,** निर्गतो भेदो–विशेषो यस्मात्तन्निर्भेदं निर्विशिष्टमित्यर्थः । तर्हि कीदृशं नास्तित्वमस्तीत्यत्राह–**कुतश्चिदिति,** कस्माच्चित् सद्भूताद्वस्तुनः कुटजकेतक्यादेर्विशेष्य पृथक्कृत्य सदेव पुष्पादि नास्तीति वक्तुं शक्यं खस्य पुष्पं नास्तीति न त्वाम्रस्य पुष्पं नास्तीति, अन्यस्य कस्यापि पुष्पेण भवितव्यं तदेव पुष्पममुकस्य नास्तीति वक्तुं शक्यं न त्वप्रसिद्धौ सत्याम्, एवञ्च कथं सर्वस्य शून्यत्वम् ? निष्प्रतियोगिकत्वात्, कस्याप्यस्तित्वाभावाच्च, अस्तित्वमेव सर्वस्य, नास्तित्वव्यावर्त्याभावात् सर्वस्य नास्तित्वासिद्धेरिति भावः । एवं स्वप्नसिंहादेर्नास्तित्वमपि व्यावर्त्यमन्यस्य सत्त्वं साधयति, अन्यथाऽस्तित्वव्यावृत्तेः कर्तुमशक्यत्वादित्याह–**स्वप्नेति** । ननु वयं विज्ञानस्याप्यस्तित्वं नाभ्युपगच्छामः, उत्प्रेक्षामात्रत्वात्, तस्माद्यथाऽसिद्ध्यादिहेतुभ्यः स्वप्नविज्ञानं नास्ति तथा विज्ञानमपि नास्तीति सर्वनिःस्वभावता ध्रुवैवेत्याह–**अथोच्येतेति** । व्याचष्टे–**विज्ञानास्तित्वमपीति** । विजानातीति हि विज्ञानम्, विज्ञानक्रियातत्कर्तृत्वाभ्यां विज्ञानस्य विज्ञानता स्यात्, ते अपि विज्ञेये कर्मणि सत्येव, एवञ्चासिद्ध्यादिभ्यो विज्ञेयकर्माभावे ते कुतः स्तः ? तदभावाच्च कुतो वा विज्ञानम् ? यत्र यत्र विज्ञानता तत्र तत्र विज्ञानक्रियातत्कर्तृत्वे, यत्र च विज्ञानक्रियातत्कर्तृत्वाभावस्तत्र विज्ञानताभाव इति व्याप्तिं स्वप्नदृष्टान्ते प्रदर्शयति–**विज्ञानाद्विज्ञानमिति,** विजानातीति विज्ञानं, कर्तरि ल्युट्प्रत्ययः, विजानातीति विज्ञानं स्यादित्यर्थः, तद्विज्ञानमसति विज्ञेये कुतः स्यात्, विज्ञानक्रियातत्कर्तृत्वाभावादिति भावः । नास्ति विज्ञानस्य विज्ञानत्वं कुतश्चित्कारणादित्याह–**नास्तीति** । स्वप्ने यथा विज्ञानकारणीभूतविज्ञेयस्याभावात् स्वप्नस्य न विज्ञानत्वं तथैव जाग्रद्विज्ञानस्यापि विज्ञेयाभावात् विज्ञानत्वं न भवतीति विज्ञानस्यास्तित्वमसिद्धमेवेत्याह–**स्वप्ने तत्कारणेति** । नन्वेवं विज्ञानस्य नास्तित्वं प्रतिपत्तुं न शक्यते, अत्र हि त्वया सद्वादोऽभ्युपगत इति

१ सि. क्ष. छा. डे. खपुष्पस्य पुष्पं । २ सि. क्ष. छा. डे. विज्ञाननास्ति० । ३ सि. क्ष. डे. विज्ञानाद्विज्ञानत-द्विज्ञेया० ।

षेण नास्तीत्युच्यते प्राक्पश्चादितरेतरासामर्थ्यासंयोगेभ्यः ततो ननु निर्वृत्ताध्वस्ततत्समर्थबहिःसम्बन्धास्तित्वमेव घटादेः प्रसज्यते ।

एवमपीत्यादि, विजानातीति विज्ञानमित्यविज्ञानात् स्वप्नो[1]ज्जाग्रद्विज्ञानं विशेष्यते त्वयैव, [अ]विज्ञानमिति च स्वप्नो जाग्रद्विज्ञानात्, तथा विज्ञेयमित्यविज्ञेयात् स्वप्नविषयादर्थाभासाज्जाग्रद्विषयो रूपादि, अर्थं जाग्रद्विषयाच्च विज्ञेयादविज्ञेयमिति स्वप्नविषयं वस्तु, तच्च भेदेनाभ्युपगम्यते ज्ञानवचनविषयतया सद्वाद एवाभ्युपगतोऽत्र त्वया, नो चेन्[2] विज्ञानविज्ञेयाविज्ञानाविज्ञेयज्ञानवचनविशेषणभेदा[3]भावादभावाविशेषात्तूष्णीम्भावस्ते समाश्रयणीयः स्यात्, किञ्चान्यत्—तथाविज्ञानेत्यादि, विज्ञानमपि[न] विज्ञानं भवति, भावो भावो न भवतीत्यादिषु नञः का गतिः? विचार्य त्वया वाच्यम्, किमत्र निश्चितं सत्त्वमसत्त्वं वा विज्ञानादेः? किं प्रागादिविशेषेण नास्तीति? उताविशेषेणैवेति निर्धार्य ब्रूहि, तत्र यदि [4]विशेषे[ण] नास्तीत्युच्यते ततः प्राक्पश्चादितरेतरासामर्थ्यासंयोगेभ्यः यथा घटः प्राङ् नास्ति मृदाद्यवस्थायां, पश्चात् कपालत्वे, इतरेतरतया पटत्वे, असामर्थ्ये छिद्रबुध्नत्वे, असंयोगे गेहे नास्तीति ततो यथासंख्यं ननु निर्वृत्तेत्यादि, प्रागभावे निर्वृत्तोऽस्तीति तं विशेषयति, पश्चादभावेऽप्यध्वस्तोऽस्तीति, इतरेतराभावे सोऽस्ति, सामर्थ्याभावे समर्थोऽस्ति गेहसंयोगाभावे बहिःसंयोगोऽस्तीति, तस्मादस्तित्वमेव घटस्य नञ् विशेषयति ।

अथोच्येत नैवास्तीत्यविशेष्य वन्ध्यापुत्रादिवदुच्यते, अथ कथं पुनर्वन्ध्यापुत्रनास्तित्वमपि? यदि न विषयो, निर्वृत्त्यादिसत्प्रागभावादिस्वभावेषु न संभवेत् सम्भवति तु स्वयं

समाधत्ते—**एवमपीति** । सद्वादाभ्युपगमं स्फुटयति—**विजानातीतीति,** अविज्ञानरूपात् स्वप्नात् जाग्रद्विज्ञानं विजानातीति कृत्वा त्वया विज्ञानमुच्यते जाग्रद्विज्ञानाच्च स्वप्नविज्ञानं न विजानातीति कृत्वाऽविज्ञानमित्युच्यते, स्वप्नस्य जागरात्, जागरस्य स्वप्नाच्च विशेष्यते, एवं जाग्रद्विज्ञानविज्ञेयरूपादेः स्वप्नविषयोऽविज्ञेय इति स्वप्नविषयाविज्ञेयाज्जाग्रद्विषयो रूपादिर्विज्ञेय इति विशेष्यते, एवञ्च विज्ञानमविज्ञानं विज्ञेयोऽविज्ञेयश्च भेदेनाभ्युपगतः, तथा चेदशविज्ञानविषयतया तथाविधवचनविषयतया च सद्वाद एवाभ्युपगतस्त्वयेति भावः । इत्थं भेदेन त्वया यदि नाभ्युपगम्यते तर्ह्येषां ज्ञानवचनाभ्यां विशिष्यमाणानां विज्ञानविज्ञेयाविज्ञानाविज्ञेयानां भेदाभावादभावाविशेषात्त्वया तूष्णीम्भाव एव समाश्रयणीयः स्यादित्याह—**नो चेदिति** । ननु विज्ञानं विज्ञानं न भवति भावो भावो न भवतीत्यादौ किं नञा सविशेषमस्तित्वं विज्ञानादेर्विशेष्यते? निर्विशेषमस्तित्वं वा विशेष्यते? इत्यनुयुज्यते—**विज्ञानमपीति** । विज्ञानं विज्ञानं न भवतीत्यादौ नञा किं विज्ञानादेः सत्त्वं निश्चितमसत्त्वं वा, सविशेषसत्त्वव्यावर्त्तने सत्त्वं निश्चितं भवति, निर्विशेषसत्त्वव्यावर्त्तनेऽत्यन्तासत्त्वं निश्चितं भवतीत्याशयेन पृच्छति—**किमत्र निश्चितमिति** । आशयमेव व्यनक्ति—**किं प्रागादीति,** प्राक् पश्चात्, इतरेतरतया, असामर्थ्यात् असंयोगादस्तित्वस्य निषेधः क्रियते किं वास्तित्वमात्रनिषेध इति प्रश्नार्थः । सविशेषनास्तित्वमुदाहृत्य दोषमाह—**तत्र यदीति,** मृदवस्थायां घटादेरस्तित्वनिषेधः प्राङ्नास्तित्वम्, कपाले घटास्तित्वनिषेधः पश्चान्नास्तित्वं पटादौ घटास्तित्वनिषेधः इतरेतरनास्तित्वम्, छिद्रबुध्नादौ घटसत्त्वनिषेधोऽसमर्थनास्तित्वं गृहादौ घटास्तित्वनिषेधोऽसंयोगनास्तित्वमेभ्यो निषेधेभ्यो यथासंख्यं घटः प्राङ् नास्तीत्युक्तौ निर्वृत्तोऽस्तीति, पश्चान्नास्तीत्युक्तावध्वस्तोऽस्तीति, इतरः स न भवतीत्युक्तौ सोऽस्तीति, असमर्थे नास्तीत्युक्तौ समर्थेऽस्तीति, असंयुक्ते नास्तीत्युक्तौ संयुक्ते बाह्यदेशेऽस्तीति च प्रसज्यते, तत्तदस्तित्वानामेव नञा विशेषणादिति भावः । दृष्टान्तयति—**यथेति** । अस्तित्वप्रसङ्गमाह—**ततो यथासंख्यमिति** । अथ निर्विशेषसत्त्वव्यावर्त्तनं नञा क्रियत इति पक्षं निराकर्त्तुमाह—**अथोच्येतेति** । प्रोक्तनिर्वृत्तास्तित्वादिप्रसङ्गनिवारणाय प्रागादिविशेषपरित्यागेन

---

१ × × क्ष. छा. । २ सि. °पगत्रोत्रत्वनोत्वेद्विज्ञा° क्ष. छा. डे. °पगमत्रोत्रत्वनोचेद्विज्ञा° । ३ सि. क्ष. छा. डे. °भेदासादभावाविशेषा° । ४ सि. क्ष. छा. डे. विशेषना° ।

भवितृत्वेन तत्र चेतनस्यानाद्यनन्तकर्मपरिवर्त्तानुभाव्यनाद्यनन्तभवेषु स्वजात्यपरित्यागेनेतरद्रव्यवदन्यथाभवतो मनुष्यस्त्रीवन्ध्यात्वाभ्यां प्रत्यावृत्त्य जन्मान्तरे मनुष्यस्त्रीत्वोत्पत्तौ पुत्रवत्त्वे द्रव्यार्थभेदाद्वन्ध्या पुत्रवती जायते ।

अथोच्येत नैवेत्यादि, अथ मा भूदेव निर्वृत्तास्तित्वादिप्रसङ्ग इत्यविशेष्य नास्ति न भवतीत्यादिपर्यायैरसिद्ध्यादिहेतुभ्यो वन्ध्यापुत्रादिवदविशेषा[द]त्यन्तं नास्तीत्युच्यते, एवं त्वं मन्यसे, अत्रापि ब्रूमः—अथ कथं पुनरित्यादि, वन्ध्यापुत्रनास्तित्वमप्यत्यन्ताभावाभिमतमसिद्धमतो निर्वृत्ताध्वस्ततत्सामर्थ्यसम्बन्धप्रमाणादिविशेष[वाचकानां]प्रतिषेधवाचिनैव नञा सामानाधिकरण्याद्भवत्येवेति वयं सम्भावयामः, यदि न विषय इत्यादि—यदि वन्ध्यापुत्रोऽत्यन्ताभावः स्यात् निर्वृत्त्यादिसत्प्रागभावादिस्वभावेषु न सम्भवेत्, सम्भवति तु स्वयं भवितृत्वेन, तस्मान्नात्यन्ताभावः, किं तर्हि ? सम्भवत्येवास्य[1] निर्वृत्त्यादिभवितृत्वभावार्थेषु, तद्यथा—भवच्च तत्सम्भाव्यते, द्रव्यं चेतनमचेतनञ्च द्विविधम्, तत्र चेतनस्येत्यादि, इदं हि चेतनमात्मद्रव्यमनाद्यनन्तभवेषु भवितुमुत्सहते, कुतः ? कर्मपरिवर्त्तान्यथात्वात्, अनाद्यनन्तकर्मबन्धसन्तानस्य विपरिवर्त्ताः तिर्यङ्नरक[नर]ामरभवाः, ते चानाद्यनन्ता भवशीला एव स्वजात्यपरित्यागेनान्यथाभवन्तः, इतरद्रव्यवत्—पुद्गलद्रव्यवत्[2], यथा पुद्गलद्रव्यं रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणमूर्त्ताचैतन्यापरित्यागेन भूम्युदकवह्निपवनवनस्पतित्रसशरीरिशरीरशीतोष्णतमश्छायातपोद्योतादिपरिवर्त्तैर्[3]अन्यथा

केवलमस्तित्वसामान्याभावभवनसामान्याभावादिपर्यायैर्विज्ञानभावावसिद्ध्यादिहेतुभिरुच्येते, तथा च वन्ध्यापुत्रादीनामत्यन्ताभाववदत्यन्तनास्तित्वं विज्ञानभावयोरुच्यत इत्याह—**अथ मा भूदेवेति** । वन्ध्यापुत्रादीनामप्यत्यन्तं नास्तित्वं नास्त्येव, तथा च प्रागादिविशेषणविशिष्टास्तित्वादीनामेव नञा व्यावर्त्तनात् निर्वृत्तास्तित्वादिसिद्धिरेवेत्युत्तरयति—**अथ कथमिति**, वन्ध्यापुत्रस्यात्यन्ताभावाभिमतं नास्तित्वमसिद्धम्, निर्वृत्ताध्वस्तादिसत्त्ववाचकास्तिपदं प्रतिषेधवाचिना नञा समानाधिकरणं भवतीति विज्ञानादयो भवन्त्येव यथा निर्वृत्तो घटः प्राङ् नास्तीति नास्तिपदेन निर्वृत्तघटसत्त्वसमानाधिकरणेन तदेव बोधयतीति वन्ध्यापुत्रोऽपि भवत्येवेति वयं सम्भावयाम इति भावः । यदि वन्ध्यापुत्रस्यास्तित्वं निर्वृत्ताध्वस्ताद्यस्तित्वप्रतिषेधविषयो न स्यात् सत्त्वसामान्यप्रतिषेधविषय एव स्यात् तर्हि निर्वृत्ताध्वस्तादिसत्त्वप्रतिषेधस्वभावेषु न सम्भवेत्, सम्भवति च स्वयं भवितृत्वेन निर्वृत्ताध्वस्तादिसत्त्वप्रतिषेधविषय इत्याह—**यदि न विषय इत्यादीति** वन्ध्यापुत्रो नास्तीति प्रत्यय इतरेतरसत्त्वप्रतिषेधविषय एव, स्वयं भवितृत्वात् नात्यन्ताभावविषय इति भावः । **सम्भवत्येवेति**, वन्ध्यापुत्रस्यास्तित्वं निर्वृत्तास्तित्वाध्वस्तास्तित्वादिभवितृत्वरूपभावार्थेषु सम्भवत्येवेत्यर्थः । अस्य भवितृस्वभावतामेवादर्शयति—**तद्यथेति**, वन्ध्यापुत्रास्तित्वं भवेदिति सम्भाव्यते, द्रव्यं हि चेतनाचेतनभेदेन द्विविधम्, उभयमपि चानाद्यनन्तपरिवर्त्तानुभवति, यतो हि चेतनद्रव्यमनाद्यनन्तकर्मबन्धपरिवर्तनाच्चतुर्गतिषु चेतनत्वापरित्यागेनान्यथाऽन्यथा भवतीति भावः । अन्यथाभवनमाह—**इदं हीति**, चेतनमिदमनाद्यनन्तभवेषु भवितुमुत्सहत इति पक्षः, कर्मपरिवर्त्तान्यथात्वात् हेतुरयम्, इतरद्रव्यवदिति दृष्टान्तः, कर्मणां परिवर्त्ताः परिणामाः, अन्यथाभावोऽन्यथात्वं नानाप्रकारेण भवनम्, कर्मपरिवर्त्तानामन्यथात्वं तस्मादिति विग्रहः, तिर्यङ्नरकनरामरभवाः कर्मणां नानाविधाः परिणामाः, अनाद्यनन्तकर्मप्रवाहबद्धो हि चेतनः कर्मपरिणामभूतेषु तिर्यङ्नरकनरामरभवेषु एकेन्द्रियादिनारकादिमनुष्यस्त्रीपुरुषादिसुरभवनपत्यादिरूपेण चेतनत्वापरित्यागेनान्यथाऽन्यथा भवतीति भावः । दृष्टान्तमाह—**इतरद्रव्यवदिति**, चेतनेतरद्रव्यवत्—पुद्गलद्रव्यवदित्यर्थः । दृष्टान्तं घटयति—**यथेति**, पुद्गलद्रव्यं स्वजात्यपरित्यागेन—स्वस्य जातिः मूर्त्तत्वमचेतनत्वं च मूर्त्तत्वञ्च रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणम्, तदजहदेव त्रसस्थावरप्राणिशरीररूपं शीतोष्णतमश्छायाऽऽतपोद्योतादिपरिवर्त्तञ्चानुभवतीति भावः । दार्ष्टान्तिकं

१ सि. क्ष. छा. डे. सम्भवेत्येवास्य न निर्वृत्त्यादि भवितृत्वभा० । २ सि. क्ष. छा. डे. पुद्गलस्य द्र० । ३ × × क्ष. छा. ।

तथा चानुभवति तथा चेतनात्म[नः] कर्मपरिवर्त्तानुभाविमनुष्यस्त्रीवन्ध्यात्वाभ्यां प्रत्यावृत्य जन्मान्तरे मनुष्यत्वोत्पत्तौ स्त्रीत्वोत्पत्तौ वा पुत्रवत्त्वे द्रव्यार्थ[ा]भेदात् सैव वन्ध्या पुत्रवती जायत इति ।

अत्र वन्ध्यापुत्र इत्येनमर्थं दण्डकेन दर्शयति—

अनन्तरभववन्ध्याभावानतिरिक्तत्वात् सकर्मा चेतनोऽवन्ध्यात्वेऽपि तद्वत् बालकुमारवद्वा एक एव, अनाद्यनन्तकर्मप्रबन्धात्मकत्वात् ।

- **अनन्तरभववन्ध्ये**त्यादिना यावत् प्रबन्धात्मकत्वात्, अवन्ध्यात्वेऽपि कस्मात्? तद्भावानतिरिक्तत्वात्—तस्मात् पूर्वस्माद्भावादनतिरिक्तः सकर्मा चेतनः, तद्वत्—पूर्ववन्ध्यात्ववत् पुत्रवत्त्वपर्यायसम्भूतावपि, बालकुमारवद्वेति दृष्टान्तान्तरं लोकसिद्धं—यथा बालः कुमारो युवेत्यादिपर्यायेष्वपि स एव भवति तथा वन्ध्यापुत्रवत्त्वावस्थयोरेक एव जीव इति, एवं तावच्चेतनस्यानाद्यनन्तभवभावित्वात् तद्भावानतिरिक्तत्वाच्च तत्त्वे वन्ध्यापुत्रास्तित्वमुक्तम् ।

अचेतनस्यापि ब्रूमः, तद्यथा—

वन्ध्याशरीरगतानां पुद्गलानामुत्सृष्टानां मृत्त्वव्रीह्यादित्वसम्भूतौ वन्ध्यया स्त्रिया पुंसा वाऽऽहारितानां पुत्रत्वेनोत्पत्तावपि वन्ध्यापुत्रास्तित्वमविरुद्धम्, तदन्योऽन्यानुगतिमन्तरेण तदभावात्तत्स्यैव तदेव वा, शरीरारम्भवत्, तस्मात् सर्वमिदं सर्वस्वभावमशून्यमुत्पत्तिस्थितिविनाशसहितमेकमनेकात्मकं स्वपरोभयतोऽस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम्, उक्तन्यायात् ।

(**वन्ध्येति**) वन्ध्याशरीरगतानां पुद्गलानामुत्सृष्टानां—केशनखदन्तमूत्रशकृत्स्वेदरसरुधिरमांसादीनां मृत्त्वव्रीह्यादित्वसम्भूतौ वन्ध्यया स्त्रिया पुंसा वाऽऽहारितानां रक्तशुक्रत्वादिभावेन चोपात्तानां पुत्रत्वेनोत्पत्तावपि वन्ध्यापुत्रास्तित्वम्, तद्भावानतिरिक्तत्वात्, अनाद्यनन्तविपरिवर्त्तान्यथात्वादित्यादिना

घटयति—**तथा चेतनात्मन इति,** एवं चेतनोऽपि कर्मणां परिवर्त्ताननुभवन् मनुष्यभवे स्त्रीत्वेन वन्ध्यात्वेन च भवन् पुनस्तत्परित्यज्य जन्मान्तरे मनुष्यभव एव स्त्रीत्वेनोत्पद्य यदा पुत्रवान् भवति तदा वन्ध्यात्वपुत्रवत्त्वपर्यायानुभाविचेतनस्य द्रव्यार्थाभेदेनैकत्वात् वन्ध्याभावमापन्नश्चेतन एव पुत्रवान् जात इति वन्ध्यापुत्रास्तित्वं सम्भाव्यत इति भावः । द्रव्यार्थाभेदाद्वन्ध्या पुत्रवती जायत इत्येनमर्थमेव प्रकाशयति—**अनन्तरभवेति,** अव्यवहितपूर्वभवेत्यर्थः । व्याचष्टे—**अवन्ध्यात्वेऽपीति,** पुत्रवत्त्वपर्यायेऽपीत्यर्थः । अनन्तरभवे—पुत्रवत्त्वपर्यायानुभाविभवात् पूर्वस्मिन् भवे यो भावः—पर्यायो वन्ध्यात्वरूपः तदनतिरिक्तत्वाच्चेतनपूर्ववंध्यात्वपर्यायसम्भूतिवत् यूनि चेतने पूर्वबाल्यकौमारपर्यायसम्भूतिवद्वा पुत्रवत्त्वपर्यायसम्भूतावपि द्वयोरप्यवस्थापर्याययोः स एवैकः चेतनो भवति न त्वन्यान्यः, तस्य चेतनस्यानाद्यनन्तकर्मप्रबन्धात्मकत्वादिति भावः । एक एव चेतनोऽनादितोऽनन्तेषु भवेषु भवति, उत्तरोत्तरभावोत्पत्तावपि पूर्वपूर्वभावेभ्योऽनतिरिक्तत्वात् पुत्रवत्त्वभावोत्पत्तौ वन्ध्यैव पुत्रवती जातेति वन्धापुत्रास्तित्वं समर्थितमित्युपसंहरति—**एवं तावदिति ।** तदेवं चेतनद्रव्याश्रयेण वन्ध्यापुत्रास्तित्वं प्रसाध्याचेतनद्रव्याश्रयेण तदस्तित्वं प्रसाधयति—**वंध्याशरीरगतानामिति ।** वन्ध्याभावानुभाविचेतनेनोपभुज्य मुक्ता ये वंध्याशरीरगताः पुद्गलाः केशदन्तनखमूत्रपुरीषादिरूपाः परिणमन्तः मृद्व्रीह्यादिभावमापन्ना यदा वन्ध्यास्त्रियोपभुक्ताः सन्तः शोणितभावं प्राप्य पुत्रत्वेनोत्पद्यन्ते यदा वा पुरुषेणोपभुक्ताः शुक्रभावमासाद्य पुत्रत्वेनोत्पद्यन्ते तदा द्रव्यार्थाभेदात् वन्ध्यापुद्गला एव पुत्रपुद्गला इति कृत्वा वन्ध्यापुत्रास्तित्वं सम्भवतीत्याशयेन व्याचष्टे—**वन्ध्याशरीरेति ।** इमे पुद्गला एवानाद्यनन्तपरिवर्त्तेषु भवितुमुत्सहन्ते, अनाद्यनन्तपरिवर्त्तान्यथात्वात्, इतरद्रव्यवत्, पुत्रपुद्गला एव वंन्ध्यापुद्गलाः पूर्वभावानतिरिक्तत्वात्, बालकुमारादिवदिति पूर्वोदितन्यायमतिदिशति—**तद्भावेति,** पूर्ववन्ध्याभावेत्यर्थः । द्विविध-

न्यायेनाविरुद्धं वन्ध्यापुत्रत्वम्, तत्साधयति–तदन्योऽन्यानुगतिमन्तरेण तदभावात्, यद्यदन्योन्यानुगतिमन्तरेण न भवति तत्तस्यैव, तदेव वा, शरीरारम्भवत्-यथा शरीरं तेषाम्, पुद्गलानाद्यनन्तभवभाविपरिवर्त्तान्यथात्वादन्योन्यानुगतिमन्तरेणाभावाच्च तान्येव तानि जीवपुद्गलद्रव्याणि, तथा वन्ध्याया एव पुद्गलाः पुत्रपुद्गला इत्यविरुद्धं वन्ध्यापुत्रत्वम्, तस्मादस्ति वन्ध्यापुत्रः, तस्मात् सर्वमित्यादि, सर्वशून्यवादे साधनदूषणासम्भवात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकव्यवहाराभावात् विज्ञानमात्रपक्षस्यापि सर्वैकज्ञपुरुषमात्रत्वाभ्युपगमापत्तेः स्वप्नवन्ध्यापुत्रादिदृष्टान्तानां च सर्वसर्वात्मकत्वेऽसत्यसिद्धेरिदं सर्वस्वभावमशून्यमिति प्रतिपत्तव्यम्, त्वदुक्तार्थविपर्ययेणाशून्यगृहवत्प्रवेष्टृस्थातृनिर्गन्तृकल्पैरुत्पादस्थितिविनाशैः सहितमेव सर्वमेकमनेकात्मकमङ्गुलिवक्रप्रगुणत्वादिवत् विचित्रवर्णकृकलासवद्वा[1] व्यवहारेण प्रव्यक्तापरिकल्पिततदतदाकारं स्वतः परत उभयतश्चास्त्येव[2] न नास्तीति ग्राह्यमुक्तन्यायात् ।

अत्राह–

अथ कथं स्वपरोभयभाव इति अत्र ब्रूमः संसिद्धिसंयुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनसदादर्शनेभ्यो हेतुभ्यः, संसिद्धिस्तदात्मभेदैकीभावेन सद्भावः, दीर्घत्वं दीर्घ एव, अपरायत्तत्वात्, तद्धि स्वायत्तमेव, यदि स्वविषयमेव तन्न स्यात् नानामिका मध्यमादीर्घतायामपि कनिष्ठिकातो दीर्घा स्यात्, स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात्, खपुष्पवत्, भवति तु दीर्घापि स्वायत्तकनिष्ठिकापेक्षस्वगतदीर्घत्वपरिणामात्, तथा न च मध्यमा शक्रयष्टिदीर्घतायां अनामिकापेक्षात् भवति तु, एवं ह्रस्वत्वमपि ।

द्रव्यापेक्षया विविधपर्यायेषु जीवस्य पुद्गलस्य चानतिरिक्तत्वं साधयति–**तदन्योऽन्येति,** तत्तस्यैव, तदेव वेति पक्षः, पुत्रपुद्गलाः वन्ध्यापुद्गलानामेव, वन्ध्यापुद्गला एव वेति तदर्थः, वन्ध्यात्वभावापन्नपुद्गलानामन्योऽन्यानुगतिमन्तरेण पुत्रभावस्याभावादिति हेत्वर्थः। दृष्टान्तमाह–**शरीरारम्भवदिति,** शरीरमारभ्यते यैस्ते शरीरारम्भाः, तद्वत्–शरीरारम्भकपुद्गलवदित्यर्थः। दृष्टान्तं घटयति–**यथा शरीरं तेषामिति,** शरीरं तदारम्भकपुद्गलानामेवेत्यर्थः, यथा पुद्गलद्रव्यं मूर्त्ताचेतनत्वापरित्यागेनानाद्यनन्तपरिवर्त्तान् तथाऽन्यथा चानुभवति, तस्य परस्परानुगमनमन्तरेण चाभावाच्छरीरं पुद्गलानामेव, पुद्गलद्रव्यमेव वा, जीवोऽप्यनाद्यनन्तभवभाविपरिवर्त्तानुभवति नरकतिर्यङ्नरामरान्, तेषां चेतनान्योन्यानुगमनमन्तरेणाभावात्त एव जीवद्रव्यमेवञ्च वन्ध्यापुद्गलानां पुत्रपुद्गलत्वाच्च वन्ध्यापुत्रास्तित्वं विरुद्धमिति भावः। एवञ्च वन्ध्यापुत्रवदत्यन्ताभाव इत्यसिद्ध्या भावानां प्रागादिविशेषणविशिष्टनास्तित्वनिर्वृत्ताद्यस्तित्वस्वभावताया जीवपुद्गलद्रव्याणामनाद्यनन्तभवभाविपरिवर्त्तान्यथात्वादन्योन्यानुगतिमन्तरेणाभावाच्च सर्वस्वभावतैव सिध्यति न निःस्वभावतेत्युपसंहरति–**तस्मादिति।** तस्मादित्यस्य भावार्थमाह–**सर्वशून्यवाद इति,** सर्वं निःस्वभावमिति ज्ञानवचनशून्याशून्यत्वयोः साधनदूषणासम्भवात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकव्यवहाराभावादभ्युपगमादिविरोधाच्च विज्ञानमात्राभ्युपगमे चतुरवस्थामात्रमेदभिन्नैकपुरुषवादापत्तेः स्वप्नवन्ध्यापुत्रादिदृष्टान्तेन च वास्तविकभयहर्षादेः सर्वशून्यत्वोक्त्या सर्वसत्त्वस्याविशेषनास्तित्वासिद्ध्या प्रोक्तरीत्या सर्वसर्वात्मकत्वस्यैव सिद्धेश्च सर्वं सर्वस्वभावमशून्यञ्चेत्यभ्युपगन्तव्यमिति भावः। **त्वदुक्तार्थेति,** तैस्तैराकारैर्गृह्यमाणमपीदं घटपटादिसर्वं शून्यमेव, ग्राहकाकारपरिप्लवेन ग्राह्याकारभ्रान्तेः शून्यगृहवत्, यथा शून्यगृहे न प्रवेष्टा न स्थाता न निर्गन्ता कश्चिदस्ति तथाऽत्रापि न सन्त्युत्पत्तिस्थितिविनाशसम्बधा इति यस्त्वदुक्तोऽर्थस्तद्विपरीतमेवेदं सर्वमशून्यगृहवत्प्रवेष्टृस्थातृनिर्गन्तृसदृशैरुत्पादस्थितिविनाशैः सहितमेवैकस्वरूपमनेकस्वरूपञ्चाङ्गुलेर्वक्रप्रगुणतादिवत् विचित्रवर्णकृकलासवद्वा व्यवहारेण प्रस्फुटस्वाभाविकतदतदाकारं स्वतः परतः उभयतश्चास्त्येव न तु नास्ति, उक्तन्यायादिति भावः। स्वपरोभयतस्तु कथमस्तित्वम्? तत्र तावद्ब्रूम इत्याह–**अथ कथमिति।**

---

१ सि. क्ष. डे. °वर्णैक्तक॰ । २ सि, क्ष, डे. छा. °स्तोवननास्ती॰ ।

अथ कथं स्वपरोभयभाव इति, अत्र ब्रूमः संसिद्धिसंयुक्त्यनुत्पादसामग्रीदर्शनसदादर्शनेभ्यो हेतुभ्यः–संसिद्धिस्तावत् समित्येकीभावे, सर्वे भावा भेदाभिमताः सामान्यान्तर्भूताः परस्परमेकीभूताः सिद्ध्यन्तीत्यत आह–संसिद्धिस्तदात्मभेदैकीभावेन सद्भावः, संसिद्धिः सहभावः, सहनिर्वृत्तिः, युगपद्वृत्तिरित्यनर्थान्तरम्, तद्भावयति–दीर्घत्वं[1] दीर्घ[2] एव, अपरायत्तत्वात्–स्वायत्तत्वादेवेत्यर्थः, तद्धि दीर्घत्वं स्वायत्तमेवानामिकायाः, यदि स्वविषयमे[व]तत्-कनिष्ठिकाह्रस्वत्वापेक्षमनामिकादीर्घत्वं त्वन्मतेन स्यात्, नानामिका मध्यमादीर्घतायामपि कनिष्ठिकातो दीर्घा स्यात्,–मध्यमां दीर्घां दृष्ट्वा स्वगतेन ह्रस्वत्वपरिणामेन ह्रस्वा सती दीर्घा पुनर्न स्यादेवार्थान्तरापेक्षयापि, स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात् खपुष्पवत्, मध्यमायत्तह्रस्वत्वात्, भवति तु दीर्घापि, स्वायत्तकनिष्ठिकापेक्षस्वगतदीर्घत्वपरिणामात्, तस्मात् स्वायत्तं दीर्घत्वमनामिकायाः, तथा न च मध्यमा शक्रयष्टिदीर्घतायां–शक्रयष्ट्यपेक्षमध्यमाह्रस्वपरिणामात्तस्मात् स्वगतात् ह्रस्वेति, न त्वनामिकापेक्षात् स्वदीर्घत्वपरिणामात्, दीर्घा स्यादिति वर्त्तते, भवति तु, तस्मादनामिकाया मध्यमायाश्च कनिष्ठिकापेक्षाभिमतं दीर्घत्वं स्वायत्तमेव, दीर्घतरापेक्षे ह्रस्वत्वे संवृत्तेऽपि स्वतो ह्रस्वतरापेक्षया दीर्घत्वस्यावस्थितत्वात्, एवं ह्रस्वत्वमपीति, अनेनैव न्यायेन कनिष्ठिकाया ह्रस्वत्वमपि स्वायत्तमेवेत्यतिदिशति, यदि स्वविषयमेव तत्[न]स्यात् न कनिष्ठिकाऽनामिकादीर्घतायामपि सर्वावयवादिभ्यो दीर्घा स्यात्, न चानामिका मध्यमादीर्घतायामपीति ।

समाधिमाह–**अत्र ब्रूम इति,** स्वपरोभयतः कथमस्तित्वमित्यत्र–ब्रूमः समाधिमित्यर्थः । नास्तित्वे वाद्युक्तासिद्ध्ययुक्त्यादिहेतूनां विपर्ययात्मकान् हेतून् नास्तित्वविपर्ययसाधनाय दर्शयति–**संसिद्धीति** । संसिद्धिशब्दार्थमाह–**संसिद्धिस्तावदिति,** संसिद्धिरित्यत्र समुपसर्ग एकीभावे–अनेकस्यैकभवनरूपेऽर्थे वर्त्तते, एकीभावेन सिद्धिः संसिद्धिः, सर्वे भावा दीर्घत्वह्रस्वत्वादयो भेदाः सामान्यान्तर्भूताः–अङ्गुल्यन्तर्भूताः परस्परमविरोधेनैकीभावेनैव सिद्ध्यन्तीति भावार्थः । अमुमेवार्थं मूलकृदाह–**तदात्मेति** सामान्यात्मानो ये भेदास्तेषामेकीभावेन सद्भावः संसिद्धिरित्यर्थः, तदात्मभेदानां सहभावः सहोत्पत्तिर्युगपद्वृत्तिरिति समानार्था इति भावः । अङ्गुलिरनामिका दीर्घा, कनिष्ठिका ह्रस्वा, तयोरनामिकाया यद्दीर्घत्वं तत् स्वात्मन्येव दीर्घायामनामिकायामस्ति स्वायत्तत्वादित्याह–**दीर्घत्वमिति** अनामिकाया दीर्घत्वस्य परायत्तत्वाभावात्, अनामिकायत्तत्वात्, परायत्तत्वे हि स्वात्मन्यसिद्धस्य दीर्घत्वस्य परतोऽपि सिद्धिर्न स्यादित्यर्थः । अनामिकाया दीर्घत्वं यदि स्वविषयमेव त्वन्मते कनिष्ठाकाह्रस्वत्वापेक्षमनामिकादीर्घत्वं न स्यात्तर्हि नानामिका दीर्घा स्यादित्याह–**तद्धि दीर्घत्वमिति** । अनामिका दीर्घा न स्यादर्थान्तरापेक्षयापि स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वात्, खपुष्पवत्, स्वात्मनि दीर्घत्वस्याविद्यमानत्वञ्च मध्यमां दीर्घां दृष्ट्वाऽनामिकाया ह्रस्वत्वपरिणामेन परिणतत्वात्, ह्रस्वदीर्घत्वयोः प्रतिद्वन्द्वित्वेन कनिष्ठिकापेक्षदीर्घत्वस्याप्यभावादित्याह–**नानामिकेति,** मध्यमादीर्घतायामपि–मध्यमाया दीर्घतायां सत्यामपीत्यर्थः, अनामिकोक्तन्यायेन मध्यमाया अपि दीर्घत्वं वस्तुनो न सिद्ध्यति तथापि तत्र तत्सत्त्वमभ्युपगम्यापीति अपिना सूच्यते व्याचष्टे–**मध्यमामिति** । न चेष्टापत्तिः शक्या विधातुमित्याह–**भवति त्विति,** कनिष्ठिकां ह्रस्वां दृष्ट्वा स्वगतेन दीर्घत्वेन स्वयमेव परिणतत्वादनामिका दीर्घा भवति, तस्मात्तस्या दीर्घत्वं स्वायत्तमेवेति भावः । अनामिकायाः स्वायत्तदीर्घत्ववन्मध्यमाया अपि ह्रस्वत्वं, शक्रयष्टेर्दीर्घत्वं दृष्ट्वा तदपेक्षस्वगतह्रस्वत्वेन स्वयमेव परिणतत्वात्, तस्मान्मध्यमा ह्रस्वेत्याह–**तथा न चेति** । न तु मध्यमा अनामिकापेक्षदीर्घत्वपरिणामात् दीर्घा स्यात् परापेक्षत्वे स्वात्मन्यविद्यमानदीर्घत्वादित्याह–**न त्वनामिकेति** । भवति तु मध्यमा दीर्घाऽनामिका च, तस्मात् कनिष्ठिकापेक्षतयाभिमतं तयोर्दीर्घत्वं स्वायत्तमेव न परायत्तमित्याह–**भवति त्विति** । दीर्घत्वस्य स्वायत्तत्वादेव शक्रयष्ट्यादिदीर्घतरापेक्षह्रस्वत्वसत्त्वेऽपि तत्र दीर्घत्वमवस्थितमेवेत्याह–**दीर्घतरापेक्ष इति** । इत्थमेव ह्रस्वत्वस्यापि स्वायत्तत्वं भाव्यमित्याह–**एवं ह्रस्वत्वमपीति** । कनिष्ठिकाया दीर्घत्वं यदि स्वविषयमेव तन्न स्यात् अनामिकां

---

१ ×× सि० । २ क्ष० डे० छा० दीर्घस्तेवा ।

कस्माद्धेतोः—

स्वगतनानारूप्यानतिक्रमात् एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवत् तथा तथानियमवृत्तेर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वाव्याघातः, आत्मगता एव हि तास्ताः सापेक्षनिरपेक्षाः परिणामशक्तयः पुद्गलानामन्येषाञ्च ।

(स्वगतेति) स्वगतनानारूप्यानतिक्रमात् यस्मादात्मगता एव तास्ताः सापेक्षनिरपेक्षाः परिणामशक्तयः—ह्रस्वदीर्घस्थूलकृशलघुगुरुनित्यानित्यमूर्त्तामूर्त्तचेतना[चेतनत्वा]दयः पुद्गलानाम्, अन्येषाञ्च—आकाशात्मकालादीनां स्वे स्वे परिणामाः, जैनेन्द्रदर्शनात् सर्वसर्वात्मकद्रव्यार्थनये वा विध्यादिभङ्गान्तरे, किमिव ? एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवत्—यथैवैकः पुरुषः स्वपुत्रापेक्षया पितृत्वेन परिणतः स्वपित्रपेक्षया च पुत्रत्वेन तथा मातुलभागिनेयभ्रातृश्वशुरपौत्रदौहित्रभ्रात्रीयप्राच्योदीच्यह्रस्वदीर्घपण्डितमूर्खस्वामिदासादिशक्तिभिः परिणमति, स्वान्यनिरपेक्षैकैश्च[1] ज्ञानदर्शनसुखदुःखक्रोधहर्षभयादिभिरुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्वाद्वस्तुत्वात्, न च ताः शक्तयस्तत्राविद्यमानाः सम्भाव्यन्ते खपुष्पादाविव, न च तासां शक्तीनां परस्परं विरोधो नाप्यनवस्था न च सङ्करः, स्वपुत्रापेक्षया पितृत्वस्य नियतत्वात्, एवं शेषाणामपीत्यत आह दार्ष्टान्तिकं—तथा तथा नियमवृत्तेर्ह्रस्व[त्व]दीर्घत्वाव्याघात इत्येतद्विरोधाभावोपनयनम्, तथा सङ्करानवस्थादोषाभावोपनयनमपि द्रष्टव्यम्, एवं नेतरेतराभावेतरेतराश्रयासिद्धय इति ।

दीर्घां दृष्ट्वा स्वगतेन ह्रस्वत्वपरिणामेन स्वयमेव परिणता त्वन्मतेन कस्माच्चिदपि दीर्घा न स्यात्, तथाऽनामिकापि मध्यमां दीर्घांदृष्ट्वा स्वगतेन ह्रस्वत्वपरिणामेन स्वयमेव परिणता दीर्घा न स्यादित्याह—**यदीति** ह्रस्वत्वेनावष्टब्धत्वात् दीर्घत्वस्यानवकाशादिति, तस्माद्दीर्घत्वमपि स्वायत्तमिति भावः, अतिदिश्यमानपूर्वग्रन्थोऽयं संक्षेपेणाऽऽदर्शितः, अतिदेशस्तु, ह्रस्वत्वं ह्रस्व एव, अपरायतत्वात्, तद्धि ह्रस्वत्वं मध्यमायाः स्वायत्तमेव, यदि स्वविषयमेवतत्—शक्रयष्टिदीर्घत्वापेक्षं मध्यमाया ह्रस्वत्वं त्वन्मतेन स्यात्, न मध्यमाऽनामिकाह्रस्वतायामपि शक्रयष्टितो ह्रस्वा स्यात्, स्वात्मन्यविद्यमानह्रस्वत्वात् खपुष्पवत्, अनामिकापेक्षदीर्घत्वात् भवति तु ह्रस्वापि, तथाऽनामिका कनिष्ठिकाह्रस्वतायां कनिष्ठिकापेक्षदीर्घपरिणामात् ह्रस्वा न स्यात्, भवति तु, तस्मान्मध्यमाया अनामिकायाश्च शक्रयष्ट्यपेक्षाभिमतं ह्रस्वत्वं स्वायत्तमेव, ह्रस्वतरापेक्षे दीर्घत्वे संवृत्तेऽपि स्वतो दीर्घतरापेक्षया ह्रस्वत्वस्यावस्थितत्वादिति । ननु ह्रस्वत्वं दीर्घत्वञ्च स्वायत्तमेकत्र भवतीति कस्माद्धेतोरुच्यते तयोरेकत्र व्याघातादित्यत्राह—**स्वगतेति**, स्वगता या नानारूपता तदतिक्रमेण शक्त्यभ्युपगमे हि व्याघातः स्यान्न चैवमिति भावः । सापेक्षयोर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोर्वस्तुगतपरिणामशक्तितैवेत्याह—**यस्मादात्मगता एवेति**, एवशब्दात् परायत्तताव्यावृत्तिः, वस्तुनः परिणामभूताः शक्तयः सापेक्षा निरपेक्षाश्च, ह्रस्वदीर्घस्थूलकृशलघुगुरुत्वादयः सापेक्षाः परिणामशक्तयः, नित्यानित्यमूर्त्तामूर्त्तचेतनाचेतनत्वादयो निरपेक्षाः परिणामशक्तयः, ताश्च यथासम्भवं पुद्गलानां तदितरेषामाकाशात्मकालादीनां परिणामशक्तयो जैनेन्द्रदर्शनाद्विज्ञेयाः, तथा सर्वसर्वात्मकद्रव्यार्थनयाद्विध्यादिभङ्गाद्वेति भावः । ननु कथं सापेक्षनिरपेक्षपरिणामशक्तिरूपेण स्वगतेन परिणमतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—**एकपुरुषेति** । दृष्टान्तं सापेक्षपरिणामशक्तिभिर्घटयति—**यथैवैक इति** । स्वान्यनिरपेक्षपरिणामशक्तिभिर्घटयति—**स्वान्येति** । कथमेवमित्यत्र हेतुमाह—**उत्पादेति**, वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेनतथा तथापरिणामा भवन्ति प्रतिक्षणमिति भावः । ह्रस्वदीर्घत्वादिशक्तयो न पुद्गलादिष्वविद्यमानाः परापेक्षया भवन्तीति सम्भाव्यन्ते, न वा तत्रैव सहानवस्थानलक्षणो विरोधो वा, अनवस्था वा सङ्करो वा पितृत्वह्रस्वत्वादेः पुत्रत्वदीर्घत्वाद्यपेक्षयैव प्रतिनियतत्वादित्याह—**न च ता इति** । तदेवं स्वगतनानारूप्यतायामेकपुरुषपितृपुत्रत्वादिदृष्टान्तं व्यावर्ण्य तथैव ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरप्येकत्राङ्गुल्यादौ प्रतिनियतापेक्षप्रतिनियतवृत्तित्वान्न विरोध इत्याह—**तथातथेति** । प्रतिनियतवृत्तित्वादेव नानवस्था न वा सङ्कर इत्याह—**तथा सङ्करेति** । एवमेकत्रैकधर्मसत्त्वेऽपरधर्मस्याभावः, एकधर्मसिद्धौ तदपेक्षापरधर्मसिद्धिः, अपरधर्मसिद्धौ च तदपेक्षैकधर्मसिद्धिरितीतरेतराश्रयसिद्धिकत्वे चोभयोरप्यसिद्धिरित्यपि नेत्याह—**एवमिति** ।

---

१ सि. क्ष. छा. डे. स्वमत्वनिरापेक्षकैश्च ।

अनेनैव न्यायेन ह्रस्वसद्भावे दीर्घस्याभावो न भवति, तथेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिरपि न, उक्तवत् अत एवाप्रतिद्वन्द्वित्वम्, विरुद्धाभिमतसर्वधर्माविरोधवृत्तत्वात्, एवमेव चेतरेतरयोगविचारानवकाश इति।

(अनेनैवेति) अनेनैव—स्वगतनानारूप्यानतिक्रमात्त्वेकपुरुषपितृपुत्रत्ववत्तथानियमप्रवृत्तेर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वाव्याघात इति दोषपरिहारन्यायेन ह्रस्वसद्भावे दीर्घस्याभावो न भवतीति सहानवस्थानदोषपरिहारः कृतो भवतीति, तस्मादेव हेतोरुक्तदृष्टान्तवत्, तथेतरेतराश्रयत्वादसिद्धिरित्येषोऽपि दोषो नास्त्युक्तवत् स्वाश्रयत्वादेव, अत एवाप्रतिद्वन्द्वित्वम्, विरुद्धाभिमतसर्वधर्माविरोधवृत्तत्वात्, तदित्थं साधनं—ह्रस्वेऽपि च दीर्घत्वमिति पक्षः, द्वितीयो [1]दीर्घेऽपि ह्रस्वत्वमिति, एक एव हेतुरप्रतिद्वन्द्वित्वादिति, इष्ट[2]ह्रस्वदीर्घस्वात्मवत्, ईष्टो[3] ह्रस्वस्वात्मा तेन-ह्रस्वस्वात्मना ह्रस्वत्वेनाप्रतिद्वन्द्वित्वात् ह्रस्वे भवत्येवं ह्रस्वे दीर्घत्वं भवति, दीर्घेऽपि ह्रस्वत्वं[4] दीर्घस्वात्मवदिति विरोधदोषोऽपि परिहृतः, इत्थं योऽपि तदनन्तरमितरेतरयोगदोषोद्भावनाय विचारः कृतः, तस्यानवतार एव, स्वपरोभयेभ्यो भवने सर्वभेदानां विरोधाभावप्रतिपादनादेव तद्गतदोषपरिहारस्यापि कृतत्वादत आह—एवमेव चेतरेतरयोगविचारानवकाश इति गतार्थः, एवं तावत् स्वपरोभयभावसंसिद्धिः सिद्धा।

संयुक्तेरपि च स्वपरोभयभावः, इह भाव एव भावो नाभाव इति, स च भावः तदतदतीतानागतवर्त्तमानेष्वविशिष्ट एव, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्, घटपांशुकार्पासतन्तुपटवत् सर्वसर्वैक्यमिति स्थितेऽस्मिन् न्याये तत्रास्त्येको घट इति त्रयाणामेकत्वे यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वस्यापि निष्कलेन स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं, एकस्मिन्नेकत्वस्वतत्त्ववत्, अस्तित्वस्वतत्त्वञ्च सर्वभावा इति यदुक्तं तत् सर्वशक्त्यैकं वस्त्विच्छतो ममेष्टमेव।

तदेव प्रतिपादयति—**अनेनैवेति**। व्याचष्टे—**स्वगतेति,** नैकविधपरिणामशक्तिमत्त्वेऽपि वस्तुनस्तेषां धर्माणां नियमेन व्यवस्थितत्वादेव ह्रस्वत्वसद्भावे दीर्घत्वस्य दीर्घत्वसद्भावे ह्रस्वत्वस्य सद्भावो नास्तीति निरस्तं वेदितव्यं तेन सहानवस्थानदोषो नास्ति, एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवदेव तथानियमप्रवृत्तेरिति भावः। एवमेवेतराश्रयत्वादसिद्धिरपि नेत्याह—**तथेतरेतरेति,** ह्रस्वदीर्घत्वादीनां परापेक्षाणामप्यङ्गुल्यादेः स्वत एवाश्रयत्वादिति भावः। सर्वेषां धर्माणां ह्रस्वदीर्घस्थूलकृशत्वादीनां विरुद्धाभिमतानामप्यविरोधेन वर्त्तनादेव न प्रतिद्वन्द्वित्वमित्याह—**अत एवेति,** ह्रस्वत्वादेर्यथावस्तु स्वत एवाश्रयः तथैव दीर्घत्वादेरपीत्यस्माद्धेतोरित्यर्थः। सहावस्थानमेव प्रयोगतः साधयति—**तदित्थमिति। ह्रस्वेऽपि चेति,** ह्रस्वत्वविशिष्टे वस्तुनि दीर्घत्वं वर्ततेऽप्रतिद्वन्द्वित्वात्, एवं दीर्घत्वविशिष्टे वस्तुनि ह्रस्वत्वं वर्त्ततेऽप्रतिद्वन्द्वित्वादिति प्रयोगः दृष्टान्तो यथाक्रमं ह्रस्वस्वात्मवत्, दीर्घस्वात्मवदिति। दृष्टान्तं घटयति—**इष्ट इति**। यथा इष्टेऽङ्गुल्यादिरूपे ह्रस्वे ह्रस्वस्वात्मा ह्रस्वत्वञ्चाविरोधेन वर्त्तते तथा ह्रस्वे दीर्घत्वमविरोधेन भवति, यथा वा दीर्घे दीर्घस्वात्मा दीर्घत्वञ्चाविरोधेन वर्त्तते तथा दीर्घे ह्रस्वत्वमप्यविरोधेन भवतीति भावः। एवं ह्रस्वे ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोर्दीर्घेऽपि तयोर्वृत्तावितरत्रेतरस्य योगे किं स्वाश्रयादन्यत्र वर्त्तमाने दीर्घत्वे दीर्घं भवति? उत दीर्घे एव वर्त्तमाने दीर्घत्वे दीर्घं भवतीति विकल्प्य यो विचारो विहितोऽनवतार एव तस्यात्र, सर्वेषां भावानां स्वतः परत उभयतश्च भवने विरोधाभावस्य प्रतिपादितत्वात् प्रोक्तविचारगतदोषस्य परिहारो भवत्येवेत्याह—**इत्थं योऽपीति**। तदेवं स्वपरोभयेभ्यो भावानां भेदाभिमतानां सामान्यात्मतयैकीभावेन सद्भावलक्षणा संसिद्धिः सहभावसहनिर्वृत्तियुगपद्वृत्तिरूपा सिद्धेत्याह—**एवं तावदिति**।

---

१ सि. क्ष. डे. दीर्घत्वेऽपि। २ सि. क्ष. डे. इष्टस्य। ३ था० इष्टस्य। ४ सि. क्ष. छा. डे. ह्रस्वात्मवदिति।

(संयुक्तेरपि चेति) संयुक्तेरपि च स्वपरोभयभावः तद्भावयति–इह भाव एव भावो नाभाव इति–सर्वभेदशक्ति भवत्येव भवति वस्तु न न भवतीत्युक्तत्वात्, स[1] चेत्यादि, स च भावः तदतदतीतानागतवर्त्तमानेषु–तस्मिन् अतस्मिंश्च वृत्ते वर्त्तमाने वर्त्स्यति[2] च, देशकालविशिष्टाभिमतेषु अविशिष्टः–एक एव, कस्मात्? [तद्भावे भावात्,] तदभावेऽभावात् तेषु तेषु स्वभेदेषु भवत्स्वेव भवति अ[भवत्सु न]भवत्सु अतः तद्भावे भावात्तदभावे चाभावादविशिष्ट एव तेभ्यः एकः, किमिव? घटपांशुकार्पासतन्तुपटवत्–यथा घटः कपालशकलादिक्रमेण पांशुभूतः पांशुर्मृत् मृदि कार्पासबीजसम्बन्धात् कार्पासीभूतायां तन्तवः, तन्तुभ्यः पट इति क्रमेण घटपटैकत्ववत् सर्वसर्वैक्यमिति, स्थितेऽस्मिन् न्याये तत्रास्त्येको घट इति त्रयाणामेकत्वम्, एवं सति चैकत्वे यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वस्यापि निष्कलेन स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, कस्मात्? अनर्थान्तरत्वात्, अस्य हेतोः साध्येनान्वितत्वं प्रदर्श्यते–यत्र यस्येत्यादि यावत् स्वतत्त्वं भवतीति गतार्थम्, किमिव? एकस्मिन्नेकत्वस्वतत्त्ववत्–यथैकस्मिन् वस्तुन्येकत्वस्वतत्त्वं ततोऽनर्थान्तरत्वात् निष्कलमेव भवति, तथैकत्वेऽस्तित्वमपि निष्कलमेव भवितुमर्हतीति, अस्तित्वस्वतत्त्वञ्च सर्वभावा इति परेणानिष्टमापादयितुमुक्तम्, मम तु सर्वशक्ति एकं वस्त्विच्छत इष्टमेवेति न दोषः।

किञ्चान्यत्—

यत्रास्तित्वमित्यादि पूर्ववत्, न मे कश्चिद्दोषः, मत्पक्षसाधना एव ते हेतवः।

एवं स्वपरोभयभावसंयुक्तिं निरूपयति–**संयुक्तेरपि चेति**। व्याख्याति–**तद्भावयतीति,** अत्र द्रव्यार्थवादे सर्वं भवनधर्मैव न कश्चिदभावो नामास्ति, वस्तुनः सापेक्षनिरपेक्षनिखिलपरिणामशक्तियुक्तत्वात् तथा तथा भवदेव भवति वस्तु नाभवद्भवति, एकभाव एवापरभावो भवति, न त्वेकभावस्याभाव इति भावः। एकभावस्य नानाभावभवनं घटयति–**स च भाव इति,** सोऽयं भावस्तद्देशेऽन्यदेशे च भूते वर्त्तमाने भविष्यति चाविशिष्ट एव भवति, न तद्ध्वंसपूर्वकोऽन्य एव भवति, तस्य भावस्य सत्त्वे एवापरभावस्य भावात्, तस्य भावस्याभावे तदभावाच्च, न तु देशभेदेन तेषां भेदानां भेदो न वा कालभेदेन, एवञ्च विलक्षणतयाऽभिमतभावेभ्यो भावोऽविशिष्ट एव–एक एवेति पक्षः। हेतुमाह–**तद्भावे भावादिति।** हेतुं व्याचष्टे–**तेषु तेष्विति।** दृष्टान्तमाह–**घटपांश्विति** घट एव क्रमेग पटो भवति यथा घटः कपालो भवति स च क्रमेण शकलो भवति स शर्करा भवति सा धूलिः सा पांशुः स मृत् तत्र च कार्पासबीजसम्बन्धादङ्कुरादिक्रमेण सैव कार्पासो भवति स तन्तुर्भवति सोऽपि पटो भवति, एवञ्च घट एव कपालादिभेदाः न ततो विशिष्टास्ते, घटः कपालादि सर्वभावात्मकः, पटोऽपि घटादिसर्वभावात्मक इत्यैक्यम्, घटाद्युक्तभावसद्भाव एव पटभावात्, तदभावेऽभावाच्च, घटकार्यत्वात्तेषाम्, घटेन विनाऽभूतत्वात् स एव स इति भावः। एवमेव सर्वं सर्वात्मकं भवति, तथा चास्त्येको घट इत्यत्रास्त्येकघटानां त्रयाणामेकत्वं सिद्धमेव, एवञ्च यत्रैकत्वं तत्रास्तित्वमपि निष्कलेन स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, घट इव घटस्वतत्त्वस्य, अस्तित्वस्वतत्त्वञ्च सर्वभावा इति सर्वभावानां घटत्वप्रसङ्ग इति त्रयाणामेकत्वे यो दोष उक्तः स सर्वशक्ति एकं वस्त्विच्छतो मे नैव दोष इति प्रतिपादयति–**स्थितेऽस्मिन् न्याय इति**। अत्र दृष्टान्तमाह–**एकस्मिन्निति**। तत्रास्त्येको घट इत्यारभ्य सर्वभावा इत्यन्तो ग्रन्थः परस्य सर्वभावानां घटत्वापादनपरः, तदापादनं नास्माकमनिष्टमित्याह–**इति परेणेति**। एवं द्वितीयं साधनं–यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, ततोऽनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वम्, अस्तित्वेऽस्तिस्वतत्त्ववत्, एकत्वस्वतत्त्वञ्च सर्वत्रैवैकैकस्मिन् एकैकमस्त्येकत्वञ्चेति यदुक्तं तदपि मत्पक्षसाधनमेवेत्याह–**यत्रास्तित्वमिति**। अस्त्येकघटानां

---

१ सि. क्ष. छा. डे. सत्येत्यादि सत्वभावः। २ सि. क्ष. छा. डे. वर्त्स्यते च।

यत्रास्तित्वमित्यादि द्वितीयमनिष्टापादनसाधनं परेणोक्तं तदपीष्टमेवेति पूर्ववत्परिहार इति मन्यमानस्तथैव साधनं पूर्ववदित्यतिदिशति, तद्यथा—यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, ततोऽनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वमस्तित्वेऽस्तिस्वतत्त्ववत्, एकत्वस्वतत्त्वञ्च सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन् एकैकमस्त्येकत्वञ्चेत्यतोऽस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावाः, के च ते ? घटादयः—घटपटादयः, एकश्च घटः तदनन्यदस्तित्वम्—एकघटादनन्यदस्तित्वं तस्मादेकघटाभ्यामनन्यस्मादस्तित्वादनन्ये सर्वभावाः, अतः—एकस्मादव्यतिरेकात्, सर्वमेव घटपटादि, संश्च घट इति सत्त्वेनैकत्वाव्यतिरेकद्वारेण पटैकत्वास्तित्वाभ्यां सर्वभावघटत्वं यथा एवं घटे सर्वसिद्धिः, अस्तित्वाव्यतिरेकादेकत्वाव्यतिरेकाच्चेति घटे सर्वसिद्धिरुक्ता, तथा घटत्वमित्यादिना घटेऽस्तित्वैकत्वाव्यतिरेकादनर्थान्तरत्वादिनाऽस्तित्वैकत्वाव्यतिरेकात् घटवत्सर्वः, पटादिरपि घटः तथाऽबादिः—उदकादिरपि घट एवं यावान् भावः, न मे कश्चिद्दोषो मत्पक्षसाधना एव ते हेतवः ।

तन्निदर्शनं देशभेदमात्रे तावत्—

ऊर्द्ध्वमध्यबुध्नदेशभेदेऽप्यभिन्नः स एवैकोऽस्ति च घटः, बालकुमारादिभेदे स एवैको नरः, तथा सर्वभावाः, तथा च सर्वात्मकमेव वस्त्विति प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभामहे, अतोऽन्यथा प्रत्यक्षादिविरोधाः, एते चेन्नेष्यन्ते मदुक्तं सर्वं घटोऽस्त्येक इति प्रतिपत्तव्यम्, घटानर्थान्तरत्वात् घटस्वात्मवदिति ।

(**ऊर्द्ध्वेति**) ऊर्द्ध्वमध्यबुध्नदेशभेदेऽप्यभिन्नः स एवैकोऽस्ति च घटः, कालमात्रभेदेऽपि—बालकुमारादिभेदे स एवैको नरः, तथा सर्वभावाः परस्परतो देशकालाकारादिमात्रभेदेऽप्येकभवनाविशिष्टत्वाद-

---

त्रयाणामेकत्वादेव यत्रास्तित्वं तत्रैकत्वस्यापि निष्कलेनैव—निरवशेषेणैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, घटे ह्यस्तित्वं वर्त्तते तत्रैकत्वस्यापि निरवशेषेण परिपूर्णस्वभावेन सत्त्वं स्यात्, ततोऽनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वम्, यथा सति अस्तित्वस्वतत्त्वं ततोऽनर्थान्तरत्वान्निष्कलमेव भवति तथाऽस्तित्ववति घटे एकत्वमपि निष्कलमेव भवितुमर्हति, एकत्वस्वतत्त्वञ्च सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन् वस्तुन्यस्तित्वमेकत्वं चास्ति, तस्मात् सर्वेषामेव वस्तूनामस्तित्वैकत्ववत्त्वादनन्यत्वमिति द्वितीयं साधनं परोदितं पूर्ववदिति पदेनातिदिशति मूलकार इत्याह—**द्वितीयमिति** । स्वयमतिदिश्यमानग्रन्थमाह—**तद्यथेति** । अस्तित्वैकत्वाभ्यामनन्ये सर्वभावा इत्यस्य भावार्थमाह—**के च त इति**, एकत्वादनर्थान्तरं घटः, ततश्चानर्थान्तरमस्तित्वम्, एकत्वानर्थान्तरघटानर्थान्तरमस्तित्वम्, एकत्वाभिन्नघटाभिन्नास्तित्वस्यानन्यतया पटादिसर्वभावेषु सत्त्वात् तेषु निरवशेषैणैकत्वस्वतत्त्वं भवति, एवञ्च घटपटारेकत्वानर्थान्तरत्वात् सर्वात्मकत्वमिति भावः । अस्तित्वादनर्थान्तरं घटः, तदनन्यदेकत्वम्, अस्तित्वानर्थान्तरघटानर्थान्तरमेकत्वम्, अस्तित्वाभिन्नघटाभिन्नैकत्वस्य सर्वस्मिन्नेकैकस्मिन्ननन्यतया सत्त्वात् तत्र च निरवशेषेणास्तित्वस्वतत्त्वमपि भवतीति घटे सर्वभावसिद्धिः, पूर्वसाधनेन घटः सर्वमिति द्वितीयेन सर्वात्मकमिति च सिद्ध्यति, तथा च सर्वसर्वात्मकत्वसिद्धिरित्याह—**संश्च घट इति** । एवं घटस्य सर्वत्वसर्वभावात्मकत्वसिद्धौ पटादीनामपि तथात्वमादर्शयितुमाह—**तथा घटत्वमित्यादिनेति,** यत्र घटत्वं तत्रास्तित्वैकत्वयोरपि निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यम्, अनर्थान्तरत्वात्, यत्र यस्यानर्थान्तरत्वं तत्र तस्य निष्कलमेव स्वतत्त्वं भवति, तस्मादेकैको घटादिरबादिः सर्वो भेदेन सर्वात्मकः, एवञ्च घटपटकटरथादीनां जलाग्निवायुपृथिव्यादि सर्वमेकैकं घटो भवति—सर्वात्मकं भवतीति सर्वसर्वात्मकत्वं सिद्ध्यतीति भावः । त्वयोदितान्येतानि साधनानि मदनुकूलान्येव न प्रतिकूलानि सर्वसर्वात्मकत्वाद्वस्तुन इत्याशयेनाह—**न मे कश्चिदिति** । अथ सर्वभावानामविशिष्टत्वमेकत्वं यत्साधितं तत्र देशभेदेऽपि कालभेदेऽपि चैकत्वे निदर्शनं क्रमेणादर्शयति—**ऊर्ध्वमध्येति** । घटस्य देशा

भिन्न एक एव भावो भिन्न इवाभाति, तथा चेत्यादि, एवमुक्तन्यायेन सर्वात्मकमेव—अस्ति नित्यं सर्वगतं सर्वभेदस्वभावञ्च वस्त्विति प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभामहे, अतोऽन्यथा प्रत्यक्षादिविरोधाः—घटस्य मृत्कपालकार्पासतन्तुपटव्रीह्युदकादिपरिवर्त्तस्य प्रत्यक्षदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः, तद्भावमेव सर्वात्मकमनिच्छतः तादृग्विधार्थानुमेयत्वादनुमानविरोधः, लोकागमाभ्युपगमस्ववचनविरोधाः, स्वपरलोकप्रसिद्धसाधनदूषणसंव्यवहाराभ्युपगमात्, अस्त्येकत्वाव्यतिरेकाच्च तेषाम्, एते चेन्नेष्यन्ते—मा भूवन्नेते दोषा इति मदुक्तं यावत्किञ्चित् तत्सर्वं घटोऽस्त्येक इति प्रतिपत्तव्यम्, कस्मात्? घटानर्थान्तरत्वात्, घटस्वात्मवदिति साधनमुपसंहारार्थम्, एवं तावत् त्रयाणामेकत्वे नास्ति दोषः।

यत्पुनरुक्तमस्त्येकघटानां त्रयाणां नानात्वे विपरीतस्वभावत्वं घटबहुत्वमभावत्वञ्च प्राप्नुयुरिति विकल्पान्तरशङ्कया विचारान्तरं कृतं तत्र ब्रूमः—

विपरीतस्वभावबहुत्वाद्याशङ्कानवतार एवान्यत्वानभ्युपगमात्, नन्वन्यथा तावत् प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते नास्तीति, तद्यथा घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेनेत्यादि, घटो हि घट एवोपलभ्यते न त्वसौ पटोऽपि, अथ पुनस्त्वन्मतेन सर्वरूप उपलभ्येत, न तूपलभ्यते तस्मान्नास्ति पटादित्वेनेति पररूपेणाभावः, तथा स्वरूपेणाप्यभावः पररूपासत्त्वात् खपुष्पवदिति।

अवयवा ऊर्ध्वमध्यबुध्नग्रीवादयस्तेषां भेदेऽपि स घट एक एवास्त्येव चेति देशभेदेऽप्यभेदः, नरस्य कालोऽवस्था बाल्यकौमारयौवनवार्द्धक्यादयस्तेषां भेदेऽपि स नर एक एवास्ति, एवं सर्वभावा अपि देशकालाकारादिभेदेऽपि एक एव भावः, एकभवनाविशिष्टत्वादेकत्वाविशिष्टत्वादस्तित्वाविशिष्टत्वात् स एव देशकालाद्यपेक्षया भिन्न इव प्रतीयत इत्याह—**ऊर्ध्वमध्यबुध्नेति।** फलितार्थमाह—**एवमुक्तन्यायेनेति,** ऊर्ध्वादिभेदघटवत् बालादिभेदनरवत् सर्वभावा अविशिष्टाः सर्वात्मकाः, एवञ्च सर्वात्मकं वस्तु, भाव एव भावो भवति नाभावस्तस्मादस्तिस्वरूपं नित्यञ्चानर्थान्तरत्वात् सर्वगतं तथातथाभवनस्वभावत्वाच्च सर्वभेदस्वभावञ्च भवतीति भावः। एवमेव तद्वस्तु प्रमाणैरुपलभ्यत इति न त्वदुक्ताः प्रत्यक्षादिविरोधाः, दृश्यते हि घट एव कपालशकलादिक्रमेण पांश्वादिभूतः कार्पासादिबीजसम्बन्धात् क्रमेण कार्पासतन्तुपटो भवति पांश्वादेः परतो व्रीहिबीजसम्बधादङ्कुरादिक्रमेण स एव व्रीहिर्भवति स एवोदकादिर्भवतीति, तस्मात् सर्वसर्वात्मकताऽस्वीकार एव प्रत्यक्षादिविरोधा भवेयुरित्याह—**प्रत्यक्षादीति।** सर्वात्मकं तद्भावमनिच्छतोऽनुमानतस्तथाविधार्थसिद्धेरनुमानविरोधः स्यादित्याह—**तद्भावमेवेति,** सर्वात्मकं सर्वरूपं भावमनिच्छत इत्यर्थः। लोकादिविरोधमाह—**लोकागमेति,** लोकविरोधागमविरोधाभ्युपगमविरोधस्ववचनविरोधाः, एतेषां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् प्रत्यक्षस्य सर्वसर्वात्मकत्वस्योक्तत्वात्तदनभ्युपगमे विरोधा एते स्युरिति भावः। उक्तन्यायस्य व्यापकत्वात् स्वस्य परस्य लोकस्य च प्रसिद्धा ये हेतवः तद्भेदाः प्रतिज्ञादयः हेत्वाभासस्तद्भेदाः असिद्ध्यादयो दृष्टान्तस्तद्भेदा दृष्टान्ताभासाः स्ववचनविरोधादयश्च व्यवहारविषयाः, अभ्युपगम्यन्ते ते यदि तेषां सर्वसर्वात्मकत्वात् ततोऽन्यथाऽभ्युपगमे ते विरोधा भवन्त्येव अस्त्येकं साधनं, अस्त्येका प्रतिज्ञा, अस्त्येकं दूषणमित्येवमेकत्वं तेषां प्रतिज्ञाय यत्रास्तित्वमित्यादिन्यायेन सर्वसर्वात्मकत्वसाधनादित्याह—**स्वपरेति।** उक्ताः प्रत्यक्षादिविरोधा यदि नेष्यन्ते तर्हि प्रोक्तसाधनदूषणादि सर्वं घटोऽस्त्येकः घटानर्थान्तरत्वात्, घटघटस्वात्मवदिति सर्वं घटो घटे सर्वभावा अभ्युपेया एवेति सर्वसर्वात्मकत्वप्रयोजकास्त्येकघटानां त्रयाणामेकत्वे न कोऽपि दोष इत्याह—**एते चेन्नेष्यन्त इति।** एवं त्वयाऽस्त्येकघटानामर्थान्तरत्वे घटस्यास्त्येकत्वाभ्यां विपरीतत्वाद्घटात्मस्वरूपादपि विपरीतता स्यात्, एकस्यैव च घटस्य बहुत्वं स्यात्, अस्त्यपि घटो भेदेन, एकोऽपि घटो भेदेन, घटोऽपि घटो भेदेनेति, अस्तित्वं सामान्यं विशेषश्चैकत्वं घटादेर्भवति, तत्र यदि ते घटादेरर्थान्तरभूते तदा निःसामान्यत्वान्निर्विशेषत्वाच्च घटादेरसत्त्वमेव स्यात् खपुष्पवदिति ये दोषा उक्तास्ते न भवन्ति अस्त्येकघटानामनर्थान्तरत्वेनान्यत्वानभ्युपगमादित्याह—**विपरीतेति।** सर्वपरिणामशक्त्येकं वस्तु, एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवदिति संसिद्धा तदात्मभेदैकीभावेन सद्भावलक्षणयाऽभ्युपगमात्, अस्त्येकघटानामर्थान्तरताया अप्रतिज्ञातत्वात् तत्प्रयुक्तविपरीतस्वरू-

(विपरीतेति) विपरीतस्वभावबहुत्वाद्याशङ्कानवतार एव, अन्यत्वानभ्युपगमात्, सर्वशक्त्येकवस्तु तदात्मभेदैकीभावेन संसिद्धिसद्भावाभ्युपगमादप्रतिज्ञातस्यारोपणं तत्स्वमतिविलसितमात्रमेव ते, तस्मात्तद्विकल्पगतदोषा नास्मान् बाधन्त इति, अथोच्यते–नन्वन्यथा तावदित्यादि, इदं नावन्नास्तित्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं घटाद्यन्यदन्येन प्रकारेण, उष्ट्राद्यप्यन्यदन्येन, घटोऽपि पटात्, उष्ट्रोऽपि गर्दभादन्यः अन्यथा प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते नास्तीति, तद्यथा–घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेनेत्यादि, तद्भावयति–घटो हीत्यादि, हिशब्दो यस्मादर्थे यस्माद्घटो घट एवोपलभ्यते न त्वसौ पटोऽपीत्युपलभ्यते, तस्मात् प्रत्यक्षत एव घट एव पटत्वे(न)नास्ति, अथ पुनस्त्वन्मतेन यदि तु सामान्ये घटस्य तस्यास्तित्वैकत्वे स्यातां ततस्त्वदुक्तन्यायेन सर्वरूप उपलभ्येत, घटः पटकटरथादिरूपो न तूपलभ्यते, तस्मान्नास्ति पटादित्वेनेति पररूपेणाभावः, तथास्वरूपेणाप्यभावः पररूपासत्त्वादिति प्राप्तः, खपुष्पवदिति ।

अत्र ब्रूमः–

को वा ब्रवीति नोपलभ्यत इति, ननु भोः त्वं नाम सर्वात्मकमुपलभ्यमानमप्यपलप्य शून्यं कर्तुमिच्छसि, न पुनरहमुपलभ्यमानमेव सर्वरूपं सन्तं कर्तुं शक्नोमीत्यहो साहसम्, घटो हि मृत् मृन्मयत्वात् मृदः पृथिवीत्वं तदंशत्वात् पृथिव्या द्रव्यत्वं द्रुविकारत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वात् भव्यस्य भवितृत्वात् भवितुः सर्वत्वात् सदस्ति भाव इति घटपटादिसर्वं परस्परस्वरूपं हस्तवदिति न किञ्चिदेतत्, अन्यथा तावन्नास्त्येव घट इति ।

को वा ब्रवीतीत्यादि, सर्वरूप उपलभ्यत एव, नोपलभ्यत इति त्वन्मुखादेतच्छ्रूयते, न[नु]भो इत्यादि, त्वं नाम सर्वात्मकमुपलभ्यमानमप्यपलप्य शून्यं कर्त्तुमिच्छसि, न पुनरहमुपलभ्यमानमेव सर्वरूपं सन्तं कर्त्तुं शक्नोमीत्यहो ! साहसम्–उपलब्धिः सर्वलोकप्रत्यक्षा त्वयाऽपलप्यमाना पूर्वोक्तसर्वप्रमाणविरोधितां ते वचसः सम्पादयति, तस्मादयुक्तो भवतोऽभिप्राय इति ग्रन्थो गतार्थत्वान्न विव्रियते, तद्वस्तु घटाख्यं भवत्

पत्वादिदोषारोपणं केवलं निजमतिविजृम्भणमेव प्रकाशयति, नास्माकं काचन ततो बाधा भवतीति व्याचष्टे–**सर्वेति**। सर्वसर्वात्मकत्वे दोषमाशङ्कते–**नन्वन्यथेति,** घटादयो हि प्रत्यक्षादिभिरन्यप्रकारेण नास्तीत्युपलभ्यन्ते यथा घटादि तदन्यप्रकारेणान्यत्, उष्ट्राद्यपि तदन्यप्रकारेणान्यत्, घटः पटादन्यः, उष्ट्रो गर्दभादन्य इति प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते तेन तस्यैकत्वं सामान्यं नास्तीति भावः। तस्यैवाऽऽशयमाह–**तद्यथेति,** घटः पटत्वेन नास्ति पटोऽपि घटत्वेन नास्तीति। एवं च घटस्य घटरूपतयैवोपलम्भात् पटादिरूपतया चानुपलम्भात् प्रत्यक्षतो घटः पटत्वेन नास्ति, न तु पटादिसर्वभावात्मकतयास्तीति सामान्यमस्तित्वं नेति भावयतीत्याह–**तद्भावयतीति,** प्रत्यक्षादिभिर्वस्तुनोऽन्यप्रकारेण नास्तित्वोपलम्भं भावयतीत्यर्थः। यदि वस्तु तव मतेन सर्वसर्वात्मकं अस्तित्वैकत्वयोः सामान्ययोर्घटेऽभ्युपगम्य न्यायस्योक्तत्वात्, तर्हि सर्वरूपो घट उपलभ्येत, न तु पटकटरथादिरूपतया घटस्योपलम्भोऽस्ति, तस्मान्नास्ति घटः पटत्वादिनेति पररूपेण तस्याभावः प्राप्तः, यश्च पररूपेण नास्ति स स्वरूपेणापि नास्त्येव खपुष्पवदिति शून्यमेव वस्त्वित्याह–**अथ पुनरिति**। पररूपेणास्तित्वोपलम्भाभावं निराकुर्वन् समाधत्ते–**को वा ब्रवीतीति**। सर्वात्मकत्वं पदार्थस्य सर्वैरुपलभ्यत एव नोपलभ्यत इति न कोऽपि वक्ति, अथैव त्वन्मुखादेव तथा मया श्रूयत इत्याह–**सर्वरूप इति**। नन्वहमुपलभ्यमानं सर्वरूपं वस्तु प्रमाणीकर्तुमुपपत्तिभिर्न शक्नोमीति मत्वैव त्वयोपलभ्यं तन्निह्नूय शून्यतां प्रसाधयितुमिष्यते तदेतत्तव साहसमेवेत्याह–**त्वं नामेति**। व्याचष्टे–**उपलब्धिरिति,** सर्वरूपोपलब्धिर्निखिलजनाध्यक्षा, सैव तन्निराकरिष्णोस्त्वदीयवचनस्य पूर्वाभिहितसकलप्रमाणविरोधित्वं प्रकटयतीति छन्दस्तेऽयुक्त इति भावः। सर्वरूपोपलम्भप्रसाधनाय घटादिवस्तुनः सर्वरूपतां भावयतीत्याह–**तद्वस्त्विति**। **घट इति,** घटो मृत् मृन्मयत्वात्-मृद्विकारत्वान्मृत्प्राचुर्याद्वेत्यर्थः, एतेन मृत्त्वं

सर्वरूपं भवतीत्येतद्भावयितुमाह—घटो मृत्, मृन्मयत्वात्, मृत्त्वं घटस्य सिद्धं मृदः पृथिवीत्वं तदंशत्वात् पृथिव्या द्रव्यत्वं द्रुविकारत्वात्—सत्त्वविकारत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वात् भव्यस्य भवितृत्वात् भवितुः सर्वत्वात् सर्वं हि भवद्भवति तच्च सदस्ति भाव इति घटपटादि सर्वं परस्परस्वरूपं तस्मात् सर्वस्य सर्वत्वात् सर्वरूपो घट उपलभ्यते, किमिव ? हस्तवत्—यथा हस्तोऽङ्गुलिपर्वसन्धिरेखादिसर्वरूप उपलभ्यते, सदेकाङ्गुल्याद्यात्मकत्वात् तथा घटोऽपि सदेकात्मकपटादिरूप उपलभ्यत एवेति न किञ्चिदेतत्, अन्यथा तावन्नास्त्येव घट इति, अन्यथा तथापि च घटस्य सत्त्वादन्यथाऽसिद्धेरिति ।

अथोच्यते भिन्न एवासावर्थो भिन्नप्रकारत्वात्, वादिप्रतिवादिमतिवचनवदित्येतच्च न तुल्यत्वात्, येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभस्तेन प्रकारेण सर्वभावानामिति सर्वोऽप्यभिन्नोऽसावर्थः, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वात्, एकवत्, न हि ताभ्यामस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्यान्यत्वमस्ति, घटात् सर्वभेदभाजस्तयोरन्यत्वम्, तदनन्यत्वे तेषामपि घटात्मकत्वं तदनर्थान्तरत्वात्, घटस्वात्मवदिति ।

(**अथोच्यत इति**) अथोच्यते अन्यत्वं तर्हि साधयामि—भिन्न एवासावर्थो घटः पटादिभ्यो भिन्नप्रकारत्वात्, वादिप्रतिवादिमतिवचनवत्, वर्णसंस्थानप्रयोजनादिप्रकारभेददर्शनाच्च नासिद्धिर्हेतोः अतोऽन्यत्वे सिद्धे तदुपलब्धिरपि भिन्नप्रकारैवेति न स्यात् सर्वरूपोपलब्धिरिति, एतच्च न तुल्यत्वात्—नैतदुत्तरं तुल्यत्वादस्य हेतोरस्मत्पक्षसाधनत्वेन, तद्भावना—येन प्रकारेणैकस्यात्मलाभो घटस्य तेन प्रकारेणास्तित्वैकत्वादिना सर्वभावानामप्यात्मलाभो देशकालभेदाभिमतोर्द्ध्वमध्याधोभागनवयुवमध्यपुराणादिना, [भिन्नानां] अतः प्रतिज्ञायते—सर्वोऽप्यभिन्नोऽसावर्थ इति, नञ्सहितः स एव हेतुः—आत्मलाभे भिन्नप्रका-

---

घटस्य सिद्धम्, सा च मृत् पृथिव्यवयवत्वात् पृथिवीविशेषत्वाद्वा पृथिवी सापि पृथिवी द्रव्यम्, द्रुः गतिस्तद्विकारत्वात् गतिर्भवनमस्तित्वं सत्त्वं तद्विकारत्वात्, द्रव्यस्य भव्यत्वादिष्टप्राप्तियोग्यत्वात्, भव्यस्य भवितृत्वात् चेतनाचेतनादिविभिन्नरूपव्याप्तेः, भवितुश्च सर्वत्वादित्यर्थः । एवञ्च घटपटादि निखिलं वस्तु सत् अस्ति भाव इति अन्योऽन्यस्वरूपत्वात् सर्वरूपं सर्वम्, तस्मात् सर्वरूपो घट उपलभ्यत इत्याह—**सर्वं हीति** । निदर्शनमाह—**हस्तवदिति** । अङ्गुलिपर्वादिनिखिलरूपो, हस्तः, यथाऽस्त्येकाङ्गुलिः अस्त्येकं पर्व अस्त्येका सन्धिः अस्त्येका रेखा, इत्यादौ त्रयाणामेकत्वं प्रतिज्ञाय यत्रैकत्वमित्यादिन्यायेन सर्वसर्वात्मकत्वसिद्धेः सर्वरूपतयोपलभ्यते हस्तः, तथा घटोऽपि सदेकात्मकपटकटरथादिरूप उपलभ्यत एवेति नोपलभ्यत इति कथनं न किञ्चित्, निरर्थकमिति भावः । उक्तप्रकारादन्यथा घटो नास्त्येव, अन्यथा त्वस्यैवासिद्धेः, घटादेस्तत्तदन्यप्रकारैः सद्भावादित्याह -**अन्यथेति** । ननु देशकालाकारादिनिमित्तभेदेन वस्तूनां प्रत्येकमसाधारणरूपतया घटपटादयो भिन्नार्था एव, न हि वादिप्रतिवादिबुद्धिवचनानामेकार्थता, तथात्वे साधनदूषणाभ्यां वादिबुद्धिवचननिराकरणप्रवृत्त्यसम्भवात्, तस्माद्वस्तूनामुत्पत्तौ देशकालादिभिन्नप्रकारत्वात् व्यावृत्तात्मस्वरूपत्वात् भिन्ना एवार्था इत्याशङ्कते—**अथोच्यत इति** । अनुमानप्रयोगतो वस्तूनां भिन्नत्वं साधयति—**भिन्न एवासाविति,** घटो भिन्न एव पटादिभ्यः भिन्नप्रकारत्वात् वादिप्रतिवादिमतिवचनवदिति मानम् । भिन्नप्रकारत्वं दर्शयति—**वर्णेति,** घटस्य वर्णो रक्तः पटस्य शुक्लः, संस्थानं पृथुबुध्नादि, पटस्यातानवितानादि, घटस्य प्रयोजनं जलाहरणादि, पटस्य शीतापहरणादि, तदेवं वस्तूनां वैलक्षण्याद्भिन्नप्रकारत्वं नासिद्धं ततः सिद्धमेवान्यथात्वं तस्माच्च भिन्नत्वं भिन्नत्वाच्चासर्वरूपता असर्वरूपत्वाच्च सर्वरूपोपलब्धिर्बाधितेति भावः । त्वदीयं साधनं न मत्पक्षप्रतिकूलम्, नवा युक्तं तदेव मत्पक्षं साधयतीत्याह—**एतच्च न तुल्यत्वादिति** । अस्तित्वैकत्वादिना सर्वेषामात्मलाभः समानो देशकालाकारादिभेदेऽपि तस्माद्घटोऽभिन्न एव पटादिभ्यः, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादेकवदित्याह—**येन प्रकारेणेति** । दृष्टान्तं

रत्वादिति यस्त्वयोक्तः, आत्मलाभेऽभिन्नप्रकारत्वादिति स वक्तव्यः, एकवदिति दृष्टान्तः, यथैको घटः पटो वा भवन्नूर्द्ध्वादिनवादिदेशकालप्रकारेण भिन्न इत्यभिमतोऽप्यभिन्न एव, अस्तित्वैकत्वघटत्वाभेदात्, एवं घटादिस्तथा सर्वभावा अभिन्नप्रकारात्मलाभात् स्युः, मा मंस्था असिद्धो हेतुरित्यत आह—न हि ताभ्यामस्तित्वैकत्वाभ्यां घटस्यान्यत्वमस्ति, स त्वेक एव घटो यस्मात् घटा[त्]सर्वभेदभाजः तयोरस्तित्वैकत्वयोरन्यत्वं, न हीति वर्त्तते,-सर्वान् पटकटरथादीन् भेदान् स्वगतानूर्द्ध्वादिनवादीन् भजमाना[त्]घटादस्तित्वैकत्वयोरनानात्वम्, ततः किं? त[त]स्तदनन्यत्वे-घटास्तित्वैकत्वानन्यत्वेऽभिहितन्यायेन सिद्धे सर्वभावा घटादयोऽपि ततोऽनन्ये, तदस्तित्वैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वात्, घटवदित्युक्तत्वात्, अत आह—तेषामपि घटात्मकत्वं पटादीनाम्, तदनर्थान्तरत्वात् घटस्वात्मवदिति भावितार्थोऽयमतीतार्थोपसंहारः ।

अत्राह—

नन्वेकत्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यत इति, ननु तत् सर्वसिद्धान्तेष्वपि, प्रत्यक्षसिद्धमन्यथा मत्वा मोक्षायाऽऽयत्यत इति न वा पुनरन्या विमतिः कार्या ।

(**नन्विति**) नन्वेकत्वे प्रत्यक्षसिद्धं तृप्तिसुखादि विरुध्यत इति—इत्थं सर्वमेकं सर्वात्मकमिति ब्रुवतस्ते प्रत्यक्षदृष्टं भेदेनाशनायितभुक्त्यनन्तरा तृप्तिर्बुभुक्षाविरोधिनी तदनन्तरभावि च सुखं दुःखविरोधीत्येवमादि विरुध्यते, न हि प्रत्यक्षविरुद्धं प्रतिज्ञातुं योग्यमित्यत्र ब्रूमः—ननु तत्सर्वसिद्धान्तेष्वपि, प्रत्यक्षसिद्धमन्यथा मत्वा मोक्षायाऽऽयत्यत इति—ननु विषयसुखानामतथात्वात् दुःखप्रतीकारमात्रत्वात् दुःखसम्मिश्रत्वात् दुःखभूयिष्ठत्वात् नात्यन्तिकत्वाच्च दुःखत्वमेव, तृप्तेरपि गृद्ध्यभिलाषजननहेतुत्वादतृप्तित्वमेवेति मत्वा निराबाधमपराधीनमात्यन्तिकमैकान्तिकं विषयसुखविपरीतं कथं नाम मुक्तिसुखं निर्द्वन्द्वं प्राप्नुयामेति शास्त्रप्रामाण्यात् सर्वसिद्धान्तप्रसिद्धप्रवृत्तित्वात्, न वा पुनरन्या विमतिः कार्येति संयुक्तेरपि सर्वभावाः सन्तीति ग्राह्याः ।

व्यावर्णयति—**यथैक इति** । ऊर्द्ध्वमध्यादिभेदभिन्नाभिमतोऽप्येकः—घटः पटः कटो रथोऽस्तित्वैकत्वघटत्वैरभिन्नप्रकारत्वादभिन्न एव, तथा सर्वे घटपटादयो भावा अभिन्ना एवेति भावः । साधितमेव हि यत्रैकत्वमस्तित्वं घटत्वं वा तत्रास्तित्वैकत्वयोर्निष्कलेनैव स्वतत्त्वेन भवितव्यमनर्थान्तरत्वादिति, तस्मात् सर्वभावानां सिद्धान्येवाभिन्नानि प्रकाराण्यस्तित्वैकत्वघटत्वानीत्याह—**मा मंस्था इति । न हीति,** अस्तित्वैकत्वाभ्या घटस्य सर्वभेदभाजो घटाद्वाऽस्तित्वैकत्वयोरर्थान्तरता नहि वर्त्तत इति भावः । एवञ्च घटादस्तित्वैकत्वयोरनन्यत्वे सिद्धे सर्वभावेभ्योऽपि तयोरनन्यत्वं, तदस्तित्वैकत्वाभ्यामनर्थान्तरत्वात् घटस्वात्मवदित्युक्तमेवेत्याह—**तदनन्यत्व इति,** सर्वसर्वात्मकत्वसाधनोपसंहारग्रन्थोऽयमिति भावः । नन्वेवं सर्वसर्वात्मकत्वप्रतिज्ञेयं तृप्तिसुखादेर्बुभुक्षादुःखादिविरोधित्वेन प्रकाशकेन प्रत्यक्षेण विरुद्धेत्याशंक्य समाधत्ते—**नन्वेकत्व इति** । व्याचष्टे—**इत्थमिति,** एकस्य सर्वात्मकत्वमभिदधानस्य भवतो बुभुक्षाविषयीभूतपदार्थभुक्त्यनन्तरं या तृप्तिः सा बुभुक्षाविरोधिनी तृप्त्यनन्तरं यत्सुखं तद्दुःखविरोधीति पार्थक्येन प्रत्यक्षतो दृष्टं विरुद्ध्यते, न हि प्रत्यक्षविरुद्धं वस्तु प्रतिज्ञातुं योग्यमित्यर्थः । समाधत्ते—**नन्विति,** ननु तत् प्रत्यक्षविरुद्धार्थप्रतिज्ञानं सर्वेष्वपि सिद्धान्तेषु दृश्यत एव, तथाप्रतिज्ञानञ्च मोक्षमार्गप्रवृत्त्यर्थमिति भावः । प्रत्यक्षसिद्धस्यान्यथामननमेवादर्शयति—**ननु विषयसुखानामिति** । प्रत्यक्षसिद्धमपि विषयसुखमसुखं मन्यते, न हि तद्वास्तविकं सुखं, विरज्याभावप्रसङ्गात्, शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, किन्तु तद्विषयाणामलाभे यद्दुःखं भावि तत्प्रतीकारमात्रमेव, दुःखसमानाधिकरणमपि, अत एव तद्दुःखभूयिष्ठं स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानकालीनञ्चेति दुःखमेव, जातायामपि हि तृप्तौ महती लालसा जायते, तन्नाशात्, ततोऽधिकतमतृप्तिप्रेप्साया

तथा—

अनुत्पादादपि सर्वभावाः सन्ति, यदि हि तद्वस्तूत्पद्येत विनश्येद्वा ततः प्राक् पश्चाद्भाववन्मध्येऽप्यभावः स्वभावस्वाभाव्यात्, न स्यादेकरूपं भेदवद्वा स्यात्, या त्वया तर्क्यते सा सम्भाव्येतोत्पत्तिविनाशसद्भावे, न तु कस्यचिद्वस्तुन आदिरन्तो वा, वस्तुत्वात्यागात्, न हि वस्तु स्वरूपं त्यजति, शिवकादिकपालादिघटमृद्वत् ।

(**अनुत्पादादपीति**) अनुत्पादादपि सर्वभावाः सन्ति, यदि हीत्यादि—यदि हि तद्वस्तूत्पद्येत, उत्पन्नत्वाच्च विनश्येदेवेति-उत्पद्येत विनश्येद्वा, ततः किं? ततः प्रागभावः उत्पत्तेः, पश्चादभावो विनाशात्, तद्वन्मध्येऽप्यभावः स्वभावस्वाभाव्यात्, न स्यादेकरूपमिति भेदवद्वा स्यात्, त्वदिष्टशून्यता वा स्यात् वाशब्दात्, य[ा]त्वया तर्क्यते तस्योपपत्तिः सम्भाव्येतोत्पत्तिविनाशसद्भावे, किं तर्हि? न तु कस्यचिद्वस्तुन आदिः—उत्पत्तिः, अन्तो—विनाशो वाऽस्ति, कस्मात्? वस्तुत्वात्यागात्, न हि वस्तु स्वरूपं-वस्तुत्वं त्यजति, किमिव? शिवकादिकपालादिघटमृ[द्व]त्-यथा हि घटः शिवकस्तूपकछत्रककुशूलघटावस्थासु भेदाभिमतासु मृत्त्वाभेदान्मृदेव कपालशर्करिकाधूलित्रुटिपरमाणुष्वपि मूर्त्तत्वान्मृदेवाद्यन्तरहिता, तथाऽन्यदपि विज्ञानादि वस्तुत्वात्यागादिति नास्त्युत्पादस्तदभावाद्विनाशोऽभावः ।

अनाद्यनन्तमूर्त्तिर्मूर्त्तवच्चामूर्त्तमप्यनुत्पादविनाशाभ्यामनाद्यनन्तम्, अतोऽसौ तथाऽवस्थित एकस्वभावो निर्भेदः भेदासम्भवात्, उत्पादविनाशाभ्यां हि भेदः सम्भाव्येत, स तु न भवति ।

(**अनादीति**) किञ्च प्रत्यक्षमेवानाद्यनन्तत्वान्मृच्छिवककपालादिविपरिवर्त्तेष्वपि रूपादितत्त्वस्योत्पादविनाशाभावादनाद्यनन्तमूर्तिर्मूर्त्तवच्चामूर्त्तमपि वस्तुत्वात्यागादनुत्पादविनाशाभ्यामनाद्यनन्तम्,

---

वेति मन्वानो विषयसुखानि जुगुप्समानस्तद्विपरीतस्वभावं सुखं निर्बाधमात्यन्तिकं शास्त्रतोऽवगत्य तदधिजिगमिषया तत्तत्सिद्धान्तोदिताध्वनि प्रवर्त्तेत इति नात्र विशेषा शङ्का युक्तेति भावः । एवं संयुक्तेः सर्वभावसद्भावमभिधायानुत्पादादपि तत्सद्भावं रूपयति-**अनुत्पादादपीति**। घटपटादीनामुत्पादविनाशयोरुररीकृतयोरुत्पादात् प्राक् पश्चाच्च विनाशान्मध्येऽप्यभावः स्यात्, उक्तं हि 'आदावन्ते च यन्नास्ति तस्य मध्येऽपि का कथा'। इति, प्राक् पश्चाच्चासतो मध्येऽप्यसत्त्वं स्वभाव', तत्स्वाभाव्यादिति व्याकरोति-**यदि, हीति** वस्तूनामुत्पादाभ्युपगमे विनाशोऽवश्यम्भावीति भावः । भवत्विति चेत्तत्र दोषमाह-**तत इति,** उत्पादविनाशवत्त्वादित्यर्थः, ताभ्यां पूर्वं पश्चाच्च तस्याभावात् मध्येऽप्यभावः, तथा नियमस्वाभाव्यादिति भावः । स्थित्यैकरूपत्वन्तूत्पादविनाशदर्शनान्न भवतीति भेदरूपता शून्यता वा त्वदिष्टा स्यादित्याह-**न स्यादिति**। अस्तित्वैकरूपता मा भूदिति उत्पादविनाशाभ्यां भेदरूपता स्यात्, आद्यन्तयोर्जाताजातयोरनुत्पादाच्छून्यता या त्वया तर्किता सा वोपपत्तिभिः स्यादिति सम्भाव्येतेति भावः । यद्वा तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादविनाशौ भवतः स्वस्वरूपात्यागात् तदा स्थित्यैकस्वरूपो भावः, स्वस्वरूपावस्थानात्, उत्पादविनाशप्रयुक्तभेदरूपत्वासम्भवान्निर्भेदरूप इत्याशयेनाह-**न तु कस्यचिदिति**। वस्तु आद्यन्तरहितं स्वस्वरूपापरित्यागात्, शिवकादिकपालादिघटमृद्वदिति प्रयोगः, यथा घटस्यादित्वेनाभिमता अवस्थाः शिवकस्तूपकादयः, अन्तत्वेनाभिमताः कपालशर्करिकादयः एतासु घट एक एव मृद्रूपो मूर्त्तश्चेति स्वस्वरूपापरित्यागोऽस्ति, सर्वस्य मृत्त्वादेव नोत्पादो न वा विनाशः, तथैव विज्ञानादीनामपि वस्तुत्वात्यागादाद्यन्तशून्यतेति भावः । एवं शिवकस्थासकाद्यवस्थाभेदेऽपि यथा घट एक एव मृद्रूपो मूर्तश्च, मूर्त्तत्वरूपस्वस्वरूपापरित्यागाच्चानाद्यनन्त एवममूर्त्तमप्यनाद्यनन्तमेकरूपञ्चेत्याह-**अनाद्यनन्तेति** । व्याचष्टे-**किञ्चेति,** मृच्छिवकस्तूपकछत्रककुशूलघटकपालशर्करिकादित्रुटिपरमाणुषु मूर्त्त्यात्मका ये रूपादयस्तेषामनाद्यनन्तत्वमुत्पादविनाशाभावात् प्रत्यक्षसिद्धमेव, एवञ्च

तस्मात् सततम[व]स्थानमेव वस्तुनः, तदुपसंहरति—अतोऽसौ तथाऽवस्थित एकस्वभावो निर्भेद इति भेदासम्भवात्—भेदसम्भवकारणाभावात्, तद्दर्शयति वैधर्म्येण—उत्पादविनाशाभ्यां हि भेदः सम्भाव्येत, स तूक्तविधिनाऽनाद्यनन्तत्वान्न भवतीति।

अत्राऽऽह—

नन्वनिष्ठितं प्राक् पश्चादारम्भात्, आरम्भवचनात्, तत्र यदि निष्ठितं स्यात् निष्ठितत्वान्नारभ्येत निष्पन्नघटवदिति, इदं विप्रतिषिद्धं यद्यनिष्ठितं अनिष्ठितत्वादसत् खपुष्पवत्, इतरो घटवत्, यथा घटो मृद्रूपादित्वेन निष्ठित एव सन्नाकारान्तरव्यक्तिरूपतो व्यज्यते, यदि न तथाऽऽरभ्येत किं न खपुष्पादद्रव्यादेर्वाऽऽरभ्यते ?।

नन्वनिष्ठितमित्यादि, ननूक्तं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते—पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्याणि स्वतः स्वात्मनि द्वे बहूनि वा परस्परसंयोगापेक्षाणि आरभन्ते, कार्यद्रव्यमन्यत्, गुणाश्चारम्भकचतुर्विधद्रव्यसमवेताः स्वैरारब्धे कार्यद्रव्ये नियम[त] एव स्वतः परात्मनि गुणान्तरमारभन्ते, कर्म संयोगविभागसंस्कारानारभते परतः परात्मनि' ( ) इत्यादिनाऽऽरम्भवचनेनानिष्ठितं प्राक् पश्चादारम्भात् क्रिया क्रियातो निष्ठेत्यनिष्ठितम्, तत्र यदि निष्ठितं स्यात् निष्ठितत्वान्नारभ्येत निष्पन्नघटवदित्यत्र ब्रूमः—इदं विप्रतिषिद्धमित्यादि, विप्रतिषेधं भावयति—यद्यनिष्ठितमित्यादिना, अनिष्ठितत्वादसत् खपुष्पवत्, असत्त्वात्तद्वन्नारभ्यते, इतरो घटवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः यथा घटो मृद्रूपादित्वेन निष्ठित एव सन्नाकारान्तर-

---

अनाद्यनन्ता मूर्त्तिर्येषां मूर्त्तानां तद्वदमूर्त्तमप्यनाद्यनन्तमेव, स्वस्वरूपापरित्यागादिति भावः। एवञ्च मूर्त्तामूर्त्तानां सततास्तित्वमेवैत्येकस्वभावत्वमत एव च निर्भेदरूपत्वमित्याह—**अतोऽसाविति**। हेतुमाह—**भेदासम्भवादिति,** भेदस्य सम्भवे कारणमेव नास्तीति भावः। किं कारणं भेदस्य सम्भवे स्यात् यदभावान्निर्भेदमेकरूपं स्यादित्यत्राह—**उत्पादेति,** यदि ह्युत्पादविनाशौ स्तो भावस्य तदायं घटो न पटो भिन्नस्वभावत्वात्, अयन्तु पट एव न घटो भिन्नस्वभावत्वादिति भेदः सम्भाव्येत, यदा तु स्वस्वरूपापरित्यागादनाद्यनन्तत्वं तदा कथं भेदस्य सम्भव इति भावः। ननु वस्तुनः स्थित्यैकरूपत्वाभ्युपगमे आरम्भोऽप्यभ्युपगत एव निष्ठानस्यारम्भपूर्वकक्रियापूर्वकत्वात् अभ्युपगते त्वारम्भे ततः प्राक् पश्चादनिष्ठितत्वं प्राप्नोतीति शङ्कते—**नन्वनिष्ठितमिति**। वैशेषिकशास्त्रे द्रव्यस्यारम्भ उक्त इति वर्णयति—**ननूक्तमिति,** द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते इति वचनं व्याचष्टे—**पृथिव्यादीति,** पार्थिवादिचतुर्विधपरमाणुद्रव्याणि स्वतो भिन्नं कार्यद्रव्यं समवायिकारणरूपे स्वात्मनि परस्परसंयोगस्वरूपासमवायिकारणमपेक्ष्याऽऽरभन्ते द्वे परमाणुद्रव्ये द्व्यणुकं बहूनि द्व्यणुकद्रव्याणि त्र्यणुकं बहूनि त्र्यणुकद्रव्याणि चतुरणुकमिति भावः। पार्थिवादिचतुर्विधपरमाणुगता रूपादयो गुणाः परमाणुभिरारब्धे कार्यद्रव्ये परात्मनि स्वसजातीयगुणारम्भकत्वनियमात् गुणान्तराण्यारभन्त इत्याह—**गुणाश्चेति**। कर्म संयोगं विभागं वेगं स्थितिस्थापकञ्च द्रव्ये आरभत इत्याह—**कर्मेति,** द्रव्यं स्वतः स्वात्मनि द्रव्यान्तरमारभते गुणः स्वतः परात्मनि गुणान्तरम्, कर्म च परतः परात्मनि संयोगादीनिति भावः। अनेनारम्भवचनेनाऽऽरम्भात् पूर्वं पश्चाच्च वस्त्वनिष्ठितमित्याह—**इत्यादिनेति**। कुतस्तथाऽनिष्ठितमित्यत्राह—**आरम्भादिति,** निष्ठानस्याऽऽरम्भपूर्वकक्रियापूर्वकत्वादित्यर्थः। यद्यनिष्ठितत्वमनङ्गीकृत्य निष्ठितत्वमेवेत्यभ्युपगम्यते तर्ह्यारम्भ एव न स्यात् निर्वृत्तघटवदित्याह—**तत्र यदीति,** एवञ्चारम्भात् प्राक् पश्चाच्च वस्तुनोऽनिष्ठितत्वेन मध्येऽप्यनिष्ठितत्वं स्यादिति शून्यवाद्यभिप्रायः। अनिष्ठितस्यैवाऽऽरम्भो भवति निष्ठितस्य नारम्भो निष्ठितत्वादिति मतमेव विप्रतिषिद्धमिति समाधत्ते—**इदमिति**। वस्तुनोऽनिष्ठितत्वे खपुष्पवदसत् स्याद्वस्तु तथासति च खपुष्पवदेव नारम्भविषयोऽसत्त्वादित्याह—**अनिष्ठितत्वादिति**। निष्ठितमेवारभ्यत इति वैधर्म्यं दर्शयति—**यथेति,** मृदादिरूपेण निष्ठित एव घटः, तस्मादेव चाऽऽकारान्तरस्य पृथुबुध्नादेर्व्यक्तिः-व्यञ्जनं प्रकाशो भवति, तेन रूपेण पृथिव्यादिना घटादि-

व्यक्तिरूपतो व्यज्यते पृथुबुध्नोर्द्ध्वग्रीवादिना, [यदि] न तथारभ्येतेति, तद्व्यक्तिः, किं न खपुष्पादद्रव्यादेर्वाऽऽरभ्यत इति, द्रव्यगुणकर्मादिभेदवद्वस्तुविपरीतात् कुतश्चिदनारम्भान्निष्ठितत्वादेव उत्पत्तिरभिव्यक्तिरारम्भः।

एतदुक्तं भवति संक्षेपतस्तद्रूपशक्तिविवर्त्तमात्रन्त्वेतत्सर्वम्, भावैकत्वात्, अतो नानिष्ठितं निष्ठितमेव वस्तु, अनारब्धारब्धत्वात्, यच्चानारब्धारब्धं तन्निष्ठितमेव, शिक्यकादिवत्, यथाऽऽनारब्धमपि शिक्यकत्वेन सूत्रं शक्तत्वान्निष्ठितमेवमन्यदपि वस्तु, अथैवमपि नेष्यते अनारब्धानि तानि, अनिष्ठितत्वात् खपुष्पवत्।

(**एतदिति**) एतदुक्तं भवति संक्षेपतः तद्रूपशक्तिविवर्त्तमात्रन्त्वेतत् सर्वमिति किं कारणं? भावैकत्वात्—एकस्यैव पुरुषादेर्भावस्य कारणमात्रस्य विजृम्भितत्वात् कार्यत्वावस्थामात्रभेदेन, तदुपसंहृत्याह—अतो नानिष्ठितमित्यादि, निष्ठितमेव वस्तु नानिष्ठितम्, कस्मात्? अनारब्धारब्धत्वात्—अनारब्धं कर्माभिव्यक्तिरूपेण, आरब्धं केवलकारणकालीनशक्त्यवस्थत्वेन, यच्चानारब्धारब्धं तन्निष्ठितमेव नानिष्ठितम्, किमिव? शिक्यकादिवत्—यथाऽनारब्धमपि शिक्यकत्वेन सूत्रं शक्तत्वान्निष्ठितमेवमन्यदपि वस्त्विति, यथा यज्ञोपवीतसूत्रादिदृष्टान्तैर्भावयितव्यम्, अथैवमपीत्यादि—इत्थं युक्त्या प्रतिपादितमप्यवस्थानं वस्तुनो

व्यज्यत इति भावः। इत्थमेव निष्ठितादारम्भो नान्यथा, यदि तु निष्ठितात्तथा नारभ्येत तदा खपुष्पादद्रव्यादेर्वा कुतो नारभ्यते किञ्चिदित्याह—**यदि न तथेति,** तद्व्यक्तिरिति शेषः। उपसंहरति—**द्रव्यगुणेति,** द्रव्यं गुणः कर्म वा भेदवद्वस्तु, द्रव्याणीत्यादिदर्शितवचनात्, ततो विपरीतात् कुतश्चिदारम्भो न भवति, द्रव्यगुणकर्माणि च निष्ठितानि, तस्मादेव चोत्पत्तिर्वाऽभिव्यक्तिर्वाऽऽरम्भपदवाच्या भवतीति भावः। पुरुषविवर्त्तमात्रं पृथिव्यादि सर्वम्, तस्यैव मूर्त्तामूर्त्तभेदेन विपरिवृत्तेरित्याह—**एतदुक्तं भवतीति।** पुरुषो हि चेतनाचेतनरूपेण भवनशक्तः तस्यैवैतत्सर्वं विवर्त्तमात्रम्, जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयाख्यचतुरवस्थं जगत् ताश्चावस्थाः पुरुषस्य ज्ञस्यैव भवनोपपत्तेरन्यस्य भवितुरभावात् पुरुषो भाव एकश्च तस्यैव च कार्यभूतावस्थाभेदेनेदं सर्वं विजृम्भितमित्याशयेनाह—**एतदुक्तमिति।** हेतुमाह—**भावैकत्वादिति,** पुरुष एवाद्वितीयो भावो घटपटादिविचित्रकार्यजननयोग्यतात्मकशक्तिमत्त्वेन शक्तिवैचित्र्यात् जाग्रदादिविचित्रावस्थारूपेण कार्यात्मतया विजृम्भते, पुरुषस्यैकत्वाच्च सर्वकार्यजातस्यैकत्वं तस्यैव विजृंभितत्वाज्जगतः स जगच्चैको भवतीति भाव इति तात्पर्यम्। एवञ्च पुरुषात्मकं वस्तु आरब्धमनारब्धमपि यदा पुरुषः कार्यरूपेणाभिव्यक्तो भवति तदानारब्धः, यदा च तच्छक्तिरूपेण कारणात्मनाऽऽस्ते तदाऽऽरब्धः तथा चानारब्धारब्धत्वान्निष्ठितमेव वस्तु नानिष्ठितमित्याह—**अतो नानिष्ठितमित्यादीति,** जगतो विचित्रशक्तिमत्पुरुषविजृम्भणमात्रत्वादेवेत्यर्थः। हेतुमाह—**अनारब्धेति।** कथं वस्त्वनारब्धमित्यत्राह—**अनारब्धमिति,** कार्यात्मनाऽभिव्यक्त्यवस्थं वस्तु अनारब्धमित्यर्थः। कथमारब्धमित्यत्राह—**आरब्धमिति,** कार्याभिव्यक्तिप्राक्कालीनं कार्यशक्त्यवस्थं वस्त्वारब्धमित्यर्थः। एवञ्चानारब्धारब्धत्वाद्वस्तु निष्ठितमेव भवति, शिक्यकादिवदित्याह—**यच्चेति।** दृष्टान्तं घटयति—**यथेति,** यथा हि सूत्रं कारणं शिक्यकं कार्यम्, यदा सूत्रं शिक्यकत्वेन न विजृम्भितमनारब्धं केवलं तच्छक्त्यवस्थमारब्धं तदा तन्निष्ठितमेव भवति, तथा मृदाद्यपि वस्तु निष्ठितमेवेति भावः। आदिपदग्राह्याणि दृष्टान्तान्तराण्यपि भाव्यानीत्याह—**यथा यज्ञोपवीतेति,** यज्ञोपवीतसूत्रवत् तन्तुपटवत्, सर्पस्फटाटोपमुकुलप्रसारणकुण्डलीकरणवदित्यादयो दृष्टान्ताः, पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां हि विच्छिन्नं न किञ्चिद्वस्त्वस्ति, यज्ञोपवीतपटस्फटाटोपाद्यवस्थानापन्नसूत्रतन्तुसर्पाणां तच्छक्त्यवस्थत्वान्निष्ठितत्वं यथेति भावः। इत्थं प्रमाणैरुपपादितमपि वस्तुनो निष्ठितत्वं यदि न मन्यते तदा दोषमाह—**इत्थं युक्त्येति,** द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्त इति यदुक्तं तत्रारब्धाभिमतानि द्रव्यान्तराण्यप्यनारब्धान्येव स्युः, अनिष्ठि-

१ सि० क्ष० डे० छा० वध्यते।

नेष्यते, अनिष्टापादनमिदं—अनारब्धानि तानि—द्रव्यान्तराण्यारब्धाभिमतान्यपि, अनिष्ठितत्वात्, खपुष्पवत्, अत्यन्तासत्त्वादित्यभिप्रायः ।

अथोच्येत आदिः प्रत्यक्षत एव घटादेर्दृश्यते भेदहेतुः, अत्र पृच्छ्यसे स किं नित्यः? उतानित्यः? यदि नित्यः सर्ववस्तुनित्यता, आदिस्वरूपत्वात् तन्नित्यत्वाच्च, क्रियमाणनिष्ठितयोश्चाभावात् तथाजन्यभेदाभावः, ततश्चास्मदिष्टोऽवस्थानपक्ष एव जयति, आदिप्रत्यक्षप्रमाणीकरणाच्च क्रियानिष्ठाप्रत्यक्षद्वयपरित्यागः तयोश्च दृष्टव्यभिचारमितरत्रैकस्मिन् प्रत्यक्षं कथं प्रमाणीकरिष्यत इति पुनरपि तद्धानिरिति सर्वथा त्वयैव प्रत्यक्षमप्रमाणीकृतम् ।

अथोच्येतेत्यादि, आदिरुत्पत्तिः प्रत्यक्षत एव घटादेर्दृश्यते, स च भेदहेतुः घटादेर्वस्तुनः, यदि ह्यनुत्पन्नाविनष्टं स्यात् स्यादभिन्नमिति, अत्र पृच्छ्यसे स किमित्यादि, स आदिरारम्भः स प्रत्यक्षाभिमतः किं नित्योऽनित्य इति निर्धार्यः, किञ्चातः? यदि नित्यः सर्ववस्तुनित्यता—सर्वेषां घटादीनाञ्च वस्तूनामविशेषेण नित्यत्वं स्यात्, आदिस्वरूपत्वात् तन्नित्यत्वाच्च, अनिष्टञ्चैतत् [एवं]ब्रुवतः, किञ्चान्यत्—क्रियमाणनिष्ठितयोश्चाभावात्तथाजन्यभेदाभावः—आदेर्नित्यत्वादादेरेव च वस्तुत्वादारम्भ एव आदिसंज्ञोऽस्ति न क्रियानिष्ठे स्तः, तयोश्च क्रियमाणनिष्ठितयोरभावात् तथाजनयितव्यस्य तेन प्रकारेण घटादित्वेनोत्पाद्यस्वभेदस्याभावः, ततश्चास्मदिष्टोऽवस्थानपक्ष एव जयति, किञ्चान्यत्—आदिप्रत्यक्षेत्यादि—आदिः प्रत्यक्षत एव भेदहेतुर्दृश्यते इति विशेष्यादिरेव प्रत्यक्षः प्रमाणीकृतो न क्रियानिष्ठे, तयोः प्रत्यक्षयोरपि परित्यागश्च कृतः, स च प्रत्यक्षविरोधादयुक्तः, तयोश्चेत्यादि, तयोश्च प्रत्यक्षयोः क्रियानिष्ठयोरप्रमाणीकरणे प्रत्यक्षमप्य-

---

तत्वात्, खपुष्पवदिति कारणे द्रव्ये द्रव्यान्तराणां कार्याणां शक्त्यात्मनाप्यसत्त्वेनानिष्ठितत्वादत्यन्तासत्त्वादिति भावः । ननु घटादीनामादिरुत्पत्तिः प्रत्यक्षत एव दृश्यते, एवं च भेदसम्भवकारणसद्भावादेकस्वभावं निर्भेदमनुत्पादविनाशाभ्यामनाद्यनन्तं वस्त्विति कथमित्याशङ्कते—**अथोच्येतेति ।** व्याख्याति—**आदिरुत्पत्तिरिति,** उत्पत्तौ सत्यामवश्यम्भावी वस्तुभेदः, अनुत्पन्नं सदविनष्टत्वे तु स्यादभिन्नं वस्त्वित्यर्थः । प्रत्यक्षत्वेन तेऽभिमत आरम्भः किं नित्योऽनित्यो वेति विकल्प्य दोषमाह—**अत्र पृच्छ्यस इति ।** नित्यत्वपक्षेऽनिष्टमाह—**यदि नित्य इति,** यद्यादेर्नित्यत्वं तर्हि घटपटादिनिखिलवस्तूनामादेर्नित्यत्वात् तेषामपि नित्यता स्यात्, नित्यधर्मवद्धर्मिणो नित्यत्वात्, अन्यथा कस्यासावादिर्नित्यः स्यादिति भावः । घटादीनामादित्वस्य प्रत्यक्षदृश्यत्वं ब्रुवतस्ते तन्नित्यताऽनिष्टेत्याह—**अनिष्टञ्चैतदिति ।** आरम्भनित्यत्वे घटादिभेदानामभावान्निर्भेदमनाद्यनन्तं नित्यावस्थानरूपं वस्त्वेव सर्वोत्कर्षेण वर्त्तत इत्यस्मत्पक्षस्यैव जय इत्याह—**क्रियमाणेति,** क्रियानिष्ठयोरभावः, आदेरारम्भसंज्ञस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्, तथा च क्रियानिष्ठाविषयाभावः कार्योन्मुखशक्तिनि कारणे परमाणुषु प्रधाने वा परस्परसंश्लेषाय प्रयोगाख्यः क्रिया जायते स एवारम्भः, तस्यां क्रियायां सत्यां कारणेषु कार्यव्यक्तिः प्रजायते, इयमेवोत्पत्तिरभिव्यक्तिर्वा क्रियेत्युच्यते जाता सा कार्यव्यक्तिः कारणशक्तिभिर्नियम्यते येन तत्रैव तिष्ठति, एवं वस्तुस्थितिरारम्भक्रियानिष्ठानाम्, एवञ्च क्रियानिष्ठयोरभावे जनयितव्यस्य—घटादित्वेनोत्पाद्यस्याभावात् कारणमात्रस्यावस्थानमेव प्राप्तं नादिर्नान्तो वा ततश्चास्मत्पक्षस्यैव सर्वोत्कर्षेण वर्त्तनं सिद्धमिति भावः । आदिक्रियानिष्ठानामविशेषेण प्रत्यक्षाणामपि भेदहेतुरादिः प्रत्यक्षत एव दृश्यत इति क्रियानिष्ठे परित्यज्य विशिष्योक्तत्वात् क्रियानिष्ठे न प्रत्यक्षेण प्रमाणीकृते; आदिरेव तु प्रत्यक्षत्वाद्गृहीतः क्रियानिष्ठे प्रत्यक्षेऽपि त्यक्ते, तयोस्त्यागश्च प्रत्यक्षविरोधादयुक्त इत्याह—**आदिः प्रत्यक्षत एवेति ।** एवञ्च क्रियानिष्ठयोः प्रत्यक्षयोरप्यप्रमाणीकरणे तत्प्रत्यक्षमप्रमाणं सञ्जातं ततश्चादिः प्रमाणं प्रत्यक्षदृश्यत्वादिति प्रत्यक्ष-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. क्रियमाणनिष्ठेयाः । २ सि. क्ष. छा. डे. प्रत्यक्षं प्रमाणीकृतं न क्रियानिष्ठैतयोः ।

प्रमाणमिति दृष्टो व्यभिचारः, तद्दर्शनादादेरपि प्रत्यक्षस्य तद्वदेवाप्रामाण्यात् पुनरप्यादेः प्रत्यक्षस्य त्यागः इति सर्वथा त्वयैव प्रत्यक्षमप्रमाणीकृतम्, एवं तावदादेर्नित्यतायां दोषः ।

अथादिनित्यतायां दोषात् निर्वृत्तनित्यत्वमभ्युपगच्छसि यस्मान्न परैकतेति, नन्वेवमपि कुतो भेदः? नित्यनिष्ठितत्वे नारम्भोऽस्ति न क्रियेत्यभ्युपगतत्वात् कुतो भेदः?, अथानित्यत्वमभ्युपगम्यते चेत् स किमादिर्जातोऽजात इत्यादित्वत्पर्यनुयोगवदेव दोषाः, यदि जातः तस्यैवानुत्पादो जातत्वान्निर्वृत्तघटवदित्यादि त्वदुक्तवदेवेदं न युज्यते, अन्तेऽपि च त्वदुक्तदोषाविमोक्षात् यावदथोच्येतान्तः प्रत्यक्षत एव भेदहेतुर्दृश्यत इति पूर्वपक्षे स किं नित्योऽनित्य इत्यादि स एव पर्यनुयोगो वाच्यः ।

अथादिनित्यतायामित्यादि, एतद्दोषभयादादिनित्यत्वपक्षं त्यक्त्वा निर्वृत्तनित्यत्वमभ्युपगच्छसि दोषाभावश्च यस्मान्न परैकतेति–इत्थं हि निर्वृत्तनित्यतायां त्वयोक्तं सावैक्यं तच्च नास्ति, पृथग्विभिन्नस्वरूपत्वादित्यत्र ब्रूमो नन्वेवमपीत्यादि, यदि नित्यनिष्ठितमेव वस्तु ततो नारम्भोऽस्ति न क्रियेत्यभ्युपगतत्वात् कुतो भेदः–आरम्भः क्रिया लभ्यत इति भेदाभाव एवास्मदिष्टः प्रसक्तः, एवं तावदादिनित्यतायां दोषः, अथेत्यादि, एतद्दोषभयादादेरनित्यत्वमभ्युगम्यते चेत्त्वया तत इत्थं पर्यनुयोज्योऽसि, स किमादिर्जातोऽजात इत्यादित्वत्पर्यनुयोगवदेव त्रिष्वपि विकल्पेषु त्वदुक्तदो[ष]वद्दोषा इति, दिशं दर्शयति–यदि जातस्तस्यैवानुत्पादो जातत्वात्, निर्वृत्तघटवदित्यादेरिति प्रथमविकल्पमुक्त्वा शेषं ग्रन्थमतिदिशति–त्वदुक्तवदेवेदं न युज्यत इत्यजातजाताजातविकल्पयोरपि त्वदुक्ता दोषा इत्युत्पादाभावः, अन्तेऽपि चेत्यादि, अन्तेऽप्युत्पादाभावः, विनष्टाविनष्टविनष्टाविनष्टविकल्पेषु त्वदुक्तदोषाविमोक्षात् यावदथोच्येतान्तः प्रत्यक्ष[त]एव भेदहेतुर्दृश्यत

दर्शनं क्रियानिष्ठयोरप्रमाणयोर्व्यभिचरितमित्याह–**तयोश्चेति** । ततः किमित्यत्राह–**तद्दर्शनादिति,** व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः, एवञ्चादिरपि प्रत्यक्षमप्रमाणम्, प्रत्यक्षदृश्यत्वात् क्रियानिष्ठाप्रत्यक्षवदिति क्रियानिष्ठयोः प्रत्यक्षयोस्त्यागवदादेः प्रत्यक्षस्यापि त्यागः स्यादिति सर्वथा प्रत्यक्षस्याप्रमाणता त्वयैव कृतेति आदेर्नित्यत्वपक्षे दोष इति भावः । नन्वादेर्नित्यत्वे यदि प्रोक्तदोषसम्भवस्तर्हि निर्वृत्तस्य–निष्पन्नस्य नित्यत्वमिष्यत इत्याशङ्कते–**अथादीति** । व्याचष्टे–**एतद्दोषेति,** सर्ववस्तुनित्यतेत्यादिदोषेत्यर्थः, निर्वृत्तनित्यत्वे तु घटपटरथकटादिभेदानां निर्वृत्तानां नित्यत्वात् परेण साकमैक्यं न सम्भवति, भिन्नभिन्नस्वरूपत्वात्तेषाम्, आविर्भावतिरोभावसम्भवे हि अवस्थावस्थावतोरैक्यात् सर्वेषामेकता भवेत्, स च नास्तीति भावः । तथैव व्याचष्टे–**इत्थं हीति** । एवं तर्हि त्वया नित्यनिष्ठितत्वमभ्युपगतम्, तच्च न सम्भवति, निष्ठाया आरम्भपूर्वकक्रियापूर्वकत्वात्, आरम्भक्रिययोश्च त्वयाऽनभ्युपगतत्वात् कथं निर्वृत्तता घटादीनां येन निर्वृत्तनित्यता स्यात्, तस्मात् कारणमात्रं निर्भेदं वस्त्वेव सिद्ध्यतीत्युत्तरयति–**यदि नित्यनिष्ठितमेवेति** । अथादेर्नित्यत्वमपहायानित्यत्वं यद्यभ्युपगम्यते तत्रापि जातत्वमादेरजातत्वं जाताजातत्वं वेति पृष्टे किमाश्रीयत इत्याह–**एतद्दोषभयादिति,** परसिद्धान्तप्रसङ्गभयादित्यर्थः । एते विकल्पास्त्वयैवोद्भाव्य दूषिताः, तथैवात्रापि दोषाः भवन्तीति दिङ्मात्रेण दर्शयित्वा त्वदुक्तिवदेवेत्यतिदिशति–**इत्यादीति** । जातपक्षे चोत्पादाभावो जातत्वादेव निर्वृत्तघटवदिति त्वदुक्तदोषोऽत्रापीति विकल्पमेकमादर्श्य शेषविकल्पावतिदिशति–**यदि जात इति** । अजातविकल्पेऽप्यनुत्पाद एव, अजातत्वात्, जाताजातविकल्पेऽप्युभयपक्षदोषो वादिनोक्त इति स एवात्रापीत्याह–**इत्यजातेति** । अन्तपक्षेऽपि त्वयोदितं दोषजातमेवात्रापि वाच्यमित्यतिदिशति–**अन्तेऽपीति,** अन्तेऽपि किं विनष्टोऽविनष्टो विनष्टाविनष्टो वा विनश्यतीति विकल्प्याद्येऽनुत्पाद एव विनष्टत्वात्, विनष्टघटवत्, द्वितीये नाविनष्टो विनश्यति, अभूतविनश्यद्भावत्वादक्षतघटवत्, असम्भवाच्च तृतीयः उभयदोषाच्चेति त्वयोक्तमेव दोषजातं वाच्यम्, तदविमोक्षणादिति भावः । अनुपदोक्तं भेदहेतुभूतान्तप्रत्यक्षमाशङ्क्य आदिप्रत्यक्षशंकोक्तोत्तरमेवाति-

१ सि. क्ष. छा. डे. अतोकुमपिचे० । २ सि. क्ष. छा. डे. यावयथोचेतांतः ।

इत्यस्मिन् पूर्वपक्षे स किं नित्योऽनित्य इत्यादि पर्यनुयोगः, विशेषस्त्वत्रान्तप्रत्यक्षप्रमाणीकरणाच्चारम्भक्रियमाणप्रत्यक्षद्वयपरित्यागः, तयोश्च दृष्टव्यभिचारमितरत्रैकस्मिन् प्रत्यक्षं कथं प्रमाणीकरिष्यत इति पुनरपि तद्धानिरिति वाच्य इत्यतिदेशफलम्, एवमनुत्पादात् सर्वभेदैक्यसिद्धिः ।

किञ्च–

सामग्रीदर्शनादपि सर्वास्तित्वसिद्धिः, तथा च तदेवैकं सर्वात्मकं स्वं परमुभयञ्च तमर्थं सम्पादयति, सा च सामग्री दृश्यते प्रत्यक्षतः, सामग्री अशेषभावानां भावान्तरं प्रति वृत्तिः यथा पृथिव्यादिसामग्री तं तमर्थं प्रति, वस्तुनोऽनेकशक्त्यात्मकस्यैकस्य व्यक्ताव्यक्तशक्त्यपेक्षत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वात्, सामग्र्यामेवंदर्शनमेव संवादेन रूपादिपृथिव्यादिपरस्परसामग्रीघटपटादीति दृश्यते संज्ञायते प्रवर्त्तते चेतनं जगदिति ।

(सामग्रीति) सामग्रीदर्शनादपि–पुरुषनियतिकालस्वभावभावाद्यन्यतमकारणात्मकस्वावस्थादिभेदसामर्थ्यामेवैवंदर्शनादपि हेतोः सर्वास्तित्वसिद्धिः, तथा च–तेन प्रकारेणोत्पत्तिविनाशाभावादिप्रोक्तकारणतया तदेवैकं सर्वात्मकं स्वं परमुभयञ्च तमर्थं सम्पादयति सामग्री, स्वावयवात्मकत्वात्तस्याः, सा च सामग्री दृश्यते प्रत्यक्षतः, किं लक्षणा सामग्रीति चेदुच्यते–सामग्र्यशेष[भावानां]भावान्तरं प्रति वृत्तिः–एकैकस्मिन्नभिन्नैकात्मकवस्तुभेदमात्रे भावे भेदान्तरस्यैकैकस्य वृत्तिर्या सा सामग्रीत्युच्यते, तद्दर्शयति–यथा पृथिव्यादिसामग्र्यादि–पृथिव्युदकवह्निपवनगगनात्मादिसर्वसमूहात्मकः कार्पासः तद्रूपादयः, तत्समूहोऽणुः अणुसमूहा[:]पक्ष्माणि[तत्]समूहास्तन्तवः तत्समूहः पट इति तं तमर्थं प्रति सामग्री पृथिव्यु-

दिशति–**अथोच्येतेति** । विशेषमत्र पूर्वपक्षे दर्शयति–**विशेषस्त्वत्रेति,** आदिक्रियाप्रत्यक्षत्यागः अन्तमात्रप्रत्यक्षोक्तेः, तस्मात्तयोः प्रत्यक्षयोरप्रमाणता ततो व्यभिचारः प्रत्यक्षदृश्यतायाः, तस्याश्चाप्रामाण्येन सहदर्शनादन्तप्रत्यक्षमपि न प्रमाणं स्यात्, ततश्च तत्प्रत्यक्षस्यापि हानिः स्यादिति विशेषो वाच्य इत्यतिदिश्यमानवाच्यशब्देन गम्यत इति भावः । अनुत्पादहेतुं निगमयति–**एवमिति** । अथ सामग्रीदर्शनात् सर्वसिद्धिमाह–**सामग्रीदर्शनादपीति** । अवस्थाभेदरूपा या सामग्री तस्या एव भावान्तरसम्पादकत्वदर्शनादवस्थाभेदानाञ्चावस्थावत्पुरुषाद्यात्मकत्वात्, सर्वास्तित्वसिद्धिरित्याह–**पुरुषेति,** अवस्थाभेदाः पुरुषाद्यात्मकाः, पुरुषादिकारणमात्रस्य विजृंभितत्वादवस्थाभेदानाम्, ते चावस्थाभेदाः तथा तथा विपरिवर्तन्ते पुरुषादेरवयवत्वात्, तस्मादवस्थाभेदसामग्र्या एव तत्तदर्थसम्पादकतया दर्शनात् पुरुषादौ सर्वात्मकत्वं सिध्यति, पुरुषादयो हि व्यक्तशक्तिमव्यक्तशक्तिं वापेक्ष्य सर्वसर्वात्मका इति भावः । उत्पादविनाशाभ्युपगमे सर्वशून्यताप्रसङ्गादनुत्पन्नाविनष्टनिर्भेदैकस्वरूपकारणमात्रत्वात् पुरुषादेर्व्यक्ताव्यक्तात्मकतच्छक्तिरूपा सामग्री पुरुषादौ स्वं परमुभयञ्च तं तमर्थं सम्पादयतीत्याह–**तथा चेति,** सामग्री तदेवैकं सर्वात्मकं स्वं परमुभयञ्च तमर्थं सम्पादयतीति प्रेरकप्रयोगः, सम्पादयति–अधिगमयतीत्यर्थः । हेतुमाह–**स्वावयवेति,** शक्तिरूपा हि सामग्री पुरुषादेरवयवरूपैव, व्यक्ताव्यक्तशक्तिर्हि पुरुषादिः, सा च सामग्री प्रत्यक्षतो दृश्यत इति भावः । सामग्रीं लक्षयति–**साम ग्रीति,** कार्पासादिभावान्तरं प्रति भावानामशेषाणां पृथ्व्युदकज्वलनपवनगगनात्मादीनां वर्त्तनं प्रवर्त्तनमेव सामग्री, तदपि वर्तनं कार्पासादिभावान्तरं नातिरिक्तावयविरूपं किन्तु समूहात्मकमेवेति भावः । न च सामग्रीभावान्तरयोरैक्यं समुदायात्मकत्वात्तयोरिति वाच्यम्, सामग्र्याः समुदायानात्मकत्वादित्याशयेनाह–**एकैकस्मिन्निति,** कार्पासादिरूपे निर्भिन्नैकस्वरूपवस्त्ववस्थात्मके कारणकूटघटकस्यैकैकस्य भावान्तरस्य पृथिव्यादेर्यद्वर्त्तनं सा सामग्रीत्यर्थः, तस्मान्नैक्यमिति भावः । सामग्रीमेव दर्शयति–**यथा पृथिव्यादीति,** पृथिव्युदकज्वलनानिलगगनात्मरूपा सामग्री तत्समूहरूपस्य कार्पासस्य, पृथिव्यादेरेव रूपरसगन्धा-

१ सि. क्ष. छा. डे. सामग्र्यायैवैवं । २ सि. क्ष. छा. डे. मुभयञ्चेत्यतसमर्थं ।

दकादितद्रूपादिपटादिसमूहात्मिका, वस्तुनोऽनेकशक्त्यात्मकस्यैकस्य व्यक्ताव्यक्तशक्त्यपेक्षत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वात्, सामग्र्यामेवं दर्शनमेव संवादेनेत्यादि, एतेन सर्वसर्वात्मकैकवस्तुभेदसामग्रीदर्शनत्वेन संवादिरूपादिपृथिव्यादिपरस्परसामग्रीघटपटादीति दृश्यते संज्ञायते प्रवर्त्तते चेतनं जगत्, यथा विधिविधिनयभङ्गे प्राग् व्याख्यातम्, तस्मात् संसिद्ध्यादिभ्योऽपि हेतुभ्यश्चेतनात्मकैकवस्तुविजृम्भितमात्रमिदं सिद्ध्यतीति ।

अत्राऽऽह—

यदि सामग्र्यशेषता सर्वस्य सर्वत्र वृत्तेः तिलेषु तैलवत् सिकतास्वपि तैलं स्यात्, तत्राभाववत्तिलेष्वप्यभाव एव स्यात्, ननु यथा तिलेष्वव्यक्तं स्वाभिव्यक्त्युपायादुपलभ्यते तथा सिकतास्वप्यनभिव्यक्तं तैलं नोपलभ्यते, सिकताभूप्रदेशोप्ततिलबीजस्याङ्कुरमूलपर्णादिप्रभवः सिकतानामेव, तथातथा विपरिवृत्तेः, तद्वदुदकादिद्रव्येषु ।

यदि सामग्र्यशेषतेत्यादि, यद्यशेषं स्वभेदसामग्रीमात्रं सर्वस्य सर्वत्र वृत्तेर्यथा तिलेषु तैलं सत्तथा सिकतास्वपि तैलं स्यात्, तत्राभाववत्तिलेष्वप्यभाव एव स्यात्, न तु भवति, तस्मान्नाशेषं सामग्रीमात्रमित्यत्रोच्यते—ननु यथेत्यादि, को वा ब्रवीति सिकतासु नास्ति तैलं तिलेष्वेवास्तीति, किन्तु यथा तिलेष्वप्यव्यक्तं स्वाभिव्यक्त्युपायात् यंत्रपीडनादेः यत्नेन उपलभ्यते, चर्वणादिक्रियासु क्षीरवत्, ओस्वा-

---

दयः सामग्री तत्समुदायलक्षणकार्पासाणोः, अणवः सामग्री अणुसमुदायरूपपक्ष्मणाम्, पक्ष्माणि सामग्री तत्कूटरूपतन्तूनाम्, तन्तवः सामग्री तत्समुदायात्मकपटस्य, एवञ्च पृथिव्यादितद्रूपाद्यण्वादिपक्ष्मादितन्त्वादिरूपा तत्तत्समूहात्मककार्पासाणुपक्ष्मतन्तुपटादिभेदं प्रति सामग्रीति परस्परसामग्रीत्वात् व्यक्तमव्यक्तञ्च सर्वं सामग्री अनेकशक्त्यात्मकैकस्य वस्तुनो व्यक्ताव्यक्तशक्ती अपेक्ष्येते, अपेक्ष्य वस्तु सर्वसर्वात्मकं भवति, एवञ्च सर्वसर्वात्मकैकवस्तुभेदरूपा सामग्रीति भावः । इत्थमेवाह—**वस्तुन इति** तस्यां सामग्र्यामेवानाद्यनन्तशो विपरिवर्त्तमाना भावा दृश्यन्ते यथा द्रव्यमृत्पिण्डशिवकस्तूपकछत्रककुशूलघटकपालशकलशर्कराधूलिपांशुत्रुटिपरमाणुरूपादिपूर्वपूर्वसामग्र्यामुत्तरोत्तरा भावाः, तथा रूपादिपरमाणुत्रुटिपांशुधूलिशर्कराशकलकपालघटकुशूलछत्रकस्तूपकशिवकपिण्डमृद्द्रव्येषु पूर्वपूर्वसामग्र्यामुत्तरोत्तरा भावाः, एवं सर्वसर्वात्मकपुरुषाद्येकवस्तुभेदात्मककारणसूक्ष्मामूर्त्तज्ञात्मका रूपादयोऽमूर्त्तत्वेन सूक्ष्मां वृत्तिमत्यजन्त एव स्वप्रवृत्तिप्रभावावबद्धमूर्त्तत्वप्रक्रमान् परमाणूनध्यास्य नानाप्रभेदपृथिव्यादिभेदस्थूलरूपा जायन्ते, तदेतत्सर्वं पुरुष एव, तेनात्मत्वेन परिणमितत्वात् तद्द्रव्यत्वात्, तत्कार्यत्वात्, तेन विनाऽभूतत्वात्तद्व्यतिरेकेणाभावात्, तद्देशत्वाच्चेति निखिलं जगत् चेतनमित्याह—**सामग्र्यामेवंदर्शनमेवेति** । सर्वं पुरुषाद्यात्मकमित्येतत् विधिविधिनयभङ्गे व्याख्यातमेवेत्याह—**यथेति** । उपसंहरति—**तस्मादिति** । ननु सामग्री यद्यशेषरूपा, सर्वस्य सर्वं प्रति सामग्रीत्वात् तिलेषु तैलभवनवत् सिकतास्वपि तत्स्यात्, अविशेषात् सामग्र्या इत्याशङ्कते—**यदीति** । सर्वसर्वात्मकैकवस्तुनोऽवस्थाभेदरूपपृथिव्युदकवह्निपवनगगनात्मादिसमूहः सर्वत्र वृत्तेः सामग्री भवति यदि तर्हि यथा तिलेषु तैलं सत्तथा सिकतास्वपि तैलं सत् स्यात्, यदि च तासु न सत्तैलं तर्हि तिलेष्वपि न सत् स्यात्, न चैवमस्ति तस्मान्न व्यक्ताव्यक्तरूपं सर्वं स्वभेदात्मकं सामग्रीमात्रं सर्वस्येत्याशङ्कां प्रकटयति—**यद्यशेषमिति,** व्यक्ताव्यक्तात्मकं पृथिव्युदकज्वलनानिलगगनात्मादि सर्वमित्यर्थः । यद्यपि सर्वं सर्वत्र वर्त्तत इत्यशेषं स्वभेदसामग्रीमात्रं तथापि तत्तद्भेदाभिव्यञ्जकसाधनान्तरसन्निधाने सर्वं सर्वत्रोपलभ्यत एव, यथा तिलेषु तैलाभिव्यञ्जकयंत्रपीडनादिसाधनसमवधानेऽव्यक्तं तैलमभिव्यक्तं भवति यथा वा गोभुक्ततृणादावव्यक्तं क्षीरं चर्वणाद्यभिव्यञ्जकोपायादभिव्यज्यते, तस्मात् तिलेषु तैलमस्ति तृणादौ क्षीरमस्ति, एवमुत्खन्यमानमृद्गततिलसम्बन्धिमूलाङ्कुरादिषु सिकतादिषु चास्त्येव तैलमनभिव्यक्तमतो नोपलभ्यते न तु सिकतादिषु तैलाभावादित्याशयेन समाधत्ते—**ननु यथेत्यादीति** । सिकता-

---

१ सि. क्ष. डे. छा. °पायाद्यंतपीडनादेर्यतेन । २ सि. क्ष. छा. डे. आस्वाद्यमानक्षत्ति मूलां० ।

द्यमानक्षितिमूलांकुराद्यवस्थासु च तथा सिकतास्वप्यनभिव्यक्तं तैलं नोपलभ्यते, सिकताभूप्रदेशोप्रतिलबीजस्याङ्कुरमूलपर्णादिप्रभवः सिकतानामेव, तथा तथा विपरिवृत्तेः, सिकतानामभावे तिलमूलाद्यभावात् सिकतास्वेव तैलमस्ति, तद्वदुदकादिद्रव्येषु–समासदण्डकोक्तेषु द्रव्येष्वस्ति तैलं यावद्भाव्यमन्यस्यात्मनीति, तिलयो[न्यु]त्पन्नजीवद्रव्यस्यापि तैलत्वात् व्यक्ताव्यक्तरूपेण सर्वस्य सर्वत्र भावात् समानमेतत् ।

तथा—

सदा दर्शनात् संसिद्ध्यादिहेतुभिः सम्पादितसर्वात्मकैकवस्तुत्वाददर्शनाददृश्यमानभागान्तरासत्त्वेन कल्पिता अपि न परमार्थतोऽसन्तो न वा न दृश्यन्ते, भावितवदेकभवनात्मकत्वात् तदपृथग्भागान्तराणामपि दर्शनमेव, निर्विभागमेव हि सद्वस्तु, विभागेनेक्षणं भ्रान्तिरित्युक्तम्, तस्मात् स एवास्ति स्वतः परत उभयतश्चेति, यथोक्तं 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदुपान्तिके ॥ तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । (ईशा० १–५) 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥ तथाक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' ॥ (मुण्ड० २।१।१) इति, भावितानेकार्थद्रव्यार्थभेदवत्, यः पुनर्भेदः सोऽसत्येव भेदे भेदाभिमानः, तस्य क्रमाभिव्यक्तेः, एकद्रव्यस्वतत्त्वरूपादिवदिति ।

(**सदेति**) सदा दर्शनात्–सर्वदा भावस्य भावान्तरादर्शनेऽपि दर्शनमेव, कस्मात् ? संसिद्ध्यादिहेतुभिः सम्पादितसर्वात्मकैकवस्तुत्वात् प्राक्पश्चादितरेतरदेशप्रमाणसामर्थ्यसंयोगात्यन्ताभावानां प्रतिपक्षभूता भावा एवात्यन्ताभूताभिमतवन्ध्यापुत्रान्ता इत्युक्तत्वात् अत्यन्तसत्यास्ते सन्तोऽर्थाः, अदर्शनात्–दृष्टिशक्तिवैकल्याददृश्यमानभागान्तरा असन्त इति कल्प्येरन्[3], तत् [न] परमार्थतोऽसन्तः, न वा न दृश्यन्ते,

मयभूप्रदेशे खनित्वा उप्तस्य तिलबीजस्य योऽयमङ्कुरमूलपर्णकाण्डप्रसूनतिलतैलादिभावस्तत्सर्वं सिकतानामेव भावः, सिकतानामेव तथातथापरिणामात्, तेन विनाऽभावात् तदात्मकत्वाच्च सिकतास्वेव तैलमस्तीति दर्शयति–**सिकतेति** । एवं पार्थिवप्रदेशोप्ततिलमूलाङ्कुरादीनां पृथिवीत्ववत् जलसिक्तभूप्रदेशोप्ततिलानां तेजःसंयुक्तभूदेशोप्ततिलानां पवनगगनावलीढभूप्रदेशोप्ततिलादीनाञ्च मूलाङ्कुरादिप्रभवः जलतेजःपवनगगनानामेवेत्याह–**तद्वदुदकादीति,** पृथिव्यामिवोदकादिभूप्रदेशोप्ततिलमूलाङ्कुरादीनामुदकादित्वादुदकादिद्रव्येष्वपि तथा यावन्तो भावास्तेष्वपि तैलमस्त्येवेति भावः । एवमात्मापि कर्मबन्धेनानाद्यनन्तशः स्थूलसूक्ष्मशरीरादिरूपादिमत्त्वं प्रतिपद्यते तथा च तिलयोन्युत्पन्नात्मन्यपि तैलमस्त्येवेत्याह–**तिलयोनीति,** सर्वत्र सर्वं व्यक्तरूपेणाव्यक्तरूपेण वास्त्येवेति भावः । एवं सामग्रीदर्शनात् सर्वसिद्धिमुपपाद्य सदा दर्शनादपि तामाह–**सदा दर्शनादिति** । संसिद्धिसंयुक्त्यादिभिर्हेतुभिः स्वपरोभयभावात्मकैकवस्तुसिद्धेः प्रतिपादितत्वात् भावान्तरादर्शनेऽपि सर्वदा भावस्य दर्शनमेव, सर्वसर्वात्मनिर्विभागैकवस्तुनः परमध्यान्तभागरहितस्य दर्शनादित्याह–**सर्वदा भावस्येति** । नञ्पदेनापि कुतश्चित् सत एव वस्तुनो विशेष्य सदेव वस्तु वाच्यं भवति न प्रागभावादीति पूर्वमुक्तत्वान्न कस्यचिद्वस्तुनोऽभावोऽदर्शनं वेत्याह–**प्राक्पश्चादिति,** वस्तुनः कदापि स्वस्वरूपपरित्यागाभावादुत्पत्तिविनाशयोरभावात् घटपटादेः सर्वस्य भावस्य परस्परस्वरूपत्वात् सर्वस्य सर्वत्वादेको भाव एव सर्वभाव इति सर्वभावानां सदा दर्शनमस्त्येव पटादेः सदेकात्मकघटादिस्वरूपत्वात्, प्राङ् नास्तिपदेन पश्चादस्तित्वस्य पश्चान्नास्तिपदेन प्रागस्तित्वस्य पटेतराभावेन घटस्यैकदेशेनास्तिपदेनापरदेशास्तित्वस्य प्रमाणात्यन्ताभावेनापरप्रमाणस्यासामर्थ्येन सामर्थ्यस्य गेहसंयोगाभावे बहिःसंयोगसत्त्वस्यैव बोधनात् वन्ध्यापुत्रनास्तित्वमपि निर्वृत्त्यादिभवितृस्वभावान्तर्गततया तस्याप्यस्तित्वमुक्तमेवेति नास्ति कस्यापि वस्तुनोऽभाव इति प्रतिपादितमेवेति भावः । दर्शनशक्तिवैधुर्येणैवादृश्यमानभागान्तरस्यासत्त्वं कल्प्यते न तु तस्य परमार्थतोऽसत्त्वमदर्शनं वेत्याह–**अदर्शनादिति** । न वा न दृश्यन्त इत्यदर्शनाभावः कथमिति शङ्कायामाह–**यस्माद्भावित-**

१ सि. क्ष. छा. डे. तैलत्ववत् । २ सि. क्ष. छा. डे. दृष्ट्यशक्ति० । ३ सि. क्ष. छा. डे. कल्पेरंस्तन्पर० ।

यस्मात्तदपि नास्त्येवादर्शनम्, कस्मान्नास्ति ? यस्माद्भावितं सामग्रीदर्शनहेतोरेकभवनात्मकमिति, तद्वद्भावितवदेकभवनात्मकत्वात्–अतीतन्यायभावितसर्वात्मकभवनात्मकत्वात्, निर्विभागस्य हि वस्तुनः परमध्यभागा[त्]शक्तिभेदात् कल्पिता अपि वस्त्वभेदात् तदेव ते, भागस्य दृश्यत्वात् त[द]पृथक्त्वाद्भागान्तराणामपि दर्शनमेव, निर्विभागमेव हि सद्वस्तु, विभागेनेक्षणं भ्रान्तिरित्युक्तम्, तस्मात् स एवा[स्ती]ति इत्यादि गतार्थम्, तस्मात् सदा दर्शनं नादर्शनम्, यथोक्तमित्यादिना प्रागतीतं न्यायं ज्ञापकत्वेनाऽऽह–'तदेजति तन्नैजति' ( ) इत्यादि ऋग्द्वयम्, तत्रैव व्याख्यातत्वान्न विव्रियते, न्यायन्तु सप्रभेदं स्मारणार्थमतिदिशति–भावितानेकार्थद्रव्यार्थभेदवदिति–द्रव्यार्थनयेषु षट्सु विध्यादिभेदेष्वाद्येषु यथा भावितं प्राक् यथा लोकग्राह्यमेव वस्त्वित्यादिषु स एवाशेषो ग्रन्थोऽत्रावतारयितव्यः, यः पुनर्भेदो घटः पट इत्यादि सोऽसत्येव भेदे भेदाभिमानः, कस्मात् ? तस्य–अभिन्नस्य वस्तुनः क्रमाभिव्यक्तेः, क्रमेण हि शक्तिमतः शक्तिमात्रा अभिव्यज्यमाना भेदा इवाभासन्ते पुरुषग्रहणशक्त्यपेक्षया, न तु परमार्थतो भेदोऽस्ति, किमिव ? एकद्रव्यस्वतत्त्वरूपादिवत्–यथैकमेव घटाख्यं वस्तु चक्षुरादिग्रहणापदेशविशिष्टं रूपादिव्यपदेशभाग् भवति–यथा चक्षुषा गृह्यमाणं रूपं जिह्वया रसो घ्राणेन गन्धः श्रोत्रेण शब्दः त्वचा स्पर्श इति तथा सर्वस्याभिन्नस्यैकस्यैव घटपटादिभेदभावनमभिमानमात्रमेवेति, एवं तावच्छून्यवादः पुरुषादिद्रव्यार्थवादेन निवर्त्तित इति ।

द्वादशारान्तरं समाप्तम्

मिति । पृथिव्युदकज्वलनपवनगगनात्मादिसामग्र्या एव घटपटकटादिव्रीह्यादिकार्पासादिसर्वसमूहात्मकत्वस्य सामग्रीदर्शनहेतुनाधुनैव निरूपितत्वाद्दर्शनमेव नादर्शनमिति भावः । एतदेव साधनं व्याचष्टे–**अतीतन्यायेति,** सामग्रीदर्शनन्यायेत्यर्थः, सर्वात्मकैकभवनात्मकवस्तुनो निर्विभागत्वात् परमध्यादिभागाः तद्वस्तुनः शक्तिरूपा अपि तदात्मकाः केवलभिन्नत्वेन कल्पिताः तथापि ते तदेव, यो हि भागो दृश्यते तद्वत् भागान्तराणामपि तदभिन्नत्वाद् दृश्यत्वमेव तथापीति भावः । वस्तुनः सर्वसर्वात्मकैकस्वरूपतया निर्विभागत्वात्तस्य पुनर्विभागेनेक्षणं भ्रान्तिरेव तस्मात्तदेव वस्तु सर्वं सर्वात्मकमेकानेकात्मकं स्वतः परत उभयतश्चास्त्येवेति प्रतिपत्तव्यं न तु सर्वशून्यत्वमिति निगमयति **निर्विभागमेव हीति ।** विश्वात्मा पुरुषोऽभिन्नोऽपि स्वगतानन्तशक्तिवैचित्र्याद्भिन्न इवावभासते भोक्तृभोग्यभोगरूपेण, न तु वस्तुतो भिन्नः, ततो विभिन्नत्वेनेक्षणं भ्रान्तिरेव, तस्मात् पुरुष एवेदं सर्वमिति भावः । विधविधिनयभङ्गोदितमेव न्यायं ज्ञापकत्वेन दर्शयति–**तदेजतीति ।** तदेव सर्वसर्वात्मकं वस्तु स्पन्दते न स्पन्दते, तिर्यग्लोकेऽधोलोकेऽलोके च, तदेवास्मिन् प्रदेशेऽपि, तदेव सर्वस्यास्य लोकान्तर्गतघटपटादिनिखिलभावस्यान्तः, तदेव च सर्वस्यास्य बाह्यतः–अलोकेऽपीतिशब्दार्थः, इत्येका ऋक् । द्वितीया तु 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥' इति । पूर्वेषु षट्सु द्रव्यार्थनयेषु द्रव्यं यथा भावितं स सर्वो भावनाग्रन्थोऽत्रापि संघटयितव्य इत्यतिदिशति–**भावितानेकार्थेति ।** व्याकरोति–**द्रव्यार्थनयेष्विति,** अत्र–शून्यवादे । घटपटादयो भेदास्तु असन्त एवाभिमन्यन्ते इत्याह–**यः पुनरिति,** पुरुष एक एव घटपटाद्यात्मकभेदरूपो भासते, तत्र पुरुषे एकत्वं वास्तविकमनेकत्वञ्च तच्छक्तिगतभेदारोपादाभिमानिकम्, अभिन्नः पुरुषः शक्तिभ्यो भिन्नमिवावभासते न तु वस्तुतो भिन्न इति भावः । कारणमाह–**तस्येति,** कारणस्य तस्य पुरुषस्य स्वातंत्र्यशक्तिः कालः, स च क्रमरूपः, तेनानुज्ञाताः इतरशक्तयः क्रमवद्भेदरूपतयाऽवभासन्ते द्रष्टृशक्त्यपेक्षयेति भावः । तत्र निदर्शनमाह–**एकद्रव्येति,** एकमेव द्रव्यं घटाख्यं यदा द्रष्ट्रा चक्षुषा गृह्यमाणं रूपव्यपदेशभाग् भवति रसनेन रसव्यपदेशभाक्, घ्राणेन गन्धव्यपदेशभाक्, त्वचा स्पर्शव्यपदेशभाक्, श्रोत्रेण च शब्दव्यपदेशभाक् तदेव च रूपं रसो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च, नान्ये ते ततः, तस्य रूपादिभेदोऽभिमानमात्रमेव तथा पुरुषस्यैवैकस्य घटपटादिभेदभावनमप्यभिमानमात्रमेवेति भावः । एवं द्रव्यार्थवादेन शून्यवादः प्रतिक्षिप्त इत्याह–**एवं तावदिति ।** अन्तरं परिसमापयति–**द्वादशेति ।**

अथ तुम्बनिरूपणम् ।

अतः परं तुम्बं नयचक्रस्य वर्त्तिष्यते तदपि किं द्रव्यार्थैक्यं तन्मतं सत्यं ? किमसत्यं ? इति, अस्मिन् सन्देहेऽभिधीयते—

एतदपि नैवैकान्ते युक्तम्, ततश्च विधेरारभ्य विधिविध्यन्तरानुक्रमक्रमेणोत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या तेषु तेष्वरान्तरेषु विचारितमेव यावच्छून्यवादम् ।

(**एतदपीति**) एतदपि नैवैकान्ते युक्तमिति प्रक्रान्तमेव, कथमित्यत आह—ततश्चेत्यादि, ततश्च सर्वसङ्ग्रहात्मकाद्विधेर्विधिनयारादारभ्योत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या तेषु तेष्वरान्तरेषु विचारितमेव, किं पुरुष एवावस्थाः ? अवस्था एव पुरुषः ? इत्यादिविकल्पपर्यनुयोगोपक्रमेणेति, तदनुसारयति विधिविध्यन्तरानु[क्रम]क्रमेण—विधिविधेर्भेदानां पुरुषनियतिकालस्वभावभावानां पूर्वपूर्वदूषणेनोत्तरोत्तरव्यवस्थानं ततः परं विध्युभयादीनामनुक्रमस्य—परिपाट्याः क्रमेण—विधिना, यादृक्षोऽवधिर्द्रव्यार्थदूषणे इति चेदुच्यते यावद्द्रव्यक्रियोभयनय उक्तः तावद्द्रव्यार्थस्यावधृतेः, ततः परं पर्यायार्थभेदाः, तेषामपि पर्यायार्थभेदानामुत्तरोत्तरैकान्तायुक्तत्वप्रक्रान्त्या यावच्छून्यवादम्[2], शून्यवादस्याप्येकान्तायुक्तत्वम्[3]अधुना विधिविधिनयमते प्रक्रान्तम् ।

तदेकान्तायुक्तत्वस्थापना त्वेकान्तवादानां परस्परसंयुक्तत्वमापाद्य प्रत्येकशो द्विशो यावद् द्वादशारशः सप्रभेदस्तेषामुपरि विधिनयो यथालोकग्राहं वस्त्विति, तद्व्यावर्तितसविकल्पसामान्यविशेषोद्धारार्थं विधिनियमविधिस्तन्निवर्त्तनार्थमुभयोभयनय इत्ययमपि क्रमो यावत् पुनरयं विधिविधिः, यथा चानेन शून्यवादपूर्वपक्षस्य सम्बन्धस्तथैवैकैकेन द्रव्यार्थभेदेन, यथा

तदेवं द्वादशस्यारस्यान्तरमाख्यायानन्तराभिधानां पूर्वप्रतिज्ञातां वृत्तिं प्रतिजानीते—**अतः परमिति** । ननु द्वादशारस्यप्रतिपाद्यं द्रव्यार्थनयेन प्रतिक्षिप्तम्, तद्द्रव्यार्थनयाभिमतं सर्वैकात्मकं वस्तु किं सत्यमुतासत्यमिति संशय उदेति, सर्वनयान्ते निराकृतस्यैव पुनराश्रितत्वादित्याशङ्कते—**तदपीति** । उत्तरयति—**एतदपीति** । इदमपि द्रव्यार्थैक्यं द्रव्यार्थनयाभिमतमेकान्तश्चेदयुक्तमिति विध्यादिनयान्तरेषु निरूपितमेवेति व्याख्याति—**इति प्रक्रान्तमेवेति** । एकान्तायुक्तत्वं कथं विचारितमित्यत्राह—**ततश्चेति,** सर्वसङ्ग्रहात्मकाद्विधिविधेरारभ्यान्तरेषु पूर्वपूर्वनयप्रतिपाद्यस्यैकान्ततायामयुक्तत्वं व्यावर्णितमेवेति भावः । केन रूपेण विचारितमित्यत्र विधिविधिनयस्यान्तरे प्रतिपादितं तन्नयोदितविषये विकल्पमारचय्य निराकरणक्रमं दिङ्मात्रेणादर्शयति—**किं पुरुष एवेति** । मूलकृदपि विचारप्रकारं स्मारयतीत्याह—**तदनुसारयतीति** । **विधिविधीति,** अस्मिन् हि नये पुरुषनियतिकालस्वभावभावाः पृथक् पृथक् प्रतिपादिताः पूर्वपूर्वमतनिरासपुरस्सरम्, तं विधिविधिनयं विध्युभयनयः तं विधिनियमनयस्तमुभयनयः, तं विधिनियमविधिनयः प्रात्यक्षिपदतो द्रव्यार्थेन दूष्यस्यावधिर्द्रव्यक्रियाविषय उभयनय इति भावः । विधिनियमविधिनयश्च द्रव्यार्थं पर्यायार्थं उभयोभयनयः, तमुभयनियमनयस्तं नियमनयस्तं नियमविधिनयस्तं नियमोभयनयस्तमपि शून्यवादो नियमनियमनयः न्यषेधीत्, तच्च पर्यायार्थं शून्यवादं द्रव्यार्थो विधिविधिनयोऽधुना प्रत्याचष्टेत्याह—**ततः परमिति** । एकान्तेन शून्यवादस्यायुक्तत्वस्थापना कथमित्यत्र प्रकारान्तरेग तत्स्थापना दर्शयति—**तदेकान्तेति** । प्राक् प्रतिपादिता एकान्तवादाः परस्परमेकेन

---

१ सि. क्ष. डे. स्वतः परंतुम्बं० छा. स्वतःपरं तुम्बं० । २ सि. क्ष. वादः । ३ ×× क्ष. छा. ।

च तैः प्रत्येकं विधिविधिना शून्यवादे प्रतिषिद्धे यथारुचितमभिसम्बन्धः, शून्यवादस्यापि येन केनचिदेकादशानामन्यतमेनान्तरितस्य सम्बन्धोपपत्तेः ।

(तदिति) तदेकान्तायुक्तत्वस्थापना त्वेकान्तवादानां परस्परसंयुक्तत्वमापाद्य प्रत्येकशो द्विशो यावद् द्वादशारशः सप्रभेदस्तेषामुपरि विधिनयः, प्रथमोक्तो द्रष्टव्यः, तत्स्मारणं यथालोकपरिग्रहमेव[1] वस्त्वितीति तदुत्थानादिग्रन्थग्रहणात् समस्तारसूचनम्, तद्व्यावर्त्तितेत्यादि—तेन विधिनयेन व्यावर्त्तितयोः सविकल्पयोः सामान्यविशेषयोरुद्धारार्थं विधिनियमविधिः, ततः तन्निवर्त्तनार्थमुभयोभयनय इत्ययमपि क्रमो यावत् पुनरयं विधिविधिरिति[2], यथा चानेनेत्यादि, यथा चानेन विधिविधिनयेनैकान्तायुक्तत्ववादिना शून्यवादपूर्वपक्षस्य सम्बन्धः तथैवैकैकेन तद्विधेन द्रव्यार्थ[भेदेन], यथा च तैरित्यादि—यथा च द्रव्यार्थभेदैः प्रत्येकं विधिविधिनयेनैव योगः शून्यवादस्य, तथा शून्यवादे प्रतिषिद्धेऽपि तदनन्तरमेव विध्यादीनां द्वादशानामप्यराणां यथारुचितमभिसम्बन्धः, शून्यवादस्यापि येन केनचित्, एकादशानामन्यतमेनान्तरितस्य सम्बन्धोपपत्तेः, प्रत्येकं जगत्स्वभावप्रतिपादनसमर्थानां व्यापिनां येनकेनचिदिति वचनात्, यदि विध्यरनया- दीनां समनन्तरेणैकाद्यन्तरितेनोत्तरेषाञ्च पूर्वेण समनन्तरातीतेनैकाद्यन्तरितातीतेनेत्यविरुद्धक्रमेण उत्क्रम- क्रमाभ्यां वा सम्बन्धोऽस्ती[त्य]र्थः ।

तस्माच्च द्वादशान्यतमारानन्तरोत्थानक्रमसम्बन्धेन सर्वकुमतपक्षाणां व्यवस्थायाश्चेश-

---

द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिर्यावदेकादशभिर्मिलित्वा एकान्तेन शून्यताया वादस्यायुक्तत्वं स्थापयन्ति, तथा विवदमानानां तेषामुपरि विधिनयः समुज्जृम्भते किमर्थं यूयमित्थं विवदध्वे यथा लोकग्राहमेव वस्तु भवति नहि तल्लोकाभिप्रायमतिवर्त्तते, परीक्षकाणान्तु सामान्यविशेषयोः स्वपरविषयतायामनुपपत्तेरसत्त्वाल्लोकाभिप्रायात्तयोर्विवेकाय शास्त्रेषु यत्नो वृथैवेतीत्याशयेनाह—**तदेकान्तायुक्तत्वेति,** शून्यवादैकान्तायुक्तत्वेत्यर्थः । विधिनयोक्तिमेव स्मारयति—**यथा लोकेति ।** वचनमिदं विधिनयोत्थापकमादिवाक्यम्, तस्यैवात्र प्रदर्शनात्, सामान्यविशेषौ हि स्वविषयौ परविषयौ वा स्यातामिति ग्रन्थमारभ्य निखिलो ग्रन्थो विधिनयारे वर्णितो भाव्य इति सूचयतीत्याह—**इति तदुत्थानेति,** इत्याकारकतदुत्थानेत्यर्थः । तदेवं विधिनयेन स्वपरविषयविकल्पविशिष्टयोः सामान्यविशेषयोः प्रतिषिद्धयोः समुद्धरणाय समानकक्षसामान्यविशेषद्वयात्मकनिखिलवस्तुप्रतिपादकविधिनियमविधिनयस्य षष्ठस्य समुत्थानं तन्निराकरणाय सप्तमस्य तदुद्धारायाष्टमस्येत्येवं यावदयं शून्यवादैकान्तनिरासको विधिविधिनय इत्येवं क्रमोऽपि भवतीत्याह—**तेन विधिनयेनेति ।** शून्यवादस्य साक्षात् सम्बन्धो द्रव्यार्थेन विधिविधिनयेनैव, तदितरद्रव्यार्थभेदैस्तु तद्वारेणेत्याह—**यथा चानेनेति** शून्यवादरूपस्य पूर्वपक्षस्य एकान्तायुक्तत्ववादिना विधिविधिनयेन सह सम्बन्धो यथास्ति तथैवैकैकद्रव्यार्थनयेनैकान्तायुक्तत्ववादिना सहापि सम्बन्धोऽस्त्येवेत्यर्थः । कथं सम्बन्धोऽस्तीत्यत्राह—**यथा चेति ।** द्रव्यार्थभेदानामन्यतमेन सहितेन विधिविधिनयेनैव शून्यवादस्य योगः, एकद्रव्यार्थभेदविशिष्टविधिविधिनयेन शून्यवादे निराकृते तदुपरि विध्यादिद्वादशानामराणां मध्ये यथारुचि येन केनचित् नयेन सह विधिविधिनयोऽभिसम्बध्यते प्रतिक्षेपकतया, न ह्यनेनैव नयेन सहितेन विधिविधिनयेन सह शून्यवादस्य सम्बन्ध इत्यस्ति नियमः किन्तु येन केनचित् युक्तेन विधिविधिना सह, अत एव यथारुचितमभिसम्बन्ध इत्युक्तमिति भावः । सर्वे हि नयाः जगत्स्वरूपं प्रतिपादयितुं क्षमा व्यापिनश्च, तेष्वेकेन येन केनचिदन्तरितेन शून्यवादस्य सम्बन्धो भवतीति दर्शयति—**शून्यवादस्यापीति ।** येन केनचिदित्यस्य भावमेवाचष्टे—**यदीति,** विधिनयादेर्विधिविधिनयादिना विधिविधिनियमनयादिना वाऽविरुद्धक्रमेण सम्बन्धः, एवमुत्तरेषां विधिविधिनियमादिनयानां स्वाव्यवहितपूर्वेण विधिविध्यादिनयेन, तत्पूर्वेण विध्यादिनयेन वाऽविरुद्धोत्क्रमेण सम्बन्धो विज्ञेय इति प्रतिभाति । तेषां द्वादशानां नयानामीशनायेदं नयचक्रशास्त्रमित्याह—**तस्माच्चेति ।**

---

१ छा. यथालोकपरिसहमेव वस्त्वितिरिति । २ सि. क्ष. छा. यावत्पुनरयमविधिरिति ।

नार्थं सर्वमिदं नयचक्रशास्त्रं क्रमते, एवमेवास्य शास्त्रस्य नयानां चक्रं नयचक्रं नयसमूह इत्यन्वर्थसंज्ञा स्यात्, यथा चास्मादेवं सर्वेभ्योऽपि सर्वनयानामुत्थानमविरुद्धम् ।

(**तस्माच्चेति**) तस्माच्च—सर्व[ा]भावव्यावर्त्तनान्तरसम्बन्धा[त्][1] द्वादशानामन्यतमादराद-नन्तरस्योत्थानं तत्तदरदूषणार्थं क्रमः, तेन क्रमेण सम्बन्धेन सर्वकुमतपक्षाणां—मिथ्यादृष्टिप्रणीतशास्त्राणां व्यवस्थायांश्वेशनार्थं[2] सर्वमिदं नयचक्रशास्त्रं क्रमते, सर्वैक्यभावापादितस्याद्वादानपेक्षसर्वनयमिथ्यादृष्टित्वात्, तत्र तत्र च तद्दोर्विहितस्य प्रतिपादितत्वात्, परस्परविहितपक्षाणां क्रमेणोक्तार्थानुसारेण सर्वेषामन्योन्यदूषणत्वात्, एवमेवेत्यादि—एवञ्चकृत्वाऽस्य शास्त्रस्य नयादीनां चक्रं नयचक्रं नयसमूह इत्यन्वर्थसंज्ञा स्यात्, नयानां स्वपरमतसाधनदूषणसमर्थानां समूहत्वात् नयन्तेऽर्थान् प्रापयन्ति नयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनोऽनेकात्मकस्यान्यतमैकात्मकैकान्तपरिग्रहात्मका नया इति तेषां चक्रम्, एवं तावदस्मादन्याच्छून्यवादात् सर्वनयोत्थानं न विरुध्यते, यथा चास्मादेवं सर्वेभ्योऽपि—यथैवैतस्मान्नयादुत्थानं सर्वनयानामन्यादविरुद्धं तथा सर्वेभ्योऽपि—सर्वस्मादेकैकस्मादपि नयात् सर्वनयानामुत्थानमविरुद्धमेव, सर्वस्य सर्वेण सह विरोधित्वे सति विवादसद्भावात् ।

एषामशेषशासननयाराणामुपग्राहकं जिनवचनं तद्यथा—इमाणं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता इति पृष्टे व्याकरणं सिया सासता सिया असासता इति समग्रादेशात्, पुनः, से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति सिया सासता सिया असासता, तस्य विकलादेशाद्व्याकरणं, रत्नप्रभायाः स्वतत्त्वमुभयात्मकं विभागेन विदधाति तद्यथा-दव्वट्ठताए सासता वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं संठाणपज्जवेहिं असासता इति तदनुपा-

---

विधिविधिनयेन सर्वाभावो व्यावर्त्तितः, तदनन्तरं तेन सम्बद्धात् द्वादशानामराणामन्यतमादरादनन्तरस्यारस्योत्थानं तदरप्रतिक्षेपाय भवति, ततस्तदुत्तरनयोत्थानमपि तदरप्रतिक्षेपायेत्येवं क्रमः, एवं क्रमेण विवदमानाः सर्वे पक्षाः कुमतान्येव, मिथ्यादृष्टित्वात्, तानेतान् पक्षान् व्यवस्थापयितुमीशनार्थं इदं सर्वं नयचक्रशास्त्रं प्रवर्त्तत इति व्याकरोति—**तस्माच्च सर्वाभावेति** । हेतुमाह सर्वकुमतपक्षाणां मिथ्यादृष्टित्वे—**सर्वैक्येति,** स्याद्वादो हि सर्वेषां पक्षाणामैक्यमापादयति, उदासीनमध्यनृपतिवत् परार्पणस्वरूपात्संश्रयगुणाद्विजिगीषूणां परस्परविरुद्धानां परिपालनात्, स हि स्याद्वादः सर्ववादभेदयाथार्थ्योपग्राहयिता परस्परसाम्यावस्थापनेन परिपालनात् त्राता, एवंविधस्याद्वादानपेक्षया प्रवृत्ताः सर्वे नयाः सम्यग्दर्शनविलोपकत्वान्मिथ्यादृष्टय इति भावः । **तत्र तत्रेति,** विध्यादिनयनिरूपणावसरे तेषां मिथ्यादृशां दुर्विहितत्वं प्रतिपादितमेवेति भावः । विध्यादिक्रमेणैकेन प्रतिष्ठापितार्थस्य परेण दूषणादव्यवस्थितार्थत्वमित्याह—**परस्परेति,** प्रोक्तक्रमेण परस्परेण विहितपक्षाणां अन्योन्येन दूषितत्वादिति भावः । यत एव नयाः क्रमोत्क्रमाभ्यां परस्परपक्षदूषणस्वमतव्यवस्थापनपराः अत एव स्वपरमतसाधनदूषणसमर्थानां नयानां समुदायरूपत्वादेतच्छास्त्रं नयचक्रमुच्यत इत्याह—**एवञ्च कृत्वेति** । नयशब्दार्थमाह—**नयन्त इति** । वस्तु सामान्यविशेषाद्यनेकात्मकम्, तदेकदेशभूतं यं कञ्चिदंशमुपादायैकान्तेन तस्यैव समर्थनरूपत्वान्नयानामिदं प्रथमत्वं न कस्यापीति यस्मात्कस्मादपि नयादारभ्येतरेषामुत्थानं सम्भवतीत्याह—**एवं तावदिति,** उत्थाने नियामकाभावात् विरोधाभावाच्च यस्मात् कस्मादपि नयादितरेषामुत्थानं सम्भवति सर्वेषां नयानां सर्वैः सह विरोधेन विवादसद्भावात्, न ह्ययं नयोऽनेनैव विरुध्यत इत्यस्ति नियम इति भावः । एते नया न स्वतंत्रा न वा निर्मूलाः किन्तु जिनवचनमहासमुद्रस्य तरङ्गरूपाः, अत एव सर्वनयानां जिनप्रवचनमेव निबन्धन-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. सम्बन्धा । २ सि. क्ष. छा. डे. °याश्लेष्टेनार्थं ।

तवृत्तेः ससाधननाभिक्रिया–तस्याः शाश्वताशाश्वतधर्मस्वतत्त्वायाः कारणाभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां कारितं, स्वतत्त्वं विदधतो जिनवचनस्यानुगमात् ।

एषामित्यादि, एषामशेषनयानां किं निबन्धनमिति चेदुच्यते, एषामशेषशासननयाराणां–अशेषशासनान्येव जैमिनीयोपनिषदादीनि नयाः–अरस्थानीयानि स्याद्वादतुम्बस्य नयचक्रस्य, तेषामशेषशासननयाराणां च भगवदर्हद्वचनमुपनिबन्धनम्, जिनवचनमहासमुद्रस्यैव तरङ्गा एते, तथा च तत्र तत्र भावितम्, यथाऽऽचार्यसिद्धसेनश्चाह–'भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ (सं० का० गा० ५९) इति तेषाञ्चाशेषशासन[नया]राणां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयौ द्वौ समासतो मूलभेदौ, तत्प्रभेदाः सङ्ग्रहादयः 'तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा विकप्पासिं' (सं० का० १ गा० ३) इत्यादिव्याख्यानात्, तत्र द्रव्यार्थस्य विकल्पाः षट् संक्षेपेणात्रोक्ताः, पर्यायार्थस्य षट्, तेषामुपग्राहकं जिनवचनं तद्यथा–'इमाणं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता, इति पृष्टे व्याकरणं 'सिया सासता सिया असासता' इति समग्रादेशात्, पुनः से केणट्ठेणं भंते ! एतं एवं वुच्चति सिता सासता सिता असासता' इति व्याख्यातार्थः प्रश्नः, तस्य विकलादेशाद्व्याकरणं रत्नप्रभायाः स्वतत्त्वमुभयात्मकं विभागेन विदधाति, तद्यथा 'दव्वट्ठताए सासता वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं संठाणपज्जवेहिं असासता' (जीवा० सू० ३–१–७८) इति तदनुपातवृत्तेः ससाधननाभिक्रिया, तस्या रत्नप्रभायाः शाश्वताशाश्वतधर्मस्वतत्त्वायाः कारणाभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां प्रत्येकषड्विकल्पाभ्यां कारितं स्वतत्त्वमनेकान्तात्मकं विदधतो जिनवचनस्यानुगमात् ।

मित्याह–**एषामिति** । व्याचष्टे–**अशेषशासनान्येवेति,** अशेषशासनान्येव नया वस्त्वेकदेशविषयत्वात्, तानि च शासनानि जैमिनिप्रोक्तं मीमांसाशास्त्रमुपनिषत्–पुरुषादिशास्त्रं कपिलकणादादिप्रोक्तानि सांख्यवैशेषिकादीनि च, तान्येव स्याद्वादतुम्बस्यारकल्पानि तेषां च शास्त्राणां मूलमर्हद्वचनमेव, निखिलशास्त्राणि तरङ्गाः अवयवाः भगवच्छासनं महासमुद्रोऽवयवीति भावः । अत्रार्थे सिद्धसेनाचार्यवचनमुपन्यस्यति–**यथा चेति,** भद्रं मिथ्यादर्शनसमूहमयस्यामृतसारस्य । जिनवचनस्य भगवतः संविग्नसुखाधिगम्यस्य ॥ स्पष्टोऽर्थः । अशेषशासनान्येतानि द्रव्यार्थपर्यायार्थतया संक्षेपेण विभक्तानि, ययोः प्रभेदाः सङ्ग्रहव्यवहारनैगमर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता इत्याह–**तेषाञ्चेति** । आचार्यसिद्धसेनवचनमाह–**तित्थयर इति,** तीर्थंकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी । द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च शेषा विकल्पा एषाम् ॥ भगवदर्हद्वचनमाचारादि तस्य सङ्ग्रहविशेषौ सामान्यविशेषावभिधेयभूतौ, तयोः प्रस्तारः सङ्ग्रहव्यवहारादिः, तस्य मूलतो व्याकर्त्ता आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, तयोश्च नैगमसङ्ग्रहादयो विकल्पा भेदा इति तदर्थः । अस्मिन् शास्त्रे द्रव्यस्य विकल्पा विध्यादयः षण्णयाः, पर्यायार्थिकस्य चोभयोभयनयादयः षट् इत्याह–**तत्रेति** । तेषां द्वादशानामुपनिबन्धनं जिनवचनं दर्शयति–**तेषामुपग्राहकमिति,** रत्नप्रभां पृथिवीमाश्रित्य तत्त्वज्ञानार्थं सा किं शाश्वती उताशाश्वतीति प्रश्ने द्रव्यार्थपर्यायार्थोभयस्वरूपसमग्रादेशाद्व्याकरोति स्याच्छाश्वती स्यादशाश्वतीति, इदमेवाह–**'इमाणं' इति** । समग्रादेशाद्विदिततत्त्वत्वेऽपि तत्तदादेशे किंस्वरूपा भवतीति विज्ञानाय केनाभिप्रायेण शाश्वतत्त्वमशाश्वतत्वं वा प्रोच्यत इति पृच्छति–**'से केण' इति** । रत्नप्रभायाः शाश्वतत्वाशाश्वतत्वोभयात्मकं सत्त्वं विकलादेशमाश्रित्य विभागेन व्यवस्थापयति–**द्रव्वट्ठताए इति । तदनुपातवृत्तेरिति,** उक्तार्थस्य साधनपूर्वकनाभिक्रियां दर्शयति, शाश्वताशाश्वतौ

---

१ सि. डे. क्ष. स्वतत्त्वानु०मात्मकं । २ सि. क्ष. डे. °वृत्ते साधनमधननाभिग । छा. °वृत्तेसासधननाभि० । ३ सि. क्ष. छा. डे. द्रव्येकषड्० ।

द्वादशानामराणामित्थं तुम्बक्रिया, तत्प्रतिबद्धसर्वारावस्थानात्, अतोऽन्यथा विशरणात्, तद्यथा विधि-विधिविधि-विध्युभय-विधिनियम-उभय-उभयविधि-उभयोभय-उभयनियम-नियम-नियमविधि-नियमोभय-नियमनियमा ऐकमत्येनान्योन्यापेक्षवृत्तयः सत्यार्थाः, तत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवत्, एतद्भङ्गनियतस्याद्वादलक्षणः शब्दः स्यान्नित्यः, स्यान्नित्यानित्यः, स्यादनित्यः, विध्यादिद्वादशविकल्पनियताकृतक–कृतकाकृतक–कृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वात्, घटवदिति ।

(द्वादशानामिति) द्वादशानामराणामशेषशासनसङ्ग्राहिणामित्थं तुम्बक्रिया-स्याद्वादनाभिकरणं तत्प्रतिबद्धसर्वारावस्थानात्, अतोऽन्यथा विशरणात् यथोक्तं–'जंमि कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण-रक्खाहि । ण हु तुम्बम्मि विणट्ठे अरया साहारणं होंति ॥' (आ० नि० गा. ७५९) इति तद्यथा–विधिविधीत्यादिसाधनदण्डको यावद् घटवदिति दृष्टान्तः, एवं तुम्बकरणं–सविकल्पद्वादशनयचक्रैकवाक्यानयनसाधनम्, तत्र विधिभङ्गाश्चत्वारः आद्याः, उभयभङ्गा मध्यमाश्चत्वारः, नियमभङ्गाश्चत्वारः पाश्चात्याः, यथासंख्यं नित्यप्रतिज्ञाः ४ नित्यानित्यप्रतिज्ञाः ४ अनित्यप्रतिज्ञाश्च ४ विधिः, विधि [विधिः, विधे]र्विधिनियमं, विधिनियम इति प्रथमभङ्गचतुष्टयम्, म[1]ध्यमं विधिनियमं, विधिनियमयोर्विधिः, विधिनियमस्य विधिनियमम्, विधिनियमस्य नियम इति, पाश्चात्यमपि नियमः, नियमस्य विधिः, नियमस्य विधिनियमौ[2], नियमस्य नियम इति, एते द्वादशाप्यरनया ऐकमत्येना[3]न्योऽन्यापेक्षवृत्तयः

धर्मौ स्वतत्त्वं यस्यास्तस्याः रत्नप्रभायाः प्रत्येकं षड्विकल्पाभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थरूपाभ्यां कारणाभ्यां तौ धर्मौ स्वतत्त्वं तस्या इति कारितमनेकान्तात्मकत्वं विदधतो जिनवचनस्यानुगमादित्यर्थः । एवमेव द्वादशाराणां नाभिक्रियेत्याह–**द्वादशानामिति** । व्याचष्टे–**द्वादशानामराणामिति,** सर्वे द्वादशाराः निखिलशासनसङ्ग्राहका एकवाक्यतारूपायां वृत्तौ यदाऽनुपतन्ति द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां तदा नाभिकरणं जातमिति विज्ञेयम्, इदमेव स्याद्वादनाभिकरणम्, स्याद्वादनाभौ सर्वेऽरा यदा प्रतिबद्धा भवन्ति तदैव तेषामवस्थानं भवति, अन्यथा ते विशीर्यन्ते, परस्परं विरोधेन प्रतिहतत्वात्, द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां यदैकवाक्यतां यान्ति तदा विरोधाभावेन सर्वे सुस्थिरा भवन्तीति भावः । तत्प्रतिबद्धानामवस्थानमन्यथाविशरणञ्च दृष्टान्तेन प्ररूपकं प्राचां वचनमुपन्यस्यति–**यथोक्तमिति,** यस्मिन् कुलमायत्तं तं पुरुषमादरेण रक्षेत् । नहि तुम्बे विनष्टे अरका साधारा ननु भवन्ति ॥ इति छाया कुलाधारं पुरुषं परिरक्षेत्, न हि विनष्टे तस्मिन् कुलं तिष्ठति, न हि तुम्बे विनष्टेऽरकाः साधारा भवन्ति, निराधारा विशीर्यन्त इति भावः । एतदर्थसंवादिनी कारिका यथा–यस्मिन् कुले यः पुरुषः प्रधानो यत्नेन सोऽयं परिरक्षणीयः । तस्मिन् विनष्टे च कुलं विनश्येत् न नाभिभङ्गे ह्यरकाः स्थिराः स्युः ॥ इति ॥ नाभिकरणे प्रयोगं दर्शयति–**विधिविधीत्यादीति,** विध्यादयो द्वादशाराः ऐकमत्येन परस्परापेक्षवृत्तयो यथार्थाः, तत्तन्नयविकल्पैः सहैकवाक्यत्वात्, घटवदिति द्वादशनयसमूहस्यैकवाक्यतायामानयनसाधकमनुमानं तुम्बकरणरूपमित्यर्थः । तत्र प्रतिज्ञायां विधि–विधिविधिविध्युभय–विधिनियमनयाश्चत्वारो विधिभङ्गा उच्यन्ते, उभय–उभयविधि–उभयोभय–उभयनियमाः उभयभङ्गाः नियम–नियमविधि–नियमोभय–नियमनियमनयाः नियमभङ्गा इत्याह–**तत्रेति** । एषु भङ्गेषु शब्दविषयाः प्रतिज्ञाः प्रदर्शयति–**यथासंख्यमिति,** शब्दो नित्य इति प्रतिज्ञाश्चत्वारो विधिभङ्गेषु, शब्दो नित्यानित्य इति चत्वार उभयभङ्गेषु, शब्दोऽनित्य इति चत्वारो नियमभङ्गेषु विज्ञेयः, शब्दः नित्य एवाकृतकत्वादाकाशवदिति निजे विषयेऽवतार्य तथैव शब्दो भवति नान्यथेति भावनाऽद्येषु क्रियते, शब्दोऽनित्य एव कृतकत्वात्, घटवदिति तथैव भावना नियमभङ्गेषु क्रियते, शब्दो नित्यानित्यः, अकृतककृतकत्वा-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. मध्यमं विधिनियमौ विधिनियमयोर्विधिर्विधिनियमयोर्विधिनियमयोर्विधिर्नियमनियमनियमयोर्नियमः । २ सि. क्ष. छा. डे. विधिनियमौ । ३ सि. क्ष. डे. ऐकपद्येना० छा० एकप्रद्यद्येना० ।

सत्यार्था इति संपिण्डरूपेण प्रतिज्ञा–एतद्भङ्गनियतस्याद्वादलक्षणः शब्द इति, स्यान्नित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादनित्यः शब्द इति संक्षेपेण त्रिविधा, हेतुरपि विध्यादिद्वादशविकल्पनियताकृतक–कृतकाकृतक–कृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वादिति प्राग्व्याख्या[ता]र्थभङ्गार्थसमाहारात्मक एवायं, प्रतिज्ञावत्, तत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवदिति दृष्टान्तः, परस्परापेक्षवृत्तिसमस्तनयमतैकमत्यानुवृत्तिनित्य–नित्यानित्य–[ानित्य]त्वानेकान्तविकल्पात्मकानुगताकृतक–कृतकाकृतक–कृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकः सिद्ध एवेति प्राग् व्याख्या[ता]र्थत्वात् ।

व्याख्यानदिक्प्रदर्शनसाधनन्तु व्यवहारैकत्व-सर्वैकत्व-सर्वसर्वत्वो-भयप्राधान्या-न्यतर-प्रधानोपसर्जनत्वे-तरेतराभाव-भेदप्रधानत्वा-वक्तव्यत्वभेदसमुदायिमात्रत्व-क्षणिकत्व-शून्यता-नित्यः शब्दः, व्यवहारैकत्वसर्वैकत्वसर्वसर्वत्वोभयप्राधान्यान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वेतराभावभेदप्रधानत्वावक्तव्यत्वभेदसमुदायिमात्रत्वक्षणिकशून्यताऽकृतकत्वात्, व्याख्यार्थघटवत् ।

(**व्याख्यानेति**) व्याख्यानदिक्प्रदर्शनसाधनन्तु–एतस्यानन्तराभिहितनाभिक्रियानेकान्तत्वप्रज्ञा-

---

दिति तथैव भावनोभयभङ्गेषु क्रियत इति प्रत्येकनयानां वृत्तय एव इति भावः । नामग्राहं नयान् दर्शयति–**विधिरिति,** अनुवृत्तिव्यावृत्त्यनपेक्षया यथालोकग्राहं वस्तु, यथा गौरित्यादीति प्रतिपादनपरो विधिरिति भावः, भेदवादिनं प्रत्यभेदप्रतिपादनपरो विधिविधिः, यथालोकग्राहवस्तुनः सर्वसर्वात्मकत्वविधानात्मस्वतंत्रकर्तृज्ञस्यैव भवननियमात्मविधेर्विधिनियमम्, प्रकृतिपुरुषयोः परस्परानापत्तौ कर्मफलसम्बन्धाभावादेकं सर्वं सर्वमेकमिति विधेरतिप्रसक्तस्य विशेषेऽवस्थापनं विधिप्राधान्यतयैवेति विधेर्नियमनाद्विधिनियम इति प्रथमभङ्गचतुष्टयम् । तुल्यबलावुभयप्रधानौ विधिनियमौ द्रव्यभावपरिग्रहात्मकौ तत्त्वमिति विधिनियमम्, द्रव्यभावयोः परस्परनिरपेक्षत्वे प्रधानत्वे चोत्पादाद्यभावेनासत्त्वात्तयोर्गुणप्रधानभावेन विधानात् विधिनियमयोर्विधिः, द्रव्यभावयोः सत्त्वस्य परतः स्वतश्चासम्भवात् प्रवृत्तिरूपमितरेतराभावलक्षणमभवद्भवति वस्त्विति विधिनियमस्य विधिनियमम्, द्रव्यभावयोर्भवितृप्रधानं भवनोपसर्जनमिति नियमनात् विधिनियमयोर्नियम इति मध्यमभङ्गचतुष्टयम् । द्रव्यभावयोस्तत्त्वान्यत्वोभयरूपैरवक्तव्यत्वनियमनान्नियमः, देशभिन्नरूपरसादिविशेषसमुदायमात्रं वस्तु, नावक्तव्यं स्ववचनविरोधादिति नियमस्य विधानान्नियमविधिः, कालभिन्नरूपाद्यसाधारणानिर्देश्यपरमार्थं वस्त्विति नियमस्य विधानान्नियमनाच्च नियमस्य विधिनियमम्, असिद्ध्यादिभ्योऽभावपरमार्थं वस्त्विति शून्यत्वनियमनान्नियमस्य नियम इति पाश्चात्यभङ्गचतुष्टयम् । एतेऽरा द्वादशनया यदैकमत्येन परस्परापेक्षवृत्तयो भवन्ति, नैकान्तग्राहिणः परस्परप्रतिक्षेपपरा भवन्ति तदा सत्यार्था इति प्रतिज्ञामाह–**एते द्वादशेति ।** पूर्वं शब्दविषयाः प्रतिज्ञाः प्रत्येकभङ्गाश्रयेण दर्शिताः, अधुना स्याद्वादाश्रयेणान्योऽन्यापेक्षवृत्त्यपेक्षया ताः दर्शयति–**एतद्भङ्गेति,** द्वादशभङ्गैर्मिलितैः सह व्याप्तः स्याद्वादस्तमाश्रयेण स्यान्नित्यः शब्द इति स्यान्नित्यानित्यः शब्द इति स्यादनित्यः शब्द इति वा त्रिविधाः प्रतिज्ञाः भवन्तीति भावः । तत्र हेतुमाह–**हेतुरपीति,** द्वादशविधविकल्पैर्नियतो योऽकृतकत्वानेकान्तविकल्पः, कृतकाकृतकत्वानेकान्तविकल्पः कृतकत्वानेकान्तविकल्पो वा तदात्मकत्वादिति भावः । अयमपि हेतुः प्रतिज्ञावत् पूर्वं व्यावर्णिता ये द्वादश भङ्गाः तदर्थानां समाहाररूपोऽकृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वादिरित्याह–**प्राग्व्याख्यातार्थेति ।** सामान्येन हेतुमाह–**तत्तन्नयदर्शनेति,** अयं विधिविधीत्यादि–प्रागुक्तप्रतिज्ञायी हेतुः, घटवदिति दृष्टान्तः । ननु भङ्गानां द्वादशानां प्रत्येकं वृत्तिः स्वविषयसम्पातनेन तथैव भवन्ति नान्यथेत्यर्थानां भावनारूपा, नित्य एव शब्दोऽकृतकत्वादाकाशादिवदित्यादि, जैनसत्यत्वसाधने प्रवर्तमानाऽनुवृत्तिस्तु परस्परापेक्षवृत्तिरूपा समस्तनयमतैक्यमत्याऽनुवर्तनात्मिका द्वादशनयविकल्पविशेषणा, नित्यनित्यानित्यानित्यानेकान्तविकल्पात्मकत्वाविनाभाव्यकृतककृतकाकृतककृतकत्वानेकान्तविकल्पात्मकत्वं शब्दस्य सिद्धमेवेत्याह–**परस्परापेक्षेति,** द्वादशविधनयविकल्पव्याख्यानेन नाभिक्रियया च व्याख्यातार्थ एवेति भावः । द्वादशनयभङ्गानां प्रत्येकं पिण्डितार्थव्याख्यानप्रदर्शनेन द्वादशविधविकल्पविशिष्टप्रतिज्ञाहेतुप्रदर्शनं क्रियते–**व्याख्यानदिगिति ।** व्याख्याति–**एतस्येति,** जैनसत्यत्वसाधनस्य द्वादशविधविध्यादिनयभङ्गा ऐकमत्येनान्योऽन्यापेक्षवृत्तयः सत्यार्थाः, तत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वादिति नाभिकरणरूपानेकान्तत्वप्रज्ञापनसाधनस्य साधनेनानेन व्याख्यानदिशं

पनसाधनस्य व्याख्यानदिशं दर्शयत्येतत्साधनम्, अतीतानां द्वादशानामराणां प्रत्येकं यथासंख्यं प्रस्थानार्थोपन्यासार्थत्वात्, तद्यथा–व्यवहारैकत्वेत्यादिदण्डकप्रतिज्ञोपन्यासो यावत् शून्यतानित्यः शब्द इति, हेतुः व्यवहारैकत्वेत्यादिदण्डको यावत् क्षणिकशून्यताऽकृतकत्वादिति, १ विधिनयस्य तावद्यथालोकग्राहमेव वस्तु, यथा लोकेन परिगृहीतमेव नित्यानित्यकारणकार्यैकनानात्वाद्यशक्यप्राप्यप्रयोजनत्वाविचारेण शक्यप्राप्तिप्रयोजनत्वकर्मफलसम्बन्धमात्रपरिज्ञानमपौरुषेयानाद्यनिधनागमगम्यमिति दर्शनम्, २ विधिविधिस्तु क्रियाविधायिवाक्यपरिज्ञानस्याप्यशक्यप्राप्यप्रयोजनत्वादिदोषाविमोक्षात् स्ववचनादिविरोधात् वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाविनाभावादयुक्तेः सर्वैककारणमात्रत्वम्, तच्च पुरुषकालनियतिस्वभावभावाद्यन्यतमात्मकम्, आत्मप्रभेदमात्रावस्थाभेदमात्रव्यवहृतेरिति, तस्यापि विधिविधेरवस्थावस्थावद्भेदोपादानावश्यम्भावात् परमशून्यक्षणिकाद्यनभिप्रेतवादप्रसङ्गाच्च सन्निधिव्यापत्तिभव[illegible]तवादः श्रेयान्, प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मभोग्यसत्त्वरजस्तमोमयप्रकृतिव्यापारस्योदासीनभोक्तृपुरुषोपभोगार्थप्रवृत्तेरिति विधिर्विधीयते नियम्यते चेति विधिविधिनियमनयमतदर्शनम्, न सर्वमेकात्मकं किं तर्हि ? सर्वं सर्वात्मकमिति, ३ अस्यैव वा विकल्पान्तरं

दर्शयतीत्यर्थः । कारणमाह–**अतीतानामिति** प्रोक्तानां द्वादशनयाराणां यथासंख्यं स्वस्वप्रस्थानविषयप्रदर्शनफलत्वादित्यर्थः । स्वप्रस्थानविषयघटितशब्दविषयप्रतिज्ञाहेतुवाक्ये प्रागुदितनाभिक्रियासाधनव्याख्यानरूपे प्रदर्शयति–**व्यवहारैकत्वेत्यादिति**-शब्दः विध्यादि द्वादशनयप्रस्थानविषयैः स्यान्नित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादनित्यो वा, तथाविधस्यादकृतकत्वात्, तथाविधस्यात्कृतकाकृतकत्वात्, तथाविधस्यात्कृतकत्वाद्वेति प्रयोगार्थः । प्रत्येकनयप्रस्थानार्थोपदर्शनं दिशा विदधाति–**विधिनयस्येति** यथालोकेन परिगृह्यते तथैव वस्तु सर्वथाऽन्तरङ्गे येन केनचित्प्रतिविशिष्टेनाकारेण उदकाहरणादिसमर्थेन घटादेर्भवनरूपं सामान्यविशेषाद्यनपेक्षं नित्यत्वानित्यत्वकारणत्वकार्यत्वैकत्वनानात्वादिधर्माणि शास्त्रकारप्रकल्पितान्यध्यारोपेण यथा कारणमेव नित्यमेव सामान्यमेव सर्वमिति, विशेष एव कार्यमेवानित्यमेवेति च, तस्माल्लोकव्यवहारफलातिरेकेण प्रवर्तमानानि शास्त्राणि वृथैव, किन्त्वतीन्द्रिये पुरुषार्थसाध्यसाधनसम्बन्धादावेव शास्त्रमर्थवत्, न तु लौकिके गृह्यमाणेऽर्थे, ततश्च लोकतत्त्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्तद्विवेकयत्नः शास्त्रेष्वफल एव कर्मफलसम्बन्धपरिज्ञानं इदंकाम इदं कुर्यादित्येवं शक्यप्राप्ति सफलञ्च तच्चापौरुषेयनित्यागमगम्यमिति प्रतिपादनपरः प्रथमो भङ्ग इति भावः । **विधिविधिस्त्विति** क्रियाविधायकवाक्यस्य परिज्ञानमपि न सम्भवति संसेव्यवस्तुतत्त्वपरिणामस्याशक्यप्राप्यफलत्वाभ्यां विज्ञानासम्भवात्, क्रियोपदेशस्य ज्ञानपूर्वकत्वेऽज्ञानानुविद्धं सर्वमिति स्ववचनविरोधः, अज्ञातपूर्वकत्वेऽपि अवैद्यौषधोपदेशवदुपदेशासम्भवः सर्वमज्ञानानुविद्धमिति ज्ञानाभावे तद्वचनस्य कथं प्रतिपादकत्वं साधकत्वं च स्यात्, हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थो ह्युपदेशः, तत्र हिताहितपदार्थपरिज्ञानाभावे शक्यप्राप्तिसफलत्वे कथं विज्ञायेयाताम्, वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाविनाभावित्वाद्धिताहितत्वयोः साध्यसाधनभावस्य च तदभावे तदभाव एव, तस्मादात्मैव सामान्यं स्वावस्थानामिति सर्वैककारणमात्रं वस्तु, स च पुरुषः कालः नियतिः स्वभावो भावो वा, तद्वस्तुप्रभेदाः अवस्थाः, घटादेर्देशकालभेदभिन्नग्रीवाबुध्नादिनवपुराणादिवत्, तन्मात्रेणैव सर्वे व्यवहाराः प्रवर्त्तन्त इति विधिविधिर्नयमतम् । **तस्यापीति,** अवस्थावस्थावतोरभेदे पुरुषमात्ररूपत्वे नावस्थाः काश्चित्सन्ति यथा घट एव रूपादयो न रूपादयो नाम केचिदिति, अवस्थामात्ररूपत्वे तु न पुरुषः कश्चित्, समुदायमात्रवाद एव स्यात् यथा रूपादिसमुदाय एव घटो न ततोऽन्य इति, तस्मात्तयोर्भेदेनोपादानमुचितम्, सुप्तसुषुप्तजाग्रद्विनिद्रावस्थानाञ्च विशुद्धिक्रमेणान्यथावृत्तेरवस्थाक्षयो वाच्यः, अन्ते क्षयदर्शनादादावपि क्षयात् क्षणिकत्वादप्रसङ्गः, चतुर्ष्वप्यवस्थासु ज्ञानावश्यम्भावात् ज्ञानस्वरूपादनपेता रूपरसादिघटादिसृष्टिः सा च कल्पनाज्ञानमात्रम्, तन्मात्रसत्यत्वाच्च विज्ञानव्यतिरिक्तार्थशून्यवादश्च प्रसज्यते, एवञ्च सन्निधिभवनरूपस्य पुरुषस्याऽऽपत्तिभवनरूपस्य प्रधानस्य भावात् प्रधानपुरुषद्वैतवादः श्रेयान्, सा च प्रकृतिः भोग्या सत्त्वरजस्तमोमया, सत्त्वरजस्तमांसि प्रकाशप्रवृत्तिनियमस्वरूपाणि, प्रकृतिव्यापारस्य भोक्ता चोदासीनः पुरुषः तदर्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न सर्वमेकात्मकं किन्तु सर्वं सर्वात्मकमिति विधिविधिनियमनयमतम् । विध्युभयनयदर्शनस्यैव विकल्पान्तरमाह–**अस्यैव वेति,** सर्वसर्वात्मकत्वपरिग्रहो नोचितः किन्तु भवति भावद्वैतम्, भवतो भावस्य भाव्यभवितृभ्यां भेदाभ्यां भावोपपत्तिः

विध्युभयनयदर्शनस्य प्रकृतिपुरुषयोर्गुणत्रयव्यवस्थानुपपत्तेः स्थित्युत्पत्तिविनाशानात्मकत्वादसत्त्वापत्तेश्च भावद्वैतं भाव्यभवितृभेदात् प्रतिविशिष्टबुद्धिस्वतंत्राधिष्ठात्रधिष्ठेयास्वतंत्रत्वद्वैविध्यात् ईश्वरेशितव्यात्मकं द्वैतमिदमिति, एतस्यापि प्रकृतिपुरुषस्य परस्परात्मानापत्तौ कर्मफलसम्बन्धाभावे संसारमोक्षाद्यनुपपत्तेः, ईश्वरस्यापि च प्रवर्त्त्यपुरुषकर्मकृतत्वात् कर्मणां पुरुषकृतत्वात् आत्मनैवात्मनः कार्यकार[ण]त्वादेकं सर्वं सर्वञ्चैकमिति विधिनियम्यत्वात् ४ विधिनियमनयदर्शनमिति, एषां चतुर्णां द्रव्यार्थत्वादकृतकनित्यत्वैकान्तः। भवितृभवनयोर्द्रव्यक्रिययोरन्यतरप्रधानोपसर्जनत्वानुपपत्तिरभावापत्तेरतो विधिनियमौ प्रधानावेव द्रव्यभावपरिग्रहात्मकाविति ५ उभय[नय]दर्शनम्, अस्यापि नयस्य परस्परनिरपेक्षस्वातंत्र्ये द्रव्यभावयोरनुपपन्नस्थित्युत्पत्तिविनाशस्वावस्थयोरभावत्वं खपुष्पवदतः परतः स्वतश्च तद्व्यक्त्याकृत्याख्यं गुणप्रधानभावेन

अनापन्नस्य सन्निधिभवनस्य पुरुषस्याभावात्, आपत्तिभवनस्यापि प्रधानस्य भाव्यत्वेन भावयितारमन्तरेणानुपपत्तेः गुणत्रयव्यवस्थाऽसम्भवः, एवञ्च प्रवर्त्तनवृत्तः स्वतंत्रः कर्त्ता भवति मुख्यः सः प्रतिविशिष्टबुद्धिः स्वतंत्रोऽधिष्ठाता ईश्वरः तदधिष्ठेयोऽस्वतंत्रश्चेशितव्य इति भावद्वैतपरिग्रहात् विध्युभयनयोपपत्तिरिति भावः। उभयमतमपि निराकरोति-**एतस्यापीति**। प्रकृतिपुरुषयोः परस्परस्वरूपत्वानापत्तौ कर्मफलेनाभिसम्बन्धो न स्यात्, ततश्च संसारो मोक्षश्चानुपपद्येते, ईश्वरोपि यद्यभूतस्य कर्मणः प्रवर्त्तकस्तर्हि अद्वैतवादापत्तिः कर्मणोऽपीश्वरात्मकत्वादीश्वरः कर्म स्यात्, भूतकर्मप्रवर्त्तकत्वे प्रागपि कर्मण. सत्त्वात् तस्य चेश्वरात्मकत्वात् सुतरामद्वैतवाद एव स्यात्, यस्मै प्राणिने कर्मेश्वरेण प्रवर्त्त्यते कर्मणस्तदात्मकत्वे तत्कर्मवशादीश्वरस्य प्रवृत्तौ कर्म एवेश्वरः स्यात्, तस्यापि प्रवर्त्तकत्वात् कर्मणः, ईश्वरस्य स्वातंत्र्यमपि न स्यात् पुरुषकृतकर्मप्रत्ययेन ईश्वरप्रवृत्तिप्रतिघातात्, कर्मणः पुरुष एव कर्त्ता, कर्मयोगानां पुद्गलानां कर्मत्वेनादिकरत्वात्, तदपि कर्म आदिकरम्, नरनारकादि नानाप्रभेदशरीराणां तत्सम्बद्धात्मनाञ्चादिकरत्वात्, आत्मकर्मणोश्चैकत्वात्, आत्मा हि परिणमयति गतिजात्यादिना कर्मपुद्गलान्, तेऽपि मिथ्यादर्शनादित्वेनात्मानं परिणमयतीत्यन्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वमेकत्वम्, तथैवात्मनोऽवगाहादिलक्षणैरस्तिकायैः सहैक्यम्, प्रवर्त्यप्रवर्त्तकन्यायात् पृथिव्यादिव्रीह्यादिपृथिव्यादिवत्, एवञ्चैकं सर्वं सर्वं चैकमिति विधिनियम्यत्वाद्विधिनियमनयमतम्, एते चत्वारो नया द्रव्यमात्राभ्युपगमपराः तस्मादेषु शब्दो नित्य एव, अकृतकत्वादित्येकान्त इत्याह-**एषामिति**। भवतीति भाव इति भवनधर्मा केवलं द्रव्य एवेति न युक्तम्, भवतीति प्रकृत्यर्थस्य भवनस्य प्रत्ययार्थेन द्रव्येण कर्त्रा विशिष्यमाणत्वात् द्व्यर्थत्वाभ्युपगमात्, द्रव्यं भावोऽपि भवतीति भाव इति व्युत्पत्त्या भावस्यापि भावः, द्रव्यमात्रन्त्वप्रवृत्तत्वादसत् भवदेव हि भवति, अद्रव्या क्रिया भावोऽपि नैव स्यात्, अद्रव्यत्वादभूतत्वान्निर्बीजत्वात्, तस्मादुभयं द्रव्यं भावश्च, तुल्यबलत्वाच्चानयोः प्रधानता, तत्र क्रियाया उपसर्जनत्वे बालकुमारादीनां देवदत्तादेरंशवत् क्रियाया द्रव्यांशापत्त्यांऽशांशिनोश्चाभेदात् क्रियाया अभाव एव स्यात् तस्माद्द्रव्यभावौ प्रधानभूतौ सर्वमिति उभयनयमतमित्याह-**भवितृभवनयोरिति**। एवं द्रव्यभावयोः प्राधान्ये परस्परानपेक्षत्वेऽवस्थारहितत्वेनावस्तुत्वं प्रसज्यते स्थित्युत्पत्तिविनाशा ह्यवस्थाः, तदभावे द्रव्यमनवस्थमतो द्रव्यप्रभेदसम्भवः, ताः क्रियाया एव भवेयुः, तद्भेदस्य तदात्मकत्वात् क्रियैव द्रव्यमापन्नं संज्ञाभेदमात्रात्, द्रव्यस्यैव स्थित्यादित्वे तु सर्वप्रभेदनिर्भेदत्वमसत् स्यात्, किन्तु सत्ताद्रव्यत्वादि सामान्यं पृथिव्यादिचतुष्टयपरमाणवः आकाशकालदिगात्ममनांसि विभुत्वपरिमंडलत्वादिगुणाश्च नित्यानीति विधिः, आरब्धद्रव्यगुणानां कर्मणश्चानित्यत्वं प्रागुक्तेभ्यो विशेषः, स्वस्वजातिप्रभेदेभ्यश्चान्यत्वं कार्यकारणतया चेति, तयोरुत्सर्गापवादयोः सामान्यविशेषयोरेवंविधानामुभयविधिः एते द्रव्यादयोऽन्यापेक्षेण भूयत इति भावः, असौ भावो महासामान्यं सत्ता, येन च भूयते सोऽपि चास्य भावः, न केवलं सत्तैव भावः किन्तु तदाश्रयोऽपि द्रव्यादिर्भावः, सत्ता स्वतोभावः द्रव्यादिः तत्सम्बन्धाद्भावः, असदपि च कार्यं भवतीति विधिनियमयोर्विधानाद्विधिनियमविधिनयमतमित्याह-**अस्यापि नयस्येति**। द्रव्यार्थिकनयानां सन्निहितभवितृकत्वमभिप्रेतम्, तत्र यद्यसत् कार्यं न तद्भवितुमर्हति, असन्निहितभवितृकत्वात् खपुष्पवत्, असतश्च खपुष्पवदेव सत्तासमवायित्वाभावात्, स्वतः सत्त्वे च सत्तासम्बन्धकल्पनानर्थक्यात्, भूतत्वात्, सत्तावत्, सदसताञ्च ऐकात्म्यानुपपत्तेः सदसतोर्वैधर्म्यात् घटखपुष्पवत्, उभयदोषप्रसङ्गाच्च न सत्तासम्बन्धः, गुणस्यागुणवत् स्वरूपसदेव प्रागसदुच्यते तस्यासतः सत्तासम्बन्धौ न सर्वथाऽसत इति चेत् तर्ह्यसतः सत्त्वं न सम्भवतीत्यभ्युपगतं भवतापि, तदपि न

द्रव्यादि सत् परतः सत्तादि स्वत इत्यसदपि भवतीति विधिनियमं विधीयते इति ६ विधिनियमविधिनयदर्शनम्, अस्याप्यसदुत्पत्तिवाञ्छिनो नयस्यासन्निहित[भवितृकत्वात्]खपुष्पादिवत् सतोऽसतः सदसतो वा सताऽसता सदसता वा सम्बन्धाभावात् सत्करत्वाभावाच्चासदुत्पत्त्ययुक्तेः प्रवृत्तिरूपमितरेतराभावलक्षणमभवद्भवति[व]स्त्विति ७ उभयोभयनयदर्शनम्, अस्यापि दर्शनस्य पराभावस्य विशेषस्य ,स्वरूपविशेषासम्भवेऽनवस्थानात् द्वयोरप्यभावसङ्कररूपादिदोषादयुक्तेर्भवितृप्रधानं भवनोपसर्जनमिति ८ उभय[नियम]नयमत[म्] एषु चतुर्षूभय[ोभय]विध्यादिषु कृतकाकृतकत्वादनित्यानित्यत्वावलम्बिचतुरवयवः प्रतिज्ञाहेतुव्याख्याविकल्पः, अस्यापि नयस्य भेदप्राधान्येऽन्वयाभावः, उपसर्जनत्वात्, भेदस्यापि तदविनाभाविनोऽभावो गगनोदुम्बरकुसुमवत् सामान्यविशेषयोरन्यतरोभयप्रधानोपसर्जनपक्षविकल्पानामत्यन्ताभावाभिमुखानां त्यागा-

---

सम्भवति, शशविषाणादेः सत्करत्वप्रसंगात् सत्तासम्बन्धात् प्राक् द्रव्यादेर्विचार्यत्वाच्च, सत्तायाः सतोऽसतः सदसतो वा सत्करत्वासम्भवात् कारणसमवेतस्य स्वत एव सत्त्वासम्भवात् सत्तासम्बन्धात् सत्त्वे तस्य स्वतो निरुपाख्यत्वेनासत्त्वं स्यात्, सतश्च सत्तया सत्करत्वं वैयर्थ्यान्न सम्भवति तस्मात् सतामसतां वा द्रव्यादीनां न सत्करी सत्ता, सदसतामप्यभूतत्वादप्रसिद्धत्वात्त्वन्मतेनैव न सत्करी, सत्कार्यपक्ष इव चासत्कार्यपक्षेऽपि क्रियागुणव्यपदेशाभावः, तस्मात् सामान्यं विधीयते नियम्यते च विशेषोऽपि तथा, सामान्यं प्रवृत्तिर्विशेषो निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्ती अन्योन्याविनाभाविन्यौ, एवञ्च सामान्यं सामान्यं विशेषश्च भवतः विशेषोऽपि विशेषः सामान्यञ्च भवत इति इतरेतराभावरूपेण स्वेन च भावरूपेण सदेवासत् सर्वमिति अभवद्भवनरूपं वस्त्वित्युभयोभयनयमतमित्याह-**अस्याप्यसदुत्पत्तीति**। भावाभावात्मकवस्तुनो भावनायां विशेषस्य पराभावरूपत्वे स्वगतविशेषस्याभावे स्वत्वपरत्वयोरव्यवस्थितत्वं स्यात्, स्वं स्वं न भवति, पराभावविशेषत्वात्, परमपि परं न भवति स्वभावविशेषशून्यत्वादिति भावाभावयोर्भेदेनोपादानं न स्यात् स्वपरयोरितरेतरात्मापत्तेः, एवञ्च भावाभावयोरैक्यम्, स्वतोऽप्यसत्त्वं परतोऽपि सत्त्वमिति सङ्करोऽपि स्यात्, भावाभावयोरुभयोः प्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावो न स्यात्, अन्यतरप्रधानोपसर्जनभावे एतन्नयसम्मतं विशेषस्य भवितुः प्राधान्यं सामान्यस्य भवनस्यैवोपसर्जनत्वं युक्तं स्यान्नान्यथा, उपसर्जनावेव भावाभावौ चेदन्येन प्राधान्येन भवितव्यम्, तदभावे प्रवृत्त्यभावादिति उभयनियमनयमतमिति भावयति-**अस्यापि दर्शनस्येति**। एते चत्वारो नयाः द्रव्यं भावञ्चेच्छन्ति तस्मादेषु शब्दविषयः प्रतिज्ञा नित्यत्वानित्यत्वकृतकत्वाकृतकत्वरूपचतुरवयवः शब्दो नित्यानित्यः अकृतककृतकत्वादिति भाव्यमित्याह-**एषु चतुर्ष्विति**। उक्तनयमतं न युक्तम्, यदि हि भेदप्रधानो भावः स्यात्, तवेष्टोऽन्वयः भावः कथं भवितारमन्तरेण स्वरूपं प्राप्तुं समर्थोऽस्वतन्त्रत्वात् तस्मादभविता, अभवितृत्वादसन् खपुष्पवत्, एवं तस्यान्वयस्याभावे भेदा विप्रकीर्णा भेद्यवस्तुरहिताः स्युः, भेद्यवस्तुनोऽभावाच्च भेदा अपि न भवितुमर्हन्ति खपुष्पवदिति अन्वयोपसर्जनो भेदप्रधान इत्यसत्, एवञ्च घटादिभेदाभावः भेत्तव्याभावात्, गगनोदुम्बरकुसुमवत्, एवं निराकृतसामान्यं विशेषो वा भावोपसर्जनं विशेषप्रधानं वा, निराकृतविशेषो भाव एव वा विशेषोपसर्जनं सामान्यप्रधानं वा अत्यन्तनिराकृतस्वातंत्र्यसामान्यविशेषं वा, अत्यन्तस्वतंत्रसामान्यकक्षसामान्यविशेषं वा वस्तु न भवति, सर्वेषु विकल्पेष्वणुभावापत्तिदोषदर्शनात्, तस्मादग्नीन्धनयोरिव सामान्यविशेषयोरेकत्वनानात्वोभयत्वानुभयत्वान्यतरप्रधानोपसर्जनत्वानां सर्वथाऽघटमानत्वात् सर्वथाप्यवक्तव्यतैवेति नियमनयमतमित्याह-**अस्यापि नयस्येति**। सर्वमप्यवक्तव्यमेवेति मतमप्ययुक्तमेव, स्ववचनविरोधादिदोषात्, तदेव विधीयते तदेवापोद्यते, अवक्तव्यत्वं विधीयते, अवक्तव्यशब्देनोच्यमानत्वादपोद्यते, सर्वोक्तानृतपक्षवत्, एकत्वप्रतिषेधेऽन्यत्वस्यान्यत्वप्रतिषेधे एकत्वस्य सिद्धेरेवमुभयत्वानुभयत्वयोरपि, न चोभयतोऽपि प्रतिषेधे कतमत्तद्वस्तु यदवक्तव्यं भवेत्, किं भावो विशेष उभयं वा, भावादेरेकत्वादीनि यद्यप्रविभागेन पुरुषादिवत्तर्हि सति द्वितीये तेन सहासंपर्कादेकं स्यात्, द्वितीयन्तु नास्ति, उपाख्यानाशक्यत्वेन प्रतिषिद्धत्वात्, यदि अविभागेन तदपि न, सहासहभवनस्य द्विष्ठत्वादित्यादिना निषिद्धत्वात्, एवमन्यत्वादीन्यपि, अवक्तव्यशब्दस्य च प्रतिपक्षः सम्भाव्यते नञ्युक्तत्वादब्राह्मणवत्, संवृत्त्या तु न वाग्व्यवहारः, अवक्तव्यत्वस्यापरमार्थत्वापत्तेः धर्मधर्मिविभागव्यवस्थाभावात् प्रतिपादनप्रमाणाभावेनावक्तव्यं वस्त्वविदितमेव स्यात्, अनिरूपितवस्तुस्वतत्त्ववादिनश्चावादित्वं प्रसज्यते, तस्माद्रूपादय एव समुदायिनः वस्तु भवति, न समुदायः रूपाद्यन्यतमानात्मकत्वात् खपुष्पवत्, प्रत्येकंवृत्तरूपादिर्भेदरूपैव, न सामान्यम्,

दग्नीन्धनवत् तत्त्वान्यत्वोभयत्वावक्तव्यता श्रेयसीति ९ नियमनयमतमेतत्, एतदपि मत[मयुक्त]मवक्तव्यमिति वक्तव्यत्वानतिवृत्तेः स्ववाग्विरोधादनिरूपितवस्तुस्वतत्त्ववादिनश्चावादित्वप्रसङ्गात् रूपरसाद्यत्यन्तविविक्तदेशभिन्नविशेषसमुदायिमात्रं वस्त्विति १० नियमस्य विधिः, इदमपि नयमतमशोभनम्, द्रव्यभवनव्यावृत्तौ प्रतिज्ञातायां कोऽत्र भेदभावो नाम समुदायसंवृतिसमुदायिनामुत्पादविनाशव्यतिरिक्तस्वरूपाभावादभावत्वापत्तेः क्षणे क्षणेऽत्यन्तभिन्नं रूपादि, असाधारणानिर्देश्यपरमार्थत्वाद्वस्तुन इति नियमो विधीयते नियम्यते चेति ११ नियमोभय[नय]मतम्, अस्यापि नयमतस्यासाधुता, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति शब्दव्युत्पत्तौ ठन्प्रत्ययषष्ठ्यर्थाभ्यां सहभाविभावाभ्युपगमात्, अनिर्वहनीयत्वात्, अभावपरमार्थवस्तुत्वादसिद्ध्यादिभ्यः शून्यत्वमेव वस्तुन इति [१२ नियमस्य नियमः], एतेषु चतुर्षु नियमविध्यादिषु कृतकत्वादनित्य इति हेतुप्रतिज्ञाव्याख्याविकल्पः, सर्वत्र व्याख्यार्थघटवदिति दृष्टान्तः, एकसर्वार्थपिण्डनैकसाधनप्रयोगः सहव्याख्यानदिक्प्रदर्शनेन कृतः ।

एवं सर्वप्रभेदेष्वपि, स्यादेकः स्यादेकानेकः, स्यादनेकः विधिविधिनियमनियमस्वभावत्वात्, विध्यादिद्वादशात्मकत्वात्, घटवत्, भावितमेव नयचक्रशास्त्रेणानेन, एवञ्च जिनशासनमेकान्तसत्यमेव, सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वात् सदसदर्थपदाव्यभिचारिप्रमाणप्रबन्धसंसिद्धबहुभेदार्थसिद्धादेशनैमित्तिकवाक्यार्थवत् ।

स च परस्परविविक्तैकरूप इत्येतन्मात्रसत्यमेव वस्तु, तस्य प्रतिपत्तिनिमित्तं समुदायवचनं घटः पटः रथ इत्यादि, परिकल्पनामात्रार्थत्वाच्छब्दस्येति देशभिन्नमत्यन्तविविक्तं विशेषसमुदायिमात्रं वस्त्विति नियमविधिनयमतमित्याह—**एतदपीति** । रूपादिभवनमेव भाव इति मतमशोभनम्, रूपादिभिर्हि भावरूपेणाभावरूपेण वा भवितव्यम्, द्रव्यार्थिकमतस्य पर्यायार्थिकैर्व्यावर्त्तनात् भावरूपेण भवनाभावो रूपादेः, तस्मादुत्पादविनाशाभ्यामेषां भवनमव्यावृत्तम्, तस्यापि व्यावर्तनेऽत्यन्तासदेव रूपादि स्यात्, एवञ्च विनाशधर्मणो विनाशविघ्नाभावादुत्पन्नमेव विनाशमनुभवतीति क्षणिकं रूपादि वस्तु तच्चासाधारणमनिर्देश्यं प्रतिक्षणमन्यं भवदेव भवतीति नियमोभयं वाञ्छत्ययं नय इत्याह—**इदमपि नयमतमिति** । अन्ते क्षयदर्शनादादौ क्षय इति क्षणिकताभ्युपगमोऽपि न साधुः, तथा सति स्थितघटादिक्षयप्रसिद्धिवत् प्रसिद्धेरभ्युपगमो भवेत्, उत्पादविनाशयोः प्रसिद्धवस्तुविषयत्वात्, भवत एव हि भवनमित्यभ्युपगमस्ते, तस्माद्वस्तुव्यवस्थासिद्ध्युपहितनियमानतिक्रमात् घटादिवस्तुवदन्तवत्त्वान्निष्ठितं वस्त्विति प्राप्तम्, ततश्चारम्भक्रिये स्याताम्, निष्ठितत्वात्, न च क्षणिकत्वात् क्रिया नेति वाच्यम्, क्षणिकशब्दार्थान्वीक्षणादेव क्षणभङ्गवादभङ्गसम्भवात्, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक इति क्षणेन तद्वता चार्थेन विना क्षणिकशब्दस्यार्थवत्त्वं नास्ति दण्डोऽस्यास्तीति दण्डिक इतिवत्, एवञ्च तत्समवस्थातृद्रव्यार्थलक्षणोऽर्थ एव स्यात्, न क्षणक्षयी, अन्यथा क्षणिकशब्दार्थोऽनिर्वहनीय एव स्यात्, य एवोत्पादः स एव क्षणिकः उत्पादातिरिक्तार्थाभावादित्युक्तौ क्षणतद्वतोरभावात् क्षणिकशब्दार्थविनाश एव स्यात्, भाविविनाशेन प्राच्यस्य क्षणिकत्वव्यपदेशोऽपि न सम्भवति, अवस्थितद्रव्यमन्तरेण भाविधर्मेण तस्य व्यपदेशासम्भवात्, असम्बन्धात्, त्वन्मतवत् क्षणिकत्वे तूत्पादविनाशावेव न स्याताम्, स्थितवस्त्वभावात्, स्थितस्यैवोत्पादविनाशदर्शनात्, एवञ्च परमतप्रवेशापत्तिः स्यात् तस्मान्निःस्वभावं सर्वमिदम्, तदतत्स्वभावतया विज्ञानकल्पिताकारसुप्तमत्तादिविज्ञानविषयवत् किमपि किमपीत्याभासात् परमार्थतो नास्ति कश्चिदाकारः, शून्यमेव, न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः स्वभावोऽस्ति असिद्ध्ययुक्त्यानुत्पादसामग्रीदर्शनादर्शनेभ्य इति शून्यमेव वस्त्विति नियमनियमनयमतमित्याह—**अस्यापि नयमतस्येति** । एषु नियमादिषु चतुर्षु नयेषु कृतकत्वाच्छब्दो नित्य इति प्रतिज्ञाहेतू विज्ञेयावित्याह—**एतेष्विति,** उक्तप्रतिज्ञात्रयेषु व्यावर्णितो घटो दृष्टान्त इत्याह—**सर्वत्रेति** । सर्वार्थसङ्ग्रहेणोक्तैकसाधनप्रयोगो व्याख्यापूर्वकं दर्शित इत्याह—**एकसर्वार्थेति,** व्यवहारैकत्वेत्यादिसाधनप्रयोग इत्यर्थः । इत्थं नित्यानित्यत्वप्रभेदं गृहीत्वा कृतःसाधनप्रयोगोऽन्यप्रभेदेषु

एवं सर्वप्रभेदेष्वपीति, एकानेककारणकार्यसर्वगतासर्वगतसामान्यविशेषधर्मिधर्मादिवस्तुप्रभेदेष्वप्येवं नेतव्यमित्यतिदिशति, तन्निदर्शनार्थं द्वादशानां विकल्पानां त्रिधा सम्पिण्डनेन चतुरश्चतुरो विकल्पानेकत्र व्याकृत्याह–स्यादेक इत्यादि, तयैवानुपूर्व्या तत्र स्यादेक इत्यादि चत्वारो विकल्पाः संक्षिप्य पक्षीकृताः, स्यादेकानेक इत्युभयविकल्पाः, स्यादनेक इति नियमविकल्पाः, एवं स्यात्कारणं स्यात्कारणकार्यं स्यात्कार्यमेवेति, तथा स्यात् सर्वगतं स्यात् सर्वगतासर्वगतं स्यादसर्वगतमेवेति, इत्थं तथैव नित्यैककारणसर्वगतोभयानित्यानेककार्यासर्वगतविकल्पानां पृथक् पृथक् द्वादशधा भिन्नानां सङ्गृह्य प्रतिज्ञाय हेतुरपि संक्षिप्योच्यते तथैव–विधि–विधिनियम–नियमस्वभावत्वात्–विधेर्ग्रहणेन विधिविकल्पाश्चत्वारो गृहीताः, विधिनियमग्रहणेनोभयविकल्पाः, नियमग्रहणेन नियमविकल्पाश्चत्वारः, विधिश्च विधिनियमश्च[1] नियमश्च–विधिविधिनियमनियमा इति विग्रहात्, तद्व्यक्त्यर्थमाह–विध्यादिद्वादशात्मकत्वादिति, घटवदिति दृष्टान्तः, भावितमेवेति–व्याख्यातमेव द्वादशनयव्याख्यानप्रपञ्चात्मकेन नयचक्रशास्त्रेणानेनेति, अतीतावेक्षणं तन्त्रयुक्तिः, अतिदेशो नाम प्रकृतस्यातीतेन साधनमतिदेश इति लक्षणात्, घटो हि विध्यादिद्वादशविधभवनसमूहात्मकः तेषामन्यतमाभावे न भवति, परस्परापेक्षायामेव भवतीति विस्तरेण चरितार्थमेतत्, एवञ्चेत्यादि, सप्त[शतार]नयचक्रशास्त्रोक्तविध्यादिद्वादशारशास्त्रान्तराधारनाभीभूतस्याद्वादप्रबन्धकृतैकवाक्यतायां सर्वशास्त्रप्रवृत्तीयत्तायां च सत्यामित्थं प्रतिपादितायां यदर्थापत्त्या शास्त्रोत्थाने प्रतिज्ञातं विध्यादिवृत्त्येकात्मकत्वात् जैनशासनसत्यत्वप्राप्तिरिति तत्सिद्धम्, तच्चोपसंहृत्य साधनमिदम्–जिनशासनमेकान्तसत्यमेवेति प्रतिज्ञा, सम्यक्सम्प्रसि-

---

एकानेकत्वादिषु भाव्य इत्यतिदिशति–**एवमिति**। व्याचष्टे–**एकानेकेति**। द्वादशनयान् भागत्रये प्रविभज्यैकानेकत्वादिप्रभेदविषयाः प्रतिज्ञाः प्रतिभागं संपिण्ड्य दर्शयति–**तन्निदर्शनार्थमिति**। प्रथममेकत्वप्रतिज्ञा तत एकानेकत्वप्रतिज्ञा ततश्चानेकत्वप्रतिज्ञेति द्वादशनयानुपूर्व्या कार्येत्याह–**तयैवानुपूर्व्येति**। तदेव दर्शयति–**तत्रेति**। कारणत्वकार्यत्वप्रभेदाश्रयेणाह–**एवं स्यात्कारणमिति**। सर्वगतासर्वगतप्रभेदाश्रयेणाह–**तथेति**। भावार्थमाह–**इत्थं तथैवेति,** स्यान्नित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादनित्य इति प्रतिज्ञावत्, स्यादेकः स्यादेकानेकः स्यादनेक इति, स्यात्कारणं स्यात् कारणकार्यं स्यात्कार्यमिति, स्यात्सर्वगतं स्यात् सर्वगतासर्वगतं स्यादसर्वगतमित्येवं द्वादशनयक्रमेण प्रतिज्ञाः कृत्वा हेतुरपि तथैवोच्यत इति भावः। साधनमाह–**विधीति**। व्याख्याति–**विधेर्ग्रहणेनेति**। समासमाह–**विधिश्चेति**। तस्य भावार्थमाह–**विध्यादीति**। घटो यथा विधिस्वभावो विधिनियमस्वभावो नियमस्वभावश्च विध्यादिद्वादशात्मकत्वात् ततश्च स्यान्नित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादनित्यश्च तथैव शब्दादयोऽपीत्याशयेन दृष्टान्तमाह–**घटवदिति**। द्वादशनयेषु घटस्य तथाविधत्वं दर्शितमेवेत्याह–**भावितमेवेतीति**। अनेनातीतस्य नयचक्रशास्त्रार्थस्य संसूचनपूर्वकमतिदिशति प्रकृतार्थे, अतोऽतीतावेक्षणं नाम द्वादशनयतन्त्रस्य युक्तिः, ताभिर्युक्तिभिः प्रकृतार्थसाधनमतिदेश इत्याशयेन लक्षणमाह–**अतीतेति**। दृष्टान्तं घटयति–**घटो हीति**। एवञ्च जैनसत्यत्वसाधनवृत्तानुवृत्तिर्द्वादशविकल्पविशेषणा, अन्यथाऽवृत्तित्वमेव वक्ष्यमाणत्वादिति यत्प्रागुक्तं शास्त्रारम्भे तत्सिद्धं भवतीत्याह–**सप्तशतारेति,** सप्तशतारनयचक्रशास्त्रं पूर्वाचार्यविहितं तथोक्तविध्यादिद्वादशारशास्त्रान्तरं तयोराधारनाभीभूतः स्याद्वादप्रबन्धः तेनैकवाक्यतायां कृतायां सत्यां एकवाक्यतायामेव सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तित्वाच्च तदेकवाक्यत्वस्यैवं प्रतिपादिते सति शास्त्रोत्थाने विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वाज्जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीत्युक्तौ यदर्थापत्त्या जैनशासनसत्यत्वं विध्यादिद्वादशवृत्त्येकवाक्यत्वादिति प्रतिज्ञातं तत् सिद्धं भवतीति भावः। तदेव साधनेन समर्थयति–**तच्चोपसंहृत्येति**। जिनशासनं एकान्तसत्यमेव, सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युप-

---

१ सि. क्ष. धा. डे. विधिनियमौच।

द्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिति हेतुः,—समीचीना सम्प्रसिद्धिः सम्यक्सम्प्रसिद्धिः,—सामान्यविशेषविकल्पान्योऽन्याजहद्वृत्त्या वस्तुतत्त्वनिष्पत्तिः, सम्यक्सम्प्रसिद्धेः उपनिबन्धनं—प्रत्यक्षानुमानागमलोकप्रसिद्धसंव्यवहाराविरोधनं तेनोपनिबन्धनेन सम्प्रतिष्ठितोऽर्थो यस्य तदिदं जिनशासनं सम्यक्संप्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थं तद्भावादेकान्तसत्यमेव तत्, दृष्टान्तः सदसदर्थेत्यादि, संश्रासंश्रार्थोऽभिधेयो यस्य घटभवत्यादेः पदस्य, सङ्गृहीतानेकभेदा[त्मकत्वादने]कान्तात्मकः, तेन सहाव्यभिचारिणां प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणानां प्रबन्धेनाव्यवच्छिन्नप्रमाणप्रमेयसम्बन्धार्थाभिधानप्रत्यययाथात्म्येन संसिद्धा नयचक्रशास्त्राभिहिता बहुभेदाः—घटादिनामपदाभिधेया भवत्यादिक्रियापदाभिधेयाश्चार्थाः सांसिद्धिकनिदर्शनाः सिद्धादेशनैमित्तिक[1]वाक्यवत् सदाद्यनेकान्तार्थविषयत्वात् सत्यत्वप्रमाणत्वाव्यभिचारीति भावितमेव, व्याख्यातप्रकारसम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिति, एवं स्वपक्षसंसिद्धिसाधनाभिधानवर्त्मप्रदर्शनं शास्त्रार्थोपसंहारात्मकं कृतम् ।

परपक्षविक्षेपक्षमसाधनाभिधानदिक्प्रदर्शनमपि शास्त्रार्थोपसंहारात्मकं क्रियते—

एतदन्यतरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्तु विघटितार्थः, प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात्, दश दाडिमानीत्यादिवाक्यवत् ।

निबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिति प्रयोगः । हेत्वर्थमाह—**समीचीनेति,** सामान्यविशेषविकल्पानां परस्परापरित्यागवृत्त्या वस्तुतत्त्वभवनस्य प्रत्यक्षानुमानागमलोकप्रसिद्धव्यवहाराविरोधेन यस्मिन् शासने ग्रन्थघटकतया सम्प्रतिष्ठितत्वमस्ति तथाविधं जैनशासनं सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थम्, प्रमाणाद्यविरोधेन सविकल्पयोः सामान्यविशेषयोः परस्परापरित्यागेन जैनशासने प्रतिपादितत्वेन वस्तुनोऽत्रैव सम्प्रतिष्ठा वर्त्तते, नान्यशासनेषु तेषु क्वचित् सामान्यस्यैव क्वचिद्विशेषस्यैव क्वचित्प्राधान्येनोभयोः क्वचिच्च प्रमाणप्रसिद्ध्यादिविरोधेन प्रतिपादनादसम्प्रतिष्ठितार्थाः तस्मात्तानि सत्यार्थानि न भवन्ति, किन्तु जैनशासनमेव एकान्तेन सत्यमिति भावः । दृष्टान्तमाह—**सदसदर्थेत्यादीति,** घटः भवतीत्यादिपदस्य सङ्गृहीतानेकभेदात्मकोऽनेकान्तात्मकः सदर्थोऽसदर्थश्चाभिधेयः, प्रमाणान्यपि तथाविधपदेन सहाव्यभिचरितानि, अर्थाभिधानप्रत्ययौ च सदसदर्थपदाव्यभिचारिप्रमाणप्रबन्धेनापरित्यक्तप्रमाणप्रमेयसम्बन्धौ, अत एव यथास्वरूपौ, यथाविधप्रमाणप्रबन्धेन नयचक्रशास्त्राभिहिता बहुभेदा अर्थाः—घटादिनामपदाभिधेयाः भवत्यादिक्रियापदाभिधेयाश्च संसिद्धास्तथाविधार्थवत्सिद्धादेशनैमित्तिकस्य सकलाभिधानज्योतिष्कस्य वाक्यवदित्यर्थः, अनेकान्तात्मकसदसदार्थाभिधायिपदाव्यभिचारिप्रमाणानि नयचक्रशास्त्रोदितानेकप्रभेदार्थविषयाणि सिद्धान्येव, तथाविधसिद्धार्थनिबन्धनसिद्धादेशनैमित्तिकवाक्यं सत्यत्वप्रमाणत्वाव्यभिचार्येव, तद्वज्जैनशासनमिति भावः । **तेन सहेति,** सदसदर्थाभिधायिपदेन सहाव्यभिचारिप्रमाणानि—यस्मिन् वाक्ये प्रमाणभूते ईदृशपदानि वर्त्तन्ते, तेषां प्रमाणानां प्रबन्धः वाच्यवाचकसम्बन्धाव्यवच्छेदः, तथाविधाव्यवच्छिन्नसम्बन्धवदर्थस्याभिधायकं पदं तथाविधार्थविषयं वा विज्ञानं याथात्म्यं भवत्येव, एवञ्च सदसदर्थपदाव्यभिचारिप्रमाणप्रबन्धेन—वाक्यप्रबन्धेन बहुभेदा अर्थाः संसिद्धा एव, तथाविधसांसिद्धिकार्थोपदर्शकसिद्धादेशनैमित्तिकस्य वाक्यं सत्यार्थं प्रमाणमेवेति भावः । दृष्टान्ते साध्यसाधने घटयति—**सदाद्यनेकान्तेति,** तथाविधं वाक्यं सदाद्यनेकान्तविषयमत एव सत्यत्वप्रमाणत्वाभ्यामव्यभिचारि, सम्यक् सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादेवं जिनशासनमपीति भावः । तदेवं जैनसत्यत्वपक्षसंसिद्धेर्यत्साधनमार्गस्योपदर्शनं नयचक्रशास्त्रार्थस्योपसंहाररूपं नयचक्रशास्त्रस्य जैनशासनसत्यत्वप्रतिपादनप्रयोजनकत्वात्तत्कृतमित्याह—**एवमिति ।** जैनादन्यच्छासनस्यानृतत्वप्रतिपादनस्यापि शास्त्रार्थत्वात् तत्साधनाभिधानमपि दिशा विदधातीत्याह—**परपक्षेति ।** द्रव्यार्थपर्यायार्थान्यतरैकान्तशास्त्रस्य प्रबन्धो विघटितार्थ इत्याह—**एतदन्यतरेति ।** विध्यादिद्वा-

1 सि. क्ष. छा. डे. °वाक्यार्थवत् ।

(एतदिति) एतदन्यतरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्तु विघटितार्थः,–एतेषामुक्तानां विध्यादिनयानां परस्परभिन्नप्रस्थानानां सर्वशास्त्रमतानुवृत्त्या संहृत्योक्तानां सदसत्पक्षद्वयतया द्रव्यार्थ[पर्यायार्थ]द्वित्वानतिवर्त्तिनां तयोरन्यतरस्यैकान्तस्य शास्त्रस्य प्रबन्धः–पुरुषपरम्परयाऽऽगमाव्यवच्छेदपरम्प[र]या सदेवासदेव नित्यमेवानित्यमेवेत्यादिः विघटितार्थ इति पक्षार्थः, शास्त्रवचनं सांख्यादीनां दूष्याणामेव लौकिकघटभवत्यादिप्रयोगेभ्यो दृष्टान्तभूतेभ्य उत्कृत्य पक्षीकरणार्थं मा भूद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरप्रविवेक इति, प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वादिति हेतुः, प्रस्तुतं वस्तु–दुःखविमोक्षोद्देशसाध्यसाधनसम्बन्धविधानं प्रमाणमेव सिद्धिनिरूपणञ्च, तद्विच्छेदो व्याघातः विघ्नोऽन्यथाभावः, तदनिर्वाहः, महासरःपुण्डरीकजिघृक्षार्थप्रवृत्ताप्राप्तपङ्कनिमग्नपुरुष[व]त्, स परमार्थो यस्यैतयोर्द्रव्यपर्यायार्थयोरन्यतरैकान्तशास्त्रप्रबन्धस्य[स]वस्तुविच्छेदपरमार्थः–स्वाभिप्रेतविपर्ययहेतुः, तद्भावात् प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात् विघटितार्थः, किमिव ? दश दाडिमानीत्यादिवाक्यवत्–यथेदमसम्बद्धावयवार्थमेकवाक्यभावानापत्तेर्विघटितार्थं प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात् तथोक्तद्रव्यार्थपर्यायार्थान्यतरविकल्पैकान्तशास्त्रप्रबन्धो विघटितार्थ इत्येषोऽर्थो भावित एवातीतसमस्तनयचक्रशास्त्रेणेति ।

एवमनेन समस्तेन ग्रन्थेनैतदभिहितं–विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत जैनादन्यच्छासनमनृतम्, जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवतिवत्, घटवद्वा, एकमेव वा साधनम्, तत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्वैकान्तवादिदूषणायानेकान्तवादिपक्षसाधनाय च प्रभवति, एवञ्च कृत्वा विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादिति सिद्धे वृत्तिवचनमशेषभङ्गैकवाक्यतीयामेव प्रतिभङ्गमपि वृत्तिरिति ख्यापनार्थम्, किमुक्तं भवति? स्याद्वादतुम्बप्रतिबद्धसर्वनयभङ्गात्मिकैकैव वृत्तिः सत्या, रत्नावलीवत्, अन्यथा वृत्त्यभाव एव, तथैव च सर्वैकान्तप्रक्रमः ।

दशनयाः परस्परविभिन्नार्थविषयाः निखिलशास्त्रमतानुसारेण सङ्गृह्योक्ताः, तेषां केचित् सत्पक्षं केचिदसत्पक्षं प्रतिपादयन्ति, अत एव ते द्रव्यार्थपर्यायार्थद्वयानतिवर्त्तिनः, तयोर्द्रव्यार्थपर्यायार्थयोरन्यतरस्य एकान्तभूतस्य शास्त्रस्य प्रबन्धः–प्रतिपाद्योऽर्थः स च पुरुषपरम्परया समायातः आगमपरम्परया वाऽव्यच्छेदेन समायातः सदेव, असदेव, नित्यमेव, अनित्यमेव वेत्यादिरूपः विघटितार्थः–असङ्गतार्थ इति प्रतिज्ञेत्याचष्टे–**एतेषामुक्तानामिति** । अत्र शास्त्रग्रहणप्रयोजनमाह–**शास्त्रवचनमिति,** सांख्यवैशेषिकादीनां दूष्याणां वचनमेव शास्त्रवचनं तदेव पक्षघटकं न तु लौकिको घटभवत्यादिप्रयोगः, तस्य दृष्टान्तत्वादन्यथा दृष्टान्तपक्षयोर्विवेको न स्यादिति भावः । विघटितार्थत्वे हेतुमाह–**प्रस्तुतेति** । प्रस्तुतं वस्तु दर्शयति–**दुःखविमोक्षेति,** दुःखाद्विमोक्षः–पृथग्भावः निवृत्तिः, तदुद्देशेन साध्यसाधनसम्बन्धविधानं इदङ्काम इदं कुर्यादित्यादि, प्रमाणं वा प्रकृतं वस्तु, सिद्धिनिरूपणं वा, एतस्य विच्छेदो–व्याघातो विघ्नोऽन्यथाभावः अनिर्वाहो वा, यथा महति सरसि यत्पुण्डरीकं सिताम्भोजः तद्ग्रहणेच्छया प्रवृत्तः किन्त्वप्राप्तं पुण्डरीकं स्वश्च महति पङ्के निमग्न एवंविधपुरुषस्य प्रस्तुतवस्तुविच्छेद एव परमोऽर्थो जातः, एवमेतद्द्रव्यार्थपर्यायार्थान्यतैरकान्तशास्त्रप्रबन्धस्य प्रस्तुतवस्तुविच्छेद एव परमार्थः, अत एव च विघटितार्थ इति भावः । दृष्टान्तमाह–**दश दाडिमानीति।** दृष्टान्तं घटयति–**यथेदमिति,** दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनमित्यादि वाक्यानि तद्घटकपदानामसम्बद्धार्थत्वादेकवाक्यतामनापन्नानि विघटितार्थानि प्रस्तुतवस्तुविच्छेदपरमार्थत्वात्तथोक्तशास्त्रप्रबन्ध इति, प्रस्तुतविच्छेदपरमार्थत्वं च द्वादशेऽस्मिन्नयचक्रशास्त्रे तत्र तत्र निरूपितमेवेति भावः । अथैतन्नयचक्रशास्त्रसारार्थमाह–**एवमनेनेति** । जैनादन्यच्छासनं अनृतं विधिनि-

---

१ सि. क्ष. छा. डे. उत्कलपक्षी० ।

(**एवमिति**) एवमनेन समस्तेन ग्रन्थेनैतदभिहितं—विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् जैनादन्यच्छासनमनृतम्, जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवतिवद्धटवद्वेति, एकमेव वा साधनम्, तत्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्वैकान्तवादिदूषणाय अनेकान्तवादिपक्षसाधनाय च प्रभवतीति यथाप्रतिज्ञं व्याख्यातम्, एतदुभयं कुतो लभ्यमिति चेत् वृत्तिवचनात्, तद्भावनार्थमाह—एवञ्च कृत्वा विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादिति सिद्धे वृत्तिवचनमशेषभङ्गैकवाक्यतायामेव प्रतिभङ्गमपि वृत्तिरिति ख्यापनार्थम्, किमुक्तं भवति ? स्याद्वादतुम्बप्रतिबद्धसर्वनयभङ्गात्मिकैकैव वृत्तिः सत्या, रत्नावलीवत्—यथा प्रतिविशिष्टजातिवर्णच्छायासारशुद्धिप्रभवार्थसंस्थानादिगुणगणोपेतमणिगणसमूहात्मिके[कै]व रत्नावलीत्युच्यते यथास्थानविन्यासरत्ना, न प्रत्येकं तथा विध्यादिनयाराणामपि तुम्बप्रतिबद्धवृत्तिवत् स्याद्वादप्रतिबद्धैकान्तनयवृत्तिः, अन्यथा वृत्त्यभाव एवेति चक्रदृष्टान्तसाधर्म्यम्, नयचक्रशास्त्रयथार्थनामत्वादेव दृष्टान्तान्तरप्रतिपादनेन नार्थो वा, तथैव च सर्वैकान्तप्रक्रम इति—एवञ्च कृत्वा सर्वेषामेकान्तनयानामवृत्तिरेव, असत्यत्वादिति प्रक्रान्तमेव तत्र तत्र ।

जैनशासनसत्यत्वेतरशासनासत्यत्वसाधनयोरेकतरस्य साधनेन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामर्थद्वयप्रतिपादनं कृतं भवति, अन्योऽन्याविनाभावात्, विध्यादीनामेकस्मिन्नप्युक्ते शेषनया उक्ता एव वर्षाभिधानमेघाभ्युन्नतिवचनवत्, प्रतिज्ञादावितरभङ्गार्थाव्यभिचारात्, तत्साधनधर्माणां तदन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानाञ्चार्थाव्यभिचारात् द्वादशानामभिधानं कृतमेव ।

यमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वात्, अनर्थकवचनवत्, तथा जैनमेव शासनं सत्यं विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात् भवतिवत् घटवद्वेति जैनतदितरशासनानां सत्यत्वासत्यत्वसाधनं कृतं भवतीत्यादर्शयति—**विधिनियमेति** । विधिनियमभङ्गवृत्तिः—विध्यादिद्वादशनयभङ्गानां स्याद्वादप्रतिबद्धैका वृत्तिः, सर्वेषां नयानां स्याद्वादेन सह प्रतिबद्धा यदि वृत्तिस्तदा सत्यार्थास्ते, अन्यथा सा वृत्तिरेव न भवतीत्यसत्यार्था एवेति भावः । एकमेव वा साधनं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुभयार्थप्रकाशकं भवतीत्याह—**एकमेव वेति,** जैनादन्यच्छासनमनृतं विधिनियमभङ्गव्यतिरिक्तत्वादित्येकमेव साधनं साधर्म्यदृष्टान्तेनानर्थकवचनेन सर्वैकान्तवादिदूषणाय भवतिवद्धटवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तेनानेकान्तवादिपक्षसाधनाय च समर्थो भवतीति भावः । एकसाधनेनोभयमिदं कुतो लभ्यत इति दर्शयति—**वृत्तिवचनादिति,** विधिनियमभङ्गेभ्यो व्यतिरिक्तत्वमन्यशासनानामस्त्येवेति तावता निर्वाहे वृत्तिपदोपन्यासस्तेषां भङ्गानामेकवाक्यत्वे सत्येव प्रत्येकं भङ्गानां वृत्तित्वमन्यथाऽवृत्तित्वमेव, एकवाक्यताकरणमेव च स्याद्वादतुम्बकरणम्, इति ख्यापनाय वृत्तिपदं तथा चैकवाक्यतामापन्नाशेषभङ्गानां यथार्थत्वम्, एकवाक्यतानापन्नानामसत्यार्थत्वं सिद्धं भवतीति भावः । तात्पर्यार्थमाह—**स्याद्वादेति,** स्याद्वादस्वरूपे तुम्बे प्रतिबद्धा ये सर्वे नयभङ्गाः तदात्मिका वृत्तिरेकैव, एकवाक्यतामापन्नत्वात्, यथैकसूत्रनिबद्धप्रद्रव्यगुणमणिसमूहस्वरूपा यथास्थानघटिता रत्नावली एकैव, प्रत्येकं रत्नानि रत्नावलीति नोच्यन्ते तथा विध्यादिनिखिलाराणां स्याद्वादप्रतिबद्धत्व एव वृत्तित्वं नान्यथेति भावः । **तुम्बप्रतिबद्धेति,** चक्रस्य तुम्बेऽनुबद्धा अरा यथा वृत्तिं लभन्तेऽन्यथा विशीर्यन्ते तथा स्याद्वादप्रतिबद्धा एकान्तनया अपि वृत्तिं लभन्ते नान्यथेति चक्रदृष्टान्तेन साधर्म्यमस्य ग्रन्थस्येति भावः । अत एव नयचक्रशास्त्रमिति नामान्वर्थमतोऽपरदृष्टान्तानुसरणमनावश्यकं निष्प्रयोजनत्वादित्याह—**नयचक्रेति** नाम्न्येव चक्रदृष्टान्तसत्त्वादिति भावः । स्याद्वादाप्रतिबद्धत्वे सर्वे नया असत्यार्थत्वादवृत्तय एवेति निरूपितमेव तत्तन्नयनिरूपणावसर इत्याह—**तथैव चेति** । व्याचष्टे—**एवञ्च कृत्वेति** । जैनशासनसत्यत्वसाधनेनेतरशासनस्यासत्यत्वसाधनेन वा साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां अन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनात्मकाभ्यामपरस्यासत्यत्व मेतस्य सत्यत्वं वा साधितमेव भवति तदव्यतिरेकेण तदसम्भवादन्योन्या-

(जैनेति) एवञ्च सर्वनयात्मकैकवृत्तिजैन[शासन]सत्यत्वसाधनप्रवृत्त्यैवार्थापत्त्या शेषशासनासाधुत्वप्रतिपादनं कृतं, तदसाधुत्वप्रतिपादनेन च जैन[शासन]सत्यत्वप्रतिपादनं कृतं भवति, अन्योऽन्याविनाभावात् जैनशासनसत्यत्वेतरशासनासत्यत्वसाधनयोरेक[तर]स्य साध[ने]न साधर्म्य[वैधर्म्य]दृष्टान्ताभ्यामन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनात्मकाभ्यामर्थद्वयप्रतिपादनात्, विध्यादिनयानामेकभावे सर्वभावात् परस्परापेक्षत्वात्, एकाभावे सर्वाभावादिति, किमिव ? वर्षाभिधानमेघाभ्युन्नतिवचनवत्–यथा वृष्टिर्मेघोन्नमनमन्तरेण न सम्भवतीत्यविनाभावादुच्यते तथा विध्यादीनामेकस्मिन्नप्युक्ते शेषनया अप्युक्ता एव, अन्योऽन्याविनाभावात्, प्रतिज्ञादावितरभङ्गार्थाव्यभिचारदिति यथैकस्यां नित्यप्रतिज्ञायामनित्योभयावक्तव्यादिप्रतिज्ञाऽवश्यम्भाविता तथा तत्साधनधर्माणां हेतूनां तदन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनसाधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानाञ्चार्थाव्यभिचारात् द्वादशानामभिधानं कृतमेव भवत्यर्थतः, ततो निःशङ्कमेवैकस्मिन्नये विवक्षिते शेषनयाविनाभावात् स्याच्छब्दादिविशेषितानेकान्तसाधनप्रक्रियैव साधीयसीति प्राप्तम् ।

अत आह–

तथा ह्ययमेव प्रयोगार्थो विधि–विधिविधि-विध्युभय-विधिनियमो-भयोभयविध्युभयोभयोभयनियम-नियम-नियमविधि-नियमोभय-नियमनियमाः ऐकमत्येनान्योन्यापेक्षवृत्तयः सत्यार्थाः, तत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवदित्येक एवायं हेतुः प्रत्येकनयविवक्षया प्रयोगेऽपि, तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चित् नित्यानित्यादीनां साधने प्रयोगविधयो भवन्ति, तेषां भङ्गानामेकैकयोगे द्वादश भङ्गाः, द्विकयोगे षट्षष्टिः, त्रिकसंयोगे द्वे शते विंशे, चतुष्कयोगे चत्वारि शतानि पञ्चनवतियुतानि, पञ्चकयोगे द्विनवतियुतसप्तशतानि, षट्कयोगे चतुर्विंशत्युशत्युत्तरनवशतानि, सप्तकयोगे द्विनवतियुतसप्तशतानि, अष्टकयोगे चत्वारि शतानि पञ्चनवतियुतानि, नवकयोगे द्वे शते विंशे दशकयोगे षट्षष्टिरेकादशयोगे द्वादश द्वादशयोगे

विनाभावादित्याह–**जैनशासनेति** । व्याकरोति–**एवञ्चेति** । इत्थमेव च विध्यादीनामेकनयाभिधाने शेषनया अप्यभिहिता एव, विध्याद्यन्यतमभावे सर्वनयभावात्, तदभावे तदभावात्, परस्परापेक्षत्वादित्याह–**विध्यादिनयानामिति** । तत्र निदर्शनमाह–**यथा वृष्टिरिति,** यथा वर्षोऽस्तीत्युक्तौ मेघोन्नतिरप्यस्तीति कथितमेव भवतीति भावः । दृष्टान्तं स्फुटयति–**यथा वृष्टिरिति** । दार्ष्टान्तिकमाह–**तथा विध्यादीनामिति,** यथा जैनशासनं सत्यार्थमिति प्रतिज्ञाते तदन्यशासनस्यानृतत्वमपि प्रतिज्ञातं भवति तथा विधिनयः सत्यार्थ इत्युक्तावपीतरैकादशनयाना सत्यार्थत्वमुक्तम्भवति अन्योऽन्याविनाभावित्वादितरभङ्गार्थाव्यभिचारादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह–**यथैकस्यामिति,** शब्दः स्यान्नित्य इति प्रतिज्ञातायामविनाभावात् स्यादनित्यः स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यः, स्यान्नित्योऽवक्तव्यः, स्यादनित्योऽवक्तव्यः, स्यादुभयोऽवक्तव्य इत्येवं प्रतिज्ञा अवश्यं भवन्त्येवेत्यर्थः, साधनादीनामपि तथाविधत्वमेवेत्याह–**तत्साधनधर्माणामिति,** अकृतकत्वकृतकत्वकृतकाकृतकत्वावक्तव्यत्वादीनामित्यर्थः, एवं साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तानामन्वयव्यतिरेकप्रदर्शनरूपाणामप्येकाभिधानेऽपराभिधानं कृतमेव भवतीति भावः । एवञ्च विध्यादीनामेकतमाभिधाने द्वादशनयानामभिधानमर्थापत्त्याऽवश्यं कृतमेव भवति, एकनयेन सहापरनयानामविनाभावादित्याह–**द्वादशानामिति** । एवञ्च स्याद्वादलक्षणः शब्दः स्यान्नित्यः स्यादनित्य इत्यादिरूपेण स्याच्छब्दयुक्तानेकान्तसाधनप्रक्रियैव युक्तेत्याह–**स्याच्छब्दादीति** । एवञ्च सविकल्पद्वादशनयचक्रैकवाक्यानयनसाधनं नयचक्रशास्त्रसर्वार्थपिण्डनरूपं यदुक्तं प्राक् नाभिकरणावसरे तदेवोपदर्शयति–**तथा ह्ययमेवेति** । स्याद्वादलक्षणो विधिः सत्यार्थः, तत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वात्, घटवदिति

एक एव, एवं सर्वसङ्ग्रहेणैताः प्रतिज्ञाः, तासाञ्चैकैकस्यां हेतूनां चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवतियुतानि (४०९५) विकल्पशो भवन्ति, एवञ्च प्रतिज्ञाभङ्गहेतुभङ्गाश्चान्योन्यगुणिता भङ्गानामेका-कोटी-सप्तषष्टिः शतसहस्राणामेकोनसप्ततिश्च सहस्राणां पञ्चविंशेति (१६७६९०२५), एवं तावन्नित्यादिप्रतिज्ञासु भङ्गानां भेदाः ।

(तथा हीति) तथा ह्ययमेव प्रयोगार्थो योऽस्माभिरुपसंहृत्य शास्त्रपिण्डितार्थत्वेनोक्तः विधिविध्यादीति, एक एव चायं हेतुः प्रत्येकनयविवक्षया विद्यते, अन्यतमप्रयोगेऽपि सामर्थ्यात्सर्वसम्भवात्, तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चित् साधने-नित्यानित्यादीनामन्यतमस्मिन् पक्षे प्रयोगविधयो भवन्ति–विकल्पा भङ्गा इत्यर्थः, तेषां–द्वादशानां भङ्गानामेकैकयोगे द्वादश भङ्गाः, द्विकयोगे षट्षष्टिः, विधिश्च विधिविधिश्च सहितावेको भङ्गः, एवं विधिरेकैकेनैकादशानां योज्यः तथा विधिविधिः, तथा विधिविधिनियमः, विधिनियमश्च, एवमष्टानां शेषाणामपि भङ्गानां द्विकयोगे षट्षष्टिर्भवति, एतेनैव संयोगविधिना त्रिकसंयोगे द्वे शते विंशे, इत्यादिनाऽऽचार्येणैव भङ्गविधिरुक्तो यावद् द्वादश[योगे एक] एवेति, एवं सर्वसङ्ग्रहेणैताः प्रतिज्ञाः, एवं तावच्चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवतियुतानि, तासां चैकैकस्यां हेतूनां चत्वारि सहस्राणि पञ्चनवतियु[ता]नि (४०९५) विकल्पशो भवन्ति, हेतौ हेतौ च प्रतिज्ञा अपि तावत्य एव, सर्वस्य परस्पराविनाभावेन नयभङ्गानामुक्तत्वात्, एवञ्चेत्यादिना, प्रतिज्ञाभङ्गा हेतुभङ्गाश्चान्योऽन्यगुणिता भङ्गानामेका कोटी सप्तषष्टिः शतसहस्राणामेकोनसप्ततिश्च सहस्राणां पञ्चविंशेति, (१६७६९०२५) एवं तावन्नित्यादिप्रतिज्ञासु द्वादशानां भङ्गानां भेदा उक्ताः, एवं कारणसर्वगतैकत्वादिप्रतिज्ञासु विध्यादिद्वादशभङ्गभेदाः प्रत्येकं नेतव्याः ।

एवमियमनेकान्तवाददिगुपदर्शिता, एवञ्चानेकान्ते सम्यगवलोकिते न स कश्चिद्यो न हेतुः, तृणादिरपि यस्यां कस्याञ्चित् प्रतिज्ञायां हेतुर्भवति, सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्यायार्थविपरिवृत्तेः, तस्मात् सर्वमेकात्मकमेकञ्च सर्वात्मकं सर्वञ्च सर्वात्मकमित्यादि तत एवैकं यो वेद स सर्वं वेद यः सर्वं वेद स एकं वेद ।

(एवमिति) एवमियमनेकान्तवाददिगुपदर्शिता, कोऽस्य भगवतो महतो महानुभावस्य स्याद्वा-

प्रयोगः प्रत्येकनयविवक्षया, एवं विधिविध्यादिप्रत्येकनयविवक्षया प्रयोगा वाच्याः सर्वत्र हेतुरयमेक एव, अन्यतमनयप्रयोगेऽपि अन्योऽन्याविनाभावित्वेन सर्वनयार्थसम्भवादित्याह–**एक एव चायमिति** । अथ नित्यानित्यैकानेककारणकार्यसर्वगतासर्वगतसामान्यविशेषादिषु यस्मिन् कस्मिंश्चित् साधने क्रियमाणे प्रयोगविकल्पान् दर्शयति–**तत्र यस्मिन्निति** । तथैव विधिविधिनयेन विधिविधिनियमेन, विधिनियमेन एवं शेषैः प्रत्येकेन विध्यादीनामेकैकेषां योगेम षट्षष्टिर्द्विकयोगे भङ्गा भवन्तीत्याह–**तथा विधिविधिरिति** । एवं त्रयाणां योगे भङ्गानाह–**एतेनैवेति** । निखिलप्रतिज्ञाभङ्गानां निरुक्तानां संख्यामाह–**एवं तावदिति** । प्रत्येकहेत्वपेक्षया तावत्य एव प्रतिज्ञा भवन्ति, सर्वेषां नयभङ्गानां परस्परमव्यभिचारित्वेन हेत्वाभासासम्भवादित्याह–**हेतौ हेतौ चेति** । एवञ्च निखिलहेत्वपेक्षया प्रतिज्ञाभेदानाह–**प्रतिज्ञाभङ्गा इति** । संख्येयं नित्यप्रतिज्ञायाम्, इत्थमेव कारणसर्वगतादिप्रतिज्ञाभेदा विज्ञेया इत्याह–**एवं तावदिति** । एवमनेकान्तवादः संक्षेपेण द्वादशनयभङ्गापेक्षया संख्याः भङ्गानामुपदर्शिताः, विस्तरेण तु स्याद्वादमहासमुद्रस्य तरङ्गरूपाणां नयानां संख्या वक्तुं क इष्टे केवलमेवं दिङ्मात्रप्रदर्शितो विद्वान् मार्गेणानेनैव विवेचयेदित्याह–**एवमियमिति** । व्याकरोति–**कोऽस्य भगवत इति** । इत्थं भङ्गावलोकनस्य फलमाह–

दमहासमुद्रस्यानन्तनयतरङ्गभङ्ग[पारा]वारपारीणस्य संख्यां कर्तुं शक्नुयात्, किन्त्वस्यां दिशि प्रदर्शितायां विपश्चिता दिशमुपपातिना शेषं तथाऽनुगन्तव्यम्, एवञ्चानेकान्ते सम्यगवलोकिते न स कश्चिद्यो न हेतुः, तृणादिरपि यस्यां कस्यांचिदप्यनित्यः शब्द इत्यादिकायां प्रतिज्ञायां हेतुर्भवति—अनेकान्तवादिनोऽनन्तहेतुः कस्मात्? सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्यायार्थविपरिवृत्तेः—एकैको द्रव्यार्थः सर्वं एकैकसर्वद्रव्यार्थतया विपरिवर्तितः सर्वपर्यायार्थतया च, तथा सर्वपर्यायार्थः सर्वो द्रव्यपर्यायार्थतया विपरिवर्त्तते, तेषु तेषु नयदर्शनेषु स्वविषयव्यवस्थापनविदग्धेषु विस्तरेण प्रदर्शितं सर्वद्रव्यपर्यायार्थविकल्पात्मकमेकैकं वस्तु, तस्मात् सर्वमेकात्मकमेकञ्च सर्वात्मकं सर्वञ्च सर्वात्मकमित्यादि, तत एवैकं यो वेद स सर्वं वेद, यः सर्वं वेद स चैकं वेद, यथोक्तं—'जे एगं जाणति स सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति, स एगं जाणति' (आचा० ४-१-४४) इति, तथा—'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ॥' (   ) इति, स्याद्वादिनाञ्च सर्वभावस्वभावैकभावत्वादेकभावस्वभावसर्वभावत्वाच्च यः कश्चित्तृणादिरप्यर्थो हेतुर्भवत्येव यस्यां कस्याञ्चित् प्रतिज्ञायामिति साधूक्तम्।

येन त्वेवंविधं वस्तु न ज्ञायते नासौ कस्यचिद्वस्तुनोऽवयवमात्रस्यापि ज्ञाता, तदेकदेशमात्रस्यैव परिगृहीतत्वात्, अनवधार्यस्यावधारयितृत्वात्, त्वगङ्गारकितमात्रनियतपलाशस्वतत्त्वग्राहिवत्।

एवञ्चेति, यस्याः कस्याश्चित् नित्यादिप्रतिज्ञायाः सर्वं वस्तु हेतुर्भवितुमर्हति, न तादृग् वस्तु यो हेतुर्न भवेत् तृणादि घटादि सर्वं हेतुर्भवतीति भावः। एवञ्चानेकान्तवादिन एकस्या अपि प्रतिज्ञाया अनन्ता हेतवः सम्भवन्ति, न तस्य हेतुदौर्लभ्यम्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वेण साकं सर्वस्याविनाभावावश्यम्भावादित्याह—**अनेकान्तवादिन इति।** हेतुमाह—**सर्वस्येति।** सर्वस्य द्रव्यस्य सर्वस्य च पर्यायस्य सर्वद्रव्यार्थतया सर्वपर्यायार्थतया च विपरिणामादित्यर्थः। हेतुं व्याचष्टे—**एकैक इति,** प्रत्येकं द्रव्यार्थः सर्वात्मकतया—सर्वद्रव्यतया सर्वपर्यायतया च विपरिवर्त्तते सर्वे पर्यायार्थाः सर्वपर्यायतया सर्वद्रव्यतया च विपरिवर्तन्ते, उक्तं हि घटपटादिद्रव्यमेव सकलद्रव्यतया निखिलपर्यायतया रूपादिपर्याय एव च घटपटादिसर्वद्रव्यरूपतया सर्वपर्यायरूपतया च विपरिवर्त्तत इति तत्तन्नयनिरूपणावसरे इति भावः। इदमेवाह—**तेषु तेष्विति,** स्वस्वविषयव्यवस्थानपटिष्ठेषु नयेषु सर्वद्रव्यार्थविकल्पात्मकत्वं सर्वपर्यायार्थविकल्पात्मकत्वं प्रत्येकवस्तुनः प्रतिपादितमेवेति भावः। एतदेव दिशा दर्शयति—**तस्मादिति,** सर्वमेकैकात्मकं, एकैकं सर्वात्मकं एकं सर्वात्मकं सर्वं सर्वात्मकमिति वस्तुगतिमनुरुध्य व्याख्यातमेवेति भावः। एवञ्च तत्फलमाह—**तत एवेति।** एकैकस्य वस्तुनः सर्वद्रव्यपर्यायार्थविकल्पात्मकत्वादेव एकं वस्तु यो जानाति स सर्वं वस्तु जानात्येव, सर्वञ्च यो जानाति स एकं जानात्येव, सर्वस्यैकात्मकत्वादेकस्य सर्वात्मकत्वाच्चेत्यर्थः। अत्रैवाऽऽगमं प्रमाणयति—**यथोक्तमिति।** तथान्यवचनान्तरमाह—**एको भाव इति,** सर्वभावस्वभावत्वमेकभावस्य, एकभावस्वभावत्वं सर्वभावानामिति वस्तुस्थितिः, तथा च येन धीमता सर्वभावस्वभावत्वेनैको भावो दृष्टस्तेन सर्वे भावा दृष्टा एव तत्त्वत इति भावः। अत एव नित्यत्वादिप्रतिज्ञायां यः कश्चित्तृणादिरपि हेतुर्भवत्येव, स्याद्वादिनां मतेनैकभावस्य सर्वभावस्वभावत्वात् सर्वभावस्य चैकभावस्वभावत्वात् कस्यापि दोषस्यानवतारादित्याह—**स्याद्वादिनाञ्चेति।** जैनशासनसत्यत्वसाधकतत्तन्नयदर्शनविकल्पैकवाक्यात्मकत्वविधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्व-सम्यक्सम्प्रसिद्ध्युपनिबन्धनसम्प्रतिष्ठितार्थत्वादिसाधनैः सत्यभूतजैनशासनप्रतिपाद्यानेकान्तात्मकवस्तुस्वतत्त्वपरिज्ञानविधुरो न किमपि जानातीत्याह—**येनेति।** ग्रन्थोऽयं जैनसत्यत्ववैधर्म्यभूतेतरवादासत्यत्वप्रकाशकसाधनप्रतिपादकः यद्वा पर-

येन त्वेवंविधमित्यादि, साधनं—स्याद्वादसत्यत्ववैधर्म्यमात्रप्रकाशनं परवादप्रयासविफलीकरणसाधनं वा य—एवंविधस्याद्वादाधिगम्यानेकान्तात्मकवस्तुज्ञानरहितः पुमान् नासौ कस्यचिद्वस्तुनोऽवयवमात्रस्यापि ज्ञाता तदेकदेशमात्रस्यैव परिगृहीतत्वात्—नित्यानित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मके वस्तुनि नित्यमेवानित्यमेवेत्याद्यभिनिविष्टबुद्धित्वात्, तदेव व्याचष्टे—अनवधार्यस्यावधारयितृत्वात्—इदमेव इत्थमेवेत्यनवधारणयोग्यस्यावधारणक[र्तृ]त्वात्, किमिव ? त्वगङ्गारकितमात्रनियतपलाशस्वतत्त्वग्राहिवत्—[1]यथा क्षेत्रविषये कश्चित् परिशटितसकलपलाशं तमवलोक्य कस्मिंश्चित् कालविशेषे ब्रूयात् सर्वकालमेव[ा]निष्पन्नपुष्पफलच्छाय इति, चैत्रमासे चाङ्गारकितमिव वनदवज्वालामालापरीतमिव वाऽशोककुसुमसदृशकुसुमं मृगगणभयजननमवलोक्य ब्रूयात्[2] हव्यवाहन एवायं सर्वकालमिति स तत्कालक्षेत्रमात्रनियतपलाशस्वतत्त्वग्राहित्वात् द्व्यङ्गुलमात्रप्रज्ञाभिराभीरीभिरपि संवेद्यं [3]यत् ऋतुवशापदेश्यनानारूपानेकान्ताङ्कुरकिसलयपत्रकुसुमफलादिविचित्रावस्थं स्व[4]तत्त्वं तन्न वेत्ति, द्राघीयःकालविसर्पिविज्ञानहीनत्वात्, तदन्यतमावस्थामात्रावलम्बि[5]ह्रसिष्ठज्ञ[ा न]त्वात् एवमेकान्तवादिनो वस्तुतत्त्वानभिज्ञत्वमिति ।

युगपदनन्तद्रव्यपर्यायपरिणतिविषयाव्याहतनिरावरणस्वपरिणतिनिमित्ताविर्भावाक्षलिङ्गशब्दादिनिमित्तान्तरा[न]पेक्षकेवलज्ञानोऽर्हन् भगवान् य[6]त् यद्भावे परिणमति विस्रसाप्रयोगाभ्यां तत्तद्वेत्ति तथा

वादिनामेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनप्रयासवैफल्यप्रदर्शकसाधनप्रतिपादनपर इत्याह—**स्याद्वादेति ।** एवंविधवस्तुविषयविज्ञानरहितः पुमान् कस्यचिदपि वस्तुनोऽवयवमात्रविषयविज्ञानेनापि शून्य इति प्रतिजानीते—**एवंविधेति ।** अज्ञातृत्वे हेतुमाह—**तदेकदेशमात्रस्यैवेति,** नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यमेव वस्तु, अनित्यमेव वस्त्वित्येवमितरधर्मव्यावर्त्तनपूर्वकमेकधर्मवत्तया आग्रहेण विज्ञानादिति भावः । हेतुं टीकाकारो व्याकरोति—**नित्यानित्यत्वादीति ।** मूलकृद्व्याख्यां दर्शयति—**अनवधार्यस्येति ।** नित्यमेवेत्याद्यवधारणायोग्यस्य वस्तुनस्तथाऽवधारणविधानादित्यर्थः । व्याचष्टे—**इदमेवेति,** घट एवानित्यः न परमाण्वादिरिति, घटोऽनित्य एव न नित्य इत्येवमवधारणायोग्यस्येत्यर्थः । निदर्शनमाह—**त्वगङ्गारकितेति,** कालविशेषे पलाशं त्वङ्मात्रावशिष्टं विगलितपत्रादि दृष्ट्वा कश्चित्सर्वदैवायं त्वङ्मात्रतत्त्वमिति पाटलकुसुमपरिपूर्णं तमेव कालविशेषे दृष्ट्वा सर्वकालमेवायं ज्वलन एवेति वाऽनवधार्यमवधारयति तद्वदित्यर्थः । दृष्टान्तं स्फुटयति—**यथेति,** परिशटितसकलपलाशं पक्वतः परिपतितसकलपलाशपत्रम्, अनिष्पन्नाः पुष्पाणि फलानि छाया च यस्य सोऽनिष्पन्नपुष्पफलछायः, वनदवस्य ज्वालामालाभिर्व्याप्तमिव, अशोककुसुमसदृक्षकुसुमः पलाशोऽङ्गारकित इवास्ते, दावानलज्वालामालालिङ्गितत्वसदृक्षत्वाच्च मृगगणभयजनकः, एवंविधं पलाशवृक्षमुद्वीक्ष्य सर्वकालमेवायं हव्यवाहन एवायमिति यो गृह्णीयात् स कालविशेषक्षेत्रविशेषनियतपलाशतत्त्वग्राही न तु वास्तविकानेकावस्थवस्तुतत्त्वग्राही, अल्पप्रज्ञाभिर्भिल्लवनिताभिः संवेदनीयमपि तत्तदृतुविशेषसहकारेण नानास्वरूपमनेकान्तात्मकमङ्कुरकिसलयपत्रकुसुमफलादिविचित्रावस्थं पलाशादिस्वतत्त्वं न विजानाति, प्रचुरकालव्यापिविज्ञानशून्यत्वात्, अत एव च वर्त्तमानकालमात्रवर्त्यन्यतमावस्थामात्रग्रहणसमर्थं ह्रस्वं ज्ञानं बिभर्त्ति, एवमेवैकान्तवादिनोऽपीति भावार्थः । एवंविधवस्तुपरिज्ञाता भगवानर्हन्नेव, नान्यः' 'जं जं जे जे भावे परिणमइ पयोगवीससा दव्वं । तं तह जाणाइ जिणो अपज्जवे जाणणा णत्थि ॥' इति गाथाभावार्थमाह—**युगपदिति,** भगवतोऽर्हतः केवलज्ञानं युगपदनन्तद्रव्यपर्यायपरिणतिविषयं अव्याहतं निरावरणं स्वपरिण-

१ सि. क्ष. छा. डे. यथामैत्र. । २ सि. क्ष. छा. प्रयाद्व्यएवा. । ३ सि. क्ष. छा. डे. यध्वनुवशा. । ४ सि. क्ष. छा. डे. स्वतत्त्वतेनचेन्निद्रा. । ५ सि. क्ष. छा. डे. °वलेहिहसिष्वज्ञत्वात् । ६ सि. क्ष. छा. डे. यद्यात्यान्नावात्परिणमिति हि विस्रसा° ।

अर्हज्ज्ञानं नापर्यायेऽस्तीति ज्ञानस्य सर्वार्थेष्वव्याहतवृत्तित्वादनवधृतविषयत्वात् तस्य च वस्तुनोऽनन्तत्वात् यु[ग]पदनन्तार्थवृत्तिज्ञान एव तद्वस्तुस्वतत्त्वं वेत्ति नान्यः, स चार्हन्नेवेत्यत आह–

भगवांस्त्वर्हन् यदेतत् सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः, तस्य यथाभूतसप्रभेदस्य सम्यगभिधातृत्वात्, यस्य यथाभूतप्रभेदवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा मैत्रक इव त्वगङ्गारकितादिभेदपलाशस्वतत्त्वं देशकालाकारप्रमाणादिविशिष्टं शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रतं पलाशं त्वङ्मात्रोऽङ्गारकितः किसलयितः पत्रित इत्यादि ब्रुवन्, तथाऽर्हन् यथाभूतं वस्तु निरवशेषं ब्रुवन्निरावरणज्ञान इत्यनुमीयताम्।

(**भगवानिति**) भगवांस्त्वर्हन् यदेतत्सर्वं नाम तत्र निरावरणज्ञानः–सर्वार्थे वस्तुनि निरावरणमव्याहतमस्य ज्ञानमित्यर्थः, तस्य यथाभूतसप्रभेदस्य सम्यगभिधातृत्वात्–तस्य–सर्वाख्यवस्तुनो यथाभूतं–यद्यद्भूतं यथाभूतं वीप्सार्थत्वाद्यथाशब्दस्य, येन प्रकारेण भूतं वा वस्तु सप्रभेदं–सप्रतिपक्षनित्यकारणैकसर्वगतादिसङ्ग्रहविशेषप्रस्तारात्मकानन्तभेदप्रभेदं तच्च वस्तु तैरनन्तैर्भेदैरवयवैरशेषैः सह स्याद्वादे अनेकनयविकल्पयुक्तमतः सर्वाख्यवस्तुनि च[ा]शेषावयवप्रभेदकविषयसम्यगभिधायित्वमस्य सिद्धम्, समस्तनयात्मकत्वात् स्याद्वादस्य, यस्य यथाभूतनिरवयवप्रभेदवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वं स तत्र निरावरणज्ञानो दृष्टः, तद्यथा–मैत्रक इव त्वगङ्गारकितादिभेदपलाशस्वतत्त्वस्य देशकालाकारप्रमाणादिविशिष्टस्य शिशिरवसन्तनिदाघवर्षाशरद्धेमन्तेषु तां तामवस्थां बिभ्रतं तथा विशेष्य त्वङ्मात्रोऽङ्गारकितः किसलयितः पत्रित इत्यादिब्रुवन् मैत्रकः पलाशं निरवयवप्रभेदं तत्र निरावरणज्ञान इति प्रसिद्धो[1] न रेवतीद्वीपपमध्यजातसंवृद्धा-

तिनिमित्ताविर्भावं अक्षलिङ्गशब्दादिनिमित्तान्तरानपेक्षश्च तथाविधकेवलज्ञानेन भगवान् यद्यद्वस्तु यद्यद्भावेषु प्रयोगविस्रसाभ्यां परिणमति तत्तद्विजानाति, तज्ज्ञानं नापर्यायविषयम्, यदि तज्ज्ञानं द्रव्यमात्रविषयमवधारणरूपं स्यात्तर्हि तत् पर्यायग्रहणे केनचित्प्रतिहतवृत्तीति वक्तव्यं स्यात्, परन्तु तज्ज्ञानं न तथाविधम्, अपि तु सर्वार्थेष्वव्याहतवृत्ति अत एवानवधृतविषयम्, एवञ्च तस्य वस्तुनोऽनन्तत्वात्, एवम्भूतवस्तुस्वतत्त्वञ्च स एव जानाति यस्य ज्ञानं युगपदनन्तार्थेषु वृति भवेत्, नान्यः, तस्मात्तथाविधज्ञानवानर्हन्नेव न त्वन्य इति भावः। अमुमर्थं मानेन दर्शयति मूलकारः–**भगवाँस्त्वर्हन्निति**। भगवाँस्त्वर्हन् निखिलार्थविषयनिरावरणज्ञान इति प्रतिज्ञामाह–**भगवानिति**। हेतुमाह–**तस्येति**। हेतुं व्याचष्टे–**सर्वाख्यवस्तुन इति**। यथा शब्दस्य वीप्सार्थतामाश्रित्याह–**यद्यद्भूतमिति**। येन प्रकारेण यथेति प्रकारार्थथाल्प्रत्ययघटितयथाशब्दाश्रयेणाह–**येन प्रकारेणेति**। सप्रभेदशब्दार्थमाह–**सप्रतिपक्षेति,** प्रभेदेन·प्रतिपक्षेणानित्यकार्यानेकासर्वगतादिना सहितं नित्यकारणैकसर्वगतादि, अर्थात् सङ्ग्रहविशेषप्रस्तारात्मकानन्तभेदप्रभेदरूपं वस्तु स्याद्वादे निःशेषैरनन्तभेदप्रभेदैः सहानेकविकल्पयुक्तं वर्त्तते, तस्मादेव स्याद्वादप्ररूपके भगवति सर्वाख्यवस्तुविशेष्यकाशेषावयवप्रभेदप्रकारकयथार्थाभिधायित्वं सिद्धमिति भावः। कारणमाह–**समस्तेति,** स्याद्वादो हि निखिलनयसमूहात्मक इति भावः। व्याप्तिं दर्शयति–**यस्येति**। यो हि यद्वस्तुविशेष्यकाशेषावयवप्रभेदप्रकारकसम्यगभिधाता स तद्विषयनिरावरणज्ञानो दृष्ट इत्यर्थः। दृष्टान्तमन्वयमाचष्टे–**मैत्रक इवेति**। पलाशस्वतत्वं हि देशकालाद्यपेक्षया तत्तदृतुविशेषेषु त्वगङ्गारकिसलयपत्रफलितादिप्रभेदं भवति, तथावस्थं पलाशं तत्तदपेक्षया विशेष्य त्वङ्मात्रोऽङ्गारकितः किसलायितः पत्रितः फलित इत्येवं निरवयवप्रभेदं ब्रुवन् मैत्रकस्तद्विषये निरावरणज्ञानो भवतीति प्रसिद्ध इति भावः।. वैधर्म्यदृष्टान्तमाह द्वीपविशेषमात्रवर्त्तिपुरुषापेक्षया–**न रेवतीद्वीपेति,** मौर्यकुमारः कश्चित् सदा सर्वर्तुगुणयुते रेवती-

१ सि. क्ष. छ. डे. प्रसिद्धेन।

दृ[ष्ट]देशान्तरो मौर्यकुमारोऽन्यथा ब्रुवन्, एकावस्थामात्राभिधायी वा मैत्रकमुग्धकुमारोऽन्यः, तथाऽर्हन् यथाभूतमित्यादि, सर्वावयवप्रभेदं वस्तु निरवशेषं ब्रुवन्ननुमीयतां तत्र निरावरणज्ञान इति, तत्र निरावरणज्ञानत्वेन व्याप्तत्वाद्धेतोः विवक्षितधर्मसाध्यत्वान्न विरुद्धादिदोषाः, साधनस्यास्य प्रसाधितत्वाच्च सर्वस्य सर्वत्र हेतुत्वप्रज्ञप्तेः, अर्हत्संदेशकथनव्यापृतस्याद्वादिसर्वज्ञत्वप्रसङ्गोऽप्यनिष्टो न भवति, अनुमानमपि सर्वभावस्वभावज्ञत्वात् स्याद्वादिनः, न्यायव्यवहारलोपप्रसङ्गः सपक्षविपक्षादिव्यवस्थालोपप्रसङ्गादिति चेन्न, प्रत्येकनयविवक्षाविषयायाः परमतापेक्षविधिपक्षादिव्यवस्थायाः प्रज्ञप्तेः परिहृताशेषदोषाशङ्कमेवैतत्साधनमिति ।

अधुना तु शास्त्रप्रयोजनमुच्यते—

सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु नयशास्त्रेषु तस्मिंश्चार्षे सप्तनयशतारचक्राध्ययने च द्वादशारनयचक्रोद्धरणं दुःषमाकालदोषबलप्रतिदिनप्रक्षीयमाणमेधायुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगश्रवणधारणादिशक्तीनां संक्षेपाभिवाञ्छिनां शैक्षकजनानामनुग्रहाय विहितं श्रीमच्छ्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन स्वनीतिपराक्रमविजिताशेषप्रवादिविजिगीषुचक्रविजयिना तदिदं नयचक्ररत्नं चक्रवर्त्तिनामिव चक्ररत्नं जैनानां वादिचक्रवर्तित्वविधये सिद्धप्रतिष्ठितम्, प्रतिष्ठितसिद्धविजयावहजगन्मूर्धस्थसिद्धवदिति ॥

द्वीपविशेषे संजातस्तत्रैव सम्यक् प्रवृद्धोऽदृष्टदेशान्तरः पलाशं सदैव सर्वत्र सम्पन्नपत्रपुष्पफलछायं यदि ब्रूयात् न स तत्र निरावरणज्ञान इति भावः सम्भाव्यते । एतद्देशापेक्षयैव वैधर्म्यनिदर्शनमाह-**एकावस्थेति,** मैत्रकस्य कश्चिन्मूढः कुमारः पलाशं नानावस्थस्वतत्त्वं सर्वकालमनिष्पन्नपत्रपुष्पफलछायं वा अङ्गारकितमित्येव वा किसलयितमेवेति वा सर्वकालमेकावस्थामात्रं ब्रुवन्न निरावरणज्ञान इति भावः । तदेवं साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्ताभ्यां तत्र निरावरणज्ञानत्वेन यथाभूतनिरवयवप्रभेदवस्तुविषयसम्यगभिधातृत्वस्य हेतोर्व्याप्तत्वाद्विवक्षितसाध्यसाधनसमर्थत्वेन नात्र विरुद्धादिदोषाः सम्भवन्तीत्याह-**तत्र निरावरणेति ।** एवञ्चानेकान्ते सम्यगवलोकिते न स कश्चिद्यो न हेतुः, तृणादिरपि यस्यां कस्यांचित् प्रतिज्ञायां हेतुर्भवति, सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्यायार्थविपरिवृत्तेः, तस्मात् सर्वमेकात्मकं एकं च सर्वात्मकं सर्वं च सर्वात्मकमित्यादि, तत एवैकं यो वेद स सर्वं वेद यः सर्वं वेद स एकं वेदेत्यादि प्रागुदितरीत्या यथाभूतसप्रभेदस्य सम्यगभिधातृत्वं प्रसाधितमेवेत्याह-**साधनस्यास्येति ।** शङ्कते-**अर्हदिति ।** यः स्याद्वादी भगवदर्हतः सन्देशं लोके कथयति सोऽपि सर्वज्ञः स्यात्, यथाभूतसप्रभेदस्य वस्तुनः सम्यगभिधातृत्वात्, यथाभूतसप्रभेदस्य वस्तुनः सम्यगभिधानं हि अर्हत्संदेशः, तथाविधस्याद्वादिनां सर्वज्ञत्वं नेष्टमिति सर्वज्ञप्रसङ्गः, तथा च हेतुर्व्यभिचारी स्यादिति भावः । अनुमानमपि दर्शयति-**अनुमानमपीति,** स्याद्वादी सर्वज्ञः सर्वभावस्वभावज्ञत्वादर्हद्वदिति भावः । भवतु सोऽपि सर्वज्ञ इत्यत्राह-**न्यायव्यवहारेति,** न्यायस्य व्यवहारस्य च लोपः प्रसज्यते, यतो हि भगवता सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वद्रव्यपर्यायार्थविपरिवृत्तेः सर्वस्य सर्वत्र हेतुत्वं प्रज्ञप्तं, स्याद्वादिनापि तथैवाभिधानेऽयं पक्षोऽयं सपक्षोऽयं विपक्षो नान्योऽयमेव हेतुरयं न हेतुरित्यादिव्यवस्थाया अभावेन न कोऽपि न्यायो व्यवहारो वा स्यादिति भावः । इत्थमर्हत्संदेशकथकस्याद्वादिनः प्रसक्तं सार्वज्ञं निराकरोति-**प्रत्येकनयेति,** तस्य हि प्रज्ञप्तिः प्रत्येकनयविवक्षाविषयिणी परमतापेक्षया प्रसिद्धविधिनिषेधपक्षसपक्षादिव्यवस्थामाश्रित्यैव तत्प्रज्ञप्तेर्भावान्न सर्वज्ञत्वापत्तिः तस्मान्न भगवद्वत् सर्वभावस्वभावज्ञ इत्युक्तसाधने न कश्चिद्दोष इति भावः । तदेवं नयचक्रशास्त्रप्रतिपाद्यनिरूपणं प्रविधाय सम्प्रति विद्यमानेष्वपि पूर्वाचार्यप्रणीतनयशास्त्रेषु नयचक्रशास्त्रस्यास्य विधाने कारणमाह-**सत्स्वपीति ।** भगवदर्हत्प्रणीतं सप्तनयशतारचक्राध्ययनं तच्च नैगमादिसप्तनयानां प्रत्येकं शतसंख्यप्रभेदात्मकं तदनुसारीणि

१ सि. क्ष. छा. डे. व्यावृत्त० ।

(**सत्स्वपीति**) सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सम्मतिनयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तनयशतारचक्राध्ययनानुसारिषु तस्मिंश्चार्षे सप्तनयशतारचक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं[1] दुःषमाकालदोषबलप्रतिदिनप्रक्षीयमाणमेधायुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगश्रवणधारणादिशक्तीनां भव्यसत्त्वानां श्रवणमेव तावद्दुर्लभम्, श्रुत्वापि तत्त्वबोधः बुद्ध्वा तत्त्वमन्यस्य व्यवहारकाले परप्रत्यायनं प्रत्यादरो दुर्लभः, सत्यप्यादरे ग्रन्थार्थसंस्मरणं तदुद्ग्राहणमुद्ग्राहितार्थप्रतिपादनं चात्यन्तखेदायेति मत्वा तत्त्वात् खिन्नान् विस्तरग्रन्थभीरून् संक्षेपाभिवाञ्छिनः शैक्षकजनाननुग्रहीतुं कथं नामाल्पीयसा कालेन नयचक्रमधीयेरन्निमे सम्यग्दृष्टय इत्यनयाऽनुकम्पया संक्षिप्तग्रन्थं बह्वर्थमिदं नयचक्रशास्त्रं श्रीमच्छ्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन विहितम्, स्वनीतिपराक्रमविजिताशेषप्रवादिविजिगीषुचक्रविजयिना सकलभरतविषय[2]वासिनृपतिविजिगीषुचक्रविजयिनेव भरतचक्रवर्त्तिना देवतापरिगृहीताप्रतिहतचक्ररत्नेन स्वपुत्रपरम्परानुयायिजगद्व्यापिविपुलविमलयशसा चक्ररत्नमिव तदिदं नयचक्ररत्नं—चक्रवर्त्तिनामिव चक्ररत्नं पुत्रपौत्रादिनृपतीनां विहितं—कृतं, किमर्थमिति चेदुच्यते—चक्रवर्त्तिनामिव चक्रवर्त्तित्वविधये वादिनां जैनानां—जिनशासनप्रभावनाभ्युद्यतानां वादिचक्रवर्त्तित्वविधये—वादिचक्रवर्त्तित्वं विधेयादित्येतमर्थमित्येतस्य नयचक्रशास्त्रस्य विधाने प्रयोजनमभिहितम्, तदेतदेवं द्वादशारनयचक्रं सिद्धप्रतिष्ठितं—अव्याहतं चक्रवर्त्तिचक्ररत्नव-

---

पूर्वाचार्यविरचितानि सम्मतिनयावतारादिनयशास्त्राणि तेषु सत्स्वपि तथा सप्तनयशतारचक्राध्ययने चार्षे विद्यमानेऽपि कालदोषेण क्षीयमाणसामर्थ्यानां भव्यानां सुखावबोधायैतद्द्वादशारनयचक्रशास्त्रं सप्तनयशतारचक्राध्ययनमहासमुद्रादेवोद्धृतमित्याशयं वर्णयति—**सत्स्वपि पूर्वाचार्येति**। **दुष्षमेति,** दुःषमानामा कालविशेषो वर्त्तमानकालः स एव दोषः, तद्बलेन प्रतिदिनं प्रक्षीयमाणाः मेधाऽऽयुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगश्रवणधारणादिशक्तयो येषां तेषां भव्यजीवानां तावत्तत्तद्ग्रन्थार्थश्रवणे प्रवृत्तिरेव दुर्लभा, कथंचित् श्रवणेऽपि तत्तत्त्वावबोधो दुर्लभः, तत्त्वं कथमपि बुद्ध्वापि व्यवहारे परप्रतिबोधनाय प्रवृत्तिर्दुर्लभा, सत्यामपि प्रवृत्तौ तद्ग्रन्थार्थस्मरणं तदर्थपर्यालोचनं पर्यालोचितार्थप्रतिपादनं चात्यन्तखेदाय भवतीति मत्वा तत्त्वेभ्यः खिन्नान् प्रचुरविस्तृतं तद्ग्रन्थमुदीक्ष्य भीलुकान् संक्षेपाभिलाषिणः शिक्षणीयानन्तेवासिनोऽनुग्रहीतुं भव्यसत्त्वा इमेऽल्पीयसा कालेन कथं नयचक्रशास्त्रमधीयेरन्नित्येवमनुकम्पया श्रीमच्छ्वेताम्बरमल्लवादिक्षमाश्रमणेन संक्षिप्तकलेवरं विस्तृतार्थं नयचक्रशास्त्रमिदमुपनिबद्धमिति भावार्थः। अथ सोपमं ग्रंथकर्तृग्रन्थचक्रादीन् वर्णयति—**स्वनीतीति,** स्वस्य नीतिपराक्रमाभ्यां विजिता अशेषप्रवादिनो येन विजिगीषुचक्रेण तमपि विजिगीषुसमूहं जेतुं शीलेन सूरिणेत्यर्थः। उपमानमाह—**सकलेति,** सकले भरतक्षेत्रे विजये निवासिनां नृपतीनां विजिगीषुचक्रस्यापि विजेत्रा भरतचक्रवर्त्तिनेव सूरिणेत्यर्थः। विशेषणान्तरमाह—**देवतापरिगृहीतेति** यस्य भरतचक्रवर्त्तिनश्चक्ररत्नं देवताधिष्ठितमप्रतिहतं तथाविधेन तथा निजपुत्रपौत्रादिपरम्परानुगामिलोकव्यापिनिर्मलमहाकीर्त्तियुतेन चेति भावः सूरिर्नयचक्ररत्नं न्यबध्नात् भरतचक्रवर्त्तिरपि पुत्रपौत्रादिनृपतीनां चक्ररत्नम्, तत् किमर्थमित्याशङ्कते—**चक्रवर्त्तिनामिवेति**। समाधत्ते—**चक्रवर्त्तिनामिवेति,** इवशब्दो भिन्नक्रमः, चक्रवर्त्तिनां चक्रवर्त्तित्वसिद्धय इवेति योजना, सङ्घगतानां सङ्घवर्त्तित्वसिद्धय इवेति तदर्थः। जैनानां जिनशासनप्रभावनाविधानोद्यतानां वादिचक्रवर्त्तित्वसिद्धये नयचक्ररत्नं विहितमिति दर्शयति—**वादिनामिति,** एते जैनाः स्वात्मनो वादिचक्रवर्त्तित्वं विदध्यादित्याशयेनेति भावः। इदमेव प्रयोजनमित्याह—**वादीति**। स्वग्रन्थनाम निर्दिशति—**द्वादशेति,** ईदृशं ग्रन्थरत्नमिदं सिद्धप्रतिष्ठितं सिद्धा-अव्याहता प्रतिष्ठा गौरवं तदस्य संजातमिति

---

१ सि. क्ष. छा. डे. °द्धारेणं। २ सि. भ. छा. डे. विजये।

देवास्यापि प्रवृद्ध्या, अचिन्त्यशक्तिपराभिभवनप्रभुशक्तियुक्तञ्च सिद्धम्, सिद्धनामग्रहणञ्च मङ्गलं कल्याणं शिष्यप्रशिष्यपरम्परया प्रतिष्ठातुमर्हति, प्रतिष्ठितसिद्धिविजयावहजगन्मूर्धस्थसिद्धवत् प्रतिष्ठितं यशस्करमिति ॥

इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्बं समाप्तम्

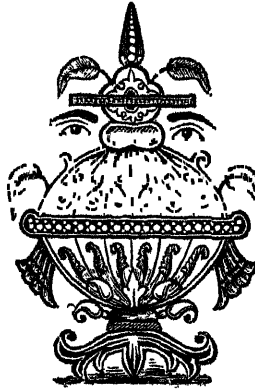
ग्रन्थाग्रम् ॥ १८०००

श्रीकल्याणमस्तु.

सिद्धप्रतिष्ठितं चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नं यथाऽद्यापि प्रवर्धत एव तथा नयचक्ररत्नमपि प्रवर्द्धते न व्याहन्यते क्वचित्कदाचिदपीति भावः । तथा चक्रवर्तिचक्ररत्नमिव ग्रन्थरत्नमप्यचिन्त्यशक्ति, परान् शत्रूनिव वादिनोऽभिभूय प्रभुत्वभवनशक्तियुक्तञ्च सिद्धमित्याह-**अचिन्त्येति**। सिद्धपदग्रहणं मङ्गलार्थम्, तच्च मङ्गलं शिष्यप्रशिष्यादिपरम्परया ग्रन्थस्य प्रतिष्ठातुमर्हतीत्याह-**सिद्धनामग्रहणञ्चेति,** मुक्तवाचकपदग्रहणञ्चेत्यर्थः । **प्रतिष्ठितेति,** शाश्वतसिद्धिस्वरूपविजयधारिजगन्मूर्धस्थसिद्धा यशस्करा तथा ग्रन्थोऽयमपि यशस्कर इति भावः । इति शब्दो ग्रन्थसमाप्त्यर्थः । तुम्बनिरूपणं पूर्णयति-**इति श्री ति** ॥

श्रीमत्कमलसूरीशैः, कृता सद्गुरुभिर्मम ।
प्रेरणा सफला जाता, प्रीतोऽहं लोमलोमशः ॥ १ ॥
प्रतीकार्थानुसन्धाने, कृत्वा मूलं पृथक्कृतम् ।
भवेच्चेत्स्खलना कापि, संशोध्या सा तु धीधनैः ॥ २ ॥
विजयानन्दसूरीश-पट्टालंकृतिकारिणाम् ।
श्रीमत्कमलसूरीणां, शिशुना लब्धिसूरिणा ॥ ३ ॥
विषमाणां तु वाक्यानां, कृतं टिप्पणकं लघु ।
बालास्तदनुसारेण, लभन्तां ग्रन्थहार्दकम् ॥ ४ ॥ युग्मम्
द्वादशारविचारोऽयं, प्रचारः सत्पथस्य हि ।
आचारश्च मुनीन्द्राणां पालितो भाग्यतो मया ॥ ५ ॥
हस्तेन्दुखद्विवर्षे हि, वैक्रमे शुक्र आश्विने ।
इलादुर्गे तृतीयायामिदं पूर्णीकृतं मया ॥ ६ ॥

इति श्रीविजयलब्धिसूरिविरचिते विषमपदविवेचने नयचक्रस्य तुम्बनिरूपणं समाप्तम्
समाप्तञ्च द्वादशारनयचक्रस्य विषमपदविवेचनम् ॥ शुभं भूयात् ॥



न्यायागमानुसारिणीसमलङ्कृते द्वादशारनयचक्रे निर्दिष्टान्युद्धरणानि ।

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जवा०	(टी०)	[संम. कां १ गा. ३१]	३	१८
एयं दुवालसंगं गणिपिडगं०	(टी०)	[नंदी. सू. ४२]	४	९
इमाणं भंते रयणप्पभा पुढवी०	(टी०)	[जीवा. ३-१-७८]	४	१५
जत्थाभिनिबोहिअनाणं	(टी०)	[नंदी. सू. २४]	४	१९
क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु०	(टी०)	[सि. द्वा. ३. श्लो. ८]	५	१६
स्थूलमतये न वाच्याः	(टी०)	[ ]	६	३
क्रियागुणवत्समवायिकारणं०	(टी०)	[वै. अ. १. आ. १. सू. १५]	६	७
सदिति यतो द्रव्यगुण कर्मसु सा सत्ता	(टी०)	[वै. अ १ आ. २ सू. ७]	६	१२
द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता	(टी०)	[वै. अ. १. आ. २. सू. ८]	६	१२
जं चउदसपुव्वधरा छट्ठाणगया०	(टी०)	[विशे. भा. १४१. १४२. १४३]	६	१५
अर्थाच्चासन्निहिते	(टी०)	[पा. सू. ५-२-१३५ वार्तिक]	७	१४
जावइया वयणपहा०	(टी०)	[संम. का. ३ गा. ४७]	७	१७
प्रत्यक्षग्रहे सिद्ध्यति०	(टी०)	[ ]	९	१९
द्रव्यस्यानेकात्मनो०	(टी०)	[ ]	११	९
सर्वं सर्वात्मकम्	(टी०)	[ ]	१२	१८
देशकालाकारनिमित्तावबंधात्तु०	(टी०)	[ ]	१२	१०
आध्यात्मिकाः कार्यात्मकाभेदा०	(मू०)	[ ]	१३	४
अन्यकिंयत्तदोर्निर्धारणे०	(टी०)	[पा. ५-३-९१-९२]	१६	४
एकाच्च प्राचाम्	(टी०)	[पा. ५-३-९४]	१६	७
द्रव्यं च भव्ये	(मू०)	[पा. ५-३-१०४]	१६	१२
दु द्रु गतौ	(टी०)	[पा. धा. ९४४-९४५]	१६	१६
गुणसंद्रावो द्रव्यम्	(टी०)	[व्या. महाभा. ५-१-११९]	१६	१७
क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं०	(टी०)	[वै. सू. १-१-१५]	१६	१७
क्षि निवासगत्योः	(मू०)	[पा. धा. १४०७]	१७	१
रूपरसगंधस्पर्शवती	(टी०)	[वै. सू. २-१-१]	१७	८
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मा पृथिवी	(टी०)	[ ]	१७	९
कक्खटलक्षणा	(टी०)	[ ]	१७	९
आदानीयास्त्रयो मासाः	(टी०)	[ ]	१८	२
गुणपर्यायवद्द्रव्यम्	(टी०)	[तत्त्वार्थ. ५-३७]	१८	१४
नागृहीतविशेषणा०	(टी०)	[ ]	२१	१९
सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः	(टी०)	[वै. सू. ७-२-२०]	२२	१९
संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां०	(टी०)	[वै. सू. २-१-१८-१९]	२२	२२
अथवा नेदमेव नित्यलक्षणं	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१- पस्पशा.]	२३	९
क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्	(टी०)	[वै. सू. ९-२-१]	२७	६
द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च	(टी०)	[वै. सू. १-२-५]	२८	५

कृत्यल्युटो बहुलम्०	(टी०)	[पा० ३-३-११३]	६९	२५
अणिरणि लणि गत्यर्थाः	(टी०)	[पा. धा. १४७, १४५, १४६]	६९	८
धर्मो नामोच्यते नामकायः०	(मू०)	[अभिधर्मपि०]	७०	९
वर्णो गंधो रसः स्पर्शः०	(टी०)	[ ]	७०	१४
गुणानां परमं रूपं०	(टी०)	[षष्टितंत्र]	७१	२१
भ्रान्तिसंवृतिसंज्ञान०	(टी०)	[प्रमा. स. ८]	७२	८
सञ्चितालम्बनाः पंचविज्ञानकायाः	(मू०)	[अभिधर्मपिटके]	७२	११
हेतुरपदेशो निमित्तं०	(टी०)	[वै. सू. ९-२-४]	७३	२३
अन्यथादाहसम्वन्धात्०	(टी०)	[वाक्यप. २-४२५]	७५	३
यस्मिन् भिन्ने न तद्बुद्धिः०	(टी०)	[अभिध. ६-४]	७५	१३
वृद्धिरादैच्	(टी०)	[पा. १-१-१]	८०	१४
सति सम्भवे व्यभिचारे च०	(टी०)	[ ]	८२	४
विजानाति न विज्ञानम्०	(टी०)	[चतु. शतक. ११-१८]	८३	६
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञान०	(टी०)	[न्यायप्रवेश. पृ. ७]	८३	८
गुणसंद्रावो द्रव्यम्	(टी०)	[पातंजल. ५-१-११९]	८४	३
संघाता एव संघातान् स्पृशन्ति०	(मू०)	[ ]	८४	१६
किं परमाणवः परस्परं स्पृशंति	(टी०)	[ ]	८५	४
संघाताः संघातान् देशेन०	(टी०)	[ ]	८५	६
तत्रानेकप्रकारभिन्न०	(मू०)	[अभिधर्मकोश.]	८९	९
दूरान्मणिसमूहं०	(टी०)	[अभिधर्मकोश.]	८९	१८
अनेकप्रकारभिन्नैकानेक०	(मू०)	[अभिधर्मकोश.]	९०	१
आपतनस्वलक्षणं प्रत्येते०	(मू०)	[अभिधर्म.]	९०	३
कदाचिदेकेन द्रव्येण ज्ञानं०	(मू०)	[अभिधर्मकोश]	९०	४
अनेकेन द्रव्येण कदाचित्०	(मू०)	[अभिधर्मकोश]	९२	१९
द्वयं प्रतीत्य चक्षुः प्रतीत्य०	(मू०)	[बुद्धवचन]	९२	२५
आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते.	(मू०)	[अभिधर्म भा. १-१०]	९७	२४
विजानाति न विज्ञानम्०	(टी०)	[चतुः श० ११-१८]	९३	५
जात्याख्यायामेकस्मिन्०	(टी०)	[पा. १-२-९]	९३	८
भद्दं मिच्छादंसण०	(टी०)	[सं. ३-५९]	९२	२
द्रव्यस्यानेकात्मकत्वे०	(टी०)	[ ]	९५	४
भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः	(टी०)	[तत्त्वा० ५-२८]	९६	९
परस्परविरुद्धानाम्.	(टी०)	[ ]	९७	१२
अनेकार्थजन्मत्वात् स्वार्थे०	(टी०)	[प्रमाणस. श्लो. ४]	९८	१२
गुणस्य सतोऽपवर्गः०	(टी०)	[वै. २-२-२५-२६]	९९	१२
प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणे	(मू०)	[न्यायप्र० पृ० ७]	१०१	१
अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः	(टी०)	[मैत्रा. ६-३६]	१०१	१६
तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे	(मू०)	[प्रमाणस० श्लो. ४]	१०२	१७
अनेकद्रव्योत्पाद्यत्वात् स्वायतने	(मू०)	[प्रमाणस०]	१०४	५

दश दाडिमादिश्लोक०	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१-१]	१४३	१५
नैतद्विचार्यते अनड्वानिति०	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१-४३]	१४५	९
स्वभावसिद्धं द्रव्यं क्रिया चैव०	(टी०)	[व्या. महाभा. १-३-१]	१४५	११
कर्त्तरि कृत्	(टी०)	[पा. ३-४-६७]	१४६	१०
लः कर्मणि च०	(टी०)	[पा. ३-४-६९]	१४६	१०
पूर्वापरीभूतं भावमाख्यतेनाचष्टे०	(टी०)	[यास्कनिरु. १४-१५]	१४७	५
संसर्गो विप्रयोगश्च०	(टी०)	[वाक्यप. २ ३१७ ३१८]	१४७	१६
सुपूसुपा	(टी०)	[व्या. महा. २-१-४]	१४९	६
अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः	(टी०)	[पा. ४-४-६०]	१४९	७
समर्थः पदविधिः	(मू०)	[पा. २-१-१]	१४९	९
यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे०	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१-१]	१४९	२०
भवति च प्रधानस्य०	(टी०)	[व्या. महा. २-१-१]	१४९	१६
यच्छब्द, आह०	(टी०)	[व्या. महा. २-१-१]	१५१	१५
विधिविहितस्य हि अनुवचनमनुवादः	(मू०)	[ ]	१५३	४
उक्तार्थशब्दार्थकथनमविशेषेण पुनरुक्त-मन्यत्रानुवादादरादिभ्यः	(मू०)	[ ]	१५३	६
प्रकृतेः परः प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः	(टी०)	[व्या. महा. ३-१-२]	१५५	६
यथानक्षत्रं दृष्ट्वा वाचो विसृजन्ति	(मू०)	[तैत्ति. ६-१-४-२७]	१५८	१९
कतरद्देवदत्तस्य गृहम्	(मू०)	[व्या. महा. भा. १-५५-२८७]	१५८	२०
पुरुष एवेदं सर्वम्	(मू०)	[ऋग्वे. १०पुरुषसू. २]	१५९	२०
यूपं छिनत्ति	(मू०)	[ ]	१६०	२२
पालाशमष्टास्रम्	(मू०)	[ ]	१६०	२३
तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१-२८]	१६१	१९
यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणम्.	(टी०)	[ ]	१६२	१३
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः०	(टी०)	[ऋ. १०-९०-१५.]	१६६	१
स्त्रियां क्तिन्	(टी०)	[पा. ३-३-९४]	१६७	१६
गुरोश्च हलः	(टी०)	[पा. ३-३-१०३]	१६७	१७
यदग्नये च प्रजापतये च०	(टी०)	[मै. १-८-७]	१६७	२१
अविज्ञानतत्त्वेऽर्थे०	(टी०)	[गौ. १-१-४०]	१६८	१३
न कर्मणा न प्रजया०	(टी०)	[कैव. खं. कां. ३]	१७०	६
कातरसतेन सूरं०	(टी०)	[ ]	१८१	१२
यदग्नये च प्रजापतये च	(टी०)	[मै. १-८-७]	१८१	१८
इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थो०	(टी०)	[य. १-१-१]	१८२	१७
द्वे विद्ये वेदितव्ये०	(टी०)	[मुं ड-१ मुं१ खं. ४-५-६]	१८३	१
व्यत्ययो बहुलम्	(टी०)	[पा. ३-१-८५]	१८३	१७
सुप्तिङुपग्रह०	(टी०)	[व्या. महा. ३-१-८५]	१८३	१८
सब्रह्मचारिणा सहाधीते० (वाक्यन्याय)	(टी०)	[ ]	१८५	७
शब्दार्थयोः पुनर्वचनम्०	(टी०)	[गौ. ५-२-१४]	१८६	२

कल संख्याने	(टी०)	[पा. धा. ४७९]	२३२	१
प्राप्तव्यो नियतिवला०	(मू०)	[ ]	२३५	९
नाभावविभावो न च भाविनाशः	(मू०)	[ ]	२३८	१७
अस्ति भवति विद्यति पद्यति०	(टी०)	[सिद्धसेन.]	२४१	१४
षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते	(मू०)	[पा. ५-१-९०]	२४४	२४
सचिताऽचित्ताच०	(टी०)	[योनिप्राभृत]	२४६	७
उदकं पतितं सभावकं निर्भावकं च	(टी०)	[ ]	२४६	१४
दिवास्वप्नमवस्थायं०	(टी०)	[ ]	६४७	१६
एतत् परशोः सामर्थ्यं पत्रतृणे न	(टी०)	[पा. वा. १-४-२३]	२४८	४
लोगम्मि जीवचिंता०	(टी०)	[ ]	२४९	७
अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरम्०	(टी०)	[वैशे० २-२-६]	२४९	१७
सप्ताहं कललं भवति०	(टी०)	[तन्दुलवै० छाया]	२५२	११
अप्पणोनिक्खमणकालं	(टी०)	[कल्पसू. ११२]	२५७	१३
कूटस्थमविचालि०	(टी०)	[व्या. महाभा. १-१-१]	२५९	८
जंजं जेजे भावे०	(टी०)	[आव. नि. २६६७]	२५८	१९
केसिं निमित्ता नियया भवंति०	(टी०)	[सूत्रकृ १२-१०]	२६७	५
कालः पचति भूतानि	(मू०)	[महाभारत.]	२६७	६
काल एव हि भूतानि०	(मू०)	[ ]	२६७	७
सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवंति०	(मू०)	[व्या. महाभा. ५-१-११९]	२६८	४
समनन्तरानुलोमाः पूर्वविरुद्धाः०	(टी०)	[ ]	२७०	१०
कः कण्टकानां प्रकरोति०	(मू०)	[ ]	२७२	८
केनाञ्जितानि नयनानि०	(मू०)	[ ]	२७२	९
अकण्टकाः कण्टकिनः०	(टी०)	[ ]	२७३	१०
चित्रकाः कटुकः पाके०	(मू०)	[चरकसं १-२६-६८]	२७६	१३
स्वभावतः प्रवृत्तानाम्०	(टी०)	[ ]	२७७	१५
किमिदं भंते ! अत्थिति वुचति०	(टी०)	[स्थाना]	२७९	१२
किमिदं भंते ! समएत्ति वुचति	(टी०)	[स्थाना.]	२७९	२३
अनादिनिधनं ब्रह्म०	(टी०)	[वाक्यप० १-१]	२८२	२१
नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे०	(टी०)	[व्या. महाभा० ३-१-१२]	२८६	१८
यतो भुवोऽर्थमभिदधति सर्वधातवः	(टी०)	[ ]	२८९	१०
मुद्राप्रतिमुद्रान्याय.	(टी०)	[ ]	२८९	१६
ऊष्मासहस्रसंख्ये०	(टी०)	[ ]	२९२	१९
सम्बद्धादेकस्मात् प्रत्यक्षात्०	(टी०)	[वार्षगण्य]	२९७	१८
सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षात्०	(टी०)	[वै. सू. २-२-१७]	२९८	१८
समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेः०	(टी०)	[गौ. १-१-२३]	२९८	१९
पुढवीकायादिजीवा अचामूढ०	(टी०)	[भगवती. ७-७]	२९९	५
यथा विशुद्धमाकाशं०	(मू०)	[ ]	२९९	६
तस्यैकमपि चैतन्यं०	(मू०)	[ ]	२९९	१७

यथा पृष्ठं कुरु पादौ कुरु	(टी०)	[व्या. महा. १-३-१]	३८४	१०
जनी प्रादुर्भावे	(टी०)	[पा. धा. ११४९]	३८६	७
प्रादुः प्राकाश्ये जन्मनि च	(टी०)	[ ]	३८६	७
अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति.	(टी०)	[भग० १-२-३३]	३८७	१५
तद्भावः परिणामः	(टी०)	[तत्त्वा. ५-४१]	३८७	२१
सुखं लघ्वप्रवृत्तिशीलं प्रकाशकं दृष्टम्	(मू०)	[ ]	३९१	७
दुःखं चलमप्रकाशकं प्रवृत्तिशीलम्	(मू०)	[ ]	३९१	८
मोहो गुरुरप्रकाशको दृष्टः	(मू०)	[ ]	३९१	९
अस्ति प्रधानं भेदानामन्वयदर्शनात्०	(टी०)	[ ]	३९४	८
सुखदुःखमोहान्विता आध्यात्मिका०	(टी०)	[ ]	३९४	९
णिच्छयओ सव्वलहु०	(मू०)	[बृहत्० भा. ६५]	३९४	१८
पलशतिका तुला विंशतिस्तुला भारः	(टी०)	[ ]	३९७	२
गुणसंद्रावो द्रव्यम्	(टी०)	[व्या. महा. ५-१-११९]	३९७	१४
भवति बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि	(टी०)	[व्या. महा. १-१-२९]	४०४	१
स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः	(टी०)	[तत्त्वा० ५-२३]	४१०	१६
अणवः स्कन्धाश्च	(टी०)	[तत्त्वा० ५-२५]	४१०	१७
आकारो गौरवम्.	(टी०)	[ ]	४१८	१६
संस्थानमादिमद्धर्ममात्रम्०	(टी०)	[पातं यो. भा.३-१३]	४२०	५
अस्ति भवति विद्यति पद्यति०	(टी०)	[सिद्धसेनसूरिव०]	४२२	१०
इतरयोः ख्यापयति	(मू०)	[ ]	४२७	६
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्	(मू०)	[महाभारत. वन० ३०-२८]	४३१	१०
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्.	(टी०)	[श्वेत० ६-१२]	४३३	१३
प्रत्याहारस्तथा ध्यानम्०	(टी०)	[अमृतनादोप०]	४३३	४
आख्यातः शब्दसंघातः०	(टी०)	[वाक्य. २-१]	४३६	१३
देवदत्त ! गामभ्याज.	(टी०)	[व्या. महा. १-१-१]	४३६	१५
दुविहा पण्णवणा पण्णत्ता.	(मू०)	[पण्णवणासू० १]	४३७	१२
किमिदं लोएत्ति पवुच्चई०	(मू०)	[स्थानां० २-४]	४३७	१३

—विधिनियमारे—

योगैः सकृत् स्वयोगात्०	(टी०)	[ ]	४३९	३
स्वकर्मणा युक्त एव०	(टी०)	[ ]	४३९	१३
यथाऽऽहारः काले परिणति०	(टी०)	[ ]	४३९	१४
प्रयत्न एवापरजन्मजोऽयम्०	(टी०)	[ ]	४४०	७
योगं साधयिष्यन्०	(मू०)	[ ]	४४३	१०
यस्याभावे यस्याभावो०	(मू०)	[ ]	४४९	१४
धारणाद्धानाद्वा धर्मः	(मू०)	[ ]	४५४	११
भूकृञोः सर्वधात्वर्थत्वात्	(मू०)	[ ]	४५६	७
जोगेहिं तदनुरूवं०	(टी०)	[कर्मप्र. श्लो. १७]	४६०	७
मनसा वाचा कायेन वा०	(टी०)	[ ]	४६०	८
तेजोयोगाद्यद्वत्०	(टी०)	[ ]	४६०	९

प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृताः	(टी०)	[व्या. महाभा. २-३-५०]	५१४	२
कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः०	(टी०)	[व्या. महाभा १-३-१]	५१४	३
चार्थे द्वन्द्वः	(टी०)	[पा. २-२-२९]	५१५	५
गामश्वं पुरुषं शकुनिं०	(टी०)	[व्या. महाभा. २-२-२९]	५१५	५
प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण०	(टी०)	[पा. १-३-४६]	५१७	७
संयोगविभागाश्च कर्मणाम्	(टी०)	[वैशे. १-१-३०]	५२२	१४
गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्	(टी०)	[वैशे० १-१-२९]	५२२	१५
सदकारणवन्नित्यम्	(टी०)	[वैशे० ४-१-१]	५२३	८
शक्तिमात्रासहायस्य०	(टी०)	[वाक्यप. ३-७-२]	५३०	१२
अस्तिर्भवन्तीपरः०	(मू०)	[व्या. महाभा. २-३-१]	५३३	२
आगृहीतगतिरपि परेण न ज्ञायते	(टी०)	[ ]	५३६	४
वृद्धिरादैच्	(टी०)	[पा. १-१-१]	५३६	५
वृद्धिरितीयं संज्ञा आदेज्वर्णानाम्	(टी०)	[ ]	५३६	६
सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं०	(टी०)	[ ]	५३६	७
प्रविश पिण्डीम्०	(मू०)	[ ]	५३७	९
लः कर्मणि च०	(मू०)	[पा. ३-४-९६]	५३७	१८
कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः	(मू०)	[व्या. महाभा.]	५३९	१२
पोग्गले णं भंते! किं यति०	(टी०)	[भगव० ५-७-२१२]	५५४	१३
भाष व्यक्तायां वाचि०	(टी०)	[पा. धा. ६१२]	५५५	७
ज्ञा अवबोधने	(टी०)	[पा. धा. १५०८]	५५५	७
श्विता वर्णे	(टी०)	[पा. धा. ७४२]	५५५	७
गडि वदनैकदेशे	(टी०)	[पा. धा. ३६१]	५५५	७
णेगेहिं मिणति माणेहिं०	(टी०)	[आव. ७५५]	५५५	१७
संगहिअ पिंडितत्थं०	(टी०)	[आवि. ७५६]	५५५	१७
क्रियावचनो धातुः	(मू०)	[व्या. महा-१-३-१]	४६०	१२
असशब्दोपादानसाध्यभावो भावः	(टी०)	[ ]	५६२	६
सामान्यमपि यथा विशेषः	(मू०)	[व्या. महा. १-२-२४]	५६२	१३
अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति	(मू०)	[भ. १-३-३३]	५६६	१३
एक्केक्को य सतविधो	(टी०)	[आ. नि. २२६१]	५६६	१८
आख्यातं साव्ययकारकं वाक्यम्	(टी०)	[पा. वा. २-१-१]	५६७	६
एकतिङ् वाक्यम्	(टी०)	[पा. वा. २-१-१]	५६७	६
— विधिनियमविधिः —				
यद्येकस्मिन् क्षणे जातः०	(टी०)	[ ]	५७३	१६
परिणामवती क्रिया कालः	(टी०)	[ ]	५७४	२
सुदूरमपि संधाय०	(टी०)	[ ]	५८०	१५
अवस्थितस्य धर्मस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ०	(टी०)	[ ]	५८१	९
अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्	(टी०)	[वै. ९-१-९]	५९७	१८
यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थम्०	(टी०)	[गौ०१-२-७]	५९८	३
येषामधिकृतमारम्भसामर्थ्यम्०	(टी०)	[ ]	६०१	११

नियमार्था पुनःश्रुतिः	(मू०)	[ ]	८१८	८
न जातिशब्दो भेदानाम्	(मू०)	[प्रमा. स. सामान्यपरी.]	८१९	५
शब्दान्तरार्थापोहं हि०	(मू०)	[दिङ्नाग]	८१९	९
स्वलक्षणमनिर्देश्यम्०	(मू०)	[प्रमाणस० ५]	८१९	११
स्वलक्षणमनिर्देश्यम्०	(टी०)	[प्रमा. स० ५]	८३०	७
अन्यापोहकृच्छ्रुतिः	(टी०)	[दिङ्नाग]	८२३	१६
न प्रमाणान्तरं शाब्दम्०	(टी०)	[प्रमा० स०]	८२४	७
भेदो भेदान्तरार्थन्तु०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८२६	१७
सामान्यान्तरभेदार्थाः	(टी०)	[प्रमा० स०]	८२७	५
साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा	(टी०)	[गौत० १-१-३३]	८२८	११
नार्थशब्दविशेषस्य०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८२९	३
अर्थशब्दविशेषस्य	(मू०)	[ग्रन्थ कृतः]	८३०	७
यत्रान्यत् क्रियापदं	(टी०)	[व्या० महा० २-३-२]	८३२	१६
नहि असत्यां व्याप्तौ०	(मू०)	[ ]	८३३	१६
विद्यमानाः प्रधानेषु०	(मू०)	[वाक्य० कां ३-४]	८३९	१२
तद्वतो नास्वतंत्रत्वात्०	(मू०)	[प्रमा. स०]	८४१	८
मंचशब्दो यथाऽधेयम्०	(मू०)	[ ]	८४१	१३
नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे	(टी०)	[व्या० महा० ३-१-१२]	८४२	१
तथाभावशब्दो द्रव्येषु वर्तते	(टी०)	[ ]	८४५	२
नापोहशब्दो भेदानाम्०	(मू०)	[ ]	८४६	९
न जातिशब्दो भेदानाम्०	(मू०)	[ ]	८४६	१०
जातेरजातितः	(मू०)	[ ]	८५२	१२
सद्द्रव्यपृथिवीमृद्घट०	(टी०)	[ ]	८६०	१८
अयश्च०	(मू०)	[ ]	८६८	५
तन्मात्राकांक्षणाद्भेदः०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८६८	१२
भेदो भेदान्तरार्थन्तु०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८७१	१
स्वार्थावबद्धशक्तिश्च०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	८७१	३
अदृष्टेरन्यशब्दार्थे०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८७२	१०
बहुत्वेऽप्यभिधेयस्य०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८७४	१५
अनेकधर्मा शब्दोऽपि०	(मू०)	[प्रमा० स०]	८७४	१६
अन्यापोहार्थनैर्मूल्यात्०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	८७५	१६
वृक्षशब्दस्य वृक्षेषु सर्वेषु०	(मू०)	[ ]	८८६	१४
नाप्रमाणान्तरं शाब्दम्०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	८९२	८
लिङ्गानुबन्धिनः स्वार्थाः	(मू०)	[ ]	८१२	१४
किमङ्गम्०	(मू०)	[ ]	८९३	१२
स हेतुर्विपरीतोऽस्मात्०	(टी०)	[ ]	८९७	१६
साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा	(टी०)	[गौत० १-१-३३]	८९९	३
स्वलक्षणमनिर्देश्यम्०	(टी०)	[प्रमा. स.]	९०१	१६
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैः०	(टी०)	[वाक्य० कां० २-२३४]	९०२	१

वृक्षो मञ्चकः क्रियते.	(मू०)	[ ]	९७५	१०
यथा हि वृक्षादिशब्दाः	(मू०)	[ ]	९७५	१४
गुणत्वगन्धसौरभ्य०	(मू०)	[प्रमा० स०]	९८२	१०
दृष्टवद्यदि सिद्धिः स्यात्.	(मू०)	[प्रमा० स०]	९८२	१२
दृष्टानुवृत्तेः	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	९८३	१३
अदृष्टेरन्यशब्दार्थे०	(टी०)	[प्रमा० स०]	९८५	८
व्याप्तेरन्यनिषेधस्य०	(मू०)	[ ]	९८५	१०
असन्निषेधाभावत्वात्०	(मू०)	[ ]	९८५	११
विभक्तिभेदो नियमात्.	(मू०)	[वाक्य० कां० ३ वृत्तिस० ८१]	९८७	२
अपोह्यभेदात् भिन्नार्थाः०	(टी०)	[प्रमा० स०]	९८९	२
तद्वीतो नास्वतंत्रत्वात्०	(मू०)	[प्रमा०स०]	९९०	४
सच्छब्दोऽपोहमात्रस्वरूपो०	(टी०)	[ ]	९९१	२
अद्रव्यत्वाच्च भेदाच्च०	(मू०)	[प्रमा० स०]	९९१	६
तद्वत्त्वं च त्वदुक्तवत्०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	९९१	८
नाप्यर्थान्तरापोहो नाम०	(मू०)	[ ]	९९१	७
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ०	(मू०)	[वाक्य० कां० १-३४]	९९४	९
जो हेउवाय पक्खंपि	(टी०)	[संम० ३-४५]	९९६	१
मूलनिमेणं पज्जवणयस्स०	(टी०)	[संम० ९-४]	९९६	१४
दुवालसंगं गणिपिडगमेगं०	(मू०)	[नन्दी० सू० ४२]	९९७	६
अर्थशब्दविशेषस्य०	(टी०)	[प्रमा० स०]	१००८	१
सहयुक्तेऽप्रधाने.	(टी०)	[पा० २-३-१९]	१००९	९
अस्ति भवति विद्यति०	(टी०)	[श्रीसिद्धसेनस्य]	१००९	११
ञि इन्धी दीप्तौ.	(मू०)	[पा. धा. १४७३]	१०१०	१
काशृ दीप्तौ.	(मू०)	[पा. धा. ११८७]	१०१९	३
दह भस्मीकरणे.	(मू०)	[पा. धा. १०१६]	१०१९	४
दाण् दाने.	(टी०)	[पा. धा. ९५५]	१०१९	११
देङ् रक्षणे.	(टी०)	[पा. धा. ९८७]	१०१९	११
दोऽवखण्डने.	(टी०)	[पा. धा. ११७३]	१०१९	१२
दैप् शोधने.	(टी०)	[पा. धा. ९४९]	१०१९	१२
शब्दो वाप्यभिजल्पत्व०	(मू०)	[वाक्य० कां० २-१३०]	१०३६	५
तयोरपृथगात्मत्वे०	(मू०)	[वाक्य० कां० २-१३१]	१०३६	११
सामान्यार्थस्तिरोभूतः०	(मू०)	[वाक्य० कां० २-१५]	१०३६	११
नामस्थापनाद्रव्य०	(मू०)	[ ]	१०३६	१३
सामान्यवर्तिनां पदानां०	(टी०)	[ ]	१०३७	५
तदुभयस्स आदिट्ठे०	(मू०)	[भग० १२-१०]	१०३८	३
तस्स उ सद्दविकप्पा०	(टी०)	[ ]	१०३८	४
इमाणं भंते०	(टी०)	[भग० १२-१०]	१०३८	१३
न सिंहवृन्दं भुवि भूतपूर्वं०	(टी०)	[ ]	१०४२	१५
सप्रतिपक्षाण्येतानि०	(मू०)	[ ]	१०४६	१३

विकल्पयोनयः शब्दा०	(टी०)	[दिङ्नाग]	१०४८	१०
येन येन विकल्पेन०	(टी०)	[दिङ्नाग]	१०४८	११
उपायः शिक्षमाणानाम्०	(टी०)	[ ]	१०५९	१
यत एवकारस्ततोऽन्यत्र०	(मू०)	[ ]	१०७१	७
राशिवत्सार्थवत्०	(मू०)	[ ]	१०७३	८
औदासीन्याच्च तत्त्वेषु०	(मू०)	[ ]	१०७४	११
वत्थूओ संकमणं होति०	(मू०)	[आव० ७५७]	१०७५	९
एक्केको य सतविहो०	(टी०)	[ ]	२०७५	१८
गण गुणसंख्याने०	(टी०)	[पा० धा० १८३७;]	१०७८	१
गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते०	(मू०)	[भग० श० १०, उ० ५]	१०७८	४
कइविहे णं भंते भावपरमाणू०	(टी०)	[भग० श० २०, उ० ५]	१०७८	८
भूमनिन्दाप्रशंसासु०	(टी०)	[पा० ५-२-९४ वार्त्तिव.]	१०७८	१२
तद्यथा-भूम्नि यवमान्०	(टी०)	[व्या० महा० ५-२-९४]	१०७८	१३
दव्वं पज्जवविउतं०	(टी०)	[संमति० १२]	१०७८	१७
नंष्टा चेन्नाशविघ्नः कः०	(मू०)	[ ]	१०८१	५
साध्यं विनाशहेतुत्वम्०	(मू०)	[ ]	१०८२	६
जातिरेव हि भावानाम्०	(मू०)	[ ]	१०८४	२
जुहुक्खित्तं मिलेर्डमि०	(मू०)	[ ]	१०८४	३
नाशोत्पादौ समं यद्वत्०	(मू०)	[ ]	१०८८	१२
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः०	(मू०)	[ ]	१०८९	८
यद्येकस्मिन् क्षणे जातम्०	(मू०)	[ ]	१०९०	८
वंजण अत्थ तदुभयं०	(टी०)	[अनु० १३९]	१०९१	१६
यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः०	(मू०)	[ ]	१०९२	७
इमाणं भंते०	(मू०)	[जीवा० ३-१-७८]	१०९२	९
डाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः	(टी०)	[पा० ५-३-८३]	११००	११
आयुगवसेन जीवो०	(टी०)	[ ]	११०२	२
मृङ् प्राणत्यागे.	(मू०)	[पा० धा० १४२८]	११०२	२
अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां०	(टी०)	[वाक्य० कां० १-१३]	११०२	१०
जातिरेव हि भावानाम्०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	११०७	१०
सर्वेऽप्यक्षणिका भावाः	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	११०८	१३
नंष्टा चेन्नाशविघ्नः कः०	(मू०)	[ ]	१११०	१०
साध्यं विनाशहेतुत्वम्०	(मू०)	[ ]	११११	५
भवितुर्भावविघ्नः कः०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	११११	६
जुहुक्खित्तं मिलेर्डमि०	(मू०)	[ ]	१११२	७
साध्ये विनाशतत्त्वे स्तः०	(मू०)	[ ]	१११२	८
जं जं जे जे भावे०	(टी०)	[आव० नि० २६६७]	१११४	२
राशिवत्०	(मू०)	[ ]	१११५	५
शक्त्यन्तरत्वतादात्म्यात्०	(मू०)	[ग्रन्थकृतः]	१११४	५

चूरथाश्व०	(मू०)	[ ]	११९५	१०
युक्तितो मिश्रितेषु	(टी०)	[ ]	११९६	१३
यथा नलकलापौ द्वौ०	(टी०)	[ ]	११९७	१६
राशिवत्०	(टी०)	[ ]	११९७	१८
औदासीन्याच्च तत्त्वेषु०	(मू०)	[ ]	११९८	५
न स्वतो नापि परतः०	(टी०)	[माध्यमिककारिका]	११९९	१३
द्रव्याणि द्रव्यान्तरम्०	(टी०)	[ ]	११३९	८
क्रियागुणव्यपदेशाभावात्०	(टी०)	[वैशे. १-१-१०]	११३९	८
कुगतिप्रादयः	(मू०)	[पा० २-२-१८]	११४०	१२
काशृ दीप्तौ.	(मू०)	[पा० धा० ११८७]	११४०	१२
द्यौः क्षमावायुराकाशम्०	(टी०)	[वाक्य० कां० ३-४१]	११५०	१६
विज्ञप्तिमात्रमेवेदं भो०	(टी०)	[बुद्धवचनम्]	११५१	१६
यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु०	(टी०)	[आलं० ६]	११५२	१
अव रक्षणगतिप्रीति०	(टी०)	[पा० धा० ६०१]	११५२	१४
अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः	(टी०)	[पा० ४-४-६०]	१२५३	१
दु द्रु गतौ.	(टी०)	[पा० धा० ९६९-९७०]	११५३	९
से किं तं भावक्खंधे०	(मू०)	[अनु० सू० ५४-५५]	११५३	१५
तदभावे तदप्यसत्०	(टी०)	[ ]	११५८	८
द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभंते०	(टी०)	[ ]	११७५	९
तदेजति तन्नैजति०	(मू०)	[ईशा० १-५]	११८१	९
यथा सुदीप्तात् पावकात्०	(मू०)	[मुण्डक. २.१-१]	११८१	१०
इमाणं भंते रयणप्पभा०	(मू०)	[ ]	११८५	१३
भद्दं मिच्छा दंसण०	(टी०)	[संम० कां० १-५९]	११८६	६
तित्थयरवयण०	(टी०)	[संम० कां० १-३]	११८६	८
जंमि कुलं आयत्तं०	(टी०)	[आव० ७५९]	११८७	८
जे एगं जाणति से सव्वं.	(टी०)	[आचा० ४-१-४४]	११९९	८
एको भावः सर्वभावस्वभावः०	(टी०)	[ ]	११९९	९

इति प्रथमं परिशिष्टम् ।

द्वितीयं परिशिष्टम्

न्यायागमानुसारिणीव्याख्यायुते द्वादशारनयचक्रे निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकृद्विशेषनाम्नाश्च सूची ।

जैनदर्शनप्रसिद्धशब्दाः

तृतीयं परिशिष्टम्

परदर्शनप्रसिद्धशब्दाः

चतुर्थं परिशिष्टम्

पञ्चमं परिशिष्टम्

षष्ठं परिशिष्टम्.

न्यायागमानुसारिणीसमेतनयचक्रनिर्दिष्टग्रन्थग्रन्थकृत्परिचयः

न = अष्टादशदोषथी रहित सर्वज्ञ–तीर्थंकरोनी आज्ञाना आराधक.

आर्हत = अष्टप्रातिहार्य युक्त, त्रणलोकनी पूजाने लायक, मोक्षाराधक जीवोना उपास्य देव अर्हन् कहेवाय छे तेमना सम्बन्धी.

वादपरमेश्वर = जगतना बीजा तमाम वादोना ऊपर प्रभुत्वने धारण करनार स्याद्वाद–अनेकान्तवाद छे.

कपिल = आ सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तक सुप्राचीन कालना महर्षि छे.

काणभुज = आ महर्षि कणाद मतानुयायी वैशेषिक छे.

कणाद = आ महर्षि वैशेषिक मतना प्रवर्त्तक छे एने उलूक पण कहेवामां आवे छे

अक्षपादः = आ महर्षि न्यायशास्त्रना प्रवर्त्तक छे एने गौतम पण कहेवामां आवे छे.

व्यास = पुराणों तथा महाभारत अने ब्रह्मसूत्रना कर्त्ता मनाय छे.

शौद्धोदनि = शुद्धोदननो पुत्र सिद्धार्थ एटले बुद्धदेव छे जेणे बौद्धमतनी स्थापना करी.

मस्करि = आ बुद्धसमकालीन आजीवक सम्प्रदायनो माननीय उपदेष्टा छे आ परिव्राजक न हतो. अकर्मण्यतावादी गोसाल अपरनामधारी मगध ना निवासी हता. एनो विशेष परिचय बौद्ध अने जैन ग्रंथोंमां वर्णित छे.

पतञ्जलि = पाणिनिव्याकरणसूत्रो ऊपर महाभाष्य नामनी टीकाना कर्त्ता छे योगसूत्रोना पण कर्त्ता मनाय छे.

तंत्रार्थसङ्ग्रहादि = आ ग्रन्थ अनुपलब्ध अने अश्रुत पण छे तेना नाममां पण शङ्का छे तत्र अर्थसङ्ग्रह अथवा तत्त्वार्थसङ्ग्रह या तंत्रार्थसंग्रह छे एनो निश्चय नथी.

सङ्ग्रहान्तरः = आ सङ्ग्रह कौण सङ्ग्रह तेना कर्ता कोन आ अज्ञात छे.

सूत्र = अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ पोताना सिद्धांतोने संक्षेपथी बतावनार वचनने सूत्र कहेवामां आवे छे.

वाक्यभाष्यटीकाकार = वाक्यकार एटले सूत्रों ऊपर वृत्तिना कर्त्ता.

भाष्यकार = सूत्र अने वृत्तिनो विस्तारथी व्याख्या करनार.

टीकाकार = सारोन्ययणे मूलनी व्याख्या करनार.

सैद्धार्थीय = आर्हत मतने माननाराओ.

शाक्यपुत्रीय = बुद्धना मतने माननाराओ.

कटन्दी = वैशेषिक सूत्रो उपरनी टीका छे.

प्रशस्तमति = वैशेषिक सूत्र ऊपर टीका लखनार विद्वान छे.

आचार्यसिद्धसेन = जैन मतमां सुप्रसिद्ध सम्मतितर्क वगेरे ग्रन्थोना रचयिता वैयाकरण दार्शनिक कवि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर महाराज छे.

अभिधर्मागम, अभिधर्म, अभिधर्मपिटक = बुद्धवचन अने उपदेशोना प्रतिपादन करनार ग्रन्थने पिटक कहेवामां आवे छे. ते त्रण छे, विनय-पिटक, सूत्रपिटक अने अभिधर्मपिटक । अभिधर्म एटले निर्वाण ना अभिमुख धर्मनुं प्रतिपादन करनार वचन.

प्रकरणपद = अभिधर्मना कायस्थानीय ज्ञानप्रस्थान नो अङ्गभूत ग्रन्थ छे धर्म ज्ञान आयतन आदिनुं विवरण करनारी प्रथम वसुमित्रनी रचना छे.

अभिधर्मकोश = वसुबन्धुनो सर्वश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छे जेमां अभिधर्मना समस्त तत्त्वोनी वर्णना करवामां आवी छे.

अद्वैतवादी = परब्रह्म ज सत्य वस्तु छे बीजा काल्पनिक असत्य छे एम माननारा वेदान्तिओ.

वसुबन्धु = अभिधर्म कोशनो कर्त्ता.

दिन्न = वसुबन्धुना शिष्य दिङ्नागनुं अपर नाम छे.

लोकशास्त्र = एवुं कोई शास्त्र जाणवामां नथी आव्युं अथवा बौद्ध वैदिकोनुं शास्त्र ज लोकशास्त्र थी कहेवामां आव्युं होय !

अज्ञानिकवाद = नारायण, क्रण्व, माध्यंदिन, मोद, पिप्पलाद, बादरायण, स्विष्टकृत्, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि सडसठ वादियोंना वादने अज्ञान वाद कहेवामां आवे छे, नयचक्रमां प्रथम अरना अन्तमां मल्लवादिसूरिए आ जैमिनि मतनुं उत्थान करीने बीजा अरमां निराकरण कर्युं छे.

भारतरामायण = व्यासरचित भारत छे अने रामायण वाल्मीकि ऋषिनी कृति छे.

वेद = हिन्दुओना आचारविचार, रहन-सहन, धर्म-कर्मने सारी रीते बतावनार ऋषिओं द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्रना तत्त्वोंनी राशिनो बोध आपनार ग्रन्थ.

मीमांसक = जैमिनि दर्शनने माननारा कर्मकाण्डी दार्शनिक.

योनिप्राभृत = जीवोनी उत्पत्तिना प्रकार विगेरे नो दर्शावनार पूर्वधरोनी अपूर्व महान् कृति छे.

निरुक्त = वेदमां आवेला कठिन शब्दोंनो समुच्चयरूप निघण्टु जेना कर्त्ता प्रजापति काश्यप छे तेनी व्याख्याने निरुक्त कहेवामां आवे छे। निरुक्त चतुर्दश छे एम दुर्गाचार्य कहे छे, हालमां यास्क रचित निरुक्त ज उपलब्ध छे.

वैद्यक = आयुर्वेदनो ग्रन्थ छे जेम चरक, सुश्रुत वगेरे.

महाकालमत = निश्चयरूपथी आ मत विदित नथी किन्तु एक कालचक्र सिद्धान्त छे आ मतनुं मन्तव्य आ छे के बाह्य जगत्ना सम्पूर्ण प्रपंच जेम सूर्य, चंद्र, आकाश, पाताल, भूमि, विंध्यहिमालयादि पर्वत, गंगा-यमुना-सरस्वती आदि नदिओ अने जे कोई स्थूल-सूक्ष्म वस्तु छे ते बधी मानवशरीरनी अन्दर छे आ रहस्यने जाणीने शरीरनी शुद्धि माटे प्रयत्न करवो जोइए केम के शरीरद्वारा सिद्धि थाय छे कायशुद्धिथी प्राण अने चित्तनी शुद्धि थाय छे. आ त्रणनी विशुद्धिथी परमार्थनी प्राप्ति थाय छे. जेम जीवनी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अने तुरीयावस्थात्मक जगत् छे तेम निर्माण संभोग धर्म सहजकायात्मक जीव छे विशुद्धजीव ने काल कहे छे. एवो एक मत छे ते, समष्टि-व्यष्टि रूपथी परमतत्त्वनुं प्रदर्शन आ महाकालमतमां करवामां आवे छे. आ मत पण प्राचीन छे. माटे आज मत प्रायः अहीं विवक्षित होय।

वैनाशिक = आथी शायद क्षणिकवादनो निर्देश होय.

भाष्य = अन्यदार्शनिकोनुं भाष्य तथा नयचक्रनुं भाष्य जाणवु. केम के नयचक्र अने टीकाना पर्यालोचनथी नयचक्र सूत्रभाष्यात्मक छे. एम मालूम पडे छे.

वार्षगणतंत्र = वार्षगण्य वडे निर्मित षष्टितंत्र नामनो सांख्यमतनो ग्रन्थ.

वैशेषिक = कणाद महर्षि ना मतने अनुसरनारा.

बौद्ध = बुद्धना उपदेशने माननारा.

सांख्य = कपिलमहर्षिना सिद्धान्त–प्रकृतिपुरुषतत्त्ववादी.

वसुरात = भर्तृहरिना गुरु छे. वसुबन्धुना कोशभाष्य ऊपर व्याकरण दोषोंना प्रकाश करनार.

भर्तृहरि = वैयाकरण, वाक्यपदीयना कर्त्ता शब्दब्रह्मवादी छे.

संसर्गवादी = द्रव्यगुणक्रिया वगेरेनो भेद मानीने संयोग समवाय आदि सम्बन्धथी द्रव्यादिनो सम्बन्ध माननार वैशेषिक वगेरे.

वैयाकरण = पाणिनि आदि शब्दप्रधानवादी.

लक्षणकार = आ कोण छे ते बराबर ज्ञात नथी. लक्षणथी ज प्रमाणनी सिद्धि थाय छे तेथी वस्तुनी सिद्धि थाय छे एम माननारो कोई वादी हशे।

पाषण्डिनः = शास्त्रनी उपेक्षा करीने पोतानी बुद्धिना बळथी ज वस्तुतत्त्वनी व्यवस्था करनारो.

अर्हद्बुद्धकपिलकणादब्रह्मादिप्रोक्तैरागमैः = जैन, बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त आदि शास्त्रो.

नयचक्रशास्त्रं = नयोना समुदायनो विचार करनार शास्त्र.

जैमिनीयोपनिषद्वादीनि = पूर्वोत्तरमीमांसा आदि.

सप्तनयशतारचक्राध्ययन = सातसो नयोनुं वर्णन करनार सुप्राचीन शास्त्र.

द्वादशारनयचक्र = बार नयोनुं वर्णन करनार प्रस्तुत ग्रन्थ.

संमतिनयावतारादि = आ सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वररचित संमतितर्कनयावतार आदि ग्रन्थ.

–परिशिष्टानि समाप्तानि